

॥ ॐ तत्सत् ॥

न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम् ।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे ॥

महाविज्ञान या ब्रह्मविद्या

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता

(अमृतवर्षिणी टीका सहित)

द्वितीय भाग

अमृतसरिया राम भरोत

मो ती ला ल ब ना र सी दा स

दिल्ली वाराणसी पटना

प्रथम संस्करण, १९७५
मूल्य : रु० २३.३५

अमृतसरिया राम भणोत, साहलों, जिला जालंधर (पंजाब) द्वारा प्रकाशित
तथा शान्तिलाल जैन, जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-७ द्वारा मुद्रित



अमृतसरिया राम भणोत

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

अर्थ—(ॐ) परब्रह्म परमात्मा (अदः) वह (पूर्णम्) सब प्रकार से पूर्ण है। (इदम्) यह जगत् भी (पूर्णम्) पूर्ण है। क्योंकि (पूर्णात्) उस पूर्ण पर-ब्रह्म परमात्मा से (पूर्णम्) यह पूर्ण जगत् (उदच्यते) उत्पन्न हुआ है। (पूर्णस्य) पूर्ण के (पूर्णम्) पूर्ण जगत् को प्रलयकाल में (आदाय) निकाल लेने पर भी (पूर्णम्) परब्रह्म परमात्मा पूर्ण (एव) ही (अवशिष्यते) शेष रह जाता है ।।

यं न प्रकाशयति भानुरपीन्दुरग्निः
स्वज्योतिषा सकलभासकमप्रमेयम् ।
यं प्राप्य संसृति-निधौ न पतन्ति धीरा-
स्तं सर्वभूतहृदयं हरिमाश्रयेऽहम् ।।

अर्थ—अपने प्रकाश से सकल संसार को प्रकाशित करने वाले जिस अप्रमेय (असीम और यथार्थ रूप में जाने या समझे न जा सकने वाले) परब्रह्म परमात्मा को कोई सूर्य, कोई चन्द्रमा तथा किसी भी प्रकार से उत्पन्न हुई अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकती, जिसे प्राप्त होकर धीर पुरुष संसार-सागर में नहीं गिरते, अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते, मैं उस समस्त भूतों के अन्तर्यामी हरि की शरण लेता हूँ ।।

नम्र निवेदन

सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की अपार कृपा है कि अमृत-वर्षिणी-गीता का द्वितीय भाग भी सुन्दर छपाई के साथ उत्तम काग़ज़ों पर सुचारु रूप में प्रकाशित हो गया है, जो इस समय आपके कर-कमलों को सुशोभित कर रहा है। मैं जनता-जनार्दन का अत्यन्त आभारी हूँ जिसने धन देकर इस पवित्र कार्य में मेरी सहायता की है। मुझे प्रसन्नता है कि मेरे शिव-संकल्प और पुण्य-कार्य में किसी प्रकार की विघ्न-बाधा उपस्थित नहीं हुई है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के अनन्तर देश ने महान् उन्नति और प्रगति की है। नहरों और सड़कों के जाल बिछ गये हैं। उत्तरोत्तर सब प्रकार के कारखाने

बनते चले जा रहे हैं। कला-कौशल में महान् तरक्की हुई है। ग्राम और नगर स्वर्ग के नमूने बन गए हैं। सब प्रकार की उपज में सौ प्रतिशत उन्नति हुई है। रोगों का नाश हो गया है। लोग उत्तम भोजन खाने और बहुमूल्य वस्त्र पहनने लगे हैं। लोगों के पास पैसे भी बहुत हैं। किन्तु सब कुछ होते हुए भी कुछ अभाव, कुछ न्यूनता दृष्टिगोचर होती है। स्वतन्त्रता के आने पर जहाँ बहुत सी सुख सुविधाएं बढ़ी हैं वहां पर हमें कुछ घिनौने दोषों ने भी घेर लिया है। हम भौतिकवाद के शिकार होकर स्वार्थ-परायण बन गये हैं।

इस समय हमारे देश को आधुनिक विज्ञान के साथ-साथ आध्यात्मिक विज्ञान की भी आवश्यकता है जिसके कारण आदिकाल से हमारे देश का माथा ऊँचा रहा है। इस समय भी अशान्त और व्यथित संसार प्रकाश प्राप्त करने के लिए आँखें फाड़कर भारत की ओर टिकटिकी लगाए हुए देख रहा है।

मैंने संसार की विज्ञान-क्षुधा को तृप्त करने के लिए ही यह गीता की अमृत-वर्षिणी टीका लिखी है जिसके बारह सौ पृष्ठों के दो भाग अभी छपने शेष हैं। परन्तु मैं ७५ वर्षीय वृद्ध हो चुका हूँ। पैसा मेरे पास नहीं है। दानी व्यक्ति तो हैं किन्तु बहुत कम संख्या में। अधिकांश व्यक्ति तो निःशुल्क पुस्तक प्राप्त करना चाहते हैं। उसके बदले में केवल प्रशंसा के पुष्पों से ही हमारा दामन भरना चाहते हैं। परन्तु लगभग चालीस हजार रुपये से छपने वाले इस गीता के अन्तिम दोनों भाग धन के अभाव से कैसे प्रकाशित हो सकते हैं ?

सज्जन वृन्द ! यदि भगवान् की कृपा से पैसों का कोई प्रबन्ध मेरे जीवन-काल में ही हो गया तो ये दोनों भाग अवश्य प्रकाशित हो जाएँगे।

दोनों छपे हुए भागों में जो थोड़ी सी अशुद्धियाँ रह गई हैं, उनको शुद्ध करके दोनों भागों के अन्त में लगा दिया गया है। ये आफ़सैट छपाई के समय पुनरावृत्तियों में यथा-स्थान ठीक कर दी जाएँगी। सज्जन विद्वानों से सविनय और सप्रेम अनुरोध है कि वे सूक्ष्म दृष्टि से पढ़कर हमारी भूलों और त्रुटियों से हमें सूचित करने की कृपा करें ताकि हम अगले संस्करण में उन्हें ठीक करके छाप सकें।

मैं उत्तरी भारत के प्रायः सब समाचार-पत्रों, उनके सम्पादकों, आकाशवाणी जालन्धर, सम्पादक विश्वज्योति साधु आश्रम हुशियारपुर, स्वामी स्वतन्त्र मुनि महाराज, स्वतन्त्रता सेनानी वैद्यशिरोमणि पं० दीनानाथ गीता आश्रम गुणाचौर, धुरंधर विद्वान् पं किशोरीलाल शास्त्री हदियाबाद फगवाड़ा आदि सज्जनों का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने प्रकाशन-कार्य के लिए धन एकत्रित करने में मेरी सन्तोषजनक सहायता की है। स्व० डा० सेठ गोविन्ददास जी संसद सदस्य की याद भी मुझे कभी विस्मृत न होगी जिन्होंने इस सम्बन्ध में प्रेम-

पत्र लिखकर मेरे लेखन-उत्साह में अत्यन्त वृद्धि की थी ।

मैं पं० कुन्दनलाल जी उपाध्याय औड़ निवासी का भी धन्यवाद किए विना नहीं रह सकता, जिन्होंने सदा दक्षिण बाहु बनकर मेरी सहायता की है। नवां शहर दोआबा के सब जैन बन्धुओं और अन्य सब इष्ट-मित्रों को मैं सदा सुखी रहने का आशीर्वाद देता हूँ जिनकी सहायता से मैं इस कार्य में सफल हुआ हूँ ।

सब सज्जनों के प्रशंसा पत्र, सम्मतियाँ और नाम एक पृथक् पुस्तिका में छापे जा रहे हैं ताकि हम उन सब सज्जनों के ऋण से उऋण हो सकें जिन्होंने इस महायज्ञ में किसी भी प्रकार का सहयोग प्रदान किया है ।

मैं उन सज्जनों का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने आर्थिक सहायता का दृढ़ विश्वास दिलाकर हमें विस्मृत कर दिया है। उन भले मानुषों पर आशा किए हुए हम इस वृद्धावस्था में भी आज तक जीवित रह सके हैं।

अन्त में मैं श्री मोतीलाल बनारसी दास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ के प्रबन्धकों तथा पुस्तक के मुद्रण से संबद्ध कार्यालय के उन सब सज्जन कर्मचारियों के प्रति आभार और शुभ कामनाएं प्रकट करता हूँ जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन में किसी प्रकार का भी योगदान दिया है। मेरा मन आप लोगों से अतीव प्रसन्न है ॥

अमृतसरिया राम मणोत

साहलों, पंजाब
बुधवार
गुरु व्यास पूर्णिमा, श्रावण २०३२
ता० २३.७.७५

विषय-सूची एवं अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता संसार में एक बहुत उत्तम और अद्भुत ग्रन्थ है। संसार के सब धर्म-ग्रन्थों की अपेक्षा जितना यह आकार मे छोटा है उतना ही महान् गम्भीर विस्तारमय अर्थ वाला है। इसके पढ़ने और इस पर आचरण करने से निःसन्देह मोक्ष की प्राप्ति होती है, ब्रह्म से मेल का मार्ग मिल जाता है, सदा के लिए जन्म-मरण से छुटकारा मिलता है, संसार के सम्पूर्ण संशय निवृत्त होकर जीव को शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जाती है। आत्म अनात्म वस्तुओं में अन्तर अवगत हो जाता है। इस सच्चे ज्ञान को प्राप्त होकर जीव आत्मा से परमात्मा बन जाता है। जो प्रकृति इसे वश में किए हुए थी वह पूरी तरह से इसके वशीभूत हो जाती है। इस पवित्र ग्रन्थ को पुनः-पुनः पढ़ने पर भी मन नहीं ऊबता है। इस पवित्र गंगा-सागर में जितनी बार डुबकी लगाई जाती है उतनी बार ही कोई न कोई अनर्घ हीरा प्राप्त हो जाता है अर्थात् प्रत्येक पुनरावृत्ति में पाठक को रस भरे सुस्वादु नवीन और अलौकिक अर्थ का आभास होता है। यही कारण है कि गीता एक सार्वभौम प्रिय ग्रन्थ बन चुका है। संसार के सब देशों में किसी-न-किसी रूप में इसका प्रचार हो रहा है तथा संसार की सब सभ्य भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। एक विद्वान् का कथन है कि इस समय गीता का मुद्रण और प्रकाशन संसार की प्रत्येक पुस्तक से अधिक है। अब वह दिन अधिक दूर नहीं है जब संसार के सब लोग गीता को संसार के सब धर्मों की एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म पुस्तक स्वीकार कर लेंगे।

गीता का **प्रथम अध्याय** इस पवित्र पुस्तक की प्रस्तावना के रूप में वर्णित हुआ है। जब महाभारत के युद्ध को प्रारम्भ हुए दस दिन व्यतीत हो गये तो दोनों पक्षों की सेनाओं के आधे से अधिक अर्थात् लगभग पच्चीस तीस लाख सैनिक मारे गये तथा बहुत से रथ या टैंक नष्ट हो गये। यह कोई आश्चर्यजनक घटना या बात न थी। क्योंकि यह एक आण्विक आयुधों का युद्ध था जिसमें लगभग सारे संसार के लोग सम्मिलित होकर लड़े थे। दोनों पक्षों की सेनाएँ कुरुक्षेत्र से लेकर इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) तक फैली हुई थीं जिनकी कुल संख्या लगभग पचास लाख थी।

जब संसार में आण्विक अस्त्र-शस्त्र अत्यधिक बन जाते हैं तो उनके द्वारा एक प्रलयकारी भयानक युद्ध हुआ करता है जिसके फलस्वरूप सभ्यता, विज्ञान,

कला कौशल तथा जन, धन आदि का सर्वनाश हो जाया करता है और संसार में शेष बचे हुए लोग पुनः प्रारम्भिक असभ्य दशा को प्राप्त हो जाते हैं। महाभारतकाल के लोगों ने एक बात अवश्य ही बुद्धिमत्ता की की थी जो आजकल के युद्ध प्रिय शासक तनिक भी सोच नहीं रहे हैं। वह यह कि संसार के समस्त युद्धप्रिय लोग एक छोटे भूभाग अर्थात् कुरुक्षेत्र के मैदान में ही लड़कर मर जाएँ जिससे संसार के सुन्दर नगरों का विध्वंस न हो सके तथा समस्त बाल, वृद्ध और नारियाँ जीवित रह सकें ताकि काल पाकर पुनः सभ्यता और विज्ञान उन्नति कर सकें।

और हुआ भी ऐसा ही। अब जबकि महाभारत के युद्ध हुए को पांच हजार से भी अधिक समय हो चुका है तब इतने लम्बे समय के अनन्तर भी विज्ञान के विषय में हम अभी तक उन लोगों के तुल्य नहीं बन सके हैं। किन्तु युद्धशील लोगों ने आण्विक आयुधों का आविष्कार करके संसार के भावी सर्वनाश का श्रीगणेश कर दिया है। अब यह प्रलयकारी युद्ध कुरुक्षेत्र जैसे किसी एक निर्जन-स्थल में न होगा, अपितु घर-घर और नगर-नगर पर बम-वर्षा होने की सम्भावना है। हो सकता है हमारी यह पृथिवी अणु-समूह होकर अन्तरिक्ष में विलीन हो जाए अथवा टुकड़े-टुकड़े होकर रसातल में (दक्षिणी ध्रुव की ओर) चली जाए। अस्तु।

दस दिन के युद्ध के अनन्तर कौरवों के प्रधान सेना संचालक प्रमुख वीर योद्धा भीष्म पितामह जी क्षत-विक्षत और मृतप्राय होकर अपने रथ या टैंक से पृथ्वी पर गिर पड़े। यह समाचार संजय ने धृतराष्ट्र से कहा। यह सुनते ही बूढ़े धृतराष्ट्र के पांवों के तले से पृथिवी खिसकने लगी। अन्धे की आंखों में अँधेरा तो प्रथम छाया हुआ था अब तो बुद्धि भी दुम दबा कर भाग खड़ी हुई। उसके हृदय में वेदना, शोक और पश्चात्ताप भर गए। इस अवस्था में उसने सहसा गीता का प्रथम श्लोक बोल दिया। संजय को इससे गीता ज्ञान वितरण द्वारा संसार के कल्याण करने का समय मिल गया। इसलिए उसने धृतराष्ट्र के उक्त कथन को उसके द्वारा कहा गया प्रश्न बना लिया और उस पर सम्पूर्ण गीता का सुन्दर स्वर्णमय दिव्य प्रासाद खड़ा कर दिया। श्री ज्ञानेश्वर जी के कथनानुसार राजा धृतराष्ट्र ने तो गीता का एक शब्द भी ध्यानपूर्वक नहीं सुना। वह तो ग्रीष्मकालीन गर्मी से सताए हुए ह्रद-तीर पर नेत्र बन्द किए हुए भैंसे की भान्ति सारा समय गद्दी पर बैठा ऊँघता रहा और मन में कुछ न कुछ सोचता रहा।

दूसरे श्लोक में संजय ने गुरु द्रोणाचार्य के समीप दुर्योधन का गमन वर्णन किया है और उसके द्वारा गुरु से पाण्डवों की सेना का निरीक्षण

करने के लिए प्रार्थना की गई है। फिर पाण्डव सेना के प्रधान और प्रमुख महारथियों को कह कर अपनी सेना के प्रसिद्ध शूरवीरों का उल्लेख किया गया है। गुरु द्रोणाचार्य के प्रति दुर्योधन ने व्यंगोक्ति द्वारा कहा कि हे गुरुदेव ! पाण्डवों को युद्ध विद्या सिखा कर इस महाभारत युद्ध के कांटे आपके द्वारा ही बोए हुए हैं। दुर्योधन ने प्रकट में तो अपनी सेना को सर्वश्रेष्ठ कहा परन्तु श्लेष से पाण्डव सेना की अपेक्षा न्यून और अपर्याप्त बतलाया है। इस प्रकार गुरु को उलाहना दिया जाना भी व्यंजित होता है।

यद्यपि भीष्म-पितामह उस समय का महान् शूरवीर, दृढ़ प्रतिज्ञ और कौरव सेना का प्रधान नियन्ता चालक और प्रधान सेनापति था फिर भी दुर्योधन अपने हृदय में उस पर पाण्डवों का पक्षपाती होने का सन्देह करता था जिससे उसने उसकी कड़ी नगरानी और रक्षा के लिए द्रोणादि शूरवीरों से अनुरोध किया। भीष्म पितामह ने भी दुर्योधन के इस निर्देश को भली-भान्ति सुन लिया तथा वह दुर्योधन के सन्देह से अवगत हो गया। क्योंकि अन्य योद्धाओं के सदृश उसके पास भी वह यन्त्र था जिसके द्वारा सब सेनानायक परस्पर बात-चीत करते थे और एक दूसरे की बात सुनते थे। कौरवों का सप्लाई डिपू मेरठ के समीप हस्तिनापुर में था और पाण्डवों का बिठण्डे के समीप विराट नगर में। सब योद्धाओं के पास दूरबीनें थीं जो दूर समीपवर्ती एक दूसरे को अच्छी तरह से देख सकते थे। ये लोग रथों अर्थात् टैंकों पर चढ़ कर लड़े थे। दासता के दिनों में हमारे ठीक इतिहास को बाहर के शासकों ने हम से छिपाने का भर-सक प्रयत्न किया था ताकि हम उससे अवगत होकर उनकी गुलामी से छुटकारा न पा सकें। आज के कई इतिहासकार भी अपनी अज्ञानता के वश अथवा जान बूझकर इसी डगर पर चल रहे हैं और भारत की भावी सन्तानों को उद्भ्रान्त करके पूर्ववत् ध्वान्त में फंसाए रखना चाहते हैं।

भीष्म पितामह ने दुर्योधन के हृदय की शंका दूर करने तथा उसे प्रसन्न करने के लिए उस समय भयानक सिंहगर्जना की और अपने शंख अर्थात् जंगी बिगुल को इतने जोर से बजाया कि उसका शब्द विराट नगर से हस्तिनापुर और कुरुक्षेत्र से इन्द्रप्रस्थ तक सब को सुनाई दिया। उसके बाद कौरव सेना के सब योद्धा अपने-अपने शंख बजाने लगे।

श्रीकृष्ण और अर्जुनादि पाण्डवों ने भी शंख बजाए जिनके तुमुल-शब्द को सुनकर कौरवों के हृदय विदीर्ण हो गए।

तब युद्ध के प्रारम्भ होने का समय देखकर अर्जुन ने अपने सारथि भगवान् कृष्ण से कहा—हे कृष्ण मेरा रथ (टैंक) ले जा कर दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित कीजिए, ताकि मैं भली-भान्ति देख लूं कि मुझे किन-किन

योद्धाओं के संग युद्ध करना है। तब भगवान् ने अर्जुन की इच्छा के अनुसार वैसा ही किया।

अर्जुन ने जब चारों ओर स्थित दोनों सेनाओं के योद्धाओं पर दृष्टि डाली तो वह भगवान् की प्रबल माया के वशीभूत हो गया जिससे पक्ष विपक्ष दोनों ओर की सेनाओं के लोग उसको अपने भाई-बन्धु और सम्बन्धी ही दिखाई देने लगे। यह दृश्य देखकर उसके मन में महान् मोह का आविर्भाव हुआ। तब उसने विचार किया कि इस युद्ध-क्षेत्र में क्या मैं अपने ही स्वजनों को मारूँगा ? उफ़ ! मैं कितना महापाप और घोर कर्म करूंगा। उस समय उसे सब लक्षण विपरीत ही दिखाई दिये। तत्क्षण उसके सब अंग शिथिल हो गए, मुख सूख गया, शरीर कांपने लगा, रोंगटे खड़े हो गए, हाथ से गाण्डीव धनुष गिर पड़ा, सिर चकरा गया और वह खड़ा होने में भी समर्थ न रह सका, आंखों में आंसू भर आए, आँखों तले अंधेरा छा गया और महा विषाद को प्राप्त होकर भगवान् कृष्ण के समीप बैठ गया तथा उनसे अपनी दशा और अन्तर्वेदना का वर्णन किया। बोला, महाराज ! मैं इस वंश-नाश के बदले में त्रिलोकी का राज्य भी नहीं लेना चाहता हूँ। इन आततायी बन्धुओं को मारने की अपेक्षा मैं उनके हाथों अपना मरना ही ठीक मानता हूँ।

क्योंकि अपने कुल का नाश करने से अपने कुलधर्म की महान् हानि होगी, कुलवधुएँ विधवा हो जायेंगी, व्यभिचार फैलेगा जिससे वर्ण संकर सन्तानों की उत्पत्ति होगी, जिनके द्वारा दिया हुआ पिण्डदान पितरों को प्राप्त न होगा, जिसके फलस्वरूप वे नरक में पतित हो जाएंगे। इस प्रकार वर्णसंकर बच्चे जाति-धर्म और कुलधर्म के नाश का कारण बनेंगे। इससे हम लोगों को भी मरने के अनन्तर नरक की प्राप्ति होगी।

अतः हे कृष्ण ! मैं नहीं लडूंगा। मैं नहीं लडूंगा ॥

अर्जुन ऐसा कहकर चुप हो गया, तब संजय ने उस पर फबती उड़ाते हुए राजा धृतराष्ट्र से कहा—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥

यहाँ से गीता का **द्वितीय भाग** आरम्भ होता है—

तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को मोहित करने वाली अपनी विशाल माया के प्रसार को देखा और अर्जुन की मोह ग्रस्त दीन दशा पर विचार किया। तब करुणा-निधि भगवान् कृष्ण कहने लगे—

हे अर्जुन ! तुमको इस युद्ध भूमि और विषमकाल में यह महामोहमय अज्ञान कहाँ से आ उपस्थित हुआ है ? श्रेष्ठ पुरुष तो तेरी इस दशा को

कभी प्राप्त नहीं होते क्योंकि इससे तो किसी का न संसार में यश होता है न परलोक में ही शुभगति प्राप्त होती है।

तू तो संसार में विख्यात और विजयी शूरवीर है। शत्रु तेरा नाम सुनकर ही कांपते हैं। अरे भाई तनिक होश करो। यह युद्ध क्षेत्र है। राजा विराट का घर नहीं है जहां हीजड़ा बनकर राज-कन्याओं को नाचना और गाना सिखाना होगा और छिप कर तुम शत्रु कौरवों को उपलब्ध न हो सकोगे। इसलिए हृदय की दुर्बलता को त्यागो। कायर मत बनो। उठो, शत्रुओं से युद्ध करके उनके छक्के छुड़ा दो, और उन्हें नाकों चने चबवा दो। वे तेरा लोहा तो पहले ही मानते हैं। अब कौन सी कसर है जो तुम उनसे भयभीत हो रहे हो।

यह सुन कर अर्जुन की बुद्धि कुछ ठिकाने हुई। थोड़ा धैर्य हुआ, तब नेत्र पोंछ कर शान्ति से कहने लगा—

महाराज ! भीष्म मेरे दादा हैं। द्रोणाचार्य मेरे गुरु हैं। मैं इन पूज्यों का वध कैसे कर सकूंगा ? मेरे द्वारा तो सदा इनका सत्कार और पूजा ही की जानी योग्य है। इन गुरुओं को मार कर तो मैं महापापी बन जाऊँगा। इन पूजनीय बड़ों की हत्या करके जो राज्य और सुख हमें प्राप्त होगा, वह तो इनके रक्त से रंजित होगा। महान् अनर्थ है। क्या हम इन बड़ों के रुधिर से सने हुए भोगों को भोगेंगे ? इस अनर्थकारी कुकर्म से तो बढ़कर यही है कि हम इन महानुभावों के साथ राज्य के लोभ से युद्ध ही न करें। अपितु संसार में उपराम होकर बेघर हुए घूमते-फिरते रहें। साधु सन्तों की तरह भिक्षा मांगकर खा लिया करें। इस प्रकार निष्पाप ही हमारा जीवन बीत जाएगा।

हम तो भली-भान्ति यह भी नहीं जानते कि इस समय हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यदि कहो कि हम युद्ध ही करें तो उसमें हमारी विजय ही संदिग्ध है। कौन जानता है कि कौन जीतेगा और कौन हारेगा। हो सकता है कि हम ही जीत जाएँ। ऐसा भी संभव है कि शत्रु ही जीतें।

जिन बन्धु-बांधवों और संबन्धियों को मार कर हम एक पल भी जीवित रहना नहीं चाहते हैं वही धृतराष्ट्र के पुत्र और अन्य स्वजन इस समय लड़ने के लिये हमारे सम्मुख डटे खड़े हैं। इनको देख कर मेरा हृदय दया से भरा हुआ है और इस समय मैं धर्मसम्बन्धी किसी प्रकार का भी विचार करने में समर्थ नहीं हूं। आप मेरे पथप्रदर्शक सच्चे गुरु हो तथा मैं आपका आज्ञाकारी सच्चा शिष्य हूं। मैं आपके सामने सादर झुक कर नम्रता से प्रार्थना करता हूं कि इस समय आप मुझे ऐसी शिक्षा दीजिए जिससे निश्चयपूर्वक ही हमारा कल्याण हो। क्योंकि मैं स्वयं तो उस उपाय को सोच ही नहीं सकता हूं जो

पृथ्वी पर निष्कंटक, धन-धान्य-संपन्न-राज्य और इन्द्रपुरी के स्वामित्व को प्राप्त करके भी मेरी इन्द्रियों को शुष्क करने वाले शोक और सन्ताप को हटा सके। अब मैं कौरवों से लड़ना नहीं चाहता हूँ।

तब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी प्रबल माया द्वारा मोहित हुआ जानकर मुस्कराने लगे और गीता का उपदेश प्रारम्भ करते हुए बोले—

हे मेरे प्रिय शिष्य अर्जुन ! जिन बातों, व्यक्तियों और घटनाओं का शोक मोह और चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिए, इस समय उनके सम्बन्ध में तू महान् मोह, शोक और चिन्ता कर रहा है, और बार-बार बुद्धिमान् और पण्डितों जैसी बातें भी कर रहा है। परन्तु वास्तव में तुम्हारे ये वचन प्रज्ञा-वानों जैसे नहीं हैं और तुमको यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि पण्डित और ज्ञानी लोग मरे हुओं का कभी मोह, शोक, चिन्ता और वियोग नहीं किया करते तथा न जीवित बन्धुवर्ग, अन्य लोगों एवं सम्बन्धियों सम्बन्धी किसी प्रकार की चिन्ता या उनकी भावी संभावित मृत्यु सम्बन्धी शोक करते हैं। कोई ऐसा समय नहीं था, न है और न आ सकता है कि जिसमें मैं परमेश्वर सर्वव्यापक नहीं हूँ। तथा कोई काल भी ऐसा नहीं हो सकता जिसमें तू नहीं था अथवा न होगा। इसी प्रकार संमुख उपस्थित ये क्षत्रिय योद्धा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं। इस कथन से स्पष्ट प्रकट और व्यक्त है कि हम सब पहले भी थे, अब भी हैं और आगे भी होंगे।

जिस प्रकार देही अर्थात् जीवात्मा की वर्तमान देह में बाल्यावस्था, तरुणा-वस्था और पुनः वृद्धावस्था होती है वैसे ही वर्तमान शरीर त्यागने के अनन्तर इसे अन्य नवीन शरीर की प्राप्ति भी होती है। धीर और बुद्धिमान् लोग इस विषय में मोहित नहीं होते अर्थात् मूर्ख नहीं बनते हैं तो फिर किसी दूसरे के या स्वयं अपने मरने से डरने की क्या आवश्यकता है ?

हे अर्जुन ! शीत, उष्ण तथा सुख-दुख को अनुभव कराने वाले इन्द्रियों के साथ विषयों के संयोग तो सदा आने जाने वाले अनित्य और क्षण-भङ्गुर होते हैं इसलिए मिथ्या समझ कर तू उनको सहन कर। क्योंकि इनको सम समझने वाले जिस श्रेष्ठ और धीर पुरुष को ये सब द्वन्द्व दुःख नहीं देते हैं वह ब्रह्म पाने के लिए सर्वथा योग्य हो जाता है। जो वस्तु त्रिकाल असत् या नापैद है अर्थात् जिसका अस्तित्व किसी काल में भी नहीं है जैसे गधे के सींग, चिड़ियों का दूध, सिकता से तेल का निकलना, नभ से दूध का दुहा जाना, ये सब त्रिकाल अनहोनी बातें हैं, इसी प्रकार किसी भी असत् का कभी अस्तित्व नहीं होता परन्तु सत् या आत्मतत्त्व का कभी अभाव नहीं है। ये दोनों तथ्य

आ सत्य नित्य ही अनुभवी ब्रह्मज्ञानियों द्वारा देखे जाते हैं।

अविनाशी तो केवल एक मात्र वही भगवान् है जिसके द्वारा यह सारा संसार प्रसारित हुआ है। उस अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर का नाश करने के लिए अन्य कोई तो क्या वह स्वयं भी समर्थ नहीं है। परन्तु नित्य अविनाशी अप्रमेय जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् हैं। इसलिए किसी के मरने मारने की चिन्ता को त्याग कर तू युद्ध कर।

जो कोई इस आत्मा को मरने या मारने वाला अथवा मरा हुआ मानता है वह आत्मा की असलियत से बेखबर है क्योंकि यह आत्मा तो न कभी किसी की हिंसक है और न किसी के द्वारा हिंस्य है। न कभी जन्म लेती है, न कभी मरती है क्योंकि यह अनादि है। इसलिए इसके जन्मने और मरने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। इसलिये शरीर के नाश हो जाने पर भी इसका नाश नहीं होता है। जो पुरुष आत्मा सम्बन्धी इस सारी थ्यूरी को समझ लेता है वह कभी किसी को मरवाता या मारता नहीं है, न स्वयं ही मरता है।

जैसे मनुष्य जीर्ण और पुराने वस्त्रों को त्याग करके नवीन वस्त्रों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीरों को त्याग कर नवीन शरीरों को प्राप्त हो जाती है।

यह आत्मा अच्छेद्य है। इसलिए अस्त्र-शस्त्र से अकाट्य है। अग्नि से अदाह्य है। किसी प्रकार की अग्नि या विज्ञान की प्रक्रिया से इसे जलाया नहीं जा सकता। अक्लेद्य है अतः इसे जल या किसी अन्य तरल पदार्थ से गीला नहीं किया जा सकता है और न ही गिलाया जाता है। इसी प्रकार अशोष्य भी है क्योंकि किसी प्रकार की पवनादि गैस से सुखा कर इसे नष्ट नहीं किया जा सकता है। निःसन्देह यह जीवात्मा (आत्मा) नित्य सर्वव्यापक अचल, स्थिर और सनातन है।

और यदि तू इस आत्मा या शरीर को सदा जन्मने और मरने वाला भी समझता है तो भी तू इन बन्धुओं के सम्बन्ध में शोक करने के योग्य नहीं है। क्योंकि जन्म लेने वाला शरीर तो निश्चित ही मरता है और फिर मरे हुए का जन्म भी निश्चयपूर्वक ही होता है। इन दोनों परिवर्तनों को हटाने का तो उपाय ही नहीं है। इस कारण से भी तुम्हारा शोकग्रस्त होना व्यर्थ है।

इस आत्मा को कोई पुरुष तो आश्चर्यान्वित हुआ देखता है, कोई आश्चर्य युक्त कहता है तथा तीसरा कोई आश्चर्यवत् हुआ सुनता है और कोई अज्ञानी महापुरुषों से सुनकर भी इसे जानता और समझता नहीं है।

यह आत्मा तो सब देहों में सदा अवध्य है। फिर तुम्हें अपने क्षत्रिय धर्म पर भी भली भान्ति विचार करना चाहिए जिस धर्म में युद्ध से अधिक श्रेष्ठ और कोई कर्तव्य कर्म नहीं है। इस प्रकार अपने आप प्राप्त एवं खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप धर्म-युद्ध को भाग्यशाली क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं। फिर भी यदि तू इस धर्मयुद्ध में दत्त-चित्त होकर भाग नहीं लेगा, तो तू न केवल अपने अर्जित यश को ही खो देगा अपितु पाप को भी प्राप्त होगा जिससे सब लोग चिर-काल तक रहने वाली तेरी अकीर्ति या निन्दा का गान करेंगे। याद रखो, सम्मानित पुरुष का अपयश या अकीर्ति मरने के दुख से भी अधिक दुःख-प्रद होती है क्योंकि मरने का दुःख तो एक बार ही होता है किन्तु बदनामी या निन्दा पुरुष को आजीवन कल्पातीत सताती और जलाती रहती है।

यदि इस समय तू युद्ध न करेगा तो सब बड़े-बड़े शूरवीर और महारथी लोग तुझे भयभीत होकर युद्ध-क्षेत्र से भागा हुआ कहेंगे—जिनके द्वारा तू बहुत माना हुआ योद्धा था वे ही लोग तुझे कायर, डरपोक और कमीना कह कर पुकारेंगे। उन लोगों के निन्दा-सूचक कड़वे और तीखे वचन तेरे सीने में तीक्ष्ण तीर से लगेंगे। उस समय तुम पश्चात्ताप के बिना और कुछ भी न कर सकोगे।

देखो यदि तुम युद्ध में मारे गये तो स्वर्ग को प्राप्त होगे और यदि जीत गए तो सार्वभौम राज्य और सुख को भोगोगे। इसलिये युद्ध करने का निश्चय करो तथा सुख-दुःख, लाभ-अलाभ और जय-अजय को सम समझो।

कर्म-योग में प्रारम्भ या बीज का नाश नहीं होता तथा विपरीत फल पाप की भी प्राप्ति नहीं होती। कर्मयोग के अनुसार अनुष्ठित धर्म का अंश मात्र भी जन्म-मृत्यु से छुड़ाने वाला होता है। दृढ़-निश्चय वाली बुद्धि तो सब ज्ञानियों की समान ही होती है किन्तु अज्ञानियों की बुद्धि बहुत भेदों वाली और अनन्त होती है। जो पुरुष भोग-कामनाओं से युक्त होते हैं वे वेदों से भी फल को प्रदान करने वाले मन्त्रों को ही ग्रहण करते हैं तथा स्वर्ग-प्राप्ति को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। वे उन कर्मों के करने में ही रत रहते हैं जिनके करने से इहलोक और परलोक दोनों में उनकी विषय-वासना की पूर्ति हो। इसलिए उनकी बुद्धि ज्ञान-मार्ग में कभी प्रवृत्त नहीं होती। इन लोगों की वेद के उन मन्त्रों और कृत्यों में ही श्रद्धा होती है जो त्रैगुण्यविषयक होते हैं। ज्ञान तथा मोक्ष दिलाने वाले मन्त्रों में नहीं।

इसलिए हे अर्जुन ! तू तीनों गुणों के कार्य रूप संसार से रहित, नि-ष्काम, निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्वस्थ, निर्योग-क्षेम और आत्मवान बन। जिस प्रकार कोई मनुष्य बहुत बड़े शुद्ध, स्वच्छ, शीतल और निर्मल गंगाजल से परि-

पूर्ण सरोवर को छोड़कर जलपान और स्नान करने के लिए किसी कुएं की ओर नहीं जाता है इसी प्रकार अच्छी तरह से ब्रह्मलीन या ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्मज्ञानी का धार्मिक अथवा अन्य सब पुस्तकों से कोई सरोकार नहीं रहता है।

हे अर्जुन ! तेरा केवल कर्म करने में ही अधिकार है, उनके फलों की प्राप्ति में नहीं। यदि तू किए जा रहे कर्म के फल की इच्छा करेगा तो अवश्य ही जन्म-मरण के चक्र में पड़ेगा। इसलिए कर्मफल की आसक्ति को छोड़ कर, सिद्धि और असिद्धि में सम भाव रहता हुआ, तथा योग में स्थित होकर कर्मों को कर क्योंकि समत्व बुद्धि से युक्त होकर किए हुए कर्म से सकाम कर्म अत्यन्त निकृष्ट या तुच्छ होता है।

समत्व-योग-बुद्धि से युक्त हुआ पुरुष पाप और पुण्य इन दोनों को इस लोक में छोड़ देता है, जिससे उसका पुनर्जन्म नहीं होता। अर्थात् ऐसे ज्ञानी लोग जन्म-बन्धन से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त हो जाते हैं। हे अर्जुन ! तेरी बुद्धि वर्तमान मोह रूपी पंक को पार कर जाएगी तो तू सच्चे वैराग्यों को पा लेगा। जब लोगों की सुनी सुनाई मत-मतान्तरों की भ्रम-मूलक बात से तेरी विचलित हुई बुद्धि योग समाधि में स्थित हो जाएगी तब तू ब्रह्म में मिलकर निश्चल हो जाएगा।

कोई पुरुष मन में घुसी हुई सम्पूर्ण कामनाओं को जब भली-भाँति त्याग देता है और अपने-आप में ही सन्तुष्ट रहता है तब वह पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ऐसा पुरुष दुःखों में अक्षुब्ध मन, सुखों में तृष्णारहित तथा राग, भय और क्रोध से हीन होता है वह सर्वत्र स्नेह रहित होता है। शुभ को पाकर खुश नहीं होता और अशुभ को पाकर क्रुद्ध नहीं होता। जैसे कछुवा अपने शत्रु को देखकर सब अङ्गों को सुकेड़ कर अपने कवच में छिपा लेता है वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुष अपनी इन्द्रियों को सब विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी कर लेता है।

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले मूर्ख हठ योगी तथा रोगी के भी एक अनुरक्ति को छोड़ कर सब विषय शान्त या निवृत्त हो जाते हैं, स्थितप्रज्ञ पुरुष की विषयों में अनुरक्ति भी परब्रह्म को देख कर दूर हो जाती है।

बहुधा यह भी देखा जाता है कि इन इन्द्रिय-विषयों से छूटने का प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी मथनशील इन्द्रियां विषयों के रस का प्रलोभन दिखा कर बलपूर्वक विषयों की ओर ले जाती हैं। इसलिये उन सब इन्द्रियों को साधक पुरुष वशीभूत करके योगयुक्त हुआ मेरे परायण हो। यदि

ऐसा न किया जाएगा तो वह पुरुष अपने मन में विषयों का चिन्तन करेगा जिससे उन विषयों में उसकी अनुरक्ति हो जायगी जिससे फिर उसके मन में उन विषयों के साधन को प्राप्त करके उन्हें भोगने की कामना होगी। उस कामना में किसी व्यक्ति के द्वारा विघ्न पड़ने से अथवा विषयों को अत्यधिक भोगकर तन, मन, धन के क्षीण और दुर्बल हो जाने से पुरुष की प्रकृति में चिड़चिड़ापन या क्रोध उत्पन्न हो जाता है। फिर क्रोध से सम्मोह या मूढ़ भाव की उत्पत्ति होती है। सम्मोह बढ़ जाने से स्मरण-शक्ति का नाश हो जाता है जिससे अपने पराये का अन्तर लुप्त हो जाता है। विना विचार किए ऐसा पुरुष सब का अपमान करने लगता है। स्मृति-नाश के सहित ही बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। तदनन्तर वह पुरुष पागल होकर आप भी नष्ट हो जाता है।

परन्तु अपने अधीन किए हुए अन्तःकरण वाला अपने वश में की हुई राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा अनिवार्य विषयों को भोगता हुआ भी अन्तःकरण की प्रसन्नता और स्वच्छता को प्राप्त हो जाता है, जिससे तीनों प्रकार के दुःखों की हानि या विनाश हो जाता है तथा पुरुष ब्रह्मलीन होने के योग्य हो जाता है।

परन्तु अयुक्त पुरुष की बुद्धि श्रेष्ठ नहीं होती। न उसमें परमेश्वर के प्रति भावना ही होती है। भावना रहित पुरुष को शान्ति प्राप्त नहीं होती। फिर शान्तिरहित पुरुष को सुख कहाँ ?

क्योंकि जो मन अपने-अपने विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों का अनुसरण करता है वह उस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेता है जैसे अयोग्य नावक द्वारा जल में चलाई जा रही नाव को झंझावात डुबोने के लिए विपरीत दिशा में ले जाती है। इसलिये जिस पुरुष की इन्द्रियाँ सर्वतः शब्दादि विषयों की ओर जाने से रोकी हुई हैं उसकी बुद्धि स्थिर समझनी चाहिए।

सारे भूत-प्राणियों के लिए जो निशा या सोने का साधन है, संयमी परमात्मा में स्थित हुआ योगी उसमें जागता है और जिस नाशवान् मिथ्या संसार में सारे प्राणी जागते हैं युक्त योगी के लिए वह रात है अर्थात् संसार में वह सदा लुप्तवत् रहता है। केवल ब्रह्म में ही सजग होता है। जिस प्रकार चारों ओर से आकर सब नदियां समुद्र में समा जाती हैं और उसकी शान्ति को किंचिन्मात्र भंग नहीं करती हैं तद्वत् योगी में सारे भोग और कामनाएँ समा जाती हैं और उसे तनिक सा भी क्षुब्ध नहीं करती हैं।

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर, स्पृहा से रहित, हुआ निर्मम तथा निरहंकार हुआ जगत् में विचरता है वह ब्रह्मवेत्ता परमशान्ति रूप मोक्ष को प्राप्त होता है। फिर ब्रह्मलीन पुरुष कभी मोह को प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने दूसरे अध्याय में सारी गीता का सार सूत्र रूप में अर्जुन से कहा। शेष गीता में इसी अध्याय की व्याख्या विस्तार पूर्वक वर्णित है।

तीसरे अध्याय में ज्ञान योग और निष्काम कर्म योग का विवेचन किया गया है तथा यज्ञादि कर्म करने की आवश्यकता प्रदर्शित की गई है। भगवान् कहते हैं कि "लोक-संग्रहार्थ तथा पुरुषों के पथ-प्रदर्शन के लिये मैं स्वयं भी यज्ञ-कर्म करता हूँ। इससे लोक-मर्यादा भी स्थिर रहती है।"

चौथे अध्याय में फल सहित नाना प्रकार के यज्ञ कर्मों का निरूपण किया गया है।

पांचवें अध्याय में ज्ञानयोग और भक्ति सहित ध्यान-योग का निरूपण हुआ है।

छठवें अध्याय में मुख्यतया ध्यान योग का वर्णन किया गया है। अन्त में योग-भ्रष्ट पुरुष की गति का वर्णन है।

इस प्रकार गीता का प्रथम षट्क वेद के प्रथम भाग कर्म-काण्ड के रूप में कहा गया है। दूसरे भाग उपासना कांड के रूप में गीता का दूसरा षट्क है और अन्तिम तीसरा षट्क वेद के ज्ञानकांड के रूप में है। इस प्रकार वेद-विद्या का सारा सार गीता रूप में भगवान् ने कह दिया है।

हे गोविन्द ! यह तेरी वस्तु अभी दो पुष्पों के रूप में सादर तुझे समर्पित है। स्वीकार करो।

आपका
टीकाकार

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

ज्यायसी चेत्+कर्मणः+ते मता बुद्धिः जनार्दन । तत्+किम्+कर्मणि घोरे माम्+नियोजयसि केशव ॥

अर्जुनः+उवाच=अर्जुन बोला ।

[वच् (अदा० उभ० सक०=बोलना)+लिट्०—

परस्मैपद

प्र०—उवाच	ऊचतुः	ऊचुः
म०—उवचिथ उवक्थ	ऊचथुः	ऊच
उ०—उवाच उवच	ऊचिव	ऊचिम

आत्मनेपद

प्र०—ऊचे	ऊचाते	ऊचिरे
म०—ऊचिषे	ऊचाथे	ऊचिध्वे
उ०—ऊचे	ऊचिवहे	ऊचिमहे]

ज्यायसी=(वि०) अयम् अनयोः अतिशयेन प्रशस्यः वृद्धो वा । प्रशस्य (वा वृद्ध)+(तुलनात्मक) ईयसुन् (=ईयस्), ज्यादेशः=ज्यायस् । ज्यायसी (स्त्री०)=अधिकतर बड़ी । अधिकतर श्रेष्ठ । श्रेष्ठ । उत्तम । श्रेयसी । (प्र० ए० व०) ।

चेत्=(अव्यय)√चित्+विच्=चेत् । यदि ।

कर्मणः=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+पंच० ए० व०=कर्मणः=कर्म से ।

ते=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी० ए० व०=तव। ते।
तेरी। आपकी।

मता=(वि०)√मन् (दिवा० आत्म० सक०=मानना)+क्त=मत। मता (स्त्री०)=मानी हुई है। अभिप्रेता है। मान्य है।

बुद्धिः=(स्त्री०)√बुध् (भ्वा० उभ०, दिवा० आत्म०, सक०=जानना)+क्तिन्=बुद्धि+प्र० ए० व०। ज्ञान। बुद्धि।

जनार्दन ! =(सम्बो०)

१. सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धये इति जनार्दनः=अपने-अपने मन वांछित पदार्थों की प्राप्ति के लिए सब लोगों द्वारा जिससे प्रार्थना की जाती है उसका नाम जनार्दन है॥

२. 'जनं जननं तत्कारणमज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेण अर्दयति हिनस्ति' इति जनार्दनः=जन्म तथा जन्म के कारण अज्ञान को जो अपने साक्षात्कार से नाश करता है उसका नाम जनार्दन है।

ए० व०। हे जनार्दन !

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) प्र० ए० व०। अथवा तत् (अव्यय)=तो फिर।

किम्=(अव्यय) क्यों ? कस्मात्। किस कारण से।

कर्मणि=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ए० व०=कर्म में।

घोरे=(वि०)√हन् (अदा० पर० सक०=वध करना)
+अच्, घुरादेशः=घोर। **अथवा**
√घुर् (तुदा० पर० अक०=भयंकर शब्द करना)+अच्=घोर+(नपुं०) सप्त० ए० व०=घोरे=घोर में। भयानक में। प्रचण्ड में। उग्र में। क्रूर में।

{ कर्मणि घोरे=घोर कर्म में। }
{ हिंसारूप घोर क्रूर कर्म में। }

माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझ को। मुझे।

नियोजयसि=नि√युज् (रुधा० उभ० सकं०=जोड़ना)+णिच्+लट्०, म० पु०, ए० व०=जोड़ते हो। लगाते हो।

केशव ! =(सम्बो० ए० व०) हे केशव !
[क+अ+ईश+व=केशव। क=ब्रह्मा। अ=विष्णु। ईश=शिव। व=वपु (शरीर या स्वरूप)।

इस प्रकार संसार के सृजन, पालन और नाश करने की सम्पूर्ण शक्तियों के धारण करने वाले स्वरूप का नाम केशव है।

अथवा सबके अन्तःकरण में रहने वाले परमेश्वर का नाम केशव है।

किंवा केशी दैत्य के मारने वाले कृष्ण का नाम केशव है।

केशव=(पुं०) केश√वा+ड वा क=सुन्दर केशों वाला।

अर्थ—अर्जुन बोला—हे जनार्दन ! यदि कर्म से बुद्धि (ज्ञान) तेरी अति श्रेष्ठ मानी हुई है हे केशव ! तो फिर मुझको (इस युद्ध रूपी हिंसापूर्ण) घोर क्रूर कर्म में क्यों लगाते हो ? ॥ १ ॥

व्याख्या—भगवान् ने दूसरे अध्याय में प्रवृत्ति (कर्म योग बुद्धि) और निवृत्ति (सांख्य बुद्धि) दो मार्गों का उपदेश किया है। "प्रजहाति यदा कामान्" श्लोक से लेकर अध्याय की समाप्ति तक कर्मों के त्याग के सम्बन्ध में बल दिया गया है और अन्त में 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' कह कर ज्ञान-निष्ठा की श्रेष्ठता कही गई है। परन्तु अर्जुन से यह भी कहा गया है—कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', और 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' । अर्थात् 'तेरा कर्म में ही अधिकार है' तथा 'कर्म न करने में तेरी प्रीति न होनी चाहिए।' परन्तु इसके द्वारा मुक्ति की प्राप्ति नहीं कही गई है। यह सब कुछ विचार कर अर्जुन की बुद्धि व्याकुल सी हो गई और भूल-भुलैयां में पड़ गया। जब उसे वहाँ से निकलने का कोई मार्ग दिखाई न दिया तो वह अपने आपको भगवान् की माया द्वारा मोहा हुआ अनुभव करने लगा। इससे छुटकारा पाने के लिए उसने भगवान् की प्रशंसा करते हुए कहा कि हे कृष्ण ! मैं तो आज तक आपको अपना सखा ही समझता रहा। परन्तु अब समझ में आया कि आप तो जनार्दन हैं। अर्थात् लोग अपने मन वांच्छित फलों को प्राप्त करने के लिये आप से प्रार्थना करते हैं। तथा आप जन्म और जन्म के कारण अज्ञान को तत्काल दूर कर देने वाले हैं। यही नहीं, आप तो केशव भी हैं अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश के आदि कारण होने से सम्पूर्ण संसार के सृजन, पालन और नाश करने की शक्ति वाले हो। केशी आदि दैत्यों के मारने वाले हो। संसार की सम्पूर्ण शक्तियाँ आपके संयमन में हैं। आप अपने सुन्दर केशों और श्याम वपु द्वारा प्राणी मात्र को मोहित करने वाले हो। मैं तो आपका शिष्य हूँ और आपकी शरण हूँ। पिछले अध्याय के अन्तिम श्लोकों में आपने कर्मों की अपेक्षा बुद्धि या ज्ञान को श्रेष्ठ कहा है। यह बात मेरी समझ में आ भी गई है। परन्तु कई बार आपने मुझे हिंसात्मक युद्ध रूप घोर

और क्रूर कर्म करने के लिये भी कहा है। इसलिए मैं द्विविधा या असमञ्जस में पड़ गया हूँ और यह निश्चित नहीं कर सका हूँ कि इन दोनों में से मुझे किस मार्ग को अवलम्बन करना चाहिए और मोक्ष की प्राप्ति के लिये मुझे क्या करना श्रेष्ठ है। मैं तो आपके समदर्शी और त्यागी बनने के उपदेश से प्रभावित हो चुका हूँ। बुद्धि-बल के कारण से मेरा मन कर्मों के करने की ओर आकर्षित नहीं होता है। इससे मैं कौरवों के साथ युद्ध करने को घोर पापमय कर्म समझता हूँ। मेरे विचार में यह धर्मयुद्ध नहीं है जिस में दोनों पक्षों में सब अपने ही लोग मारे जाएँगे। इसलिए मुझे समत्व बुद्धि के कारण सब लोग 'अपनी ही आत्मा होने से युद्ध करना उचित जंचता नहीं है। यदि इस प्रकार का ज्ञान कर्त्तव्य कर्मों को करने से श्रेष्ठ है तो युद्ध जैसे घोर और क्रूर कर्मों के करने से तो अवश्य ही श्रेष्ठ होना चाहिए। परन्तु फिर भी मेरी समझ में यह बात बैठ नहीं रही है कि आप मुझे घोर और क्रूर कर्म-वाला युद्ध करने के लिए क्यों कह रहे हैं? इस विषय में मेरी बुद्धि कुछ काम नहीं कर रही है। इससे साफ़-साफ़ कहिए कि वास्तव में मुझे अब क्या करना उचित है। जिसमें ये लोक और परलोक दोनों सुधर जाएँ। आप सब प्रकार से समर्थ हैं। पूर्ण परब्रह्म हैं तथा मेरे परम हितकारी पूज्य और सखा हैं॥ १॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

व्यामिश्रेण+इव वाक्येन बुद्धिम्+मोहयसि+इव मे। तत्+एकम्+वद निश्चित्य येन श्रेयः+अहम्+आप्नुयाम्॥

व्यामिश्रेण=(वि०) वि—आ√मिश्र् (चुरा० पर० सक०=संमिश्रण करना। मिलाना)+अच्=व्यामिश्र+(नपुं०) तृती० ए० व०=मिले-जुले हुए द्वारा।

इव=(अव्यय) तरह के। जैसे। से।

वाक्येन=(नपुं०)√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+ण्यत्=वाक्य+तृती० ए० व०=वाक्य से। वचन द्वारा। सार्थक-शब्द-समूह के द्वारा।

बुद्धिम्=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन्=बुद्धि+द्विती० ए० व०=बुद्धि को। मति को। अक्ल को।

मोहयसि=√मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्छित होना)+णिच्+लट्० म० पु०, ए० व०=मोहित करते हो। (तू) मोहित करता है।

इव=(अव्यय) सी। जैसी।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम। मे। मेरी।

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस (बात) को।

एकम्=(वि० संख्या०) एक+(नपुं०) द्विती० ए० व०=एक को।

वद=√वद् (भ्वा० पर० सक०=बोलना)+लोट् म० पु०, ए० व०=(तू) कह। (आप) कहो।

निश्चित्य=निर्√चि (स्वा० उभ० सक०=चयन करना)+ल्यप्=निश्चय करके।

येन=(सर्व०) यद्+(नपुं०) तृती० ए० व०=जिससे। जिसके द्वारा।

श्रेयः=(वि०) अतिशयेन प्रशस्यः। प्रशस्य+ईयसुन्, श्र आदेश=श्रेयस्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=मंगल को। कल्याण को। बेहतरी को।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।

आप्नुयाम्=√आप् (चुरा०, स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना)+विधि० उ० पु०, ए० व०=(मैं) प्राप्त करूँ। प्राप्त होऊँ॥

अर्थ—आप इस मिले-जुले वाक्य से मेरी बुद्धि को मोहित से कर रहे हो। अतः उस एक बात को निश्चय करके कहिए, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ॥ २॥

व्याख्या—पहले श्लोक में अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि हे भगवन्! यदि आप कर्म से बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हैं, तो मुझ को युद्ध रूप घोर क्रूर कर्म करने की प्रेरणा क्यों कर रहे हो? यह मैं मानता हूँ कि आप वास्तव में मुझे सन्देह में डालना नहीं चाहते और न ही आपके वचन किसी के लिए सन्देहजनक हो सकते हैं। परन्तु मेरी बुद्धि ही अल्प है, जिससे मैं आपके वचन को ठीक-ठीक समझ नहीं सका। उल्टा भ्रम में पड़ गया हूँ। जिससे ये मिले-जुले से आपके वचन मुझे मोहित से कर रहे हैं। हे भगवन्! यद्यपि आप स्पष्टवक्ता हैं, परन्तु मुझ मन्द-बुद्धि को आपके ये वचन मिले-जुले से प्रतीत हो रहे हैं। वास्तव में आप तो मेरी बुद्धि का मोह दूर करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। इसलिए आप मुझे मोहित नहीं कर रहे हैं। परन्तु आप के ये वचन मेरी बुद्धि को मोहित से करते हुए प्रतीत हो रहे हैं।

मैं समत्व बुद्धि का पल्ला पकड़ कर युद्धरूपी घोर क्रूर कर्म से बचना चाहता हूँ क्योंकि आपने स्वयं स्थिरबुद्धि की बहुत प्रशंसा की है। इसलिए तो फिर स्थिरबुद्धि ज्ञानी पुरुष को किसी से लड़ने या युद्ध करने का प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? मुझे तो निष्काम कर्म करने वाले पुरुष सम्बन्धी आप के वाक्य और समत्व या स्थिर-बुद्धि-ज्ञानी सम्बन्धी आपके वाक्य परस्पर टकराते हुए से मालूम होते हैं। जिससे मैं किसी निश्चय पर नहीं पहुँच रहा हूँ। इस समय मैं व्याकुल और परेशान सा हो रहा हूँ तथा अपनी चेतना को भी खो बैठा हूँ। कृपया मुझे इन दोनों में से एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिए कि मैं युद्ध ही करूँ अथवा स्थिर-बुद्धि ज्ञानी बन कर इन सब झगड़े-टण्टों से रहित हो जाऊँ ? ताकि कल्याण को प्राप्त कर लूँ। अर्थात् परमात्मा में लीन होकर तद्रूप बन जाऊँ।

अभी तक तो मैं आपके द्वारा बतलाए हुए वेद-निष्ठा के परित्याग और वेद-निष्ठा-फलस्वरूप कर्मों के ग्रहण के चक्र में ही भ्रमण कर रहा हूँ। क्योंकि एक स्थान पर तो आप निवृत्ति-मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं और दूसरे स्थान पर प्रवृत्ति-मार्ग के अनुकूल युद्ध करने को कहते हैं।

हे जनार्दन ! हे केशव ! मैं आपकी शरण हूँ। मेरा हाथ पकड़िए और परमात्मा में मेल करा दीजिए। केवल एक ही मार्ग मेरे लिए निश्चित कीजिए जिस पर चल कर मैं परमानन्द या मोक्ष को पा लूँ॥

इस श्लोक पर स्वामी चिद्घनानन्दगिरि जी की सुन्दर व्याख्या का सरल भाषा रूपान्तर इस प्रकार है—"हे भगवन् ! 'त्रैगुण्यविषया० २।४५॥" इत्यादि वचनों से आप पहले तो वेद-निष्ठा का परित्याग बतलाते हैं। और 'कर्मण्येवाधिकारस्ते० २।४७॥' इत्यादि वचनों से आप निवृत्ति मार्ग का उपदेश करते हैं और फिर 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयो० २।३१॥' इत्यादि वचनों से प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश देते हैं।

इस प्रकार ज्ञान-निष्ठा और कर्म-निष्ठा के प्रतिपादन करने वाले जो आपके वचन हैं यद्यपि वे मिले-जुले अर्थ को कथन नहीं करते हैं तो भी भिन्न-भिन्न अर्थ को अवश्य कथन करते हैं। परन्तु मैं अर्जुन अपने बुद्धि-दोष से यह नहीं समझ सका कि ज्ञान-निष्ठा और कर्म-निष्ठा दोनों का एक ही पुरुष अधिकारी है ? अथवा दोनों निष्ठाओं के भिन्न-भिन्न अधिकारी हैं ? इस प्रकार का संशय होने से आपके वचन मिले-जुले से प्रतीत होते हैं।

हे भगवन् ! ऐसे ज्ञान तथा कर्म निष्ठाओं के प्रतिपादक व्यामिश्रित वाक्यों से आप मुझ मन्द-बुद्धि अर्जुन के अन्तःकरण को मानो मोह की प्राप्ति करा रहे हो। आप परम कृपालु हो और हमारे मोह को

निवृत्त करने के लिए यहाँ प्रवृत्त हुए हो; हमें मोह में फँसाने के लिए नहीं। फिर भी आपके वचनों को सुन कर हमें जो भ्रम रूप मोह प्राप्त हुआ है, वह तो मेरे अपने अन्त:करण के दोष से हुआ है।

हे भगवन् ! यदि ज्ञान और कर्म दोनों का एक ही पुरुष अधिकारी है, तो ये दोनों परस्पर विरुद्ध होने से इनके एक साथ होने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि ये दोनों एक अर्थ के वाचक नहीं हैं। इसलिए मुझ अर्जुन के लिए एक साथ इन दोनों निष्ठाओं का उपदेश ठीक जंचता नहीं है। जैसे एक ही पुरुष एक ही काल में परस्पर विरुद्ध 'स्थिति' तथा गमन दोनों क्रियाओं के करने में समर्थ नहीं हो सकता। वैसे ही मैं अर्जुन एक ही समय में परस्पर विरुद्ध ज्ञान-निष्ठा और कर्म-निष्ठा दोनों के करने में समर्थ नहीं हूँ। इसलिए ज्ञान के अधिकार तथा कर्म के अधिकार इन दोनों में से केवल एक अधिकार का निश्चय करके आप हमारे प्रति उपदेश दीजिए जिस पर आचरण करने से मैं मोक्ष रूप श्रेय प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

लोके+अस्मिन्+निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया+अनघ। ज्ञान-योगेन सांख्या-नाम्+कर्म-योगेन योगिनाम् ॥

श्रीभगवान्+उवाच=श्रीकृष्ण भगवान् बोले।

लोके=(पुं०)√लोक् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+घञ्=लोक+सप्त० ए० व०=लोक में। मनुष्य लोक में। संसार में।

अस्मिन्=(सर्व० वि०) इदम्+(पुं०) सप्त० ए० व०=इसमें।
['लोके' का विशेषण]

द्वि-विधा=(वि०) स्त्री०, प्र० ए० व०। दो प्रकार हैं जिसके ऐसी (बहुव्री०)। दो प्रकार वाली। दो प्रकार की। [√विध् (तुदा० पर० सक०=विधान करना)+क+आ=विधा।]। द्वि-प्रकारा।

निष्ठा=(स्त्री०) नि√स्था+अङ्—टाप्=निष्ठा+प्र० ए० व०=श्रद्धा। स्थिति। निश्चय। वह मार्ग, जिस पर चलने से अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्त्तव्य-तत्परता।

[निष्ठा शब्द के पूर्व 'मोक्ष' शब्द अध्याहृत है—किसी वाक्य को पूरा करने के लिए उसमें छूटी हुई बात को मिलाकर उस वाक्य को पूरा करना "अध्याहार (अधि—आ√हृ+घञ्)" कहलाता है। उसका क्तप्रत्ययान्त रूप 'अध्याहृत' होता है। इसलिए यहाँ 'निष्ठा' के स्थान पर 'मोक्ष-निष्ठा' का अर्थ होना चाहिए=मोक्ष प्राप्त करने की सरणी।]
[अथवा साधन की परिपक्व अवस्था या पराकाष्ठा का नाम निष्ठा है।]

पुरा=(अव्यय)√पुर (तुदा० पर० अक०=आगे होना)+का=पुरा=

१. प्राचीन काल में।

२. सृष्टि के आदिकाल में। [सृष्टि के आदिकाल में प्रजा को रचकर उनकी लौकिक उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति के लिए मुझ सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा कही गई है]—[श्री स्वामी शंकराचार्य जी]

३. पहले के अवतारों द्वारा।

४. गीता के द्वितीय अध्याय में।
[हमने 'पुरा' शब्द का अर्थ "पहले" अर्थात् "दूसरे अध्याय में" किया है। यही अर्थ सरल है, क्योंकि दूसरे अध्याय में पहले सांख्य निष्ठा के अनुसार ज्ञान का वर्णन करके फिर कर्मयोग का आरम्भ किया गया है। परन्तु 'पुरा' शब्द का अर्थ 'सृष्टि के आरम्भ में' भी हो सकता है। क्योंकि महाभारत में, नारायणी या भागवतधर्म के निरूपण में यह वर्णन है कि सांख्य और योग (निवृत्ति और प्रवृत्ति) दोनों प्रकार की निष्ठाओं को भगवान् ने जगत् के प्रारम्भ में ही उत्पन्न किया है (देखो शां० ३४० और ३४७)।]

[श्री तिलक महाराज जी]

प्रोक्ता=(वि०) प्रकर्षेण उच्यते स्म। प्र√वच्+क्त=प्रोक्त+(स्त्री०) प्र० ए० व०=कही हुई है। कही गई है।

मया=(सर्व०) अस्मद्+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा। मुझ से।

अनघ!=(वि०) नास्ति अघं (पापं) दुःखं व्यसनं कालुष्यं वा यस्य (नञ् बहुव्री०)।
सम्बोधन ए० व०। हे निष्पाप (अर्जुन)! हे पाप रहित (अर्जुन)! हे अपाप (अर्जुन)! [न√अघ् (चुरा० पर० अक०=पाप करना)+अच् =न+ अघं यस्मिन्=अनघ!] हे दुष्कर्मरहित! हे अपराध रहित!

ज्ञान-योगेन=(पुं०) ज्ञानम् एव योगः=ब्रह्म-प्राप्ति-उपायेन। तृती० ए० व० =ज्ञान रूप योग से।

[आत्मा और परमात्मा को अभेद मानना, या अपने को ब्रह्म से अभिन्न समझना 'ज्ञान' है। समदृष्टि हो जाना, हर्ष, शोक, आसक्ति और कामना से रहित होना; सारे संसार में एक परमात्मा के बिना कुछ न देखना तथा सारे संसार को स्वप्न-वत् समझना—ये सब ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं।

योग=युज्यते ब्रह्मणा अनेन सः योगः। यह अधिकारी पुरुष जिसके द्वारा ब्रह्म के साथ जुड़ जाता है अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है उस साधन का नाम योग है। √युज्+घञ्=योग (आत्मा और परमात्मा के जुड़ कर एक हो जाने का नाम योग है)। ज्ञान के द्वारा आत्मा और परमात्मा के एक हो जाने के ढंग को 'ज्ञान-योग' कहते हैं।]
["योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस पातञ्जल सूत्र के अनुसार 'ज्ञान-योग' का अर्थ "ज्ञान के द्वारा मन की वृत्तियों का सब विषयों से निरोध करके (हटा कर) ईश्वर से मिलने का मार्ग" भी हो सकता है।]

सांख्यानाम्=(पुं०) [सम्√ख्या+अङ्—टाप्=बुद्धि]। संख्या+अण्= सांख्य+षष्ठी० ब० व०=सांख्य योगियों की। तत्त्व-चिन्तन करने वालों की।

[आत्मा और परमात्मा को अभेद समझने वाली बुद्धि को जो प्राप्त हुआ है उसका नाम—"सांख्य" योगी है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुरुष का नाम 'सांख्य' है।]

कर्म-योगेन=(पुं०) कर्म-योग के द्वारा (तृती० ए० व०)

[कर्म के फल की इच्छा और आसक्ति को छोड़कर भगवान् की आज्ञा समझ कर केवल भगवत् अर्थ समत्व-बुद्धि से कर्म करने का नाम 'निष्काम-कर्मयोग' है। इसको कर्म-योग, बुद्धियोग, समत्वयोग, मत्कर्म, मदर्थकर्म, तदर्थकर्म इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है।]

योगिनाम्=(पुं०) योगिन्+षष्ठी० ब० व०=कर्म-योगियों की।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—हे निष्पाप (अर्जुन)! इस (मनुष्य) लोक में दो प्रकार की निष्ठा (ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति की सरणी) मेरे द्वारा पहले (सृष्टि के आदि में और दूसरे अध्याय में) कही गई है। सांख्य योगियों (ब्रह्म-ज्ञानियों) की (निष्ठा) ज्ञान-योग से और कर्म-योगियों की कर्म-योग से॥ ३॥

व्याख्या—श्री कृष्ण भगवान् बोले—हे अर्जुन ! पाप-युक्त और पाप-परायण पुरुष ज्ञान और कर्म दोनों निष्ठाओं में से किसी को भी प्राप्त नहीं होता, परन्तु तुम तो पाप-मुक्त और धर्म-रत हो। इस लिए दोनों ही मार्गों द्वारा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के लिए सर्वथा योग्य हो। क्योंकि "ज्ञान-मुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।" अर्थात् 'पाप कर्म से रहित पुरुषों में ही ज्ञानोत्पत्ति की योग्यता होती है।' इस संसार में ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति रूप लक्ष्य तो सब का केवल एक ही है परन्तु उसकी प्राप्ति के मार्ग दो हैं—एक तो ज्ञान-मार्ग है जिस पर चलता हुआ पुरुष अपना आपा खोकर परमात्मा के स्वरूप में मिल जाता है; और उसका फिर संसार में आवागमन नहीं होता। ज्ञानी की यह धारणा होती है, कि "माया से उत्पन्न हुए सारे गुण ही गुणों में बरतते हैं।" इसलिए वह मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाली क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होता है तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है। उसके इसी आचरण का नाम 'सांख्य-योग, ज्ञान-योग या संन्यास' होता है।

दूसरा मार्ग कर्म-योग का है, जिसमें कर्मयोगी पुरुष समत्व बुद्धि के आश्रित हुआ कर्मों को सदैव निष्काम भाव से करता है। आसक्ति और ममता का त्याग करता है। इन्द्रियों के कभी वशीभूत नहीं होता। वह मन से कभी विषयों का चिन्तन नहीं करता जिससे उसका अन्तःकरण परम पवित्र और शुद्ध हो जाता है। वह सारे कर्मों को भगवान् की आज्ञा समझ कर भगवान् के निमित्त ही करता है। इस प्रकार कर्मयोग का आचरण करता हुआ मरने के बाद परमात्मा में लीन होकर परम-पद को प्राप्त हो जाता है।

यहां भगवान् ने "निष्ठा" शब्द में एक वचन प्रयुक्त किया है। द्विवचनान्त 'निष्ठे' पद का प्रयोग नहीं किया है। जिसका अभिप्राय यह है कि निष्ठा द्वारा प्राप्ति-स्थान-ब्रह्म-लीनता तो सब के लिए एक ही है। परन्तु उसकी प्राप्ति के मार्ग दो हैं। जिनमें से पहले का नाम सांख्य-योग है। इस मार्ग पर चल कर सांख्य योगी भी उसी ब्रह्म में जा मिलता है जिसमें कर्म-योगी, कर्म-योग मार्ग पर चल कर मिलता है।

सांख्य-योगी सर्व प्रकार के कर्म-काण्ड से रहित होता है। वह देखने में एक मस्त सा दिखाई देता है। देह उसकी अपनी देह नहीं होती। गेह उसका अपना गेह नहीं होता। संसार में बिना परमात्मा के उसे और कुछ दीखता ही नहीं है। वह खाता हुआ, पीता हुआ, जागता या सोता हुआ इसी प्रकार कुछ और कर्म करता हुआ भी किसी क्रिया से लिप्त नहीं होता। उसे कोई

आकांक्षा नहीं होती, कोई वासना नहीं होती। उसे न किसी से भय होता है और न किसी से प्रीति होती है। वह सारी क्रियाओं का कर्ता होकर भी वास्तव में उनका अकर्ता ही होता है। दत्तात्रेय, मुनि अष्टावक्र, भर्तृहरि (अपनी अन्तिम अवस्था में), मनसूर, शिबली तथा कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होने वाले मस्त-लोग इसी ज्ञानी श्रेणी में गिने जाते हैं।

दूसरी श्रेणी में जो शुद्धान्तःकरण कर्मयोगी होते हैं उनका सारा समय सर्वोदय और परोपकार में ही व्यतीत होता है। राजा जनक, भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, महात्मा बुद्ध, देश-पिता गाँधी, नानक, कबीर, समर्थ रामदास, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ और लोकमान्य तिलक आदि ये सब लोग कर्मयोगी थे। सबसे पहले भगवान् ने सृष्टि के प्रारम्भ होने पर दो प्रकार की निष्ठा का वर्णन भगवान् मनु और सूर्य भगवान् आदि से किया था तथा ब्रह्मा से कहा था। और फिर समय-समय पर अवतार धारण करके अपने भक्तों तथा ऋषि-मुनियों को यह ज्ञान सिखाया था और अब फिर इस गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन को इस का बोध कराया है ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न कर्मणाम्+अनारम्भात्+नैष्कर्म्यम्+पुरुषः+अश्नुते। न च संन्यसनात्+एव सिद्धिम्+समधिगच्छति ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

कर्मणाम्= (नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+षष्ठी० ब० व०=कर्मों के। कार्यों के।

अनारम्भात्=(पुं०) न आरम्भात् (नञ् तत्पु०)। पंच० ए० व०=आरम्भ न करने से। अनुष्ठान न करने से। यज्ञादि कर्मों का आरम्भ किए बिना।

नैष्कर्म्यम्=(नपुं०) निष्कर्मन्+ष्यञ्+द्विती० ए० व०। निष्कर्म भाव को। कर्म शून्य स्थिति को। निष्क्रिय आत्मस्वरूप में स्थित होना रूप ज्ञान योग से प्राप्त होने वाली निष्ठा को। सभी कर्मों के त्याग वाली स्थिति को। जिस अवस्था के प्राप्त हुए पुरुष के कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं, अर्थात् फल उत्पन्न नहीं कर सकते उस निष्कर्मता नामक अवस्था को।

पुरुषः=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति, √पुर्+कुषण्=पुरुष+प्र० ए० व०=मनुष्य। पुरुष। आदमी।
अश्नुते=√अश् (स्वा० आत्म० अक०=प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है। अनुभव करता है। पाता है। प्राप्नोति।
न=(अव्यय) न। नहीं।
च=(अव्यय) और।
संन्यसनात्=(नपुं०) सम्—नि√अस्+ल्युट्+पंच० ए० व०=त्याग से।
एव=(अव्यय) ही।
सिद्धिम्=(स्त्री०)√सिध्+क्तिन्=सिद्धि+द्विती० ए० व०=सिद्धि को। सफलता को। ज्ञान योग से प्राप्त होने वाली स्थिति को। (भगवत् साक्षात्कार रूप) सिद्धि को।
समधिगच्छति=सम्—अधि√गम्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

अर्थ—पुरुष न (तो शुरू से ही) कर्मों का आरम्भ न करने से निष्कर्मता (शुभाशुभ कर्मों के फल नष्ट हो जाने वाली स्थिति) को प्राप्त होता है। और न कर्मों के त्यागने (मात्र) से ही (भगवत् साक्षात्कार रूप) सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यज्ञादि शुभ कर्मों के किए बिना संचित पापों का नाश नहीं होता, और संचित पापों का नाश हुए बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। और अन्तःकरण के शुद्ध हुए बिना मनुष्य में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती तथा बिना ज्ञान उत्पन्न हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। कहा भी है—

'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।'

अर्थात् 'पाप कर्मों का नाश होने पर ही मनुष्य के अन्तःकरण में ज्ञान प्रकट होता है।'

इसलिए मनुष्य कोई भी कर्म आरम्भ न करने से निष्कर्म भाव को अर्थात् कर्मशून्य स्थिति को पा नहीं सकता। तथा निष्क्रिय आत्मस्वरूप में स्थित होना रूप ज्ञान योग से प्राप्त होने वाली निष्ठा को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि कर्मों का आरम्भ ही निष्कर्मता की प्राप्ति का उपाय है और उपाय के बिना उपेय की प्राप्ति हो नहीं सकती। निष्कर्मता रूप ज्ञान योग का उपाय तो कर्मयोग ही है। श्रुति में कहा है—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'

(बृह० ४।४।२२ ।।) अर्थात् 'उस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन और यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं।'

गीता में भी कर्मयोग को ज्ञान योग का उपाय बतलाया गया है। जैसे—

१. "संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः" [५।६।।]

(हे महाबाहो! बिना कर्मयोग के [कर्मों में कर्तापन का] त्याग प्राप्त होना कठिन है)।

२. "योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये" [५।११ ।।]

(योगीजन आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं)।

३. "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" [१८।५।।]

(यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही बुद्धिमानों अर्थात् फल और आसक्ति त्याग कर केवल भगवदर्थ कर्म करने वालों को पवित्र करने वाले हैं)।

दूसरे अध्याय में बतलाया गया है कि मनुष्य कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ उनमें आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करे। ऐसा करने से उसे फिर कभी किसी प्रकार से भी कर्म बन्धन रूप नहीं होगा। पारे का प्रयोग करने से पहले उसे वैद्य लोग शुद्ध कर लेते हैं। इस प्रकार कर्म करने से पहले ऐसा उपाय करना पड़ता है जिससे उसका बन्धकत्व या दोष मिट जाए, ऐसी युक्ति से कर्म करने की स्थिति को "नैष्कर्म्य' कहते हैं। सभी प्रकार का कर्म-बन्धन जन्म, मरण का मूल कारण होता है। क्योंकि सभी प्रकार के शुभा-शुभ कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म ग्रहण करना पड़ता है। और कर्म-बन्धन, कर्मों में कर्ता की आसक्ति और फलेच्छा के कारण होता है। कर्मों के फल से छुटकारे का नाम ही 'नैष्कर्म्य' या निष्कर्मता है। इसे ही तीसरे श्लोक में योग-निष्ठा कहा गया है।

भला यदि कोई आदमी यह कहे कि जब मैं किसी प्रकार का भी शुभा-शुभ कर्म न करूँगा तो कर्मबन्धन में भी न फंसूँगा। परन्तु इस सम्बन्ध में भगवान् स्वयं स्पष्टतया कहते हैं कि 'कोई पुरुष कर्मों को न आरम्भ करने से भी निष्कर्मता को प्राप्त नहीं होता। तो फिर उसे कर्मों के फल जन्म-मरण से छुटकारा भी कैसे मिल सकता है ? इसीसे तो किसी ने कहा है कि नग्ना क्या नहाएगी और क्या निचोड़ेगी ? फिर जो कोई कर्मों को न करना चाहेगा, वह आलसी बन कर एक स्थान पर ही मिट्टी का माधव बना बैठा रहेगा। और मन में कुछ न कुछ चिन्तन करता रहेगा। भला कब तक कुछ न खाएगा ?

शौच न जाएगा ? और निर्वाह के लिए कोई पापड़ न बेलेगा ? जब वह स्वरूप से ही सब कर्मों का त्याग करेगा तो उसे निष्कर्मता कभी प्राप्त न होगी। मनुष्य को लोक-संग्रह के निमित्त भी कर्म करना पड़ता है जैसे नदी पार करने के लिए नाव आदि का सहारा लेना ही पड़ता है। इसी प्रकार सांख्य योगी को भी स्वरूपतः कर्म करना ही पड़ता है। जो ममता, आसक्ति, कामना, रसास्वादन और फलेच्छा रहित होकर भगवत्-अर्पण और समत्व बुद्धि से किया जाता है। कर्मों का स्वरूपतः त्याग करने से कभी सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती। कई लोग यह समझकर कि मादक वस्तुओं के सेवन करने से बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है और मनुष्य चेतना-शून्य होकर कर्म करने से रहित हो जाता है जिससे कर्म-बन्धन टूट जाता है, अफीम, पोस्त, भाँग, गाँजा और मदिरा आदि नशों का सेवन करने लगते हैं। परन्तु ऐसा समझना और करना उनकी बड़ी भूल है क्योंकि गाढ़ निद्रा, बेहोशी और मृत्यु में तो किसी बात का पता ही नहीं रहता। तो फिर पूर्वकृत कर्मों का बन्धन कैसे टूट सकता है ? और संचित पाप-पुण्य कैसे नष्ट हो सकते हैं ? शारीरिक कर्मों के छोड़ने या बन्द करने से तो मन अधिक चंचल हो जाता है तथा कुत्सित कामनाओं से भर जाता है। क्योंकि बेकार मनुष्य के अन्तःकरण में अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं। इससे शारीरिक कर्मों के त्याग से क्रियाहीन हुआ मनुष्य रोगी होकर अनमना सा हो जाता है और मिजाज में चिड़चिड़ापन उत्पन्न हो जाता है। जिससे साधक पथ-भ्रष्ट होकर सिद्धि से वंचित रह जाता है। इसलिए न तो कर्मों का अनारंभ ही ठीक है और न स्वरूप से कर्मों का त्याग ही उचित है। अपितु आसक्ति, ममता, कामना और फलेच्छा से रहित होकर संसार के उपकारार्थ, लोकसंग्रह के निमित्त से, भगवत्-अर्थ तथा अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्त्तव्य कर्मों का करना ही श्रेयस्कर होता है। इसी मार्ग पर चलकर कर्म-योगी पहले कर्म-निष्ठा और फिर ज्ञान-निष्ठा को प्राप्त होता है और सांख्य-योगी सिद्धि को प्राप्त कर लेता है; अर्थात् दोनों प्रकार के साधक परमात्मा में मिलकर एकरूपता को पा जाते हैं ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

न हि कश्चित्+क्षणम्+अपि जातु तिष्ठति+अकर्मकृत्। कार्यते हि+अवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैः+गुणैः ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

हि=(अव्यय) क्योंकि ।

कश्चित्=(सर्व०) किम्+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चित्=कश्चित्= कोई ।

क्षणम्=(पुं०, नपुं०)√क्षण् (तुदा० उभ० सक०)+अच्=क्षण+ द्वितीο ए० व०=क्षण भर । क्षणमात्र समय । पल भर । थोड़े से थोड़ा समय ।

अपि=(अव्यय) भी ।

जातु=(अव्यय)√जन्+क्तुन् (पृषो० साधुः)=कदाचित् । कभी । किसी काल में ।

तिष्ठति=√स्था (भ्वा० पर० अक०=रहना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =रहता है । ठहरता है ।

अकर्म-कृत्=बिना कर्म किए हुआ (शतृ०) ।

कार्यते=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+णिच्+लट्० (कर्मवाच्य), प्र० पु०, ए० व०=कराया जाता है । किया जाता है । करता है ।

हि=(अव्यय) निःसन्देह ।

अवशः=(वि०) नास्ति वशं यस्य सः (नञ् बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व०= लाचार हुआ । बेबस हुआ । परवश हुआ । विवश हुआ । मजबूर हुआ ।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को ।

सर्वः=(सर्व०, वि०)√सृ+व=सर्व+(पुं०) प्र० ए०=सारा जीव समुदाय । सारा मनुष्य समुदाय । प्राणी-मात्र । सब प्राणी ।

प्रकृति-जैः=(वि०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन्=(स्त्री०) प्रकृति । प्रकृतितो जातैः सत्त्वरजस्तमोभिः=प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम—इन तीनों द्वारा । तृती० ब० व० ॥

गुणैः=(पुं०)√गुण्+तृती० ब० व०=गुणों द्वारा ।

अर्थ—क्योंकि निःसन्देह कोई (प्राणी) क्षण भर भी कभी बिना कर्म किए नहीं रहता । प्रकृति से उत्पन्न हुए (सत्त्व, रज और तम—इन तीन) गुणों द्वारा विवश किया हुआ सारा (प्राणी जगत्) कर्म करता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! कोई पुरुष कर्म किए बिना कभी नहीं रह सकता । जब तक यह देह जीवित है; उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना, जागना, सोचना, समझना आदि अनेक कर्म सदा इसके साथ लगे रहते हैं । स्वयं कर्म छोड़ देने से भी कर्म कभी नहीं छूटता; क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण मनुष्य से कुछ न

कुछ कर्म मन, वाणी और शरीर से कराते ही रहते हैं। कारण यह कि देह का निर्माण भी प्रकृति के इन तीन गुणों से ही होता है। जब तक ये तीनों गुण मिले हुए शरीर में विद्यमान रहते हैं तब तक यह शरीर जीवित और स्थिर रहता है। परन्तु जब इनमें से कोई एक गुण भी शरीर को छोड़ देता है तो यह शरीर निर्जीव और नष्ट हो जाता है। इसलिए जब तक जीव जीवित रहता है तब तक वह क्षण भर भी कर्म का त्याग नहीं कर सकता। आँखें खुलती और बन्द होती हैं। कान सुनते और अनसुनी करते हैं। मुख हिलता और जम्भाई लेता है। नाक प्राणवायु (ऑक्सीजन) को अन्दर खींचती और अपान वायु (कार्बनिक ऐसिड गैस) को निरन्तर बाहर निकालती रहती है। त्वचा जल, वायु अग्नि आदि का स्पर्श और दुःख-सुख का अनुभव करती रहती है। हाथ पांव कुछ न कुछ तो हिलते ही रहते हैं। प्राण स्थिर रखने के लिये कुछ न कुछ तो खाना-पीना ही पड़ता है। गुह्य और उपस्थ भी समयानुसार मल-मूत्र त्यागते ही रहते हैं। मस्तिष्क सदा सोचता, समझता और स्मरण-शक्ति को जागृत रखता है। सदा हृदय में शृंगार, करुण आदि नौ रसों का संचार होता रहता है क्योंकि इस संसार के रंगमंच पर प्रकृति रूपी नटी अपने द्वारा उत्पन्न किए गुण रूप नटों को संग लेकर नाना प्रकार के खेल खेलती रहती है, यही देख कर तो एक ज्ञानी ने कहा है—

"गाह वगाह मैं बाम दुनिया का तमाशा देखता,
गाह वगाह मैं वहशियों की सी लगाता हूँ सदा।
बादशाह दुनिया के, मोहरे हैं मेरी शतरंज के,
दिललगी की चाल हैं सब रंग सुलह जंग के॥"

इस प्रकार रुधिर निरन्तर दिन रात सारी देह की नाड़ियों में चक्कर लगाता रहता है। शरीर की सब कोशिकाएँ भोजन ग्रहण करने, मल त्यागने, शरीर नाशक जीवाणुओं का नाश करने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा प्रगतिशील करने में दिन-रात जुटी रहती हैं, सूर्य, चन्द्र और तारा-मण्डल आदि सारा संसार अपनी-अपनी सीमा के भीतर रहकर निरन्तर कार्य करने में लगा हुआ है। यह सब कुछ प्रकृति के तीनों गुणों से मजबूर किया हुआ सारा संसार और प्राणी-समुदाय कर रहा है। सब ढोर डण्डे के ज़ोर से हाँके जा रहे हैं। केवल एक ज्ञानवान् पुरुष ही प्रकृति के वशीभूत नहीं है क्योंकि तत्त्व-ज्ञानी तो प्रकृति को जीत कर अपने वशीभूत कर लेते हैं।

इसलिए जब सर्वसाधारण जीव समूह का कर्म करने से छुटकारा ही नहीं है, तो फिर उस युक्ति का अवलम्बन क्यों न किया जाए जिससे ये सारे

कर्म, बन्धन बन कर जन्म-मरण के चक्र में न डाल सकें। तिलक भगवान् के कथनानुसार कर्म एक ऐसे बिच्छू के समान है जो डंक तो चलाता है परन्तु मारता कभी नहीं है। इसलिए ऐसा कोई उपाय करना चाहिए जिससे वह विष-रहित हो जाए। गीता में इसका उपाय यह बतलाया है कि कर्मों से अपनी आसक्ति को हटा लेना-चाहिए तथा निष्काम भाव से सब कर्म किए जाएँ। उनमें ममता, वासना और किसी भी प्रकार की फलेच्छा नहीं होनी चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि संन्यास धारण करके बिना कर्म किए ही मोक्ष रूप सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति तो केवल ब्रह्मज्ञान से होती है। कर्मों के त्याग से नहीं। भला यदि केवल कर्मों के त्याग से ही परमात्मा की प्राप्ति हो जाती, तो पर्वतों पर पड़े हुए सब पत्थर कभी के तर जाते। सब जानते हैं कि वे तो कभी कोई कर्म नहीं करते। इससे प्रकट होता है कि 'नैष्कर्म्य' कर्म छोड़कर बैठ जाने का नाम नहीं है। तथा महान् प्रयत्न करने पर भी कोई पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का त्याग नहीं कर सकता है। और कर्मों के स्वरूपतः त्याग देने से मोक्ष रूप सिद्धि की प्राप्ति भी नहीं हो सकती है। इसलिए कर्मों का परित्याग करना ठीक नहीं है। अपितु ब्रह्मज्ञान के द्वारा उनमें ममता, आसक्ति और फलेच्छा आदि का परित्याग करना ही उचित है। जिससे शुभाशुभ सब प्रकार के कर्मों के बन्धन टूट जाते हैं और फिर परमात्मा रूप निर्मल, स्वच्छ और अथाह सागर में लीनता प्राप्त हो जाती है ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

कर्म+इन्द्रियाणि संयम्य यः+आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रिय+अर्थान् +विमूढ+आत्मा मिथ्या+आचारः सः+उच्यते ॥

कर्म+इन्द्रियाणि=(नपुं॰) कर्माणि इन्द्रियाणि (द्विती॰ तत्पु॰)। हस्तादीनि कर्मेन्द्रियाणि (द्विती॰ ब॰ व॰)=हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियों को। [कुल कर्मेन्द्रियाँ पाँच हैं—हाथ, पैर, वाणी (मुख), गुह्य, उपस्थ]। (यहाँ पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और ग्यारहवें मन इन सबसे तात्पर्य है क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ भी देखने, सुनने, सूँघने, चखने, छूने और कल्पना करने के कर्म करती हैं)।

संयम्य=सम्√यम् (भ्वा॰ पर॰ अक॰=रोकना। हटाना)+ल्यप्=हटा कर। रोक कर। (संहृत्य)।

यः=(सर्व॰) यद्+(पुं॰) प्र॰ ए॰ व॰=जो पुरुष।

आस्ते=√आस् (अदा० आत्म० अक० सक०=बैठना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=बैठता है। (तिष्ठति)। लेटता है।

मनसा=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेन, √मन्+असुन्=मनस्+तृती० ए० व०=मनसा=मन से। अन्तःकरण से। चित्त द्वारा।

प्राणी में वह शक्ति जिसके द्वारा उसको वेदना, संकल्प, इच्छा, द्वेष, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है, मन या अन्तःकरण कहलाती है। यह मन अत्यन्त दूरंगम होता है और पल भर में दूर के अन्तरिक्षों तक चला जाता है। किसी कवि ने इस मन के साथ क्या अच्छा उपहास किया है—

मन को नपुंसक जान कै, भेजयो प्रिया-पास।
निगौड़ा वहीं रम रहा, कीनो पाणिनि नास॥]

स्मरन्=√स्मृ (भ्वा० पर० सक०=स्मरण करना)+शतृ=स्मरत्+(पुं०, वि०) प्र० ए० व०=स्मरण करता हुआ। (चिन्तयन्)।

इन्द्रिय+अर्थान्=(पुं०) इन्द्रियाणाम् अर्थान् (षष्ठी तत्पु०) इन्द्रियों के अर्थों को। विषयों को। इन्द्रियों की आवश्यकताओं को। इन्द्रियों के तृप्त करने वाले विषयों को। (द्विती० ब० व०)।

विमूढ+आत्मा=(वि०) विमूढान्तःकरणो यः सः। (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व०। मूर्ख बने हुए अन्तःकरण वाला। मोहित अन्तःकरण वाला। ज्ञानहीन अन्तःकरण वाला।

[वि√मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्ख होना)+क्त=विमूढ (वि०)]

मिथ्या+आचारः=(वि०) मिथ्या आचारः यस्य सः (बहुव्री०)। झूठे आचार वाला। ढोंगी। पापाचारी। (पुं०) प्र० ए० व०।

[√मिथ्+क्यप्+टाप्=मिथ्या (अव्यय) झूठ। आ√चर्+घञ्=आचार (पुं०)+प्र० ए० व०=आचारः। चलन। व्यवहार।]

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह। वह पुरुष।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+लट्० प्र० पु० ए० व० (कर्म या भाव वाच्य)=कहा जाता है। कहलाता है।

अर्थ—जो पुरुष (हाथ-पैर आदि संपूर्ण) कर्मेन्द्रियों को (हठ से) रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों (या भोगों) का चिन्तन करता रहता है वह विमूढ़ात्मा (मूढ़ पुरुष) मिथ्याचारी (ढोंगी, दम्भी या पापाचारी) कहलाता है॥ ६॥

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन से कहा कि जो पुरुष दशों इन्द्रियों को रोक कर एक स्थान पर बैठ जाता है अथवा लेट जाता है, किंवा पैरों और टांगों की पालती मार लेता है, हाथ हिलाता नहीं, उठकर पेशाब करता नहीं, पहरों टट्टी रोके रखता है, आँखें बन्द कर लेता है, कानों में रूई या अंगुलियाँ ठोंस लेता है, न मुँह से बोलता है, न कुछ खाता या पीता है, हाथ, पाँव या त्वचा से भी कोई काम नहीं लेता, मृतक की भाँति साँस लेने का भी कोई पता नहीं चलता, इस प्रकार दशों कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने व्यापारों से हठ-पूर्वक रोके रखता है, परन्तु मन में शाम को रण्डी के घर जाने की सोचता है, साथ मदिरा पीने का विचार करता है, सिनेमा आदिक विषय-वर्धक खेल-तमाशे देखना चाहता है, रसीले मादक गीत श्रवण करने की इच्छा करता है, मिठाई, मांस, मछली और अण्डे आदि खाने की वासना करता है, सुन्दर रमणियों के शरीरों और कमल से मुखों के दर्शन, स्पर्श की कामना करता है, जिसे सुगन्धियों के सूंघने की लालसा होती है, हर समय शत्रुओं के नाश की योजनाएँ सोचा करता है, पुरुष तो बगुला-भगत होता है जो जोहड़ या सरोवर के तट पर एक टाँग पर खड़ा होकर मछली पकड़ने की प्रतीक्षा करता रहता है ।

ऐसा पुरुष अत्यन्त महामूर्ख है जो छद्मवेश धारण करके संसार को ठगना चाहता है, परन्तु मोक्ष-मार्ग पर न चल सकने के कारण स्वयं ठगा जाता है। वह कपटी है। दम्भी है। लोलुप है। ढोंगी और मिथ्याचारी है । जिसके अन्तः-करण में तो विषयों की वासना या ज्वाला भड़क रही है, बाहर से दशों इन्द्रियों को रोककर समाधि लगाए बैठा है वह उस दरिद्री पुरुष के समान है जिसके घर का बाहरी ठाठ-बाठ तो देखते ही बनता है, परन्तु घर के भीतर भांग भुंजती है ।

एक बार हम लोग स्काऊट मास्टर के रूप में सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में गए थे। तो देखा कि एक स्थान पर नंगधड़ंग जटिल भस्म रमाए समाधिस्थ एक साधु बैठा है। लोग उसके पैरों को छू कर चलते जाते हैं और रुपयों-पैसों और मिठाइयों की ढेरियाँ लगाते जाते हैं। हमारे साथ एक सरदार जी भी हमारी भाँति मेले के प्रबन्ध में लगे हुए जा रहे थे। वे वहाँ पर क्षण भर के लिए ठहर गये और साधु के आगे से पैसे उठाकर अपनी पेंट की जेबों में डालने लगे तो पैसों की झंकार सुनकर साधु की समाधि भंग हो गई तथा वे लोहे का चिमटा उठा कर, गालियों की बौछाड़ करता हुआ सरदार जी को मारने के लिए उठ खड़ा हुआ। जब इस तरह से काम बनता न देखा तो शाप देते हुए कहने लगा कि अरे तेरा सत्यानाश हो जाए ।

यह सुनकर सरदार जी बोले कि भाई सत्यानाश तो तेरा होगा जो ढोंगी साधु बन कर लोगों को लूट रहा है और सच्चे साधुओं को कलंक लगा रहा है। तेरी तेड़ में तो एक लंगोटी भी फँसी हुई नहीं है। भाव यह कि न तुझे वस्त्र की जरूरत है, न तेरे पास भोजन की कमी है और न तुझे किसी मकान की आवश्यकता है, तुम तो कुल्ली, जुल्ली और गुल्ली तीनों से रहित साधु महात्मा का भेष धारण किए समाधि लगाए बैठे हो। तुमने ये पैसे क्या करने हैं ? अपने सिर मारने हैं। यह कहकर सारे पैसे वहीं भिखारियों को बाँट दिए। परन्तु वह साधु बहुत चीखता-चिल्लाता रहा। सरदार जी यह कह कर वहाँ से चल दिए। 'आज से मैं तेरा गुरु हूँ। तुम सच्चे साधु बनो'।

दूसरे साल जब हम फिर कुरुक्षेत्र में गए तो देखा कि वह साधु अपने ढोंगी वेश को त्याग कर आलू-छोले बेच रहा था। उसने हमें पहिचान लिया और बोला कि आपके साथी सरदार जी मेरे सच्चे गुरु थे जिन्होंने मुझे प्रभु-मिलन का मार्ग दिखा दिया था।

गुरु नानक देव जी कहते हैं—

'भेख दिखाओ जगत् को, लोगन को बस कीन।
अन्तकाल-काती परै, बहुरि नरक महँ लीन ॥

एक मुसलमान परमहंस कहा करते थे—

"गई न मन की लालसा बन बैठे औलिया।
ऐसे पीर मुरीद जो, दोनों को जूतिया।
दोनों को जूतिया, मग़ज़ कर तिनका पोला।
जूता उतार देह धड़ाधड़ सिर पर सोला।
कहि गिरधर कविराय इह जग माया जाल सा।
छूटे कैसे पुरुष, गई न मन की लालसा ॥"

अर्थ—जिस पुरुष के मन से विषयों की इच्छा और फलेच्छा दूर नहीं हुई है वह गुरु कहलाने का अधिकारी कैसे हो सकता है ? और अपने शिष्य को ब्रह्मज्ञान कैसे सिखा सकता है ? हे ब्रह्म-लीन-पुरुष ! तू उस गुरु और चेले को ब्रह्मज्ञान रूपी जूते से ठीक मार्ग पर ले आ। उन दोनों को ब्रह्मज्ञान रूपी जूते इतनी अधिक मात्रा में मार, जिससे उन दोनों के मस्तिष्क पोले हो जायें अर्थात् कूड़मग़ज़ अवस्था से निकल कर ज्ञान ग्रहण करने योग्य हो जाएँ। तू उन दोनों को इतने ज्ञान के जूते मार कि जिससे वे फिर पहले से मूढ़-भाव को प्राप्त न हो जाएं। हर समय उनके ब्रह्मज्ञान की वृद्धि का ध्यान रख। कविश्रेष्ठ गिरधरदास जी कहते हैं कि प्रभु की माया ने यह संसार रूपी जाल सब ओर फैला रखा है। कोई भी वह पुरुष जो विषयों की लालसा से युक्त है,

और कर्मों की फलेच्छा से मुक्त नहीं हुआ है जन्म-मरण रूपी माया द्वारा फैलाए गए संसार-जाल से कभी मुक्त नहीं हो सकता है। एक महात्मा ब्राह्मण का लक्षण इस प्रकार कहा करते थे—

ब्राह्मण सो जो ब्रह्म पहचाने। छाज छाननी गट्ठन जाने।
टूटे छित्तर लगावे टाकी। सो ब्राह्मण गंगा का वासी॥

अर्थात् सच्चा ब्राह्मण वह होता है जो परब्रह्म परमेश्वर को पहिचान कर उसमें लीन हो चुका है। फिर उसमें दूसरा गुण यह होना चाहिए कि वह छाजों अर्थात् स्थान-स्थान पर दूसरों की निन्दा करने वाले और छाननियों (दूसरों के गुणों को त्याग कर उनके अवगुणों को ग्रहण करने वाले पापियों) को परमात्मा से मिलाने की विधि को जानता हो। तीसरा गुण उसमें यह होना चाहिए कि वह टूटे हुए जूते को टाकी (थगली) भी लगाता हो। टूटा हुआ जूता उस महापापी का नाम है जिसका संसार में कुछ भी मूल्य नहीं है, जिसे सब लोग ठोकर मार कर कूड़े-कर्कट के ढेर पर फेंक देते हैं परन्तु वह ब्राह्मण उस महापापी तुच्छ प्राणी को भी ज्ञान देकर टाकी लगाए जूते की भाँति महापुरुषों के चरणों में डलवा देता है जिससे उसका उद्धार हो जाता है। इस प्रकार सच्चा ब्राह्मण उपरोक्त इन तीन गुणों से युक्त होकर परम पावनी गंगा में निवास करने वाला होता है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा में सदा के लिए लीन हो जाता है।

एक बार हम लोग जालन्धर में बाबा सोढल का मेला देखने के लिए गए तो वहाँ पर एक बाबा जी पीपल के पेड़ तले आँखें बन्द किए समाधि लगाए बैठे थे। इनकी भूख ऋषि दुर्वासा से भी अधिक चमकी हुई प्रतीत होती थी। वहाँ पर बारी-बारी माताएँ आतीं, एक उसका मुंह खोलती और दूसरी लड्डू, पेड़ा या हलुवा उसमें डाल देती। बाबा जी बिना मुँह हिलाए ग्रसनिका नाली द्वारा उस सबको आमाशय में निरन्तर उतारते जा रहे थे। इतने में दो अपटूडेट पढ़ी-लिखी लड़कियाँ भी वहाँ पर आ निकलीं। जब उन्होंने यह रोचक दृश्य देखा तो उनमें से एक ने बाबा जी का मुँह खोला और दूसरी ने जल्दी से लड्डूके आकार का गाय के गोबर का एक गोला बाबा जी के मुँह में धकेल दिया। बाबा जी घबरा कर एक दम उठे और थू-थू करते हुए जल-नल की ओर भागे। और सब लोग इस नाटक को देखकर चिरकाल तक हँसते रहे, परन्तु बाबा जी गधे के सींगों की तरह सदा के लिए वहाँ से लुप्त हो गए।

कहने का भाव यह है कि जो पुरुष कर्म करने वाली शरीर की दशों इन्द्रियों को रोकता है परन्तु मन में उनके भोग्य विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह बेवकूफ और दम्भी है॥

इस श्लोक पर देशपिता महात्मा गाँधी जी की टिप्पणी इस प्रकार है—

"जैसे जो वाणी को तो रोकता है, पर मन में किसी को गाली देता है वह निष्कर्म नहीं है।" बल्कि मिथ्याचारी है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जब तक मन न रोका जा सके तब तक शरीर को रोकना निरर्थक है। शरीर को रोके बिना मन पर अंकुश आता ही नहीं। परन्तु शरीर के अंकुश के साथ-साथ मन पर अंकुश रखने का प्रयत्न होना ही चाहिए। जो लोग भय या ऐसे बाहरी कारणों से शरीर को रोकते हैं, परन्तु मन को नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मन से तो विषय भोगते हैं और मौका पाने पर शरीर से भी भोगने में नहीं चूकते, ऐसे मिथ्याचारी की ही यहाँ निन्दा है। और वे उस बेचारी नारी के समान हैं जिसके सम्बन्ध में गो० तुलसीदास जी ने कहा है—

विनु अवसर भय तें रह जोई। जानहु अधम नारी जग सोई।

॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

यः+तु+इन्द्रियाणि मनसा नियम्य+आरभते+अर्जुन ! कर्म+इन्द्रियैः कर्म-योगम्+असक्तः सः+विशिष्यते ॥

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (पुरुष)।

तु=(अव्यय) और। परन्तु।

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्रिय+द्विती० ब० व०=इन्द्रियों को।

मनसा=(नपुं०) मनस्+तृती० ए० व०=मन द्वारा। मन से।

नियम्य=नि√यम् (चुरा० उभ० सक०=स्थापित करना)+ल्यप्=वश में करके। रोक कर।

आरभते=आ√रभ (भ्वा० आत्म० सक०=प्रारम्भ करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=आरम्भ करता है। आचरण करता है।

अर्जुन !=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे अर्जुन !

कर्म+इन्द्रियैः=(नपुं०) तृती० ब० व०=कर्म करने वाली इन्द्रियों के द्वारा। कर्मेन्द्रियों से।

कर्म-योगम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=कर्मयोग को।

असक्तः=(वि०) न सक्तः (नञ्०) [√सञ्ज्+क्त=सक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=निरासक्त हुआ। आसक्ति रहित हुआ। अनासक्त हुआ। दिलचस्पी रहित हुआ।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह (पुरुष)।

विशिष्यते=वि√शिष् (रुधा० पर० सक०=श्रेष्ठ करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ होता है॥

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन ! जो पुरुष मन द्वारा (दशों) इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ (दशों) कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग (का आचरण करना) आरम्भ करता है वह (कर्मयोगी, विमूढ़ात्मा तथा मिथ्याचारी की अपेक्षा) श्रेष्ठ होता है ।। ७ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! शरीर उस रथ या टैंक के समान है जिसको चलाने के लिए दस घोड़े जुते हुए हैं अथवा दस इंजन लगे हुए हैं, जिनको मन रूपी सारथि या ड्राइवर चलाता है । यदि यह मन स्वयं प्रमत्त नहीं बल्कि शिवसंकल्प है और इन्द्रिय रूपी घोड़े या इंजन उसके पूरी तरह वशवर्ती या कण्ट्रोल में हैं अर्थात् वे सब इन्द्रियां उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करती हैं, उसका मुख सदा भक्ष्य और सीमित भोजनों का खानपान करता है, वाणी सदा सत्य, कोमल और मधुर-भाषिणी है, रसना सदैव हरिगुण गायन करती है, सबके हितकर और पर-निन्दा से रहित वचन बोलती है, नाक दिन-रात शुद्ध वायु के सेवन में लगी रहती है, नेत्र सारे ब्रह्माण्ड में, सर्व-जीवजन्तुओं में, तथा सकल वस्तुओं में केवल एक हरिरूप ही देखते हैं, कान सदा प्रभु-यश और भगवान्-कीर्तन ही सुनते हैं, त्वचा सदैव सच्चिदानन्द घन परमात्मा के स्पर्श का सुख ही अनुभव करती है, हाथ परोपकार के कार्यों में सदा रत रहते हैं, और प्रभु-पद-पद्मों का स्पर्श करते हैं, मस्तिष्क निरन्तर प्रभु चरण-कमलों पर दिन-रात झुका रहता है, उस कर्मयोगी का जो भी पाँव उठता है भगवान् के निमित्त ही उठता है, गुह्य और उपस्थ अपने मल-मूत्र त्याग के कार्य सदा उपयुक्त स्थान पर ही करते हैं और उस मल-मूत्र को उस कर्मयोगी द्वारा मिट्टी आदि से उसी समय ढक दिया जाता है जिससे हवा दूषित होने नहीं पाती और प्राणीमात्र का कल्याण होता है । यदि वह कर्मयोगी स्वधर्मपत्नी सहित रहता है तो धर्मानुकूल केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए उपयुक्त समय पर ही कामोपभोग करता है । उसका किसी से वैर नहीं । किसी से विरोध नहीं । किसी से द्वेष नहीं । किसी से ईर्ष्या नहीं । किसी से आसक्ति नहीं । किसी से विरक्ति नहीं । उसके अन्तःकरण में त्याग भावना पूरी तरह विद्यमान रहती है । वह दान, दक्षिणा, धर्म, कर्म, हवन यज्ञादिक कर्तव्य कर्मों के करने में सदा तत्पर रहता है । तथा नित्य-नैमित्तिक और परमावश्यक कर्मों के आचरण करने में सदा लगा रहता है । इन्द्रियों के विकारों से रहित है । कर्मों के फल की इच्छा भूलकर भी नहीं करता । सबकी भलाई में निरत है । विषय वासनाओं से विरत है । काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदि से रहित है । कमल-पत्र-वत् संसार-सागर में सदा निर्मल, अलिप्त और निरासक्त ही रहता है । प्रमाद तथा आलस्य उसमें नाममात्र को

भी नहीं हैं। उसमें दम्भ, कपट और मिथ्याचार का लेशमात्र नहीं है। उसका अन्तःकरण निश्चल और निर्मल बन चुका है। वह सामान्यतः देखने में साधारण व्यक्ति दिखाई देता है परन्तु वास्तव में असाधारण होता है। क्योंकि वह आशा-पाश से मुक्त हो चुका होता है। वह निष्काम कर्म करने वाला कर्म-योगी होता है। ऐसा पुरुष अपनी इन्द्रियों द्वारा होने वाली सब क्रियाएँ निर्मम, निरासक्त तथा फलेच्छा से रहित होकर करता है। ऐसा कर्मयोगी अतिश्रेष्ठ होता है क्योंकि वह इस उत्तम कर्मयोग का आचरण करता हुआ परम पद को प्राप्त हो जाता है॥ ७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

नियतम्+कुरु कर्म त्वम्+कर्म ज्यायः+हि+अकर्मणः। शरीर-यात्रा+अपि च ते न प्रसिद्ध्येत्+अकर्मणः॥

नियतम्=(वि०) नि√यम् (चुरा० पर० सक०=घेरना)+क्त=नियत+(नपुं०) द्विती० ए० व०=(शास्त्र विधि द्वारा) निश्चित किए हुए को। वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति सम्बन्धी शास्त्र विहित को। अपने धर्म सम्बन्धी को।
[जो कर्म श्रुति में किसी फल के लिए नहीं बताया गया है। उस कर्म को करने का जो पुरुष अधिकारी है उसके लिए वह 'नियत' या 'नित्य' कर्म होता है।]

कुरु=√कृ(तना० उभ० सक०=करना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) कर।

कर्म=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को। (स्वधर्म रूप) कर्म को।

त्वम्=(सर्व०)युष्मद्+प्र० ए० व०=तू।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म। कर्म करना।

ज्यायः=(वि०) अयम् अनयोः अतिशयेन प्रशस्यः वृद्धो वा, प्रशस्य वा वृद्ध+ईयसुन्, ज्यादेशः=ज्यायस्+(नपुं०) प्र० ए० व०=बहुत श्रेष्ठ। बहुत उत्तम। श्रेष्ठ है।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

अकर्मणः=न कर्मणः (नञ्०)। पंच० ए० व०=[अकरणाद्। अनारम्भात्) =कर्म के न करने से। कर्म न करने की अपेक्षा।

शरीर-यात्रा=(स्त्री०) शरीरस्य यात्रा। शरीरस्य स्थितिः। (षष्ठी० तत्पु०)।

प्र० ए० व०=शरीर यात्रा । शरीर का निर्वाह । आजीविका, रोज़ी । [√शॄ (क्र्या० पर० सक०)+ईरन्=शरीर (नपुं०)। प्राणी के सब अङ्गों का समूह । √या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)+अन्—टाप्=यात्रा (स्त्री०)। शरीर भी आयु रूपी मार्ग पर यात्रा कर रहा है । इस शरीर की यात्रा में जिस भोजनादि सामग्री की आवश्यकता होती है उस सामग्री का नाम शरीरयात्रा है ।

अपि=(अव्यय) भी ।

च=(अव्यय) और ।

ते=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी० ए० व०=तव । ते । तेरी ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

प्रसिद्धयेत्=प्र√सिध् (दिवा० पर० अक०=सिद्ध होना)+विधि० प्र० पु०, ए० व०=सिद्ध होगी । होगी । पूरी होगी ।

अकर्मणः=(नपुं०, नञ्०) पंच० ए० व०=न कर्म करने से ।

अर्थ—तू नियत (शास्त्रविधिविहित तथा करने योग्य) कर्म कर । क्योंकि कर्म न करने से (अर्थात् बेकार रहने से) कर्म करना बहुत श्रेष्ठ है; और कर्म न करने से तेरी शरीर-यात्रा (अर्थात् शरीर की गुज़रान) भी सिद्ध (पूरी) न होगी ॥ ८ ॥

व्याख्या—"अहिंसा परमो धर्मः" यह बात सर्वधर्मशास्त्रसम्मित है । परन्तु जब पाकिस्तानियों ने १९४८ में कश्मीर पर आक्रमण किया था तो उस समय अहिंसा के अवतार देशपिता महात्मा गांधी जी ने भारतवासियों को युद्ध द्वारा उन्हें मार भगा देने का आदेश दिया था । सन् १९६५ ई० में फिर दूसरी बार पाकिस्तान ने सीधा भारत पर आक्रमण कर दिया तो उस समय के प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने उसको मुँह-तोड़ उत्तर दिया था । जब तीसरी बार सन् १९७१ ई० को पाकिस्तान ने पुनः भारत पर आक्रमण किया तो हमारी प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा जी ने संसार में अपने सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व को प्रकट कर दिया और चौदह दिन में ही पाकिस्तान का कचूमर निकल गया और उसका आधे से अधिक भाग उससे पृथक् होकर स्वतन्त्र बंगलादेश के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

भगवान् भी अर्जुन को शिक्षा दे रहे हैं कि क्षत्रिय का युद्ध करना कर्तव्य है और सच्चा क्षत्रिय जब अत्याचारियों के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाता है, तो उसके लिये लड़ना धर्म-युद्ध बन जाता है । क्योंकि उस युद्ध में विजय होने से देश और देशवासियों की रक्षा होती है और क्रूर तथा अत्याचारी दुष्टों का नाश होता है । भगवान् स्वयं भी इस प्रयोजन के लिए

समय-समय पर अवतार धारण करते हैं और अर्जुन को बेकार न बैठने का उपदेश करते हैं तथा कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू नियत कर्मों को अवश्य कर । तू क्षत्रिय है । धर्म-युद्ध करना तेरा धर्म है । दीन-दुःखियों और राष्ट्र की रक्षा करना तेरा कर्तव्य है । निरासक्त और फलेच्छा से रहित होकर निष्काम भाव से हवन-यज्ञ, दानादि करना तेरा कर्म है । बेकार बैठकर मक्खियाँ मारने की अपेक्षा कर्तव्य कर्म करना अत्यन्त श्रेष्ठ है । क्योंकि कर्म करने से मनुष्य की जीवन-यात्रा भी सफल और सुखकर होती है । बिना हाथ पैर हिलाए तो मुँह में ग्रास भी नहीं पड़ सकता है । महाभारत ३।३२।३,८ ॥ में भी इस भाव को सुचारु रूप में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

"कर्म खल्विह कर्तव्यं जानताऽमित्रकर्षण !
अकर्मणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥ ३ ॥"

अर्थात् हे शत्रुनाशक ! इस संसार में ज्ञानी पुरुष द्वारा कर्म अवश्य किया जाना चाहिए; क्योंकि बिना कर्म किए स्थावर (पर्वतादि) ही स्थिर रहते हैं। दूसरे जीव नहीं ॥ ३ ॥

"अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्नहि काचन ।
तदेवाऽभिप्रपद्येत न विहन्यात्कदाचन ॥ ८ ॥"

अर्थात् कोई कर्म न करने वाले जीवों के निर्वाह का कभी कोई साधन नहीं हो सकता । इसलिए मनुष्य कर्म को अवश्य करे और उसे कभी न त्यागे ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञ+अर्थात् कर्मणः+अन्यत्र लोकः+अयम्+कर्म-बन्धनः । तत्+अर्थम्+कर्म कौन्तेय ! मुक्त-सङ्गः समाचर ॥

यज्ञ—अर्थात्=(पुं०) यज्ञस्य अर्थात् (षष्ठी० तत्पु०) पञ्च० ए० व०=यज्ञ के निमित्त से । ("कर्मणः" का विशेषण) ।

["यज्ञो वै विष्णुः" (तै० सं० १।७।४) । यज्ञ ही "विष्णु" है ।]
[इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा √यज्+नङ्=यज्ञ (पुं०) । √अर्थ+अच्=अर्थ (पुं०)]

विष्णु-निमित्त कर्म से । देव-पूजा से । शास्त्र विहित कर्म से । लोक कल्याण के निमित्त से । आविष्कार या खोज करने के कर्म से । वैदिक कर्मकाण्ड के हेतु से । ईश्वरपरायण निमित्त से । ईश्वर निमित्त से । ईश्वरार्थ से ।

कर्मणः=(नपुं०) कर्मन्+पञ्च० ए० व०=कर्म से।
अन्यत्र=(अव्यय) अन्य+त्रल्=अतिरिक्त। विना (और कर्म)।
लोकः=(पुं०)√लोक् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+घञ्=लोक+प्र० ए० व०=लोकः=मनुष्य समुदाय। पृथिवी लोक।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व० [लोकः का विशेषण]=यह।
कर्म-बन्धनः=(वि०) कर्म बन्धनं यस्य सः (बहुव्री०)। कर्म बन्धन है जिसका वह। कर्म बन्धन से युक्त हो जाने वाला। कर्म के बन्धन से बंधने वाला। [√बन्ध् (क्र्या० पर० सक०=बाँधना)+ल्युट्=बन्धन+(पुं०) प्र० ए० व०=बन्धनः]
तत्+अर्थम्=(नपुं०) तस्य अर्थम्=उसके लिए। यज्ञार्थम्। ईश्वरार्थम्। यज्ञ अर्थात् ईश्वर के लिए। तदर्थ। उस यज्ञ के निमित्त।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।
कौन्तेय! =सम्बो० ए० व०=हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)!
मुक्त-सङ्गः=(वि०) कर्मफल-संग-वर्जितः सन्=कर्मफल और आसक्ति से रहित हुआ (श्रीशंकरः)। मुक्तः सङ्गो (विषयासक्तिः) येन (बहुव्री०) जिसके द्वारा विषयों का संग छोड़ दिया गया है, ऐसा होकर।
[√मुच्+क्त=मुक्त=बन्धन से छूटा हुआ। √सञ्ज्+घञ्=सङ्ग+(पुं०) प्र० ए० व०=सङ्गः।
मुक्त-सङ्ग=आसक्ति के बन्धन से छूटा हुआ होकर।]

समाचर=सम्-आ√चर् (भ्वा० पर० सक०) लोट्०, म० पु०, ए० व०=भली-भाँति आचरण कर।

अर्थ (पहला)—ईश्वरार्थ (किए हुए) कर्म के अतिरिक्त (और) कर्म से यह मनुष्यसमुदाय कर्म-बन्धन से बँधने वाला होता है (परन्तु यज्ञार्थ—ईश्वरार्थ किए हुए कर्म से नहीं, इसलिए) हे कुन्ती-पुत्र (अर्जुन)! तू कर्म, फल और आसक्ति से रहित हुआ तदर्थ (ईश्वरार्थ) कर्म को भली-भाँति आचरण कर॥ ९॥

अर्थ (दूसरा)—यज्ञ के निमित्त किए हुए कर्म के बिना यह पृथिवीलोक कर्म का बन्धन है। (इसलिये) हे कौन्तेय (अर्जुन)! तू आसक्ति रहित हुआ उस (यज्ञ) के निमित्त भली-भाँति कर्म का आचरण कर॥ ९॥

व्याख्या—श्रुति में यज्ञ का अर्थ विष्णु अर्थात् ईश्वर किया गया है यथा—"यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् 'यज्ञ' विष्णु या ईश्वर को कहते हैं।

"यज देवपूजायाम्" √यज धातु देवपूजा करने के अर्थ में होती है। जिसके साथ 'नङ्' प्रत्यय जोड़ने से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है।

अथवा 'इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा' ऐसा भी कोष में लिखा है। इससे हवन का नाम भी यज्ञ कहा गया है। इसके अतिरिक्त संसार के कल्याण के लिए सोच-विचार करना और आविष्कार करना भी यज्ञ करना है। लोकोपकारार्थ पुस्तकें लिखना भी यज्ञ नाम से कहा जाता है। यदि सच पूछो तो गीता के तीसरे और चौथे अध्याय को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ शब्द कह कर भगवान् ने बहुत विस्तृत अर्थ को एक ही शब्द में इस तरह से भर दिया है जिस प्रकार किसी ने समुद्र को सीपी में बन्द करके रख दिया हो।

सब प्रकार के यज्ञ दो श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं—

१. श्रौतयज्ञ—जो वेद मन्त्र पढ़कर किए जाते हैं।

२. स्मार्त या लोक-व्यावहारिक यज्ञ—जो बिना वेदमन्त्र पढ़े सम्पन्न होते हैं।

पहले प्रकार के यज्ञ उन ऋषियों, मुनियों और विद्वानों द्वारा किए जाते हैं जिनकी वेदों पर पूर्ण श्रद्धा और आस्था है। परन्तु दूसरे प्रकार के यज्ञ आस्तिक तथा नास्तिक दोनों प्रकार के महापुरुषों द्वारा किए जाते हैं। वेद-व्यास, विश्वामित्र, जैमिनि, अगस्त और वाल्मीकि आदि दोनों प्रकार के यज्ञ कर्त्ता थे। महात्मा गाँधी, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और विज्ञान के सब आविष्कर्ता आदि महानुभाव दूसरी श्रेणी के यज्ञकर्ता हैं। उन सब यज्ञकर्ताओं की कृतियों और आविष्कारों से यह सारा संसार सभ्य, प्रगतिशील और आलोकित हुआ है तथा हम इस भूमण्डल पर स्वर्ग से बढ़कर सुख-सुविधा, शान्ति एवं ऐश्वर्य और समृद्धि सम्पन्न हुए हैं तथा मानव वन-धर्म से निकल कर नागरिक धर्म में प्रविष्ट हुआ है। इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है कि हे अर्जुन! तेरी माता कुन्ती ने आसक्ति रहित निष्काम भाव से महर्षि की सेवा रूप यज्ञ के द्वारा देवताओं को भी वशीभूत कर लिया था। तू भी उस कर्मफल और आसक्ति से रहित यज्ञ का आश्रय ग्रहण कर। क्योंकि यज्ञ के निमित्त किए हुए कर्म के बिना दूसरा कोई भी कर्म इस लोक में जन्म-मरण के चक्र में फँसाने वाला होता है। अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी कार्य को छोड़कर अन्य जो कोई भी कर्म किया जाता है, उसके फलस्वरूप ही संसार में जीवों का आवागमन होता है। और वे इस कर्म के बन्धन में बंधे हुए सदा जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते हैं।

परन्तु यज्ञ सम्बन्धी कर्मों को करने से मनुष्य को स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति होती है। कल्प पर्यन्त ब्रह्मलोक में भी वास होता है। उन लोकों के सुख और भोग भोगने के बाद वे पुण्यात्मा पुण्य के क्षीण होने से फिर जन्म लेने के लिए धरती पर लौट आते हैं और उच्च कुलों में जन्म धारण करते हैं।

परन्तु हे कौन्तेय ! यदि फलेच्छा और आसक्ति से रहित होकर यज्ञार्थ कर्म किया जाये तो वह कर्म इस संसार में बन्धन रूप नहीं बनता। क्योंकि वह सबके भले के लिए होता है। परोपकारार्थ होता है। लोक कल्याण-निमित्त होता है। सब प्रकार की ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अभिमानादि से रहित होता है। उससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्त में कैवल्य मुक्ति को प्राप्त करा देता है। इसलिये तू सदा यज्ञार्थ कर्म कर जिससे लोक का कल्याण होगा और तेरा परमात्मा में मेल हो जाएगा।

इस श्लोक पर लोकमान्य तिलक की विशेष ज्ञानवर्धक व्याख्या इस प्रकार है—

"इस श्लोक के पहले चरण में मीमांसकों का और दूसरे में गीता का सिद्धान्त बतलाया गया है। मीमांसकों का कथन है कि जब वेदों में ही यज्ञ-यागादि कर्म मनुष्यों के लिये नियत कर दिए गए हैं और जबकि ईश्वर-निर्मित सृष्टि का व्यवहार ठीक-ठीक चलते रहने के लिए यह यज्ञ-चक्र आवश्यक है, तब कोई भी इन कर्मों का त्याग नहीं कर सकता। यदि कोई इनका त्याग कर देगा तो समझना होगा कि वह श्रौत धर्म से वंचित हो गया। परन्तु कर्म विपाक-प्रक्रिया का सिद्धान्त है कि प्रत्येक कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है; इसके अनुसार कहना पड़ता है कि यज्ञ के लिए मनुष्य जो-जो कर्म करेगा, उनका भला या बुरा फल भी उसे भोगना ही पड़ेगा।

मीमांसकों का इस पर यह उत्तर है कि वेदों की ही आज्ञा है कि "यज्ञ करना चाहिए" इसलिए यज्ञार्थ जो-जो कर्म किए जाएँगे वे सब ईश्वर-सम्मत होंगे; अतः उन कर्मों से कर्ता बद्ध नहीं हो सकता। परन्तु यज्ञों के सिवा दूसरे कर्मों के लिए—उदाहरणार्थ केवल अपना पेट भरने के लिये—मनुष्य जो कुछ करता है वह यज्ञार्थ नहीं हो सकता, उसमें तो केवल मनुष्य का निजी लाभ है। यही कारण है जो मीमांसक उसे 'पुरुषार्थ' कर्म कहते हैं, और उन्होंने निश्चित किया है कि ऐसे अर्थात् यज्ञार्थ के अतिरिक्त अन्य कर्म अर्थात पुरुषार्थ कर्म का जो कुछ भला या बुरा फल होता है, वह मनुष्य को भोगना पड़ता है, यही सिद्धान्त श्लोक की पहली पंक्ति में है।

कोई-कोई टीकाकार 'यज्ञ = विष्णु' ऐसा गौण अर्थ करके कहते हैं कि

'यज्ञार्थ' शब्द का अर्थ विष्णु-प्रीत्यर्थ या परमेश्वरार्पणपूर्वक है; परन्तु हमारी समझ में यह अर्थ खींचातानी का और क्लिष्ट है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि यज्ञ के लिए जो कर्म करने पड़ते हैं उनके सिवा यदि मनुष्य दूसरे कर्म कुछ भी न करे, तो क्या वह कर्म-बन्धन से छूट सकता है ? क्योंकि यज्ञ भी तो कर्म ही है और उसका स्वर्ग-प्राप्ति रूप जो शास्त्रोक्त फल है वह मिले बिना नहीं रहता। परन्तु गीता के दूसरे ही अध्याय में स्पष्ट रीति से बतलाया गया है कि यह स्वर्ग प्राप्ति रूप फल मोक्ष-प्राप्ति के विरुद्ध है (देखो गी० २।४०, ४४ और ९।२०, २१)।

इसलिए उक्त श्लोक के दूसरे चरण में यह बात फिर बतलाई गई है कि मनुष्य को यज्ञार्थ जो कुछ नियत कर्म करना होता है, उसे भी वह फल की आशा छोड़कर, अर्थात् केवल कर्तव्य समझकर, करे और उसी अर्थ का प्रतिपादन आगे सात्विक यज्ञ की व्याख्या करते समय किया गया है (देखो गी० १०।११ और १८।६)।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि इस प्रकार सब कर्म यज्ञार्थ और वह भी फलाशा छोड़कर करने से (१) वे मीमांसकों के न्यायानुसार ही किसी भी प्रकार मनुष्य को बद्ध नहीं करते, क्योंकि वे तो यज्ञार्थ किए जाते हैं और (२) उनका स्वर्ग-प्राप्ति रूप शास्त्रोक्त एवं अनित्य फल मिलने के बदले मोक्ष-प्राप्ति होती है, क्योंकि वे फलाशा छोड़कर किए जाते हैं। आगे १९वें श्लोक में और फिर चौथे अध्याय के २३वें श्लोक में यह अर्थ दुबारा प्रतिपादित हुआ है। तात्पर्य यह है कि मीमांसकों के इस सिद्धान्त—'यज्ञार्थ कर्म करने चाहिएँ क्योंकि वे बन्धक नहीं होते।'—में भगवद्गीता ने और भी यह सुधार कर दिया है कि 'जो कर्म यज्ञार्थ किये जावें, उन्हें भी फलाशा छोड़कर करना चाहिए।' किन्तु इस पर भी यह शंका होती है, कि मीमांसकों के सिद्धान्त को इस प्रकार सुधारने का प्रयत्न करके यज्ञ-यागादि गार्हस्थ्यवृत्ति को जारी रखने की अपेक्षा, क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि कर्मों के झंझट से छूट कर मोक्ष-प्राप्ति के लिए सब कर्मों को छोड़-छाड़ कर संन्यास ले ले ?

भगवद्गीता इस प्रश्न का साफ़ यही एक उत्तर देती है कि 'नहीं'। क्योंकि यज्ञ-चक्र के बिना इस जगत् के व्यवहार जारी नहीं रह सकते। अधिक क्या कहें, जगत् के धारण-पोषण के लिए ब्रह्मा ने इस चक्र को प्रथम उत्पन्न किया है; और जबकि जगत् की सुस्थिति या संग्रह ही भगवान् को इष्ट है, तब उस यज्ञ-चक्र को कोई भी नहीं छोड़ सकता। अब यही अर्थ अगले श्लोक में

बतलाया गया है। इस प्रकरण में पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि 'यज्ञ' शब्द यहाँ केवल श्रौत यज्ञ के ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, किन्तु उसमें स्मार्त यज्ञों का तथा चातुर्वर्ण्य आदि के यथाधिकार सब व्यावहारिक कर्मों का समावेश है।" ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सह-यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरा+उवाच प्रजा-पतिः। अनेन प्रसविष्यध्वम्+एषः+वः+अस्तु+इष्टकाम-धुक् ॥

सह-यज्ञाः=(वि०) यज्ञेन सह (बहुव्री०) (स्त्री०) द्विती० ब० व०। यज्ञ के साथ वालियों को। (यह प्रजाओं का विशेषण है।) 'यज्ञ' जिनके साथ है या था, उन (प्रजाओं) को। (बहुव्री०)

प्रजाः=(स्त्री०) प्र√जन्-ड-टाप्=प्रजा+द्विती० ब० व०=प्रजाओं को। जनता को। सन्तानों को। मनुष्यों को।

सृष्ट्वा=√सृज् (दिवा० आत्म० सक०। तुदा० पर०, सक०। रचना। उत्पन्न करना।)+क्त्वा=रच कर। उत्पन्न करके। (उत्पाद्य)।

पुरा=(अव्यय)√पुर्+का=सर्गादौ। कल्प के आदि में। सृष्टि के प्रारम्भ में। पहले।

उवाच=√वच्+लिट्० प्र० पु० ए० व०=कहा। बोला। (उक्तवान्)।

प्रजापतिः=(पुं०) प्रजानां पतिः (ष० तत्पु०)। प्रजानां स्रष्टा। प्र० ए० व०। जगत् के रचयिता प्रजापति (ब्रह्मा) ने।

अनेन=(सर्व०) इदम्+(पुं०) तृती० ए० व०=इसके द्वारा। इस यज्ञ के द्वारा। इस यज्ञ से।

प्रसविष्यध्वम्=प्र√सू (उत्पन्न करना)+अप्=प्रसव। प्रसवो वृद्धिः उत्पत्तिः तं कुरुध्वम्। प्रसव (उत्पत्ति) या वृद्धि प्राप्त करो। [आशीर्लिङ् म० पु०, ब० व०, आर्ष प्रयोग] (तुम सब) वृद्धि को प्राप्त हो जाओ। तुम सब खूब फलो फूलो।

एषः=(सर्व०) एतद्+(पुं०) प्र० ए० व०=(और) यह (यज्ञ)।

वः=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी० ब० व०=युष्माकम् (वः)=तुम्हारी। तुम्हारे।

अस्तु=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लोट्० प्र० पु०, ए० व०=हो।

इष्ट-काम-धुक्=(पुं०) इष्टान् (=अभिप्रेतान्) कामान् (=फलविशेषान्) दोग्धि=इष्ट (मनचाही या प्यारी) कामनाओं के देने वाला। अभीष्ट फलों का देने वाली कामधेनु के समान।

अर्थ—(जगत् के रचयिता) प्रजापति (ब्रह्मा) ने पुरा (सृष्टि के आरम्भ काल में—अर्थात् कल्प के आदि में) यज्ञ सहित प्रजाओं को उत्पन्न करके (उन प्रजाओं) से कहा—(कि तुम सब) इस (यज्ञ) के द्वारा खूब बढ़ो और फलो-फूलो। और यह यज्ञ तुम्हारे अभीष्ट फलों को देने वाली कामधेनु के समान हो। [अर्थात् यह यज्ञ (कामधेनु के समान) तुम्हारी मनवाञ्छित कामनाओं को पूर्ण करने वाला हो।] ॥ १० ॥

व्याख्या—जब वर्तमान कल्प श्रीश्वेतवाराह प्रारम्भ हुआ तो प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ सहित मनुष्य जाति को उत्पन्न किया और प्रजा के धारण-पोषण के लिए मानव-धर्म निर्धारित किया। उसी का नाम यज्ञ है। इस यज्ञ पर ही सारा संसार अवलम्बित है। यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ केवल तिल, चावल, घी और दूसरी हवन-सामग्री को ही अग्नि में हवन करना नहीं है। अपितु इस स्थान पर यज्ञ का एक विशाल और व्यापक अर्थ है जिसमें चारों वर्णों और चारों आश्रमों का धर्म पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ-हवन करना, दान-दक्षिणा देना, तप करना, ध्यान लगाना, नाम जपना, हिंसक जीव-जन्तुओं और शत्रुओं को मार भगाना, सुन्दर और सुचारु राज-प्रबन्ध करना, प्रजा हित के लिए रामराज्य की स्थापना करना, कला-कौशल को प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचाना, लोकहितार्थ नाना प्रकार के आविष्कार करना, सदा प्राणी मात्र के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहना, रोगियों की सेवा और चिकित्सा करना, दीन-दुःखी की सुधि लेना, धर्मपूर्वक न्याय से आजीविका उपार्जन करना, विधिपूर्वक अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन करना, तथा सदा मोक्षार्थ प्रयत्नशील रहना, इत्यादि नित्य नैमित्तक सब शुभ कर्म यज्ञ श्रेणी में गिने जाते हैं। इसलिए प्राणी को उचित है कि वह सब शुभ कर्मों को ममता और आसक्ति से रहित हुआ सदैव निष्काम भाव से करे क्योंकि काम्य कर्मों का करना जन्म-मरणादि के चक्र में फंसाने वाला होता है। निष्काम भाव से किए हुए यज्ञ कर्मों से प्राणी मात्र की प्रगति और वृद्धि होती है। इनसे यह पृथिवी स्वर्ग का रूप धारण कर लेती है। ब्रह्मा द्वारा प्रजाओं से यह उचित ही कहा गया है कि इस यज्ञ के द्वारा तुम बढ़ो, फलो-फूलो और उन्नति करो। मेरा यह आशीर्वाद है कि यह यज्ञ तुम्हारे लिये कामधेनु के तुल्य अभीष्ट फलों को देने वाला हो और इसके द्वारा तुम्हारे मनचाहे कार्य सफल हों। ब्रह्मा का यह वरदान अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ। क्योंकि महा-पुरुषों और वैज्ञानिकों ने अपने यज्ञ रूप सुकृत्यों से इस भूमण्डल को स्वर्ग तुल्य सुख-कर और प्रगतिशील बना दिया है। धरती-आकाश-पाताल सब कुछ खोज डाला है। सूर्य, चन्द्र, तारा मण्डल और आकाश गंगाओं पर कमन्दें

फेंक दी हैं। धरती पर बैठे ही गगन मण्डल में विचर रहे राकटों पर कंट्रोल करना प्रारम्भ कर दिया है। पक्षियों की तरह उड़ना शुरू कर दिया है। यद्यपि कभी-कभी आसुरी शक्तियाँ प्रबल होकर जगत् को जहन्नुम (नरक) की अग्नि में झोंकने लगती हैं जिससे इस हो रहे महा-यज्ञ में विघ्न बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं तथा सर्वनाश होने का आतंक उत्पन्न हो जाता है, लाखों नरों के संहार करने वाले महायुद्ध छिड़ जाते हैं जिससे संसार की महान् क्षति होती है, आयुधों से निकली हुई गैसें संसार में महामारियाँ फैला देती हैं और भयंकर रोगों को जन्म देती हैं।

इन सब यज्ञों को निष्काम भाव से करने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है जिसके फलस्वरूप अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

देवान्+भावयत+अनेन ते देवाः भावयन्तु वः। परस्परम्+भावयन्तः श्रेयः परम्+अवाप्स्यथ ॥

देवान्=(पुं०)√दिव् (दिवा० पर० अक० सक०=चमकना, पूजना)+अच्=देव+द्विती० ब० व०=देवताओं को।
[ऊंचास करोड़ देवता माने जाते हैं, जिनमें से इन्द्रादि बहुत से स्वर्ग में रहते हैं। यथा श्रुतिः—"अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥"
इनके अतिरिक्त पृथिवी स्वयं एक देवता है। पूज्य वृद्ध, गुरुजन, आचार्य, साधु, सन्त, महात्मा, गौ, ब्राह्मण, कन्या, बालक, अन्न, जल, वायु, अग्नि, उषा, दिशाएँ, वन, वृक्ष, लता, वनस्पतियाँ, नदी, नद, सागर, पर्वत, विद्युत्, वाष्प-शक्ति, परमाणु-शक्ति, तेज तथा शक्ति सम्पन्न सम्पूर्ण प्राणी इत्यादि सब देवता समझे जाते हैं। तै० उप० १।११।१ में लिखा है—"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।"
इससे सिद्ध होता है कि देवता उन दिव्य-शक्तियों का नाम है, जो नाना रूपों में प्रकट होती हैं।] (इन सब) देवताओं को।

भावयत=√भू(भ्वा० पर० अक०=होना। उभ० सक०=पाना। चुरा० आत्म० सक०=पाना, खुश करना)+णिच्+लोट्० म० पु०, ब० व० =उन्नत करो। वर्धयत। बढ़ाओ।

अनेन=(सर्व०) इदम्+(पुं०) तृती० ए० व०=इससे। इस यज्ञ के द्वारा।

ते=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ब० व०=वे (सब)।
देवाः=(पुं०) देव+प्र० ब० व०=देवता लोग।
भावयन्तु=√भू+णिच्+लोट्० प्र० पु०, ब० व०=बढ़ावें। उन्नत करें। सन्तुष्ट करें। वृष्टि आदि द्वारा उन्नत करें।
वः=(सर्व०) युष्मद्+द्वितो० ब० व०=युष्मान् (वः) तुम लोगों को।
परस्परम्=(अव्यय, वि०) परः परः इति विग्रहे, समासवद्भावे पूर्वपदस्य सुः=अन्योन्य। इतरेतर। एक दूसरे के साथ। आपस में।
भावयन्तः=√भू+णिच्+शतृ=भावयत्+प्र० ब० व०=उन्नत करते हुए। बढ़ाते हुए। खुश करते हुए। (तुम लोग)।
श्रेयः=(नपुं०) श्रेयस्+द्वितो० ए० व०=कल्याण को। मोक्षलक्षणं ज्ञान-प्राप्तिक्रमेण। ज्ञान-प्राप्ति द्वारा मोक्ष रूप श्रेय को। अथवा स्वर्ग रूप श्रेय को। कल्याण को।
परम्=(वि०)√पृ+अम्=परम्=श्रेष्ठ को। उत्तम को। परम को।
अवाप्स्यथ=अव√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना)+लृट्० म० पु०, ब० व=प्राप्त हो जाओगे। प्राप्त करोगे॥

अर्थ—(तुम लोग) इस (यज्ञ) के द्वारा देवों को सन्तुष्ट, उन्नत और वर्धमान करो। और वे देवता लोग तुम लोगों को सन्तुष्ट, उन्नत और वर्धमान करें। (इस प्रकार) एक दूसरे को परस्पर संतुष्ट, उन्नत और वर्धमान करते हुए (तुम सब) परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे॥ ११॥

व्याख्या—ब्रह्मा ने फिर कहा—हे प्रजाओ! जब तुम स्वधर्माचरण रूपी यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट, उन्नत और वर्धमान करोगे तो वे देवता लोग भी तुम्हें सभी इच्छित वस्तुएँ प्रदान करेंगे। तुम सब प्रभु का भजन करो। यज्ञ हवन द्वारा देव-पूजन करो। पितृतर्पण करो। विद्वानों तथा सत्पुरुषों की सेवा करो। अतिथियों तथा अभ्यागतों का स्वागत करो। प्राणी मात्र को सन्तुष्ट और प्रसन्न रखो। हिंसा से रहित रहो।

यहाँ 'देव' का अर्थ स्वर्गीय देवता और पृथिवी पर रहने वाला प्राणीभूत समुदाय मात्र है। क्योंकि इन सबकी सेवा देव-सेवा है और इस सेवा का नाम ही यज्ञ है।

इस पृथिवी पर कृषक यजमान है, बैल 'होता' है, कृषीसम्बन्धी ट्रैक्टर या हलादि स्रुवा है। क्षेत्र हवन-कुण्ड है। वायु और अनेक तत्त्वों से युक्त उर्वरक समिधाएँ हैं। हल जोतना तथा जल सिंचन करना हवन-क्रिया है। सूर्य की धूप और क्षेत्र-गर्भ में छिपी हुई अग्नि ही हवन-कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि है। बीज का डालना ही आहुतियों का प्रक्षेपण है। खेत में उगे हुए अंकुर और

पौधे ही अग्नि की उठी हुई ज्वालाएँ हैं। अन्न की प्राप्ति ही अमृतमय सोमरस की प्राप्ति है। इस प्रकार यज्ञ के पूर्ण हो जाने से अन्न-देवता सन्तुष्ट, उन्नत और वर्धमान होता है और फिर वह भी प्राणी-मात्र को सन्तुष्ट, उन्नत और वर्धमान करता है।

इसी प्रकार ग्वाला यजमान और 'होता' है। घास, चारा और दाना हवन-सामग्री है। गाय का मुख और उदर हवन-कुण्ड है। जठराग्नि जलती हुई अग्नि है। जब आहुति उचित और ठीक स्थान पर पहुँच जाती है तो गौ देवता प्रसन्न होकर दुग्ध धारा बहाने लगता है जिस दुग्ध रूपी अमृत से हमारा तथा हमारे बच्चों का पालन-पोषण, वृद्धि तथा सन्तुष्टि होती है।

इस प्रकार शिल्पकार हवन करने वाला या 'होता' होता है। वह अपनी कृतियों से प्राणी रूप देवों को सन्तुष्ट और उन्नत करता है, जिससे उसके घर में भी धन-धान्य और सुख की वृद्धि होती है।

श्रमिक अपने श्रम रूपी यज्ञ के द्वारा लोगों के गृहों का निर्माण करता है। खेती और शिल्प धन्धों में योगदान प्रदान करता है। भार ढोता है। रिक्शा खींचता है। नहरें खोदता है। सड़कों पर मिट्टी डालता है। पत्थर कूटता है। इस प्रकार दुःखमय जगत् को स्वर्ग में बदलने का प्रयत्न करता है जिससे प्राणी-मात्र रूप देवता प्रसन्न, वृद्धिमान और उन्नत हो जाते हैं और उस श्रमिक के लिए धन, मान और सुखों की वर्षा करते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी एक दूसरे के प्रति परस्पर आदान-प्रदान करके स्वयं उन्नत होता है और दूसरों को उन्नत और सन्तुष्ट करके यज्ञ-क्रिया को पूर्ण करता है।

मनुष्य पशु-पक्षी और कीट-पतंग ये सब प्रकार के चलने-फिरने और उड़ने वाले प्राणी सांस द्वारा अपने शरीरों के भीतर से कार्बन-डाई ऑक्साइड निकालते हैं और उसे पेड़-पौधों और सब प्रकार की वनस्पतियों को देते हैं जिससे सब प्रकार के वृक्षों, बेलों, पौधों और वनस्पतियों के शरीरों की वृद्धि और सन्तुष्टि होती है।

पेड़ों, पौधों, बेलों और वनस्पतियों के हरे पत्तों में क्लोरोफिल या पर्ण-हरिम की टिक्कियाँ होती हैं जो कार्बन-डाई ऑक्साइड को फाड़कर, कार्बन चूस लेती हैं और ऑक्सीजन दूसरे प्राणियों के साँस लेने के लिए छोड़ देती हैं। पेड़-पौधे स्वयं भी सांस लेने और जीवित रहने के लिये इस ऑक्सीजन को सूंघते हैं। इस प्रकार इस कार्बन-डाई ऑक्साइड और ऑक्सीजन के परस्पर के आदान-प्रदान से सारे संसार के प्राणी जीवित रहते हैं और वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

यज्ञ द्वारा प्रसन्न और उन्नत हुआ सूर्य देवता अपनी ऊर्जा को किरणों और धूप के द्वारा सारे संसार पर छिड़कता है। जिसका भोजन न तो स्वयं हम लोग ही बना सकते हैं न पशु-पक्षी या कीट-पतंग ही बना सकते हैं। परन्तु सूर्य की ऊर्जा से बने हुए भोजन को खाए बिना हम लोग जीवित भी नहीं रह सकते।

तो फिर यह भोजन हमारे लिए कौन बनाता है और किस तरह बनाता है ? वह भी सुनो—सूर्य की ऊर्जा को हमारे भोजन के रूप में बदलने का सारा कार्य केवल वृक्ष, पौधे, बेलें और पृथिवी में उगने वाली अन्य सब प्रकार की वनस्पतियाँ करती हैं। उनके हरे पत्ते अपनी क्लोरोफिल में कार्बन और सूर्य की धूप से ग्रहण की हुई ऊर्जा को जड़ों से प्राप्त किए हुए जल में घोल लेते हैं और फिर इस घोल से अपनी-अपनी जाति की रुचि के अनुसार शक्कर (चीनी), निशास्ता और तेल आदि अनेक प्रकार के खाने के पदार्थ तैयार करते हैं जो उनके फलों, फूलों, बीजों, छालों, पत्तों या लकड़ी में एकत्रित हो जाते हैं जिनसे फिर हम सब प्राणी अपना-अपना भोजन तैयार करते हैं। ये पौधे हमें यह भोजन अनाजों, फलों और रसों के रूप में प्रदान करते हैं जिनसे प्राणी-मात्र की वृद्धि, उन्नति, तृप्ति और सन्तुष्टि होती है। प्राणी-मात्र भी अपने मल-मूत्र और मृतक शरीरों द्वारा पृथिवी में मिलकर पेड़-पौधों के भोजन बन जाते हैं और जीवित रहते हुए भी अपने कृषिश्रम, उर्वरकों और जल-सिंचन द्वारा उनकी उत्पत्ति और वृद्धि करते हैं।

इस प्रकार तुम निष्काम कर्म और परोपकार की दृष्टि से नित्य कर्तव्य कर्म रूपी यज्ञ से सांसारिक देवताओं की वृद्धि, सन्तुष्टि और उन्नति करो जिससे तुम्हारे इच्छा किए बिना ही वे सब देवता लोग तुम्हारी उन्नति, सन्तुष्टि और वृद्धि करेंगे। स्वर्गीय देवताओं के लिए आसक्ति और अभिमान से रहित होकर निष्काम भाव से हवन, यज्ञ आदि वेदविहित शुभ कर्म करो। जिसके सम्बन्ध में मनु महाराज ने मनुसंहिता ३।७६ में लिखा है :—

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥"

अर्थात् "अग्नि में विधिपूर्वक डाली हुई आहुति सूर्य देवता को प्राप्त होती है। फिर सूर्य देवता की दया से वर्षा होती है। वर्षा से अन्न, और फिर अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है।"

इसी प्रकार इन्द्र के प्रसन्न होने से सौन्दर्य, स्वास्थ्य, ऐश्वर्य और सुख-सुविधा की उत्पत्ति और उन्नति होती है। विष्णु की प्रसन्नता से मुक्ति मिलती

है। ब्रह्मा की कृपा से सन्तानोत्पत्ति होती है तथा वंश की वृद्धि होती है। श्री गणेश जी और श्री लक्ष्मी जी प्रसन्न होकर मंगलों तथा ऐश्वर्यों की वर्षा करते हैं। भगवती महामाई सिंह-वाहिनी की प्रसन्नता से ऋद्धि-सिद्धि और नव-निधियाँ प्राप्त होती हैं तथा दुष्टों और शत्रुओं का दमन होता है। श्री सरस्वती जी की पूजा से विद्या-लाभ तथा विद्या-वृद्धि होती है। आशुतोष शंकर के आराधन से सब कामनाएँ शीघ्र ही पूर्ण हो जाती हैं। सर्वव्यापक परमात्मा के प्रसन्न हो जाने पर सारा संसार वशीभूत हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य सब देवता भी पूजन-अर्चन से प्रसन्न हो जाते हैं और मनवाञ्छित कामनाएँ पूरी कर देते हैं। परन्तु यह सब कुछ तब ही संभव होता है जब इन सबकी पूजा-अर्चा विधिपूर्वक हवन-यज्ञ, दान-दक्षिणा और सम्मान से की जाए॥

यज्ञ पाँच प्रकार के कहे जाते हैं—

१. देवयज्ञ, २. ऋषियज्ञ, ३. पितृयज्ञ, ४. मनुष्ययज्ञ और ५. भूतयज्ञ।

इनमें अग्निहोत्रादिक कर्म करना देवयज्ञ है। वेदादि विद्याओं का पठन-पाठन ऋषियज्ञ होता है। पूजा-पाठ, सन्ध्या-वन्दन आदि भी इसी श्रेणी में गिने जाते हैं। पिण्डदान, तर्पण श्राद्धादि सब कर्म पितृयज्ञ के अन्तर्गत हैं। अतिथिसत्कार और अभ्यागत-पूजनादि मनुष्ययज्ञ कहलाता है और बलि-वैश्वदेव अर्थात् पशु-पक्षियों को अन्न-जल देना भूतयज्ञ होता है। इस प्रकार के ये पाँचों यज्ञ नित्य कर्म कहलाते हैं॥

श्री नारायण स्वामी जी ने इस श्लोक का एक और भी विचित्र अर्थ किया है जो इस प्रकार है—

देवता का अर्थ गीता और उपनिषदों में बहुत स्थानों पर 'इन्द्रिय' भी आया है। इसलिए यह यज्ञ रूप अर्पण का नियम नाना प्रकार से बर्ताव में लाया जाता है। यदि इसी नियम को ज्ञानयज्ञ के रूप में बरता जाए, और ज्ञानयज्ञ से देवताओं को पुष्ट या सन्तुष्ट करना अभिप्रेत हो तो श्लोक की व्याख्या यह होगी—

तुम इन्द्रियों के प्रति उनका उचित और स्वाभाविक आहार अर्पण करके उनको पुष्ट वा सन्तुष्ट करो और वे पुष्ट वा सन्तुष्ट हुई इन्द्रियाँ तुम्हें अपने बल और गुणों से पुष्ट वा सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की सेवा से पुष्ट वा सन्तुष्ट होते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होओ जिससे परमानन्द की प्राप्ति और दुःखों की निवृत्ति रूप फल लाभ हो॥ ११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

इष्टान्+भोगान्+हि वः+देवाः+दास्यन्ते यज्ञ-भाविताः । तैः+दत्तान्+अप्रदाय+एभ्यः+यः+भुङ्क्ते स्तेनः+एव सः ॥

इष्टान्=(वि०) √इष्+क्त=इष्ट+(पुं०) द्वितीं० ब० व०=चाहे हुओं को । इच्छित । [अभिप्रेतान्] । मन-वाञ्छितों को ।

भोगान्=(पुं०) √भुज्+घञ्=भोग+द्विती० ब० व० भोगों को । स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, वाहन, वस्त्र, भवन, पशु आदियों को ।

हि=(अव्यय) निश्चय ही ।

वः=(सर्वं०) युष्मद्+चतु० ब० व०=युष्मभ्यम् । वः=तुम्हारे लिए । तुम लोगों को ।

देवाः=(पुं०) देव+प्र० ब० व०=देवता लोग ।

दास्यन्ते=√दा (जुहो० उभ० सक०=देना)+लट्० (आत्म०) प्र० पु०, ब० व०=देंगे । [वितरिष्यन्ति] ।

यज्ञ-भाविताः=(वि०) यज्ञैः भाविताः (वर्धिताः, तोषिताः) (तृ० तत्पु०)= यज्ञों द्वारा सन्तुष्ट किए हुए । यज्ञों से बढ़ाए हुए ।

तैः=(सर्वं०) तद्+तृती० ब० व०=तैः (देवैः)=उन (देवताओं) के द्वारा ।

दत्तान्=(वि०)√दा+क्त=दत्त+(पुं०) द्विती० ब० व०=दत्तान् (भोगान्) =दिए हुए (भोगों) को ।

अप्रदाय=न प्रदाय (नञ्०)=(अदत्वा) बिना दिए । प्र√दा+ल्यप्=न दे कर । [ऋण न चुका कर] ।

एभ्यः=(सर्वं०) इदम्+(पुं०) चतु० ब० व०=इनके लिए । इनको । [एभ्यः (देवेभ्यः)=इन देवताओं को ।]

यः=(सर्वं०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो । जो पुरुष स्वयं ।

भुङ्क्ते=√भुज् (रुधा० उभ० सक०=भोगना, खाना)+लट्० (आत्म०) प्र० पु०, ए० व०=खाता है । भोगता है । केवल अपने शरीर और इन्द्रियों को ही तृप्त करता है ।

स्तेनः=(पुं०)√स्तेन् (चुरा० उभ० सक०=चुराना)+अच्=स्तेन+प्र० ए० व०=चोर । तस्कर । (है) । देवादिस्वत्वापहारी । देवताओं के स्वत्व को हरण करने वाला ।

एव=(अव्यय) ही । निश्चय ही ।

सः=(सर्वं०) तद्+(पुं०) ए० व०=वह ।

अर्थ—यज्ञों द्वारा बढ़ाए या सन्तुष्ट किए हुए देवता लोग निश्चयपूर्वक (बिना मांगे) ही तुम्हारे लिए (स्त्री, धन, वाहन आदि) मन-वाञ्छित भोगों

को देंगे। उन (देवताओं) के द्वारा दिए हुए (भोगों) को जो (पुरुष) इन (देवताओं) को न देकर (केवल अपने शरीर और इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए स्वयं आप) ही भोगता है वह निश्चय ही (देवताओं के स्वत्व को हरण करने वाला) चोर (या तस्कर) है ॥ १२ ॥

व्याख्या—पूर्व श्लोक की व्याख्या में बताया जा चुका है कि सूर्य की ऊर्जा जिसको सूर्य स्वयं धूप द्वारा पृथिवी पर विकीर्ण करता है सब मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीट-पतङ्गों, पेड़-पौधों, लताओं, वनस्पतियों तथा अन्य सब प्राणियों का भोजन बनती है और उनमें प्राणों का संचार तथा बल उत्पन्न करती है। इन्द्र देवता मेघों द्वारा जल बरसाता है जिससे सारा संसार हरा-भरा और प्रफुल्लित होता है। पवन जीवों को प्राणवायु प्रदान करता है जिसे निरन्तर सूँघ कर सारे जीव जीवित रहते हैं। वरुण देवता की दया से पीने का जल प्राप्त होता है जिसका दूसरा नाम जीवन है। यह वरुण देवता ही सारे सागरों, नदी-नालों और सरोवरों का स्वामी है जिनसे प्राणियों के अनेक कार्य सिद्ध होते हैं। जगत्-जननी धरती माता सब जीवों को जन्म प्रदान करती है। यह एक महान् देवता है जिससे अन्न, धन, वन, वस्त्र, सोना, चाँदी, हीरे, मोती आदि अनेक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। आकाश या अन्तरिक्ष देवता ब्रह्माण्ड में घूम रहे पिण्डों को पृथिवी के साथ टकरा जाने से रोकता है। इसी प्रकार अन्य सब देवता भी प्रसन्नता से हमें वह सब कुछ प्रदान करते हैं इस समय जो कुछ भी धरती पर हमारे पास मौजूद है।

इसके बदले में सब देवता लोग भी हमारे द्वारा किए जाने वाले सत्कार और विधिपूर्वक दिए गए दान-दक्षिणा, हवन और यज्ञ की अभिलाषा करते हैं क्योंकि उससे उनकी सन्तुष्टि, तृप्ति और वृद्धि होती है। इसी से इन देवों की प्रसन्नता के लिए ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और भूतयज्ञ करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। इनके न करने से देवता लोग अप्रसन्न और क्षीण हो जाते हैं। इसलिए उनके दिए हुए पदार्थों में से उन देवताओं का भाग उनको अवश्य दिया जाना चाहिए। जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को अपनी सारी धन-सम्पत्ति इस विचार से देता है कि ये मुझे भोजन देंगे और मेरी सेवा करेंगे।

परन्तु जो पुत्र कृतघ्न और नाशुक्रे होते हैं वे उससे आँखें फेर लेते हैं तथा न उसको भोजन वस्त्रादि देते हैं और न उसकी सेवा करते हैं। वे पुत्र उस पिता की दृष्टि में चोर या तस्कर होते हैं। उनका कल्याण या श्रेय जिस प्रकार कभी नहीं होता उसी प्रकार देवताओं के स्वत्व को हरण करने वाले चोरों या तस्करों का भी कभी कल्याण नहीं होता।

एक भूमिपति थोड़े से पैसे देकर अपने खेतों में श्रमिकों से सारा दिन कड़ी धूप में काम करवाता रहता है जिससे उसके खेतों में हजारों क्विटल अन्न की उपज होती है। वह सारा अन्न बहुत महँगे भाव पर बेचना चाहता है परन्तु जब उसे कण्ट्रोल रेट पर अनाज बेचने के लिए कहा जाता है तो वह झूठे आँसू बहाता हुआ कहता है कि मैं इस भाव पर अन्न को नहीं बेचूँगा। क्योंकि इस के उपजाने पर मेरा व्यय कण्ट्रोल रेट से अधिक हुआ है। अब भला कोई इससे पूछे कि आपकी ये कोठियाँ कैसे बन गई हैं, ये कारें कहाँ से आ गई हैं? पुत्री के विवाह पर बीस बकरे, एक हज़ार मुर्गे, कई क्विटल मछलियां, हजारों अण्डे, सौ दर्जन व्हिस्की की बोतलें क्या आकाश से कोठी के आंगन में गिर पड़ी थीं? लाखों रुपयों का दहेज क्या धरती फट कर बाहर निकल आया था? नहीं, यह सब कुछ इन्हीं खेतों की उपज से उत्पन्न हुआ था और उसमें गरीब श्रमिकों का खून-पसीना मिला हुआ था। जब उन सब कुछ देने वाले देवताओं के लिए कुछ भी नहीं दिया जाता और उनको चोरी आदि के दोष लगाकर केवल पीड़ित ही किया जाता है तो उन देवताओं का अप्रसन्न होकर अपने द्वारा दिए हुए पदार्थों को वापस लौटा लेना स्वाभाविक ही है। वह दिन अब दूर नहीं है जब धरती और धन बँट कर ही रहेंगे। इसलिये जो भूमिपति सब कुछ देने और पूरी सहायता करने वाले देवताओं को उनका उचित भाग अर्पण नहीं करता वह उनके स्वत्व को हरण करने वाला चोर या तस्कर होता है।

संसार के अनेक बड़े-बड़े कारखानेदार और पूँजीपति अपने पास थोड़े-थोड़े वेतनों पर अनेक मज़दूर नौकर रखते हैं। यद्यपि पूँजीपति प्रतिदिन मोटे होते चले जा रहे हैं परन्तु मजदूर सूखकर अस्थियों के पंजर बनते चले जा रहे हैं। क्योंकि उनको कभी संतुलित और पूरे भोजन की प्राप्ति नहीं होती।

बहुत से पूँजीपतियों की तो यह समझ में भी नहीं आ रहा है कि इतने विपुल धन को कहाँ पर किस तरह से छिपा कर सुरक्षित रूप में रखें क्योंकि काला धन पकड़ने वाले सरकारी कर्मचारियों और डाकुओं के डर का भूत सदा उनके सिर पर सवार रहता है। बेशक उनको इस बात का भी पता होता है कि उनके पास काम करने वाले श्रमिकों के बच्चे कभी पेटभर कर रोटी भी नहीं खाते, न पूरी तरह वस्त्रों से तन ढांप सकते हैं। धन के अभाव से गन्दी बसतियों में रहने के लिए बाध्य हैं। सोसाइटी अच्छी प्राप्त न होने से कोई अच्छी बात भी नहीं सीख सकते हैं। धूर्तों के भड़काने पर केवल साड़फूँक और हड़तालें करना ही जानते हैं। इस तरह उनका अपना सत्यानाश और राष्ट्र का अहित होता है।

इसलिए पूँजीपतियों को चोर और तस्कर कदापि न बनना चाहिए। देवताओं को उनका उचित भाग अवश्य अर्पण करते रहना चाहिए। नहीं तो ये देवता लोग रुष्ट होकर कहीं ब्रह्मा की चलाई हुई पद्धति को ही बिगाड़ देंगे ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञ-शिष्ट+अशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः। भुञ्जते ते तु+अघम् +पापाः+ये पचन्ति+आत्मकारणात् ॥

यज्ञ-शिष्ट-अशिनः=(वि०) देवयज्ञादीन् निर्वर्त्य तच्छिष्टम् अशनम् अमृताख्यम् अशितुं शीलं येषां ते (बहुव्री०)=देव-यज्ञादि करके उससे बचे हुए अमृत नामक अन्न को भक्षण करना जिनका स्वभाव है वे (श्रेष्ठ) पुरुष। (पुं०) प्र० ए० व०।
[इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवा अत्र वा, √यज्+नङ्=यज्ञ (पुं०)। √शिष्+क्त=शिष्ट (वि०)=बचा हुआ। √अश्+णिनि=अशिन्+ प्र० ब० व०=अशिनः=खाने वाले।]
यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले या यज्ञ से शेष बचे हुए पदार्थों को भोगने वाले।

सन्तः=(पुं)√अस्+शतृ (अकार लोप)=सत्+(पुं०) प्र० ब० व०= सन्तः=धर्मात्मा लोग। श्रेष्ठ पुरुष। सत्पुरुष। भले लोग।

मुच्यन्ते=√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छोड़ना)+लट्० (कर्मवाच्य) प्र० पु०, ब० व०=छोड़ दिए जाते हैं। मुक्त कर दिए जाते हैं।

सर्व-किल्विषैः=(नपुं०) सर्वैः किल्विषैः (कर्मधारय०)=सब पापों के द्वारा। सब पापों से।
[√सृ+व=सर्व (विशेषण)।
√किल्+टिषच्, वुक्=किल्विष+तृती० ब० व०। पापों से। पापों के द्वारा।]

भुञ्जते=भुज् (रुधा० उभ० सक०=भोगना। खाना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=भोगते हैं। खाते हैं।
[भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते। भुङ्क्षे, भुञ्जाथे, भुङ्ग्ध्वे। भुञ्जे, भुञ्ज्वहे, भुञ्ज्महे।]

ते=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ब० व०=वे।

तु=(अव्यय) तो। परन्तु।

अघम्=(नपुं०) √अघ् (चुरा० पर० अक०=पाप करना)+अच्=अघ+ द्वितीο ए० व०=अघ को। पाप को।

पापाः=(पुं०)√पा (अदा० पर० सक०=बचाना)+प+क्विप्=पाप+ प्र० ब० व०=पापी लोग।

ये=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ब० व०=जो।

पचन्ति=√पच् (भ्वा० उभ० सक०=पकाना। उपार्जन करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=पकाते हैं। उपार्जन करते हैं।

आत्म-कारणात्=(नपुं०) आत्मनः कारणात्। आत्महेतोः। पंच० ए० व०। अपने कारण से। अपने (शरीर पोषण के) लिए। अपने वास्ते। [√कृ+णिच्+ल्युट्=कारण। हेतु।]

अर्थ—यज्ञ से शेष बचे हुए (अन्न या भोग-पदार्थों) को खाने या भोगने वाले सत्पुरुष (=श्रेष्ठ लोग) सब पापों द्वारा मुक्त कर दिए जाते हैं (अर्थात् पापों से छूट जाते हैं)। परन्तु जो पापी लोग (केवल) अपने (उदर को भरने) के लिए ही (अन्न) पकाते या (धन) उपार्जन करते हैं वे तो पाप को ही खाते या भोगते हैं॥ १३॥

व्याख्या—यज्ञ करके सब के खा जाने पर शेष बचे हुए भाग को उपभोग करने वाले सज्जन पुरुष सब पापों द्वारा मुक्त कर दिए जाते हैं। जैसे पकड़ने वाले पुलीस के सिपाही यात्रियों की चैकिंग या तलाशी करते हैं, जिनके पास आज्ञा-प्रवेश-पत्र होता है, उनको आगे जाने देते हैं। जिनके पास यह आज्ञा-पत्र नहीं होता, उन्हें पकड़ कर बन्दी बना लेते हैं। इसी प्रकार जो सज्जन नित्य पञ्चमहायज्ञ करते हैं अर्थात् देवताओं की सन्तुष्टि और तृप्ति के लिए हवन करते हैं; ऋषियों की प्रसन्नता के लिए ऋषितर्पण करते हैं, पितरों की तृप्ति के निमित्त तिलाञ्जलि, पिण्डदान और श्राद्धादि करते हैं, अतिथियों को सत्कारपूर्वक भोजन और विश्राम देते हैं, गौ, श्वान और काकादि जीवों को बलि देकर तृप्त और प्रसन्न करते हैं तथा ब्रह्म-भोज्यादि सत्कर्म करते हैं और यज्ञ से शेष बचे हुए अमृतान्न को खाते हैं वे यज्ञ से बचे हुए अमृत रूपी पदार्थों का उपभोग करने वाले जीवनयात्री सत्पुरुष, पकड़ने वाले सिपाही या डाकू बने हुए सब पापों द्वारा पकड़े नहीं जाते, बल्कि मुक्त रूप में छोड़ दिए जाते हैं। यज्ञशिष्ट अमृत भक्षण किए होने से उनका रोब-दाब इतना बढ़ जाता है कि पूर्व जन्म के किए हुए पाप तथा वर्तमान जन्म के होते हुए पाप उस पर अपना प्रभाव नहीं डालते।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि श्लोक में भगवान् ने "सन्तः" शब्द यज्ञशिष्ट अमृत खाने वाले पुरुषों का विशेषण कहा है जो "सत्" शब्द का

प्रथमा बहुवचनान्त रूप है जिसका अर्थ 'श्रेष्ठ लोग' होता है। तो फिर ऐसे लोग तो पाप करते ही नहीं हैं। इन पुरुषों का पाप से छूटना कैसे कहा जा सकता है ? इस सम्बन्ध में स्मृति में लिखा है—

"कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी।
पंचसूनाकृतं पापं पंचयज्ञैर्व्यपोहति ॥"

अथवा—

"कण्डनं पेषणं चुल्ली उदकुम्भश्च मार्जनी।
पञ्चसूना गृहस्थस्य पंचयज्ञात् प्रणश्यति ॥"

अर्थात् गृहस्थियों के गृहों में ओखली, चक्की, चूल्हे, पानी के घड़े और झाड़ू से सदा जीव-जन्तु मरते ही रहते हैं तथा हल आदि और अन्य मशीनों अथवा दूसरे उद्योगों में भी सदा अकस्मात् प्राणियों का नाश होता ही रहता है। इस प्रकार जीवहिंसा से मनुष्य पापभागी बन जाता है और इन पापों से मुक्त होने के लिए पञ्चमहायज्ञ किए जाते हैं। इन यज्ञों का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक किया गया है और पाराशर-स्मृति में इस प्रकार लिखा है—

"वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन विवर्जिताः।
सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति ते ॥
काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च।
अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः ॥"

अर्थात् जो मनुष्य वैश्वदेव यज्ञ नहीं करते और गृह पर आए हुए अतिथियों को भोजन नहीं देते वे सब मरने के बाद नरक को जाते हैं और कौए की योनि को प्राप्त होते हैं। जिस पुरुष के घर से अतिथि निराश होकर चला जाता है उस पुरुष का सहस्रों क्विंटल लकड़ियों और घी के सैंकड़ों कनस्तरों से किया हुआ भी यज्ञ या हवन निष्फल हो जाता है।

इसी विषय का वर्णन मनु० ३।११८ में इस प्रकार किया गया है—

"अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥"

अर्थात् जो पुरुष केवल अपनी उदरपूर्त्ति के लिये ही भोजन पकाता है वह तो केवल पाप का अन्न ही खाता है क्योंकि यज्ञ में योग्यों के भक्षण करने के बाद शेष बचे हुए अन्न को ही सत्पुरुषों के खाने योग्य अन्न कहा गया है।

यज्ञ पूर्ण हो जाने पर जो भोजन शेष बचे रह जाते हैं उनका नाम "अमृत" है। और दूसरों के भोजन करने पर जो भोजन शेष बच जाता है उसका नाम "विघस" होता है। सदा इस विघस को ही खाना चाहिए तथा अमृत-भोजी बनना चाहिए। मनु० ३।२८५ में लिखा है—

"विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥"

ऋग्वेद का एक मन्त्र इस प्रकार है—

" नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥"

अर्थात् जो पुरुष अर्यमा (पितर) और सखा को पोषण नहीं करता, अकेला ही भोजन करता है उसे केवल पापी समझना चाहिए ॥

इस प्रकार सृष्टि के सुचारु रूप से काम करने और जीवित रहने के लिए देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु-पक्षी और भूत प्राणी मात्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । तथा इन सबका भरण-पोषण, तृप्त और सन्तुष्ट होना बहुत जरूरी है ।

तृप्त और प्रसन्न हुए सूर्यादि देवता लोग सब प्राणियों को मन-वाञ्छित भोग प्रदान करते हैं । प्रसन्न और तृप्त हुए कपिल, पतंजलि, व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षि लोग तथा अन्य ऋषि मुनि लोग ज्ञान प्रदान करते हैं । अर्यमादि पितर लोग सन्तानवर्द्धक वरदान देते हैं और उस सन्तान का भरण-पोषण होना और कल्याण चाहते हैं । इन यज्ञों, उद्योगों और श्रेष्ठ कर्मों द्वारा मनुष्य मात्र और सब प्राणियों का कल्याण होता है । वास्तव में सारी सृष्टि की स्थिति तो मनुष्य पर ही निर्भर है । इसलिए यदि मनुष्य प्रमादवश या और किसी कारण से निज कर्तव्य पालन करने से रहित हो जायें तो सृष्टि का सारा खेल बिगड़ जाए । यही कारण है कि भगवान् ने मनुष्य को कर्म करने के लिए उपदेश किया है परन्तु वह कर्म निष्काम भाव से किया जाना चाहिए । तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो कुछ कमाए उसे दूसरों को बांट कर खाए । क्योंकि जो पुरुष अपनी कमाई को अधिकारी जीवों में यथा-भाग बाँट देता है और बचा हुआ भाग आप खाता है वह पुण्यात्मा बन जाता है । उसके पिछले-अगले सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह इस यज्ञशिष्टामृत के भक्षण करने से सदा के लिए मुक्त और अमर हो जाता है । गीता में आगे चलकर ४।३१ में लिखा है—

"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।"

जो लोग जो कुछ भी कमाते और उपार्जन करते हैं और उस सबको केवल अपने लिये ही प्रयोग में लाते हैं तथा एक छोटा पैसा भी परहित में खर्च नहीं करते, न यज्ञ, न हवन, न दान, न धर्म, न परोपकार, न किसी का सत्कार, न दुःखी की सेवा, न दीन की सहायता आदि शुभ कर्म करते हैं, वे पापी हैं, कलंकी हैं । उनकी कमाई पाप की कमाई है । जिसे भोग कर वे नरकगामी हो जाते हैं । परन्तु यज्ञशिष्टामृत खाने वाले को सब पातक इसी

प्रकार छोड़ जाते हैं जिस प्रकार अमृत के मिल जाने पर सारे रोग मनुष्य-देह को छोड़ देते हैं ।। १३ ।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।। १४ ।।

अन्नात्+भवन्ति भूतानि पर्जन्यात्+अन्न-सम्भवः । यज्ञात्+भवति पर्जन्यः+यज्ञः कर्म-समुद्भवः ।।

अन्नात्=(नपुं०) पंच० ए० व०=अन्न से ।
[अनिति अनेन इति√अन्+तन्=अन्न (जिसके द्वारा जीता है) अथवा अद्यते इति√अद्+क्त=अन्न (जो खाया जाता है)] । खाए हुए भोजन से । [√अन्=सांस लेना । प्राण धारण करना । जीना ।] [खाया हुआ अन्न, रक्त और वीर्य के रूप में परिणत होने पर उससे प्रत्यक्ष ही प्राणी उत्पन्न होते हैं] ।

भवन्ति=√भू (भ्वा० पर० अक०=उत्पन्न होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=उत्पन्न होते हैं ।

भूतानि=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+प्र० ब० व०=सारे प्राणी ।

पर्जन्यात्=(पुं०)√पृष् (भ्वा० आत्म० सक०=सींचना)+अन्य, निपा० षकारस्य जकारः=पर्जन्य+पंच० ए० व०=मेघ से । वृष्टि से । वर्षा से ।
[पर्जन्यः (पुं०) वर्षति, सिञ्चति, वृष्टिं ददाति] । पर्जन्य से ।

अन्न-सम्भवः=(पुं०) अन्नस्य संभवः (षष्ठी० तत्पु०)=अन्न की उत्पत्ति ।
[सम्√ भू+अप्=सम्भव+प्र० ए० व०=उत्पत्ति । पैदायश । अस्तित्व] ।

यज्ञात्=(पुं०) इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा,√यज्+नङ्=यज्ञ+पंच० ए० व०=यज्ञ से ।

भवति=√भू+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होती है ।

पर्जन्यः=(पुं०) प्र० ए० व०=मेघ । वर्षा । वृष्टि ।

यज्ञः=(पुं०) प्र० ए० व०=(और) यज्ञ ।

कर्म-समुद्भवः=(पुं०) ऋत्विग्यजमानयोः च व्यापारः कर्म, ततः समुद्भवो यस्य सः (बहुव्री०)=ऋत्विक् और यजमान के व्यापार का नाम कर्म है और उस कर्म से जिसकी उत्पत्ति होती है वह । प्र० ए० व० । कर्म से समुद्भव है । कर्म से उत्पन्न होने वाला है । कर्म से उत्पन्न होता है ।
[सम्-उद्√भू+अप्=समुद्भव (पुं०)+प्र० ए० व०=उत्पन्न होने वाला] ।। १४ ।।

अर्थ—अन्न से सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ से होती है तथा यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—यह रहस्य हम पहले बता चुके हैं कि सूर्य की ऊर्जा को धूप से पेड़-पौधे प्राप्त करते हैं। उनके हरे पत्तों में पर्ण-हरिम या क्लोरोफ़िल की टिक्कियाँ होती हैं जो उस ऊर्जा को हवा से ग्रहण की हुई कार्बन से मिलाकर जड़ों द्वारा प्राप्त किए हुए पानी में घोल लेती हैं। फिर इस घोल से पेड़-पौधों में शक्कर, निशास्ता, तेल, रस और जीवन-तत्त्व (विटामिन) बन जाते हैं फिर जिनसे अनाज और फल बनते हैं। ये अनाज और फलादि ही इस श्लोक में अन्न नाम से कहे गए हैं। दूध भी भोजन का एक पौष्टिक पदार्थ है जो स्त्री-जीवों के स्तनों में पौधों और अन्नों के खाने से ही बनता है।

जब ये सारे भोज्य-पदार्थ जीवों के शरीरों में भोजन द्वारा प्रविष्ट होते हैं तो उनकी वृद्धि और पुष्टि करते हैं। क्योंकि इन भोजनों से अस्थि, रक्त, मांस, मज्जा और वीर्य तथा रज आदि बनते हैं।

जब अन्न से उत्पन्न हुआ नर-शरीर का वीर्य स्त्री के गर्भाशय में जाकर उसके रज से मिलता है तो वीर्य का कोई एक शुक्राणु रज के किसी एक अण्डे में प्रवेश करता है जिससे बच्चा बनना प्रारम्भ हो जाता है और फिर उपयुक्त समय आने पर बच्चे की उत्पत्ति होती है। इसलिए भगवान् ने कहा है कि अन्न से सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् ३।२ में भी लिखा है—

"अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥"

अर्थात् समस्त प्राणी, अन्न से (अन्न के परिणाम भूत वीर्य से) उत्पन्न होते हैं। अन्न से ही ये उत्पन्न हुए जीव जीवित रहते हैं और बढ़ते तथा सुरक्षित रहते हैं। और अन्त में यहाँ से प्रयाण करते हुए पृथिवी पर उगे हुए अन्न में ही प्रविष्ट होते हैं ॥

अन्न की उत्पत्ति वर्षा या जल से होती है। प्रत्येक बीज के तीन भाग होते हैं—१. छिलका। २. शिशु पौधा और ३. शिशु पौधे का सूखा भोजन।

छिलका प्रत्येक बीज के ऊपर चढ़ा हुआ होता है जिससे शिशु पौधे और उसके भोजन की रक्षा होती है। शिशु पौधा और उसका भोजन दोनों मिल कर भ्रूण कहलाते हैं।

छिलके में एक सूक्ष्म छिद्र होता है जिस का नाम अण्ड-द्वार है। जब तक जल इस अण्ड-द्वार में प्रविष्ट नहीं होता तब तक शिशु पौधा बीज के भीतर जड़वत् अचेत पड़ा सोया रहता है। न कुछ खाता है, न पीता है और न ही सांस लेता

है तथा न ही घटता-बढ़ता या मरता है। जब वृष्टि द्वारा प्राप्त हुआ जल अण्ड-द्वार के मार्ग से बीज के भीतर जाता है तो वह जल निशास्ते या शिशु-पौधे के भोजन के साथ मिल जाता है और फिर उपयुक्त तापमान होने पर छिलके रूपी पात्र में दूध बनकर भर जाता है। ऐसा हो जाने पर शिशु पौधे की निद्रा और अचेतना भंग हो जाती है जिससे वह फिर जाग उठता है और छिलके रूपी बोतल या स्तन में भरे हुए दुग्ध का पान करने लगता है। जब यह दूध समाप्त हो जाता है तब उसके एक सिरे से जड़ निकलकर भूमि में चली जाती है और वहाँ से पानी में घुला हुआ अपने लिए उपयुक्त और सन्तुलित भोजन चूसने लगती है। शिशु-पौधे के दूसरे सिरे से हरे पीले अंकुर निकल कर प्रकाश और आकाश की ओर बढ़ते हैं जो हवा में मिली हुई कार्बन-डाई ऑक्साइड से कार्बन ग्रहण करते हैं और उसे सूर्य की धूप तथा पानी से मिलाकर अपने बढ़ने, फूलने और फलने के लिए एक घोल बनाते हैं जिससे फूलों, फलों और अन्नों को उत्पन्न करते हैं।

श्लोक में कहा गया है कि पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पूर्व विधि के अनुसार यह तथ्य सौ प्रतिशत ठीक और सत्य है। क्योंकि पृथ्वी पर जितने भी जल विद्यमान हैं वे वास्तव में वर्षा के ही जल हैं। कारण यह कि जिस समय अत्यन्त प्राचीनकाल में पृथ्वी सूर्य से पृथक् हुई थी तो यह अत्यन्त गर्म गैसों के समूह के रूप में थी। चिरकाल में धीरे-धीरे ठण्डी होकर इसने ठोस रूप धारण कर लिया और हवा गलाफ़ बनकर इसके चारों ओर फैल गई। तथा हवा में मिले हुए जल-वाष्प बादलों के रूप में बदल गये। और ये बादल वर्षा बनकर पृथ्वी पर बरस गये। और वर्षा का वह जल पृथिवी के बड़े-बड़े गड्ढों में भर गया। यही गड्ढे समुद्र और झीलें आदि कहलाने लगे, जिससे फिर वाष्प उड़कर बादल बनने और पर्वतों से टकरा कर निरन्तर वृष्टि करने लगे, जिससे जल के समूह नदी-नाले बनकर समुद्रों की ओर बहने लगे। इनका कुछ जल पृथ्वी में रच कर कुओं और स्रोतों के रूप में बाहर निकल कर खेतों को सींचने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथिवी तल का सम्पूर्ण जल वर्षा के द्वारा ही पृथ्वी पर आया है। इससे सिद्ध होता है कि अन्न की उत्पत्ति पर्जन्य से ही होती है।

यज्ञ से पर्जन्य या वृष्टि की उत्पत्ति होती है। भगवान् ने यह बहुत गूढ़ या रहस्यमयी बात कही है। वास्तव में यज्ञ उन शुभ कार्यों या प्रयोगों का नाम है जिनसे प्राणीमात्र का कल्याण होता है। सब प्रकार की खोजें और आविष्कार सत्पुरुषों के शुभचिन्तन और शिवसंकल्प से निरन्तर ध्यानयोग के द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं। ये सब चमत्कार-पूर्ण कार्य उन महानुभाव सत्पुरुषों

द्वारा किए हुए एक प्रकार के यज्ञ ही थे। यदि आण्विक शक्ति के द्वारा विद्युत्-किरणें वायु-मण्डल में एक विशेष विधि से विकीर्ण की जाएँ तो उस स्थान का वायु-मण्डल घने मेघों से आच्छादित हो सकता है। वैसे ही जब बादल बनते हैं तो पृथ्वी से उठी हुई शुद्ध वायु के कारण ही बनते हैं यह अधिक शुद्ध ऑक्सी-जन तथा ओज़ून-युक्त-वायु विशेष धूप और सुगन्धित सामग्री अग्नि में विधिपूर्वक हवन करने से प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हो जाती है। जब इस ऑक्सीजन में हाइ-ड्रोजन आकाशी बिजली के प्रभाव से जलने लगती है तो वह ठण्डी होकर मेघों के रूप में परिवर्तित हो जाती है जिससे खूब वर्षा होती है। यद्यपि यह कार्य दैव संयोग से भी होता रहता है परन्तु उसका कोई समय निश्चित नहीं होता। परन्तु यज्ञ-विज्ञान के प्रवीण महापुरुष जब चाहें यज्ञ करके वर्षा करा सकते हैं। इससे भगवान् ने कहा है कि वर्षा यज्ञ से होती है।

प्राय: देखा जाता है कि संसार में जब भयानक युद्ध होते हैं तो अधिक मात्रा में लाशों के सड़ने,बमों, बन्दूकों और तोपों के चलने से वायुमण्डल अधिक दूषित गैसों से परिपूर्ण हो जाता है। फिर जिससे कई वर्षों तक वर्षा नहीं होती। इतिहास साक्षी है कि महाभारत के युद्ध के बाद भारत में वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। १९१४ ई० और १९३९ ई० के दो महायुद्धों के बाद भी वर्षा का अभाव ही रहा था। इससे सिद्ध होता है कि हवन करने से वायु शुद्ध और पवित्र हो जाती है जिससे वायुमण्डल में वृष्टि करने वाले मेघों की उत्पत्ति होती है और वर्षा होती है। जैसे एक सैकेण्ड में बिजली ध्वनि को चालीस हजार किलोमीटर गोल पृथिवी के चारों ओर सात बार घुमा देती है। इतनी तीव्र गति से ही हवनों के शुभ प्रभाव और युद्धों के कुप्रभाव से वायुमण्डल प्रभावित हो जाता है। इसलिये भगवान् का यह कथन सर्वदा सत्य है कि यज्ञ से मेघों और वर्षा की उत्पत्ति होती है।

मनु०३।७६ में भी यही भाव प्रकट किया गया है—

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥"

अर्थात् हवनकुण्ड की अग्नि में (प्रातः सायं) श्रद्धा भक्तिपूर्वक (घृतादि पदार्थों की डाली हुई आहुति सूक्ष्म रूप में) सूर्य में स्थित होती है। इस आहुति विशिष्ट सूर्य से (मेघों द्वारा) जल-वृष्टि होती है। जल-वृष्टि से अन्न और फिर अन्न से प्रजाएँ (ये मनुष्यादिक देहें) उत्पन्न होती हैं। इसी भाव को छा० उप० अध्याय ५ खण्ड ४, ५, ६, ७, ८ और ९ में इस प्रकार वर्णन किया है—

४. जैवलि राजा ने कहा—हे गौतम ! द्युलोक अग्नि है। सूर्य उसकी समिधा है। किरणें धूआँ हैं। दिन ज्वाला है। चन्द्रमा अङ्गारा है। तारे

चिंगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते हैं। इस आहुति से राजा सोम उत्पन्न होता है ॥

५. हे गौतम ! पर्जन्य ही अग्नि है। हवा उसकी लकड़ी है। बादल धुआँ है। विद्युत् ज्वाला है। वज्र अंगारा है। विद्युत्-कड़क चिंगारियाँ हैं।

इस अग्नि में देवता लोग सोमराज की आहुति देते हैं। इस आहुति से वृष्टि होती है ॥

६. हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है। वर्ष (संवत्सर) उसकी समिधाएँ हैं। आकाश धुआँ है। रात्रि ज्वाला है। दिशाएँ अंगारे हैं। कोण चिंगारियाँ हैं।

इस अग्नि में देवता लोग वर्ष (संवत्सर) की आहुति देते हैं। इस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ॥

७. हे गौतम ! मनुष्य अग्नि है। वाणी समिधाएं हैं। श्वास धुआँ है। नेत्र अंगारे हैं। कान चिंगारियाँ हैं। जिह्वा ज्वाला है।

इस अग्नि में देवता लोग अन्न की आहुति देते हैं। उस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है ॥

८. हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ ही समिधा है। पुरुष जो उपमन्त्रण करता है, वही धुआँ है। योनि ज्वाला है। जो भीतर की ओर करता है वही अंगारा है और उससे जो सुख होता है वह चिंगारी है। उस अग्नि में देवता लोग वीर्य का हवन करते हैं। उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥

९. इस प्रकार पाँचवीं आहुति के दिए जाने पर जल-'पुरुष' वाची हो जाता है ॥

कल्याण के गीता तत्त्वांक में यज्ञ के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"सृष्टि में जितने जीव हैं उन सब में मनुष्य ही ऐसा है जिस पर सब जीवों का भरण-पोषण और संरक्षण का दायित्व है; मनुष्य अपने दायित्व को समझ कर मन, वाणी और शरीर से समस्त जीवों के धारणादि रूप हित के लिये जो क्रियाएँ करता है, उन क्रियाओं से सम्पादित होने वाले सत्कर्म को यज्ञ कहते हैं। इस यज्ञ में हवन, दान, तप और जीविका आदि सभी कर्तव्य कर्मों का समावेश हो जाता है। यद्यपि इनमें हवन की प्रधानता होने से शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि अग्नि में आहुति देकर वृष्टि होती है और उस वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है किन्तु यज्ञ शब्द से यहाँ केवल हवन ही विवक्षित नहीं है। लोकोपकारार्थ होने वाली क्रियाओं से संपादित सत्कर्म मात्र का नाम यज्ञ है।"

सब प्रकार के यज्ञ कर्म से उत्पन्न होते हैं। इसलिये यज्ञ के निमित्त कर्म

करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। सब प्राणियों के शरीरों में परमात्मा वैश्वानर अग्नि के स्वरूप में स्थित है जो भोजन के ग्रास रूप आहुतियों को पाकर तृप्त और सन्तुष्ट हो जाता है। जैसा कि अध्याय १५ श्लोक १४ में भगवान् ने स्वयं कहा है—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

[मैं ही सब प्राणियों के शरीरों में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ। (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।]

इसलिए अन्य प्राणियों के उदर-स्थित वैश्वानर अग्नि में अन्न की आहुतियाँ देने से शरीर में स्थित देवता और परमात्मा प्रसन्न और संतृप्त हो जाते हैं। जिससे वे अन्न की उत्पत्ति और वृद्धि के लिए वर्षा करते हैं। कोई भी यज्ञ बिना कर्म किए सम्पूर्ण नहीं हो सकता। और यज्ञ करने के लिए धन, धान्य, वस्त्र, वर्तन आदि अनेक पदार्थों की आवश्यकता होती है, जो बिना कर्म किए उपार्जन नहीं होते। अतः पदार्थों को उपार्जन करके यज्ञ करने के लिए कर्म करना बहुत जरूरी है।

भिन्न-भिन्न मनुष्यों के कर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं। क्योंकि उनमें वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति से बहुत अन्तर होता है। सब प्रकार के यज्ञ मन इन्द्रियों और शरीर की क्रियाओं द्वारा संपादित होते हैं। इन क्रियाओं का नाम ही कर्म है। शास्त्र विहित या शुभ क्रियाओं के द्वारा ही यज्ञ की सिद्धि होती है। तथा निषिद्ध क्रियाओं द्वारा किए हुए कर्म निष्फल या हानिकारक होते हैं ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

कर्म ब्रह्म+उद्भवम्+विद्धि ब्रह्म+अक्षर+समुद्भवम्। तस्मात्+सर्व-गतम्+ब्रह्म नित्यम्+यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+ द्विती० ए० व०=कर्म को।

ब्रह्म+उद्भवम्=(नपुं०) ब्रह्म वेदः स उद्भवः (कारणं) यस्य तत् (वि०, द्विती० ए० व०)। ब्रह्म या वेद से उत्पन्न हुआ।

[उद्√भू+अप्=उद्भव]।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व० =(तू) जान। (जानीहि)

ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=ब्रह्म। वेद।

अक्षर-समुद्भवम्=(नपुं०) अक्षरं (ब्रह्म—परमात्मा) समुद्भवो यस्य तद् (बहुव्री०)=अविनाशी परब्रह्म परमात्मा उत्पत्ति का कारण है जिसका वह। अविनाशी परब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। द्वि० ए० व०।

तस्मात्=(अव्यय) इसलिए।

सर्व-गतम्=(वि०) १. यस्मात् साक्षात् परमात्माख्याद् अक्षरात् पुरुष-निःश्वासवत् समुद्भूतं (ब्रह्म), तस्मात् सर्वार्थ-प्रकाशकत्वात् सर्वगतम् [श्री स्वामी शंकराचार्यः]

अर्थात् वेद रूप ब्रह्म साक्षात् परमात्मा नामक अक्षर से पुरुष के निः-श्वास की भाँति उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह सब अर्थों को प्रकाशित करने वाला होने के कारण "सर्वगत" है॥

२. सर्वव्यापक को। सर्वान्तर्यामी परमात्मा को। [√गम्+क्त=गत +(नपुं०) प्र० ए० व० =गतम्। सर्वेषु गतम्=सब में गया हुआ। सर्वव्यापी।]

ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=१. वेद। २. परमात्मा।

नित्यम्=(अव्यय) नियमेन भवः, नि+त्यप्। सदा।

यज्ञे=(पुं०) सप्त० ए० व०=यज्ञ में।

प्रतिष्ठितम्=प्र√स्था (भ्वा० पर० अक०=रहना)+क्त=प्रतिष्ठित+ (नपुं०) प्र०=ए० व०=प्रतिष्ठित है। स्थित है॥

[यज्ञ-विधि में वेद की प्रधानता होने के कारण यह वेद सर्वगत होता हुआ भी सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है]।

अर्थ—(तू) कर्म को ब्रह्म (=वेद, ब्रह्मा, प्रकृति अथवा जीव-शरीर) से उत्पन्न हुआ जान और ब्रह्म अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है [ऐसा तू जान]। इसलिए सर्वगत (सर्वव्यापक) ब्रह्म (वेद अथवा परब्रह्म परमेश्वर) नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है॥ १५॥

व्याख्या—'कर्म' ब्रह्म से उत्पन्न होता है। 'ब्रह्मा', 'वेद', 'प्रकृति' और 'प्राणियों के शरीर' ये सब ब्रह्म नाम से कहे जाते हैं। ये चारों अर्थ ही इस स्थान पर ठीक बैठते हैं। क्योंकि 'ब्रह्मा' ने स्वयं कर्म करके कल्पादि में सृष्टि की रचना की है और यज्ञ-चक्र चलाया है। ब्रह्मा के हाथ का स्रुवा साक्षात् रूप में इस कर्म का प्रतीक है।

'वेद' में कर्मों का विधान पूर्ण रूप से किया गया है और वे सब कर्म यज्ञ हवनादि वेद विधि और वेद मन्त्रों द्वारा ही किए जाते हैं।

प्रकट में सब कर्म प्रकृति द्वारा होते हुए प्रतीत होते हैं। इससे निर्विवाद यहाँ ब्रह्म का अर्थ प्रकृति भी हो सकता है।

मनुष्य और अन्य जीवों के शरीर और इन्द्रियाँ भी संसार में कर्म करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए ब्रह्म का अर्थ शरीर और इन्द्रिय भी युक्ति-युक्त हो सकता है।

इस प्रकार कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म, वेद, प्रकृति और प्राणी-शरीर चारों से मानी जा सकती है। परन्तु लोकमान्य तिलक को यह बात मान्य नहीं है। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं—

"कोई-कोई इस श्लोक के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ "प्रकृति" नहीं समझते। वे कहते हैं कि यहाँ ब्रह्म का अर्थ 'वेद' है। परन्तु ब्रह्म शब्द का वेद अर्थ करने से यद्यपि इस वाक्य में आपत्ति नहीं हुई कि 'ब्रह्म' अर्थात् 'वेद' परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं तथापि वैसा अर्थ करने से "सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में है" इसका अर्थ ठीक-ठीक नहीं लगता। इसलिए "मम योनिर्महद्ब्रह्म' (गीता १४।३) श्लोक में 'ब्रह्म' पद का जो प्रकृति अर्थ है उसके अनुसार रामानुज भाष्य में यह अर्थ किया गया है कि इस स्थान में भी 'ब्रह्म' शब्द से जगत् की मूल प्रकृति विवक्षित है; और वही अर्थ हमें भी ठीक मालूम होता है। इसके सिवा महा-भारत के शान्ति पर्व में यज्ञप्रकरण में यह वर्णन है कि "अनयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानु जगत्सदा" (शां०२६७.३४) अर्थात् यज्ञ के पीछे जगत् है और जगत् के पीछे यज्ञ है। ब्रह्म का अर्थ प्रकृति करने से इस वर्णन का भी प्रस्तुत श्लोक से मेल हो जाता है, क्योंकि जगत् ही प्रकृति है॥"

श्री नारायण स्वामी ने भी इसी अर्थ का अनुमोदन किया है। परन्तु कल्याण के गीतातत्त्वांक में इसके विपरीत इस प्रकार लिखा है—

गीता में ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा, प्रकृति (१४।३, ४); ब्रह्म (८।१७, ११।३७), वेद (४।३२, १७।२४) और ब्राह्मण (१८।४२) इन सब के अर्थ में हुआ है। यहाँ कर्मों की उत्पत्ति का प्रकरण है और विहित कर्मों का ज्ञान मनुष्य को वेद या वेदानुकूल शास्त्रों से होता है। इसलिए यहाँ 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ वेद समझना चाहिए। इसके सिवा इस ब्रह्म को अक्षर से उत्पन्न हुआ बतलाया गया है, इसलिए भी ब्रह्म का अर्थ वेद मानना ही ठीक है क्योंकि परमात्मा तो स्वयं अक्षर है और प्रकृति अनादि है अतः उसको अक्षर से उत्पन्न कहना ठीक नहीं है। और ब्रह्म तथा ब्राह्मण का यहाँ प्रकरण नहीं है। कर्मों को वेद से उत्पन्न बतलाकर यहाँ यह भाव दिखलाया है कि किस मनुष्य के लिए कौनसा कर्म किस प्रकार करना कर्तव्य है। यह बात वेद और शास्त्रों द्वारा समझकर जो विधिवत् क्रियाएँ की जाती हैं उन्हीं से यज्ञ सम्पादित होता है। ऐसी क्रियाएँ वेद से या वेदानुकूल शास्त्रों से ही जानी जाती हैं॥"

हे अर्जुन ! तू वेद को अविनाशी, एक रस, महान् और परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान । जैसा कि इस श्रुति में कहा गया है—

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि इति ॥"

अर्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ये चार वेद इस महान् परब्रह्म परमात्मा के निश्वास रूप हैं और ये चारों वेद इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान इन भेदों से आठ प्रकार के हैं ।]

वेद रूप ब्रह्म साक्षात् परमात्मा नामक अक्षर से, पुरुष के निःश्वास की भाँति उत्पन्न हुआ है । इस लिए वह सब अर्थों को प्रकाशित करने वाला होने से सर्वगत है । तथा यज्ञविधि में वेद की प्रधानता होने के कारण यह सर्वगत होता हुआ भी सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है । यज्ञ सर्वव्यापक परमात्मा की मूर्ति होता है । इसलिए वह उसमें सदा स्थित होता है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

एवम्+प्रवर्तितम्+चक्रम्+न+अनुवर्तयति+इह यः । अघायुः+इन्द्रिय+आरामः+मोघम्+पार्थ ! सः+जीवति ॥

एवम्=(अव्यय)√इ+वमु (वा०)=इस प्रकार ।

प्रवर्तितम्=(वि०) प्र√वृत्+णिच्+क्त=प्रवर्तित+(पुं०) द्विती० ए० व० =चलाए हुए को । चले हुए को । प्रचलित को ।

चक्रम्=(पुं०) [ईश्वरेण वेद-यज्ञ-पूर्वकं जगत्] चक्रम्=(ईश्वर द्वारा वेद और यज्ञ पूर्वक चलाये हुए इस जगत्) चक्र को ।

[√कृ+क, निपा० द्वित्व=चक्र (पुं०)+द्विती० ए० व०=चक्र को ।]

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अनुवर्तयति=अनु√वृत् (भ्वा० उभ० अक०=वर्तना)+णिच्+लट् प्र० पु०, ए० व०=अनुसार बर्तता है । अनुसरण करता है । (शास्त्रानुसार कर्मों को करता है) । [वेदाध्ययन यज्ञादि कर्म करता है] ।

इह=(अव्यय) यहाँ ! इस लोक में ।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (पुरुष) ।

अघायुः=(वि०) √अघ्+अच्=अघ+क्यच्+उ=अघायु+ (पुं०) प्र० ए० व०=अघायुः=पाप करने की इच्छा रखने वाला । पापकारी । हिंसानिरत । [बहुत से टीकाकारों ने 'अघायुः' पद को एकपद न मानकर

'अघ+आयुः'—सन्धि करके अघं (पापम्) आयुः (जीवनं) यस्य सः= पापजीवन इति यावत्, अथवा अघयुतं सर्वायुः यस्य सः (बहुव्री०) अर्थ किया है। यह भी युक्तियुक्त और ठीक है]। पापायु (पुरुष)। पापमय जीवन वाला।

इन्द्रिय+आरामः=(वि०) इन्द्रियैः आराम आरमणम् आक्रीडा विषयेषु यस्य स इन्द्रियारामः (बहुव्री०)=इन्द्रियों द्वारा विषयों में रमण करने वाला। इन्द्रियों के सुखों को भोगने वाला।

[आ√रम्+घञ्=आराम (पुं०)+प्र० ए० व०=प्रसन्न होने वाला। खेलने वाला। मैथुन करने वाला]।

मोघम्=वि०)√मुह्+घ या अच्+(नपुं०) प्र० ए० व०=मोघम् (अव्यय) =व्यर्थ। निष्फल।

पार्थ !=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्=(संबो०) हे पृथापुत्र (अर्जुन)! हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)!।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

जीवति=√जीव् (भ्वा० पर० अक०=जीना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= जीता है॥

अर्थ—हे पृथापुत्र (अर्जुन)! इस लोक में जो पुरुष (ईश्वर द्वारा वेद और यज्ञपूर्वक) इस प्रकार चलाए हुए इस (जगत्) चक्र के अनुसार नहीं बर्तता है। [अर्थात् वेदाध्ययन-यज्ञादि कर्म नहीं करता है।] वह पाप कर्म करने वाला अथवा पापमय जीवन वाला तथा इन्द्रियों द्वारा विषयों में रमण करने वाला व्यर्थ ही जीता है॥ १६॥

व्याख्या—हे पार्थ! महाकल्प के प्रारम्भ होने से पूर्व अक्षर ब्रह्म आनन्द मग्न होता है। ये सब आकाश गङ्गाएँ, उनमें स्थित सारे सूर्य तथा उनके चारों ओर घूमने वाले ग्रह, उपग्रह, सब पृथ्वियाँ एवं नक्षत्रादि सारा दृश्य और अदृश्य जगत् उसी में लीन हुए होते हैं। उस समय केवल एक अक्षर ही विद्यमान और व्यापक होता है। फिर जब कल्प का आरम्भ होने लगता है तो सैकड़ों आकाश-गंगाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रत्येक आकाश-गंगा में हमारे इस सूर्य जैसे अर्बों सूर्य विद्यमान होते हैं और उन सब सूर्यों के अपने-अपने परिवार होते हैं जिनके सदस्य अनेक ग्रह, उपग्रह, क्षुद्रग्रह, उल्काएँ और पुच्छल तारे होते हैं। ये सब सदस्य चक्र लगाते हुए अपनी-अपनी कक्षाओं में घूमते रहते हैं। आकाश-गंगाएँ भी अपने-अपने गांगीय-केन्द्रों के गिर्द घूमती रहती हैं और सारे सूर्य भी अपने परिवारों को साथ लेकर अपनी आकाश गंगाओं में स्थित रहते हुए सदा चक्र लगाते रहते हैं। हमारा यह अपना सूर्य बाईस सौ लाख से भी अधिक वर्षों में अपना एक चक्र पूरा करता है।

वह अक्षर सदा, सर्वत्र, सर्वगत और सर्वव्यापक रहता है। वेद, ब्रह्मा तथा प्रकृति का प्रादुर्भाव उसी 'अक्षर' से होता है। और फिर इन तीनों से कर्म उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा सृष्टि की रचना करता है। वेद से यज्ञादि कर्मों के विधान का ज्ञान और हवन यज्ञादि का सम्पादन होता है। महद्ब्रह्म प्रकृति से शरीरों की रचना होती है। क्योंकि यह वह योनि है, जिसमें परमपिता परमेश्वर बीज डालता है जिससे समस्त जीवों की उत्पत्ति होती है। (गीता १४।३, ४)। कर्मों से यज्ञ की उत्पत्ति होती है। वेद-विहित कर्मों द्वारा यज्ञ हवनादि कर्म किए जाते हैं। दान, पुण्य आदि कर्मों द्वारा दीन-दुःखियों के उदरों में अन्नादि भक्ष्य पदार्थों की आहुति दी जाती है जिसका भोक्त वैश्वानर अग्नि रूप धारी स्वयं परमात्मा होता है (गीता १५।१४)। बावड़ी, सरोवर, पाठशाला देवमन्दिर, धर्मशाला, यात्री-विश्राम-गृह आदि का निर्माण करवा कर दानी धनाढ्य परोपकारार्थ अपने धन का हवन करता है। कृषक अपने श्रम का हवन करके खेतों में अन्न की उत्पत्ति का साधन बनता है। जिससे सम्पूर्ण भूत प्राणियों का पालन-पोषण होता है। श्रमिक अपने श्रम की आहुतियों से भवनादि के निर्माण में योगदान करता है। जिससे संसार की सुन्दर सड़कें, नहरें, रेलें और कारखानें आदि निर्मित होते हैं। जिससे संसार सुन्दर और सुखी बनता है। शिल्पकार और दस्तकार लोग अपनी सुन्दर कृतियों के रूप में यज्ञ में आहुतियाँ देते हैं। जिससे संसार सुखमय और सुविधाजनक बन जाता है। आविष्कार-कर्ता लोग अपने आविष्कारों की आहुतियों से ऋषि महर्षियों की भाँति जगत् को उन्नत और प्रगतिशील बनाते हैं। इन विविध यज्ञ करने वालों को यज्ञों से प्रसन्न होकर देवता लोग सुख और ऐश्वर्य की वर्षा करने लगते हैं तथा मेघों द्वारा जल-वृष्टि करते हैं। इसलिए कहा जाता है कि कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है। और यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति होती है। पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति होती है। और अन्न से प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं तथा पालित पोषित होते हैं। ये प्राणी अपने शुभ कर्मों के बल से पुनः परमात्मा में मिल जाते हैं। इस प्रकार एक चक्र पूरा हो जाता है।

इसी प्रकार फिर दूसरा चक्र परमात्मा से शुरू होकर परमात्मा में ही समाप्त हो जाता है। सदा इसी प्रकार यह संसार-चक्र चलता रहता है। परन्तु कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जो इस चक्र को बीच में ही भंग कर देते हैं। वे लोग सारी आयु पाप करते हुए ही बिता देते हैं। इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए सदैव विषय भोगों में ही लीन रहते हैं। उनके मन सदा पाप वासनाओं से भरपूर रहते हैं। ये लोग अभिमान से भरे हुए रावण होते हैं। बकरे-भैंसे भक्षण करके कुम्भकर्ण की नींद सोते हैं। गाजर-मूली की तरह निरीहों के गले काट देना

उनके बाएँ हाथ का खेल होता है। वे सदा मदिरा पीकर अन्धे बने रहते हैं। सब लोग उनके पाप कर्मों से सदैव शंकित और भयभीत रहते हैं। वेदशास्त्र उनकी दृष्टि में रद्दी के काग़ज़ों से भी तुच्छ होते हैं। वे लोग धर्म की मर्यादा का स्वयं तो पालन करते ही नहीं। जब वे दूसरों को धर्म का आचरण करते हुए देखते हैं तो सुबाहु-ताड़का की भाँति उनके तन-मन जल उठते हैं और मस्तिष्क फिर जाते हैं। तब वे दूसरों से किए जा रहे धर्मयज्ञों को भंग करने के लिए स्वयं ताड़का और सुबाहु बन जाते हैं। दूसरों के यश रूपी सूर्य-चन्द्रमा को ग्रसने के लिए राहु-केतु के समान होते हैं। संस्कृतादि देववाणियों का पठन-पाठन स्वयं तो करते ही नहीं। दूसरों को भी उनसे वंचित रखने के लिए प्रत्येक प्रकार के उचित अनुचित हथकण्डों और उपायों का प्रयोग करते हैं। धर्मात्मा और परोपकारी पुरुषों को उजाड़ने से उन्हें आनन्द और प्रसन्नता प्राप्त होती है। दूसरे के बसने में उन्हें कष्ट और क्लेश होता है और उजड़ जाने पर सुख का अनुभव होता है। ये लोग शास्त्र और ईश्वर-मर्यादा के विरुद्ध मन-कल्पित पाप कर्मों पर आचरण करना अपना धर्म समझते हैं। कुकर्म और पाखण्ड को अपने मनकल्पित धर्म के अंग मानते हैं। जुल्म का नाम उनके कोष में बलिदान और शहीदी होता है। माता-पिता और बन्धुओं की अवहेलना और हत्या करना उनके लिए एक साधारण सा कर्म होता है। ऐसे लोग अपने द्वारा किए हुए पाप-कर्मों का फल भोगने के लिए घोर नरकों में गिरते हैं और अधम से अधम योनियों में जन्म लेते हैं। वे परमात्मा तक पहुँचते ही नहीं। इसलिए इनके द्वारा परम्परागत सृष्टि-चक्र भंग हो जाता है। इसीसे ये लोग अघायु कहलाते हैं। क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय-भोगों के वशीभूत हुए नाना प्रकार के पाप और निन्दनीय कर्म करते हैं। धर्म और परोपकार के कार्य इनके लिए त्याज्य होते हैं। इसलिए इनका जीवन संसार में व्यर्थ और निष्फल होता है। ये लोग केवल भूमिभार रूप ही होते हैं। और अजागल-स्तनों की तरह किसी के काम नहीं आते। न ही स्वयं अपने लिए लाभकारी होते हैं।

अपने कर्तव्य का पालन न करना भी सृष्टिचक्र के प्रतिकूल चलना है। इन्द्रियाराम व्यक्ति सब प्रकार से विषयों के भोगों द्वारा अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न करता है और स्वेच्छाचारी हो जाता है। वह कभी अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता। हाईकोर्ट का ज़ज होकर भी अन्धों की तरह अपनों को ही रियोड़ियाँ बाँटता है। कालेज का प्रिंसिपल होकर भी फिरकापरस्ती के कीचड़ में गिरता है। न्याय का तराज़ू पकड़कर भी पचास किलो का पाँच किलो ही तोलता है। दूसरे भले मानस के सौ रुपये के नोट के दो शून्य मिटा कर उसे केवल एक रुपये का बना देता है इस पर भी तुर्रा यह है कि अपने कुकर्म पर

लज्जा अनुभव करने के स्थान पर इसे अपना महान् कारनामा और गौरव समझता है। इससे उसका न स्वयं अपना हित होता है और न उसके प्रेरक या उससे प्रेरित को ही लाभ होता है।

इस प्रकार सृष्टि में दुर्व्यवस्था फैलाने वाला मनुष्य बड़े दोष का भागी होता है और अघायु बन जाता है। जिससे परमेश्वर को पाने से वह सर्वथा वंचित रह जाता है। इससे उसका जीवन व्यर्थ है। और वह सृष्टि का एक बड़ा कलंक है। यह लोक और परलोक उसके दोनों बिगड़ जाते हैं।

इसलिए मनुष्य को सदा संसार में ईश्वर के बनाए हुए सृष्टिचक्र के अनुसार ही बर्तना चाहिए। नहीं तो वह अघायु, इन्द्रियाराम और व्यर्थ जीने वाला बन जाता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

यः+तु+आत्म-रतिः+एव स्यात्+आत्म-तृप्तः+च मानवः। आत्मनि +एव च सन्तुष्टः+तस्य कार्यम्+न विद्यते ॥

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो। जो (आत्म-ज्ञान-निष्ठ सांख्य योगी)।

तु=(अव्यय) तो। पर। परन्तु। और।

आत्म-रतिः=(वि०) आत्मनि एव रतिः न विषयेषु यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। जिसका आत्मा में ही प्रेम है (विषयों में नहीं)। आत्मा में रति वाला। आत्मा या परमात्मा में रमण करने वाला।

एव=(अव्यय) ही।

स्यात्=√अस् (अदा० पर० सक०=होना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व०= हो। होवे। भवेत्।

आत्म-तृप्तः=(वि०) आत्मना एव तृप्तो (न अन्नरसादिना) यः सः (बहुव्री०) =आत्मा से ही तृप्त। आत्मनि एव तृप्तः यः सः=आत्मा ही में तृप्त। जिसकी तृप्ति अन्न-रसादि के अधीन नहीं रह गई बल्कि जो आत्मा या परमात्मा से ही तृप्त है। (पुं०) प्र० ए० व०।

च=(अव्यय) और।

मानवः=(पुं०) मनोः गोत्रापत्यम्, मनु+अण्=मानव+प्र० ए० व०= मानवः। मनु के वंश में उत्पन्न हुआ। प्रत्येक मनुष्य 'मानव' है। चाहे किसी भी जाति, नसल, वर्ण, धर्म या देश का मनुष्य हो, वह 'मानव' कहलाता है। [मनु+ज='मनुज' मनु से उत्पन्न हुआ। मनोः अपत्यम्, मनु+यत्, षुक्, आगम=मनुष्य]।

आत्मनि=(पुं०) आत्मन्+सप्त० ए० व०=आत्मा में।
एव=(अव्यय) ही।
सन्तुष्टः=(वि०) सम्√तुष् (दिवा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+क्त=
सन्तुष्ट+(पुं०) प्र० ए० व०=सन्तुष्टः। खुश। प्रसन्न।
तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी० ए० व० उसका। उसके लिए।
कार्यम्=(नपुं०)√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+ण्यत्=कार्य+(नपुं०)
प्र० ए० व०=कार्यम्=कार्य। कर्तव्य। करणीय। करने योग्य कर्म।
न=(अव्यय) न। नहीं।
विद्यते=√विद् (दिवा० आत्म० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए०
व०=है।

अर्थ—परन्तु जो (आत्मज्ञाननिष्ठ सांख्य योगी) मनुष्य (विषयों की रति से रहित हुआ केवल) आत्मा ही में प्रीति वाला, आत्मा ही में तृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य (या करने योग्य कर्म) नहीं है ॥ १७ ॥

व्याख्या—शास्त्रों में मनुष्य के जितने भी कर्तव्यों का विधान किया गया है उन सबका अन्तिम उद्देश्य और लक्ष्य केवल एक परमात्मा की प्राप्ति ही है। परन्तु वह उद्देश्य जिसके जीवनकाल में ही पूर्ण हो जाता है वह पुरुष आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्म-सन्तुष्ट कहलाता है। परन्तु यह अवस्था उस आत्म ज्ञाननिष्ठ सांख्य योगी या ब्रह्मज्ञानी (मस्त) को ही प्राप्त होती है, जिसके पूर्व जन्मों के शुभ कर्म अत्यन्त प्रबल होते हैं। और उसने वर्तमान जन्म में भी बालपन से ही संगरहित होकर निष्काम कर्म करते हुए सृष्टिचक्र का पूर्णतया पालन किया हो तथा परमात्मा का अनुभव अपने स्वरूप में किया हो। इस ब्रह्मज्ञानी या मस्त का अपने मन, इन्द्रियों और शरीर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। न उसे तन ढांपने की चिन्ता होती है, न नग्न रहने की परवाह होती है। न वस्त्र उतारने से उसे कोई प्रयोजन होता है, न वस्त्र धारण करने कोई काम होता है। न उसे सर्दी सताती है, न धूप या गर्मी ही जलाती है। न निन्दा से क्रोध होता है, न प्रशंसा से प्रसन्नता होती है। उसका न किसी से स्नेह होता है और न किसी से द्वेष होता है। उसे न भूख सताती है, न तृषा ही तंग करती है। उसे न कोई वासना होती है, न इच्छा होती है। वह केवल अपने आत्मा या परमात्मा से ही प्रीति रखता है और आठों पहर सदैव उसमें ही रमण करता है। उस ब्रह्मज्ञानी को तृप्ति के लिए सुस्वादु भोजन या धन ऐश्वर्य आदि किसी भी सांसारिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। वह तो आत्मा में तृप्त हुआ ही निरन्तर परमात्मा में लीन रहता है। इसी से उसकी तृप्ति अजस्र बनी रहती है। किसी प्रकार की

सांसारिक क्षुधा तृषा का उसे आभास भी नहीं होता। परमात्मा को सदा सर्वत्र सर्वव्यापक अनुभव करने के कारण उसका मुख शतदल रक्त कमलवत् विकसित रहता है और नेत्र नवीन नीलकमलवत् विकसित रहते हैं। उसके भीतर का उल्लास और प्रसन्नता मुखमण्डल के चारों ओर किरणों के रूप में विकिरत रहते हैं। रति, तृप्ति और सन्तुष्टि ये तीनों मन की विशेष वृत्तियां हैं जो आत्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता मानव को निरन्तर परमात्मा में लीन रखती हैं।

यह जगत् एक स्वप्न है। जिसमें जन्मे हुए लोग इस जगत् को सत्य मान कर काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार के वशीभूत हुए अपने आपको भूले रहते हैं। जिससे फिर मरने के बाद परमात्मा को न प्राप्त होकर अधमाधम योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। जैसे कोई मनुष्य जब स्वप्न देखता है तब स्वप्न के लोक में दुःख, सुख, शीत, उष्ण और क्षुधा-तृषा आदि का अनुभव करता है। परन्तु निद्रा के भंग हो जाने पर उसका सारा स्वप्न-संसार नष्ट-भ्रष्ट और लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता के ज्ञानचक्षु उन्मीलित हो जाने पर संसार रूपी स्वप्न भी उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। फिर तो अपना शरीर भी उसे भासमान नहीं होता। सब ओर दशों दिशाओं में आत्मस्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। और सब कुछ परमात्मा के प्रकाश से परिपूर्ण दिखाई देता है। जब तक वह जीवित रहता है उसकी इन्द्रियां पूर्व प्रारब्ध के कारण अपने-अपने कर्म करती रहती हैं। परन्तु उन कर्मों से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार जीवित प्राणी की नासिका सोते-जागते बिना इच्छा किए ही दिन-रात सांस लेती रहती है, हृदय निरन्तर गतिशील रहता है और रक्तवाहिनी नाड़ियां बिना विश्राम किए अपना काम करती रहती हैं, सारे शरीर की प्रत्येक कोशिका और रोम-रोम बिना रुके प्रगतिशील रहते हैं इसी प्रकार आत्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता पुरुष की इन्द्रियाँ पूर्वाभ्यास के कारण अपने-अपने शिवसंकल्प कार्यों में लगी रहती हैं। परन्तु उस मस्त पुरुष को उनके काम का पता भी नहीं लगता कि उसके द्वारा क्या हो रहा है। वह तो स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अतः उसके मुख से स्वतः सिद्ध निसृत शब्द भी सच्चे होते रहते हैं। इसी से स्वार्थरत संसार के कुत्ते उसके चारों ओर घूमते रहते हैं और उसके द्वारा अपनी मनोकामनाएँ पूरी करने का प्रयत्न करते हैं। कभी उसके मुख में मिठाई ठोंसते हैं। कभी तन पर दोशाला ओढ़ाने का प्रयास करते हैं। परन्तु उसको इनके उन कार्यों से कोई दिलचस्पी नहीं होती। इससे वह इन दुनियादारों के चढ़ावे और उपहार वहीं छोड़कर दूसरे स्थान पर चला जाता है। इससे यह कभी नहीं समझना चाहिए कि ब्रह्मज्ञानी पागल या मस्तिष्क-फिरा होता है अथवा उसने भाँग जैसी

कोई मादक वस्तु सेवन की हुई होती है। नहीं, इनमें से उसमें कोई भी विकार नहीं होता। कहा भी है—

पोस्त अफीम मद्य भांग, सब उतर जात प्रभात।
नाम खुमारी नानका! चढ़ी रहे दिन रात॥

अर्थात् सब प्रकार के नशे रात को पी लेने से प्रातःकाल होते ही प्रभाव शून्य हो जाते हैं परन्तु परमात्मा के साक्षात्कार का नशा किसी काल भी उतरता नहीं है। वह निरन्तर एकरस बना रहता है।

पागल और ब्रह्मवेत्ता में महान् अन्तर होता है। पागल तो केवल धरती पर विचरता है। परन्तु ब्रह्मवेत्ता आत्मदर्शी आकाशों में बिना परों और बिना किसी अन्य साधन के उड़ता है। उसकी पहुँच तो आकाश गंगाओं के सब सूर्यों तक होती है। संपत्ति की भाँति उसके शरीर का कोई अंग भी जलता नहीं है। वह किसी को तो किसी स्थान पर बैठा हुआ दिखाई देता है और किसी दूसरे पुरुष को वह हजारों मीलों के किसी दूरवर्त्ती स्थान पर विचरता हुआ दिखाई देता है।

पागल तो सब वस्तुओं को तोड़ता-फोड़ता है और नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। परन्तु ब्रह्मवेत्ता आत्मदर्शी द्वारा कोई ऐसा कार्य नहीं किया जाता जिससे जगत् का अहित हो। उसकी सब लौकिक या अलौकिक क्रियाएँ स्वतः ही होती रहती हैं। उसके कर्म करने में उसकी अपनी इच्छा का कोई दखल नहीं होता। क्योंकि यहाँ संसार में कोई काम ऐसा नहीं रहता जो उसके करने योग्य हो। कारण यह कि उसका हृदय परम पवित्र होकर आत्मरति, आत्म-तृप्ति और आत्मसन्तुष्टि को प्राप्त हो चुका होता है। उसके लिए केवल देहत्याग-कार्य ही शेष होता है जिसके बाद उसकी आत्मा परमात्मा होकर सर्वव्यापक हो जाती है।

इस श्लोक में 'मानव' शब्द भगवान् ने विशेष अभिप्राय से कहा है। आशय यह कि ब्रह्मवेत्ता आत्मदर्शी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि किसी जाति विशेष से नहीं बनता। अपितु प्रत्येक स्त्री-पुरुष कमाई करने से इस अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

मुण्ड० ३।४ में लिखा है—

"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥"

अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ यह विद्वान् अपनी आत्मा में ही क्रीड़ा करता है। आत्मा में ही रति (प्यार या रमण) करता है। आत्मा में ही क्रियावान होता है अर्थात् आत्मदृष्टि से ही सब क्रियाएँ करता है। लौकिक या व्यावहारिक या स्वार्थ दृष्टि से नहीं॥ १७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

न+एव तस्य कृतेन+अर्थः+न+अकृतेन+इह कश्चन। न च+अस्य सर्व-भूतेषु कश्चित्+अर्थ-व्यपाश्रयः ॥

न=(अव्यय) न। नहीं। नहीं है। नहीं होता है।

एव=(अव्यय) ही। भी।

तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=उस (महापुरुष) का। उसका। उस परमात्मा में प्रीति वाले महापुरुष का।

कृतेन=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+क्त=कृत+(नपुं०) तृती० ए० व०=किए हुए (कर्म) से।

अर्थः=√अर्थ+अच्=अर्थ+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रयोजन। काम। मतलब।

न=(अव्यय) न। नहीं। नहीं है। नहीं होता है।

अकृतेन=न कृतेन (नञ्०)। (नपुं०) तृती० ए० व०=न किए हुए (कर्म) से।

इह=(अव्यय) इदम्+ह, इ आदेश=यहाँ। इस संसार में।

कश्चन=(सर्व०) किम्+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चन=कोई। कोई (प्रयोजन)।

न=(अव्यय) न। नहीं है।

च=(अव्यय) और।

अस्य=(सर्व०) इदम्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=इसका।

सर्व-भूतेषु=(नपुं०) ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु सर्वेषु भूतेषु=ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सब प्राणियों में। सप्त० ब० व०।

कश्चित्=(सर्व०) किम्+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चित्=कुछ भी।

अर्थ-व्यपाश्रयः=(पुं०) प्रयोजन-निमित्त-क्रिया-साध्यो व्यपाश्रयो व्यपाश्रयणम्=किसी फल के लिए किसी प्राणी विशेष का जो क्रिया-साध्य आश्रय है, उसका नाम अर्थ-व्यपाश्रय है (श्री स्वामी शंकराचार्य)।
अर्थस्य व्यपाश्रयः=प्रयोजन का विशेष आश्रय। स्वार्थ का सम्बन्ध। [वि-अप-आ√श्रि (भ्वा० उभ० सक०=आश्रय)+अच्=विशेष आश्रय। सम्बन्ध।]

अर्थ—[पूर्व श्लोक में जिस आत्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता मस्त महात्मा का वर्णन किया गया है, इस श्लोक में भी उसी की अवस्था का वर्णन है।]

इस लोक में उस (परमात्मा में प्रीति वाले महापुरुष) का न ही (अपने द्वारा) किए हुए (कर्म) से कोई प्रयोजन होता है और न, न किए हुए (कर्म) से (कुछ मतलब होता है)। तथा उसका (ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक) सब प्राणियों में कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं होता ॥ १८ ॥

व्याख्या—जिस महापुरुष ने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है अर्थात् जिस ने परब्रह्म परमेश्वर से टूटा हुआ नाता पुनः जोड़ लिया है जिसका सम्बन्ध जीवित अवस्था में ही देह, गेह आदि से विच्छेद हो चुका है तथा जिसे अपने-पराए का कोई अन्तर नहीं रहा है, जो दूर के आकाशों में उड़ने लगा है, जिसके मन से सब विकार निवृत्त हो चुके हैं। तथा आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसन्तुष्टि से पूर्णतया जो युक्त हो चुका है वह सिद्ध पुरुष है, वह मस्त मनुष्य है तथा वह जीवित मुक्त है। वह ब्रह्मलीन योगी है। वह जो बोलता है, जो खाता है, जो पीता है तथा इन्द्रियों द्वारा जो दूसरे कर्म करता है उसके वे सब कर्म स्वयं होते रहते हैं। वास्तव में उस महात्मा का उन किए हुए कर्मों से न कोई सम्बन्ध होता है तथा न उनसे उसका कोई प्रयोजन होता है। क्योंकि उसमें स्वार्थ बुद्धि का नितान्त अभाव होता है जिससे उसका अभी न किए हुए कर्मों में भी कोई प्रयोजन नहीं रहता है। क्योंकि उसकी समस्त आवश्यकताएँ निःशेष हो चुकी होती हैं। अब उसके लिये किसी भी पदार्थ की प्राप्ति शेष नहीं होती। वह शास्त्रों की आज्ञा और लौकिक शासनों से भी मुक्त होता है। वह स्वयं आनन्दस्वरूप हो जाता है तथा उसमें किसी भी प्रकार के अभिमान का लेश भी नहीं होता। 'उत्तर गीता' में लिखा है—

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥"

अर्थात् ज्ञान-अमृत से तृप्त और कृत-कृत्य हुए योगी का कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। यदि उस पुरुष का कोई कर्तव्य शेष है, तो वह तत्त्ववित् अथवा आत्मदर्शी या ब्रह्म-वेत्ता नहीं है।

उक्त महात्मा का संसार के किसी भी प्राणी से कोई स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं होता। स्वार्थ-सम्बन्ध तो तभी हो, जब उसकी कोई आवश्यकता या आकांक्षा हो। अथवा उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार के छल-कपट या पाप के कीटाणु हों। उसका मन तो शुद्ध, साफ, पवित्र, स्वच्छ और स्वस्थ होता है। शरीर से लगाव और आसक्ति मिट जाने से उसकी शारीरिक निर्वाह की वासना भी दूर हो जाती है। उसके द्वारा कोई चेष्टा और कर्म किया नहीं जाता। प्रारब्धानुसार उसके द्वारा जो कर्म होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं उन कर्मों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए वे कर्म, कर्म कहे ही नहीं जा सकते। क्योंकि उन कर्मों के सम्बन्ध में उस महात्मा में कर्तृत्व बुद्धि का अभाव होता है।

जब तक पुरुष अज्ञानी, विषयासक्त, इन्द्रिय-लोलुप और आत्मानुभव से रहित होता है तब तक वह संसार में फँसा रहता है और उसके द्वारा सब

प्रकार के कर्म होते रहते हैं। परन्तु जब उसका ज्ञान-चक्षु खुल जाता है और वह आत्म-साक्षात्कार कर लेता है तो उसको भीतर, बाहर, दूर, समीप, सदा सर्वत्र केवल एक परमात्मा ही दिखाई देता है जिससे कर्म-शृंखला टूट जाती है और संसार से नाता छूट जाता है और वह सब प्रकार से तृप्त और भरपूर हो जाता है। निरीह और मासूम बालक की भाँति वह संसार में विचरता रहता है। वह पुरुष न मूर्ख होता है, न पागल होता है क्योंकि उसमें तो ज्ञान-ज्योति प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित होती है। इसलिये वह आलसी बनकर लोष्टवत् एक स्थान पर पड़ा ही नहीं रहता। न मृत्यु की चिन्ता से उत्सुक होकर दिनों को व्यतीत करता है। न कभी आत्महत्या का प्रयत्न करता है। उसे ऐसा करने की आवश्यकता भी तो नहीं है। क्योंकि सब तत्त्व और भूत तो उसके नियन्त्रण में होते हैं। यद्यपि वह मिल्थ कर कभी उनसे लाभ नहीं उठाता। परन्तु स्वतः सहज-स्वभाव ही उसके द्वारा कर्म होते रहते हैं। योगवासिष्ठ में लिखा है—

"ज्ञस्य नार्थः कर्म-त्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥" (६।१६६।४॥)

अर्थात् ज्ञानी को न कर्म छोड़ने में कोई प्रयोजन होता है और न कर्म को करने में कोई लाभ है। इसलिए उसको जो-जो जैसे प्राप्त हो जाए वह उस-उस को वैसे ही करता है।

इस कारण से ज्ञानी कहता है—

"मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
यथा प्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः॥" (योग० ६।२१६।१४॥)

अर्थात् मेरा यहाँ न (कर्म) करने में कुछ प्रयोजन है और न, न करने में ही कोई लाभ है। मुझे जैसा भी प्राप्त होता है, मैं उसी में सन्तुष्ट रहता हूँ। इसलिये मुझ को कर्म के करने या न करने का क्या आग्रह या हठ है?॥ इसलिए आत्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता को कर्म के करने या न करने में कुछ भी स्वार्थ नहीं है। गणेश गीता अध्याय २, श्लोक १८ में भी यही भाव झलकाया है—

"किञ्चिदस्य न साध्यं स्योत्सर्वजन्तुषु सर्वदा।
अतोऽसक्ततया भूप! कर्त्तव्यं कर्म जन्तुभिः॥"

अर्थात् उस (आत्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता पुरुष) का दूसरे प्राणियों में कोई साध्य (प्रयोजन) शेष नहीं रहता। इसलिए हे राजन्! जीवों द्वारा कर्म असक्त बुद्धि से किया जाना चाहिए।

इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक है कि आत्मदर्शी तत्त्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानी पुरुष कुछ करता-कराता नहीं है। उसके द्वारा तो स्वतः ही कर्म किए

जाते हैं जिनमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होता और दूसरे प्राणियों से किसी स्वार्थ सम्बन्ध के कारण भी ये कर्म नहीं किए जाते हैं ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

तस्मात्+असक्तः सततम्+कार्यम्+कर्म समाचर । असक्तः+हि+आचरन्+कर्म परम्+आप्नोति पूरुषः ॥

तस्मात्=(अव्यय) इससे । इसलिए । ['तद्' का पंच० ए० व०]

असक्तः=(वि०) न सक्तः (नञ् तत्पु०)=संगवर्जितः । आसक्ति से रहित हुआ । सांसारिक पदार्थों से विरक्त हुआ । अनासक्त हुआ । [√सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०=चिपकना)+क्त=सक्त । न सक्त=असक्त (नञ्०)+(पु०) प्र० ए० व०] ।

सततम्=(वि०) सम्√तन्+क्त, समः अन्त्यलोपः=निरन्तर । लगातार । (अव्यय) सर्वदा । सदैव । सदा ।

कार्यम्=(वि०)√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+ण्यत्=कार्य+(नपुं०) द्विती० ए० व०=कार्यम् । कर्तव्यम् । करणीयम् । कर्त्तव्य को । नित्य (कर्म) को । करने योग्य (कर्म) को ।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को ।

समाचर=सम्-आ√चर् (भ्वा० पर० सक०=आचरण करना)+लोट्०, म० पु०, ए० व०=अच्छी तरह आचरण कर । भली-भाँति कर । [निर्वर्तय] ।

असक्तः=(वि०) अनासक्त हुआ । संग रहित हुआ ।

हि=(अव्यय) क्योंकि ।

आचरन्=(वि०) आ√चर्+शतृ=आचरत्+(पुं०) प्र० ए० व०=करता हुआ ।

परम्=(पुं०) पर+द्विती० ए० व०=पर को । परमात्मा को । मोक्ष को ।

आप्नोति=√आप् (स्वा० पर० सक०=पाना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=पा लेता है । प्राप्त होता है ।

पूरुषः=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति । √पुर् (तुदा० पर० अक०=आगे जाना)+कुषन्, निपातनात् दीर्घः=पूरुष+प्र० ए० व०=पूरुषः । पुरुष ॥

अर्थ—इसलिए निरन्तर संग रहित हुआ (अनासक्त हुआ) तू कर्तव्य (करने योग्य) कर्म को कर । क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

व्याख्या—श्लोक १७, १८ में भगवान् ने आत्म-रत, आत्म-तृप्त और आत्म-सन्तुष्ट महात्मा के सम्बन्ध में कहा है कि उसके लिए करने योग्य कोई कर्म नहीं रहता। क्योंकि किए हुए या न किए हुए सब प्रकार के कर्मों से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। अपनी इच्छा से तो वह कुछ करता ही नहीं। उसके सब कर्म अपने आप ही होते रहते हैं। वे प्रायः ठीक और परोपकार के लिए ही होते हैं। उसका सम्बन्ध तो उसके अपने शरीर से भी कोई विशेष नहीं होता। उसका शरीर-मोह रूप स्वप्न पहले ही भंग हो गया होता है। वह तो केवल आत्मा में ही जागता है। वह तो इस जीवित अवस्था में ही आठों पहर परमात्मा में लीन रहता है। यह अवस्था लाखों करोड़ों में से किसी एक परम सौभाग्यशाली पुण्यात्मा को ही जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से प्राप्त होती है। ऐसे उच्च कोटि के महात्मा के शरीर द्वारा भी अपने आप ही कर्म होते रहते हैं बेशक उन कर्मों का सम्बन्ध उसकी अन्तरात्मा से नहीं होता। अन्य मनुष्य तो फिर बिना कर्म किए कैसे रह सकते हैं? इस अध्याय के पाँचवें श्लोक में भगवान् स्वयं कह चुके हैं कि "कोई प्राणी क्षण भर भी बिना कर्म किए कभी नहीं रह सकता। क्योंकि सब लोग प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों के वश होकर कर्म करते हैं।" फिर आठवें श्लोक में शरीर यात्रा के लिए भी नियत कर्मों का करना श्रेष्ठ कहा गया है। अब इस श्लोक में "तस्मात्" (इसलिये) शब्द का प्रयोग करके भगवान् ने प्रत्येक पुरुष के लिए निरन्तर संगरहित होकर कर्तव्य कर्मों के करने की प्रेरणा की है और कहा है कि निरासक्त होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। परन्तु जब तक पुरुष को आत्म-साक्षात्कार प्राप्त नहीं होता तब तक उसके मन की स्थिरता नहीं होती। इसलिये मन को भटकने से रोकने के लिये भी जाति-स्वभाव वर्ण-स्वभाव अथवा प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार नियत, विहित तथा कर्तव्य कर्मों को निरासक्त होकर निरिच्छा से करना परमावश्यक है। कभी यह विचार भूल कर भी न करना चाहिए कि ये सब कर्म मैं करता हूँ। सब कर्मों को इन्द्रियों का व्यवहार और परमात्मा की प्रेरणा से होते हुए जानना चाहिए। और सदा प्रभु से प्रार्थना करते रहना चाहिए कि हे सर्वव्यापक, घट-घट के वासी, हृषीकेश परमात्मदेव! मैं कुछ नहीं कर सकता। जो कुछ मेरी इन्द्रियों या शरीर द्वारा अथवा संसार में किसी ओर के द्वारा भी हो रहा है वह सब आपके द्वारा ही हो रहा है। ऐसी धारणा और बुद्धि के परिपक्व हो जाने से न कोई वैरी, न बेगाना ही रहेगा। न किसी से द्वेष होगा और न प्रीति ही होगी। क्योंकि द्वेष तो उसी के साथ होता है जिसको हम अपने विरुद्ध आचरण करते हुए देखते हैं और

प्रीति उसी से की जाती है जिसका कर्म अपने अनुकूल होता है। जब सब कर्म ही ईश्वर की प्रेरणा से होते हुए भासमान होते हैं अथवा उसकी रचित प्रकृति के तीन गुणों द्वारा होते हैं तो फिर किसी से प्रेम या द्वेष करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू क्षत्रिय है। युद्ध करना क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है, विहित कर्म है तथा कर्तव्य कर्म है क्योंकि क्षत्रिय के युद्ध करने से रहित होने पर दुष्ट पुरुषों द्वारा अत्याचार होने लगता है। संसार की शान्ति भंग हो जाती है। धर्म-कर्म का नाश हो जाता है तथा सब ओर अराजकता फैल जाती है। इस-लिए दुष्टों के दमन और शान्ति की स्थापना के लिये क्षत्रिय लोग युद्ध अवश्य किया करते हैं। वास्तव में मैं ही उनके स्वरूप में खल-संहार करता हूँ। पापों और अत्याचारों के अधिक बढ़ जाने से मैं स्वयं मनुष्य रूप धारण करके यह खेल खेलता हूँ। अब इस समय भी ऐसा ही खेल खेलने वाला हूँ। इसलिए तू निरन्तर संग रहित होकर अपने इस कर्तव्य-कर्म युद्ध को निरासक्त हुआ कर। ऐसा करता हुआ तू परम-गति मोक्ष को प्राप्त हो जाएगा और परमात्मा में मिल जाएगा ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

कर्मणा+एव हि संसिद्धिम्+आस्थिताः+जनक+आदयः। लोक-संग्रहम् +एव+अपि संपश्यन्+कर्तुम्+अर्हसि ॥

कर्मणा=(नपुं०) कर्मन्+तृती० ए० व०=कर्म द्वारा।
एव=(अव्यय) ही।
हि=(अव्यय) निःसन्देह। इसलिये।
संसिद्धिम्=(स्त्री०) सम्√सिध् (दिवा० पर० अक० सक०=सिद्ध होना) क्तिन्=संसिद्धि+द्वितीे० ए० व०=परम सिद्धि को। मोक्ष को।
आस्थिताः=आ√स्था (भ्वा० पर० अक०, किन्तु आ+स्था सक०=प्रवृत्त होना)+क्त=आस्थित+(पुं०) प्र० ब० व०=प्रवृत्त हुए हैं। प्राप्त हुए हैं।
जनक+आदयः=(पुं०) जनक+आदि+प्र० ब० व०=जनक आदि क्षत्रिय राजा लोग।
[जनक से लेकर भगवान् कृष्ण के समय तक हो चुके तथा जनक से पूर्ववर्ती ज्ञानी राजा लोग। जैसे जनक, ध्रुव, प्रह्लाद, अजातशत्रु, अश्वपति, भगीरथ, इक्ष्वाकु, अम्बरीष इत्यादि]

लोक-संग्रहम् =(पुं०) द्विती० ए० व० =लोक संग्रह को ।

[१. लोगों को अपने-अपने धर्म में लगाना तथा अधर्म से हटाना— 'लोक-संग्रह' होता है । (स्वामी चिद्घनानन्द गिरि)

२. सारे जगत् को सन्मार्ग पर लाकर, उसको नाश से बचाते हुए संग्रह करना, अर्थात् भली-भाँति धारण, पोषण, पालन, या बचाव करना इत्यादि सभी बातों का समावेश "लोक-संग्रह" में होता है (लोकमान्य तिलक) ।

३. सृष्टि-संचालन को सुरक्षित बनाए रखने के लिए उसकी व्यवस्था में किसी प्रकार की अड़चन पैदा न करके उसमें सहायक बनना 'लोक-संग्रह' कहलाता है । (कल्याण गोरखपुर)

४. लोकमर्यादा, लोकाचार, लोगों की भलाई ये तीनों लोक-संग्रह में सम्मिलित हैं । (नारायण स्वामी जी)]

एव =(अव्यय) ही ।

अपि =(अव्यय) भी ।

संपश्यन् =(वि०) सम्√दृश् (भ्वा० पर० सक० =देखना)+शतृ =संपश्यत् +(पुं०) प्र० ए० व० =देखता हुआ ।

कर्तुम् =√कृ (तना० उभ० सक० =करना)+तुमुन् =(कर्म को) करने के लिये ।

अर्हसि =√अर्ह् (भ्वा० पर० सक० अक० =योग्य होना)+लट्० म० पु० ए० व० =(तू) योग्य है ।

[√अर्ह् धातु आर्ष प्रयोगों में आत्मनेपदी भी देखी जाती है । जैसे 'रावणो नार्हते पूजाम्' (रामायण)]

अर्थ—ज्ञानी राजर्षि जनकादि क्षत्रिय लोग भी (आसक्ति से रहित) कर्म द्वारा ही निःसन्देह परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं । इसलिए लोक-संग्रह को देखता हुआ भी (तू) कर्म करने के लिए ही योग्य है ।। २० ।।

व्याख्या—उपनिषद् रूपी अमृत की वर्षा जनक-सभा में सावन-भादों की मेघ-झड़ी के समान होती थी । बहुत-सा ज्ञान-साहित्य इसी ज्ञानी राजा के राजदरबार में रचा गया था । महाराज जनक पूर्ण ज्ञानी होते हुए भी अपने वर्णानुसार राज-काज और लोक-संग्रह के लिये निरासक्त और फलेच्छा से रहित होकर आमरण कर्म करते रहे जिससे परम-सिद्धि रूप मोक्ष को प्राप्त हो गए । इसी प्रकार और भी अश्वपति, अजातशत्रु आदि राजा लोग निरासक्त होकर कर्म करते हुए ब्रह्मलीन हो चुके हैं । गीता के चौथे अध्याय, श्लोक ३८ में लिखा है —

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥"

अर्थात् ज्ञान के समान इस संसार में पवित्र, निःसन्देह दूसरा कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कर्मयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष स्वयं ही समय आने पर आत्मा में पा लेता है।

इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष पाने के लिए ज्ञान को प्राप्त करना परमावश्यक है और ज्ञान की प्राप्ति अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही होती है। तथा अन्तःकरण की शुद्धि उन कर्तव्य कर्मों के करने से ही होती है जिनके करने में किसी प्रकार की ममता न हो। किसी तरह की आसक्ति न हो। किसी भाँति के फल की इच्छा न हो। एवं वे कर्म किसी वासना को मुख्य रखकर न किए जाएं। केवल लोक-हित और सर्वोदय के लिए ही हों। जनक से पूर्ववर्ती राजा इक्ष्वाकु, भगीरथ, ध्रुव और प्रह्लाद आदि भी कर्मयोग के द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हुए थे। उसके परवर्ती अम्बरीष, अश्वपति और अजातशत्रु आदि भी निष्काम और आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही अन्तःकरणों के शुद्ध होने से परमात्मा को प्राप्त हुए थे।

हे अर्जुन! लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना ही चाहिए। क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य दुष्टों का दमन करके प्रजा की रक्षा करना है। दुष्टों का दमन तो उनके साथ युद्ध करने से ही होता है। निष्काम और ममता रहित होकर क्षत्रिय-धर्म रूप युद्ध को करके शुद्ध अन्तःकरण हुआ क्षत्रिय तत्काल मोक्ष को प्राप्त करता है। तू संन्यासी बनकर भिक्षा मांगने के विचार को मन से त्याग दे। क्योंकि यह कर्म इस समय तेरे लिये उचित और उपयुक्त नहीं है।

अब इस श्लोक पर श्री ज्ञानेश्वर जी की सुन्दर व्याख्या सुनिए—

"उदाहरण के लिए जनक आदि राजर्षियों को देखो, जिन्होंने एक भी विहित कर्म का अनुष्ठान नहीं छोड़ा और फिर भी मोक्ष प्राप्त किया। इस लिए हे अर्जुन! स्वकर्म की ओर पूरा ध्यान रखना चाहिए। स्वकर्म का अनुष्ठान करने से एक और बात का भी अच्छा साधन होगा। जब हम स्वकर्म का आचरण करेंगे तब और लोगों को भी उचित आचरण की शिक्षा मिलेगी। और उसकी ओर उनकी प्रवृत्ति होगी, जिससे संसार की आपत्तियाँ और कष्ट आप से आप दूर होंगे। देखो जो लोग ब्रह्म स्वरूप में पहुँचकर धन्य हुए हैं और जो पूर्ण रूप से निष्काम हो गए हैं, वही दूसरे लोगों को भी उचित मार्ग पर लगाते हैं। और ज्ञानोत्तर काल में भी उन्हें कर्म करना पड़ता है। जिस

प्रकार अन्धे को अपने साथ लेकर सुझाखा पुरुष आगे-आगे चलता है, उस प्रकार ज्ञानी लोगों को अपने साथ अज्ञानियों को लेकर चलना चाहिए। और उन अज्ञानियों को स्वधर्म का ज्ञान कराना चाहिए। यदि ज्ञानी लोग ऐसा न करेंगे तो अज्ञानियों को क्या पता चलेगा ? और कर्तव्य-मार्ग का उन्हें किस प्रकार ज्ञान होगा ? " ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

यत्+यत्+आचरति श्रेष्ठः+तत्+तत्+एव+इतरः+जनः। सः+यत्+प्रमाणम्+कुरुते लोकः+तत्+अनुवर्तते ॥

यत्=(सर्व०) यद्+(नपुं०) द्वितीं० ए० व०=जिसको। जो कुछ। जो।
यत=(सर्व०) जिसको। जो कुछ। जो।
आचरति=आ√चर् (भ्वा० पर० सक०=आचरण करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=आचरण करता है। करता है।
श्रेष्ठः=(पुं०) अतिशयेन प्रशस्यः, प्रशस्य+इष्ठन्, 'श्र' आदेशः=श्रेष्ठ+प्र० ए० व०=श्रेष्ठ पुरुष। प्रधान पुरुष। उत्तम पुरुष।
तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्वितीं० ए० व०=उसको। वह।
तत्=(सर्व०) उसको। वह।
एव=(अव्यय) ही।
इतरः=(सर्व०) दूसरा। (पुं०) प्र० ए० व०।
जनः=(पुं०)√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+अच्=जन+प्र० ए० व०=पुरुष। प्रत्येक पुरुष।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह श्रेष्ठ पुरुष।
यत्=(सर्व०) यद्+(नपुं०) द्वितीं० ए० व०=जिसको। जो।
प्रमाणम्=(नपुं०) प्रमीयते अनेन, प्र√मा (मापना) +ल्युट्=अन्तिम निर्णय। प्रमाण। (द्वितीं० ए० व०)
कुरुते=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=करता है।
लोकः=(पुं०)√लोक्+घञ्=लोक+प्र० ए० व०। संसार। जन समुदाय। प्रत्येक पुरुष।
तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्वितीं० ए० व०=उसको। (अनु के योग में द्वितीं० होती है) उसके।

अनु=(उपसर्ग) पीछे। अनुसार।
वर्तते=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=बर्तना)+लट्० प्र० पु०, ए० ब०= वर्तता है। चलता है।

अर्थ—श्रेष्ठ पुरुष (संसार में) जो-जो (कर्म) करता है। दूसरा (प्रत्येक) पुरुष भी वह वह ही (कर्म करता है)। वह (श्रेष्ठ पुरुष) जो प्रमाण (अन्तिम निर्णय) करता है। (संसार का) जन समुदाय या प्रत्येक पुरुष उसी के अनुसार चलता है ॥ २१ ॥

व्याख्या—जो पुरुष संसार का नेता है, शुभगुण संपन्न है, अच्छे आचरण वाला है, धर्मात्मा और सदाचारी है तथा जगद् विख्यात है उस का नाम श्रेष्ठ पुरुष है। वर्तमान युग में भारत में गाँधी, टैगोर और जवाहर लाल आदि अनेक श्रेष्ठ पुरुष हो चुके हैं। इस समय संसार के समस्त स्त्री-पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ इन्दिरा गाँधी है। पूर्वकाल में स्वामी शंकराचार्य, महात्मा बुद्ध, कबीर, नानक, प्रताप, शिवाजी आदि अनेक श्रेष्ठ पुरुष हो चुके हैं। प्राचीन काल में मनु, इक्ष्वाकु, मान्धाता, राम, कृष्ण, जनक, कपिल, व्यास, ईसा, मूसा, जर्तुश्त और मुहम्मद आदि अनेकों श्रेष्ठ पुरुष संसार में हो चुके हैं। इन युग-पुरुषों ने जो-जो मर्यादाएँ स्थापित की थीं आज तक उनके अनुयायी लोग उन पर चलते आ रहे हैं जिससे सृष्टि की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती जा रही है। यदि कोई श्रेष्ठ पुरुष कर्मों का स्वरूपतः त्याग कर देता है तो संसार में गड़बड़ मचने लगती है और समाज की व्यवस्था की सारी कड़ियाँ टूटने लगती हैं। इसलिए श्रेष्ठ पुरुष स्वयं कर्मों का आचरण करके जनता का पथ-प्रदर्शन करता है और अपने अनुयायियों को कर्मों के उपयोगी होने का अनुभव कराता है। वे कर्म श्रेष्ठ पुरुष के किए जाने से प्रजा की दृष्टि में शुद्ध सोने की तरह कसौटी पर परखे जाते हैं जिससे उन कर्मों को करने के लिए लोगों का अन्तिम निश्चय पक्का हो जाता है, जिससे वे कर्म करने के लिए प्रमाणित हो जाते हैं और फिर सब लोग उनमें बिना गुण-दोष का विचार किए अन्धों की तरह उनका अनुसरण या आचरण करने लगते हैं। तब वह युग-पुरुष अपने आचरण के उदाहरण से लोगों के सम्मुख उन कर्मों को आदर्श रूप में स्थापित कर देता है। रही सही कसर अपने प्रवचनों, उपदेशों और लेखों से निकाल देता है जिससे लोग निरन्तर उस श्रेष्ठ पुरुष का युग-युगान्तर पर्यन्त अनुसरण करते रहते हैं जिससे संसार की सुव्यवस्था स्थिर रहती है और सृष्टिचक्र सुचारु रूप से चलता रहता है। लोगों के अन्तः-करण में उस कर्मठ ज्ञानवान् श्रेष्ठ पुरुष के प्रति श्रद्धा, विश्वास और प्रेम उत्पन्न हो जाता है जिससे वे लोग उसके मुखारविन्द से निसृत शब्दों को

वेद-वाक्य-तुल्य ईश्वर-कथित वाक्य मानते हैं। संसार में सब लोगों के कर्तव्य एक-समान नहीं होते। देश, समाज, वर्ण, जाति, परिस्थिति और काल के अनुसार सारे संसार के लोगों के कर्तव्य-कर्म थोड़े भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी कारण से प्रत्येक देश में श्रेष्ठ पुरुष जन्म लेते रहते हैं जो अपने आचरण द्वारा लोगों को अपने निर्णीत मार्ग पर चलाने के लिए लोक-हितार्थ कर्म करते रहते हैं। उन कर्मों के करने में उनका थोड़ा भी स्वार्थ नहीं होता। यद्यपि आत्म-वेत्ता श्रेष्ठ पुरुषों का कोई भी आवश्यक कर्तव्य नहीं होता तथापि उनके कर्म केवल धर्म और मर्यादा के स्थापनार्थ तथा दूसरों के कल्याण के लिये ही होते हैं। जैसे बन्दर स्वाभाविक ही मनुष्य का अनुसरण या उसकी नकल करता है इसी प्रकार अज्ञानी लोग भी ज्ञानियों का अनुसरण करते हैं। अथवा जिस प्रकार अबोध बालक बड़ों की नकल करता है इसी प्रकार साधारण जन-समुदाय श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों का अनुसरण करता है। भागवत ५।४।१५ में लिखा है—

"यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः।"

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म करते हैं उसी को और लोग भी करते हैं। ठीक ही कहा है—"देख भलों की चाल को वर्ते सब संसार।" जो कुछ बड़े लोग करते हैं उसी का नाम धर्म होता है। इसलिए ज्ञानवान् महात्मा पुरुषों को स्वकर्म का अनुष्ठान कदापि न त्यागना चाहिए। क्योंकि जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं उसका अनुकरण दूसरे लोग धर्म समझ कर करते हैं तथा महापुरुष जिसे प्रमाण बना देते हैं सब लोग उसका अनुसरण करने लग जाते हैं॥ २१॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

न मे पार्थ! +अस्ति कर्त्तव्यम्+त्रिषु लोकेषु किंचन। न+अनवाप्तम् +अवाप्तव्यम्+वर्ते+एव च कर्मणि॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम। मे। मेरा।

पार्थ!=(पुं०) सम्बोधन। पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्। हे पृथा-पुत्र (अर्जुन)!

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०= है। (विद्यते)।

कर्तव्यम्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+तव्यत्=कर्तव्य+ (नपुं०) प्र० ए० व०=कर्तव्यम्। करने योग्य कर्म। कार्य। करणीय।

त्रिषु=(वि०) त्रि (इसके रूप केवल बहुवचन में ही होते हैं)+(पुं०) सप्त० ब० व०=तीनों में।

लोकेषु=(पुं०) लोक+सप्त० ब० व०=लोकों में। [तीनों लोक—१. स्वर्गादि पृथ्वी के ऊपर के लोक, २. पृथ्वी, ३. पातालादि पृथ्वी के नीचे के लोक। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में फैले हुए सारे लोक]

किंचन=(सर्व०) किम्+चन=कुछ भी।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अनवाप्तम्=न अवाप्तम् (नञ्०)। अव√आप्+क्त=अवाप्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=अवाप्तम्=प्राप्त होने योग्य। अनवाप्तम्=न प्राप्त होने योग्य। अप्राप्त।

अवाप्तव्यम्=अव√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना। पाना) +तव्यत्=अवाप्तव्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=प्राप्त करने योग्य। प्राप्त होने योग्य वस्तु। प्रापणीय।

वर्ते=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=वर्तना)+लट्०, उ० पु०, ए० व०= (मैं) वर्तता हूँ।

एव=(अव्यय) ही।

च=(अव्यय) और।

कर्मणि=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ए० व०=कर्म में।

अर्थ—हे पृथापुत्र (अर्जुन)! तीनों लोकों (अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड) में मेरा कुछ भी कर्तव्य (करने योग्य कर्म—कार्य) नहीं है। (अर्थात् मुझे कुछ भी करना नहीं है।) क्योंकि मुझे कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है। (तो भी मैं) कर्म में वर्तता हूँ ॥ २२ ॥

व्याख्या—√पृथ् धातु से बना हुआ 'पृथा' शब्द है। जिसका अर्थ—'बढ़ने वाली' या 'यश वाली'—होता है। भगवान् का अर्जुन को 'पार्थ' कहकर सम्बोधित करना भी साभिप्राय है। आशय यह है कि हे अर्जुन! तू कीर्ति युक्ता कुन्ती का पुत्र है। इसलिये महाकुल में उत्पन्न होने से मेरी रहस्यमय बात को शीघ्र समझ जाएगा। ध्यान से सुनो। इस असीम ब्रह्माण्ड में अगणित लोक या पृथ्वियाँ हैं। एक पृथ्वी तो यही है जिस पर हम, तुम मूर्तिमान होकर विराजमान हैं। दूसरी वे अगणित पृथ्वियाँ हैं जो हमारे सिरों के ऊपर आकाश में तारे बन कर चमक रही हैं और तीसरी प्रकार की पृथ्वियाँ हमारी पृथ्वी के निचले आकाश में असीम सीमा तक फैली हुई हैं। ये सब पृथ्वियाँ त्रिलोकी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उर्ध्व लोक निरन्तर ऊँचाई के कारण सात भागों में विभक्त माने जाते हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. हमारी पृथ्वी या भूर्लोक, २. भुवर्लोक, ३. स्वर्लोक, ४. महर्लोक; ५. जनलोक; ६. तपोलोक, ७. सत्यलोक (ये सात लोक ऊपर के अन्तिम खण्ड में माने जाते हैं जिनकी अन्तिम सीमा मनुष्य के मन, वाणी और बुद्धि से परे है)।

अधःलोक क्रमशः पृथ्वी के नीचे की ओर फैले हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. अतल, २. वितल, ३. सतल, ४. रसातल, ५. तलातल, ६. महातल, ७. पाताल।

इन सब खण्डों की पृथ्वियाँ भी हमारी पृथ्वी से उत्तरोत्तर दूर होती चली गई हैं। पाताल की अन्तिम सीमा भी मनुष्य के मन, वाणी और बुद्धि से बाहर है।

वैज्ञानिकों ने आकाशी पिण्डों का अन्तर मापने के लिए प्रकाश वर्ग मीलों का प्रयोग किया है।

प्रकाश एक सैकण्ड में एक लाख छयासी हजार मील के अन्तर पर पहुँच जाता है। जब हम कहते हैं कि ध्रुव तारा धरती से चार सौ प्रकाश मील दूर है तो उसका अर्थ—१८६००० × ६० × ६० × २४ × ३६५ × ४०० मील होता है। अब अनुमान कीजिए कि जिस अत्यन्त दूरवर्ती सूर्य को हमारा आण्विक दूरदर्शी यन्त्र आठ लाख प्रकाश मील के अन्तर पर हमें दिखा रहा है वह हमारी धरती से कितने महदन्तर पर होगा, इससे भगवान् कहते हैं, हे बुद्धिमती पृथा के पुत्र अर्जुन ! सम्पूर्ण त्रिलोकी में मुझे करने के लिये अब कोई काम शेष नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु है जो लोगों को प्राप्त करने योग्य हो और मुझे प्राप्त न हो। क्योंकि मेरा आदि अन्त कोई नहीं। मैं जन्मता-मरता भी नहीं हूँ। ये सब पृथ्वियाँ, ये सब सूर्य, तथा ये सब आकाशी और पाताली पिण्ड मेरे ही रचे हुए हैं। मुझसे मेरी इस रचना का कुछ भी ओझल नहीं है। जब मैं ही सब कुछ का स्वामी, कर्त्ता, धर्ता और हर्ता हूँ तो किसी वस्तु के मेरे द्वारा प्राप्त करने या न करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। ऐसी स्थिति होने पर भी मैं सदा कर्म करने में लगा रहता हूँ। इस सम्बन्ध में देशपिता गाँधी जी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इत्यादि की अविराम और अचूक गति ईश्वर के कर्म सूचित करती है। ये काम मानसिक नहीं, किन्तु शारीरिक गिने जाएँगे। 'ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है?' इस शंका की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि वह अशारीरिक होने पर भी शरीरों की तरह आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इसलिए वह कर्म करते

हुए भी अकर्मी है और अलिप्त है। मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति यन्त्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किन्तु यन्त्र की भाँति ही नियत काम करना उचित है। मनुष्य की विशेषता यन्त्र गति का अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जाने में नहीं है, बल्कि ज्ञान-पूर्वक उस गति का अनुसरण करने में है।

अलिप्त रह कर, असंग रह कर यन्त्र की तरह कार्य करने से उसे घिस्सा नहीं लगता। वह मरने तक ताजा रहता है। देह अपने नियम के अनुसार समय पर नष्ट होती है। परन्तु उसमें रहने वाली आत्मा जैसी थी वैसी ही बनी रहती है॥"

सब जीवों की रचना परमेश्वर ने की है तथा अपने द्वारा रचित सारे विश्व में वह इसी प्रकार रम रहा है जैसे शरीर में प्राण, गन्ने में रस, तिल में तेल, पृथ्वी में वायु, ब्रह्माण्ड में आकाश, अरणि में अग्नि, और सब परमाणुओं में विद्युत् और आण्विक शक्तियाँ रम रही हैं।

यद्यपि धनुष से चलता हुआ तीर दिखाई देता है परन्तु उसके चलाने वाला तो धन्वी ही होता है। भगवान् ने आगे चलकर अध्याय ११, श्लोक ३४ में स्वयं अर्जुन से कहा है—

"द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और तेरे शत्रु दूसरे सब योद्धा लोग मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए हैं। तू निर्भय होकर इन सबको मार। जिससे तू सबको जीत प्राप्त किया हुआ दिखाई दे।"

इससे सिद्ध होता है कि विश्व के सब काम तो संसार में परमेश्वर द्वारा ही किए जाते हैं। परन्तु उनके करने का यश मनुष्य को प्राप्त होता है। इस लिए मनुष्य को चाहिए कि वह लोक-संग्रह के लिए निष्काम भाव से निरासक्त हुआ कर्म तो अवश्य करे परन्तु उस कर्म का कर्त्ता परमेश्वर को माने। यद्यपि परमेश्वर अलिप्त और अकर्त्ता है परन्तु यह तो केवल कहने मात्र की बात है। नहीं तो भगवान् स्वयं कैसे कहते हैं कि मैं कर्मों में ही वर्तता हूँ। अगले दो श्लोकों में भी भगवान् ने अपने द्वारा कर्म करने को स्वीकार किया है। अतः यह सृष्टि की रचना भी इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि परमात्मा स्वयं सब कुछ करता है अथवा सब कुछ उसी की प्रेरणा से होता है।

स्वामी चिद्घनानन्द गिरि जी ने इस श्लोक की जो सुन्दर व्याख्या की है उसका सार इस प्रकार है—

"जैसे घर के मालिक को उस घर में विद्यमान सब पदार्थ प्राप्त ही होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या विश्व का स्वामी होने से मुझ (परमेश्वर) को संपूर्ण ब्रह्माण्ड या विश्व में स्थित सब पदार्थ प्राप्त ही हैं। ऐसी कोई भी

वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो। संसार के सब लोग पूर्व अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करते हैं। पूर्व-प्राप्त वस्तु के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता।

इससे त्रिलोकी में किसी पदार्थ का उद्देश्य करके मुझे किसी कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। तो भी मैं वेद विहित शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता हूँ। इन शुभ कर्मों का मैं कदाचित् परित्याग नहीं करता। यह बात तुझ अर्जुन को भी भली-भाँति ज्ञात है। हे अर्जुन! तू पार्थ है। अर्थात् शुद्ध क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ है। इस कारण से तू हमारे तुल्य ही शूरवीर है अतः तुझे भी हमारी तरह शुभ कामों में प्रवृत्त होना सर्वथा उचित ही है" ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

यदि हि+अहम्+न वर्तेयम्+जातु कर्मणि+अतन्द्रितः। मम वर्त्म+अनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥

यदि=(अव्यय) यद्+णिच्+इन्, णिलोप=अगर कदाचित्। यदि।
हि=(अव्यय)√हा, वा √हि+डि=क्योंकि।
अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।
न=(अव्यय) न। नहीं।
वर्तेयम्=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=वर्तना)+विधि० (परस्मै०) उ० पु०, ए० व०=वर्तेयम्=बरतूं। [विधि० (आत्म०) उ० पु० ए० व०=वर्ते]
जातु=(अव्यय)√जन्+क्तुन्, पृषो० साधु=कभी। कदाचित्।
कर्मणि=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+सप्त० ए० व०=कर्म में।
अतन्द्रितः=(वि०) न तन्द्रितः (नञ्०)। तद्√द्रा (अदा० पर० अक०=सोना)+घञ् या क+टाप्=तन्द्रा+क्त=तन्द्रित+(पुं०) प्र० ए० व०=तन्द्रितः। न ऊँघता हुआ। सतर्क हुआ। सावधान हुआ। जागरूक हुआ। आलस्य रहित हुआ। ऊँघ रहित हुआ। (अनलसः सन्)
मम=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे। मेरे। मुझ श्रेष्ठ के।
वर्त्म=(नपुं०)√वृत्+मनिन्=वर्त्मन्+द्विती० ए० व०=मार्ग को। ['अनु' के योग में द्विती०] मार्ग का। मार्ग के।
अनुवर्तन्ते=अनु√वृत्+लट्० प्र० पु०, ब० व०=अनुसार बरतते हैं। पीछे चलते हैं। अनुसरण करने लगें। पीछे चलने लगें।

मनुष्याः=(पुं०) मनोः अपत्यम्, मनु+यत्, षुक् आगम=मनुष्य+प्र० ब० व०=सब लोग। सब मनुष्य।

पार्थ !=(पुं०) सम्बोधन ए० व०। पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्=हे पृथा-पुत्र (अर्जुन) !

सर्वशः=(अव्यय) सर्व+शस्। सर्वप्रकारैः। पूर्ण रूप से। सब प्रकार से॥

अर्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन ! क्योंकि यदि मैं आलस्य रहित हुआ कदाचित् कर्मों में न बरतूं, तो सब मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करेंगे॥ २३ ॥

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन के चेहरे को देखकर जान लिया कि अर्जुन के मन में मेरे कर्म करने के वचन को सुनकर यह विचार उत्पन्न हो गया है कि "यदि भगवान् कृष्ण का तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु त्रिलोक में है जो कृष्ण को प्राप्त करने योग्य और अप्राप्त है तो फिर भगवान् कृष्ण व्यर्थ ही कर्म क्यों करता है ?" अर्जुन की शंका का उत्तर देने के लिए भगवान् ने ये २३ और २४ दो श्लोक कहे हैं।

भगवान् कहते हैं कि हे उत्तमकुलोत्पन्न अर्जुन ! पिता जो कर्म करता है; पुत्र वही कर्म करता हुआ पिता का अनुसरण करता है। देखो पृथ्वी किसी अत्यन्त दूरवर्ती काल में सूर्य से टूट कर पृथक् हुई थी जो आज तक अपने पिता सूर्य की परिक्रमा कर रही है। उसके सम्पूर्ण पदार्थ सौ तत्त्वों के मिलने से बने हैं। प्रत्येक तत्त्व एक ही प्रकार के परमाणुओं का संघात है। प्रत्येक तत्त्व के परमाणु वैसे तो भिन्न-भिन्न आकृतियों और भिन्न-भिन्न आकारों के हैं परन्तु कुछ गुण पिता सूर्य के ही अनुरूप हैं। वास्तव में ये सब परमाणु सूर्य के ही पुत्र या सगोत्रीय हैं। सूर्य केन्द्र में है और उसके परिवार के सदस्य ग्रह, उपग्रह, क्षुद्रग्रह, धूमकेतु (पुच्छल तारे) और उल्काएं सब अति तीव्र गतियों से अपने-अपने नियत मार्गों पर अपने पिता सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं और स्वयं सूर्य भी इस अपने सारे परिवार के सहित गांगीय केन्द्र के चारों ओर अपने भ्राता अरबों दूसरे सूर्यों की भाँति चक्र लगा रहा है॥

उसके सब पुत्र परमाणु भी अपने-अपने स्थान पर उस अपने पिता सूर्य का अनुकरण कर रहे हैं। प्रत्येक परमाणु के केन्द्र में एक नाभक है। जिसके चारों ओर उसके इलैक्ट्रोन (Electron) चक्र लगा रहे हैं जिनकी गति प्रति सैकण्ड बीस हज़ार मील से भी अधिक है। परमाणु का नाभक प्रोटोनों (Proton) और न्यूट्रॉनों (Neutron) से मिलकर बना होता है। नाभक में जितने प्रोटोन होते हैं उसके बाहर चक्र लगाने वाले उतने ही एलैक्ट्रोन होते हैं।

प्रत्येक तत्त्व के परमाणुओं में इलैक्ट्रोनों की संख्या भिन्न होती है। इसी कारण से ये तत्त्व सौ प्रकार के बन गए हैं। बड़े से बड़े परमाणु का आकार एक इंच का सत्तर करोड़वां भाग होता है। जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर ग्रहादि चक्र लगाते रहते हैं उसी प्रकार उसके पुत्र परमाणु के नाभक के चारों ओर उसके इलैक्ट्रोन घूमते रहते हैं। यदि कदाचित् सूर्य अपना कर्म करना छोड़ दे तो सब परमाणु भी अपना कर्म करना बन्द कर देंगे क्योंकि ये सब सूर्य की सत्ता से ही सूर्य का अनुकरण कर रहे हैं। इसी प्रकार यदि किसी राष्ट्र का प्रधान, कर्म-हीन हो जाए तो उसका अनुकरण करते हुए छोटे अधिकारी और कर्मचारी भी सुस्त और शिथिल हो जाएँगे जिससे सारा राज्य-प्रबन्ध बिगड़ कर सर्वनाश हो जाएगा।

इसी प्रकार परमेश्वर जो सब का पिता और स्वामी है, सबका रचयिता और नियन्ता है यदि वह कर्म रहित हो जाए तो उसके पुत्र ये सब लोग स्वाभाविक ही कर्महीन हो जाएँगे। इससे भगवान् ने कहा है कि हे पार्थ ! यदि मैं आलस्य त्यागकर कदाचित् कर्म न करूँ तो लोग भी कर्म करना छोड़ देंगे। क्योंकि सब लोग मेरी सत्ता से ही कर्म करते हैं। जब मैं स्वयं काम करना छोड़ दूंगा तो काम करने वाली मेरी सत्ता सब लोगों में भी काम करना छोड़ देगी जिससे वे सब कर्म करने से रहित हो जाएँगे।

अन्य सब लोग श्रेष्ठ पुरुषों का ही अनुसरण और अनुकरण किया करते हैं। यदि मैं स्वयं कर्म न करूं तो सब लोग भी मेरा ही अनुसरण और अनुकरण करेंगे जिससे जगत् का सारा खेल प्रलय-काल होने से पहले ही बिगड़ जाएगा ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उत्सीदेयुः + इमे लोकाः + न कुर्याम् + कर्म चेत् + अहम् । संकरस्य च कर्ता स्याम् + उपहन्याम् + इमाः प्रजाः ॥

उत्सीदेयुः = उत् √ सद् (भ्वा० तुदा० पर० अक० = नाश होना) + विधि०, प्र० पु०, ब० व० = नष्ट हो जाएं। विनश्येयुः।
इमे = (सर्व०) इदम् + (पुं०) प्र० ए० व० = ये।
लोकाः = (पुं०) √ लोक् (भ्वा० आत्म० सक० = देखना) + घञ् = लोक + प्र० ब० व० = (चौदह खण्डों के) सब लोक। (त्रिलोकी के) सब लोक।
न = (अव्यय) न। नहीं।

कुर्याम्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+विधि० (परस्मै०) उ० पु०, ए० व०=(मैं) करूँ।
कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।
चेत्=(अव्यय)√चित्+विच्=यदि। कदाचित्।
अहम्=(सर्व०) अस्मद्=प्र० ए० व०=मैं (परमेश्वर)।
संकरस्य=(पुं०) सम्√कृ+अप्=संकर+षष्ठी० ए० व०=वर्ण संकर का। उथल-पुथल।
च=(अव्यय) और।
कर्ता=(वि०) कर्तृ (√कृ+तृच्)+(पुं०) प्र० ए० व०=करने वाला।
स्याम्=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+विधि० उ० पु०, ए० व०= =होऊँ। बनूं।
उपहन्याम्=उप√हन् (अदा० पर० सक०=नाश करना)+विधि०, उ० पुं०, ए० व०=हनन करूँ। नाश करूँ। मारने वाला बनूं।
इमा:=(सर्व०) इदम्+(स्त्री०) द्विती० ब० व०=इस सारी को।
प्रजा:=(स्त्री०) प्र √जन्+ड-टाप्=प्रजा+द्विती० ब० व०=प्रजाओं को।

अर्थ—(इसलिये) यदि मैं कर्म न करूँ तो ये (चौदह खण्डों या त्रिलोकी के सब) लोक नाश हो जाएँ। और मैं संकर (उथल-पुथल) का करने वाला बनूं तथा इन सब प्रजाओं को नाश करूँ॥ २४॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यदि किसी समय मैं कर्म न करूँ तो चौदह भुवनों या त्रिलोकी में स्थित सारे लोकों में कर्म होना बन्द हो जाए जिससे सारे ब्रह्माण्ड में हो रहे सम्पूर्ण कार्य ठप हो जाएँ। सब सूर्य अपने मार्गों में स्थिर हो जाएँ। उनके परिवारों के सब ग्रह, उपग्रह, क्षुद्रग्रह, धूमकेतु तथा उल्काएँ आदि स्थगित होकर रह जाएँ। सम्भव है कि वे सब अपने मार्गों से भ्रष्ट होकर परस्पर ही टकरा जाएँ। क्योंकि ये सब आकाशी पिण्ड निरन्तर अति तीव्र गति से भ्रमण कर रहे हैं जिससे वे अपने नियत मार्गों में कभी भ्रष्ट नहीं होते। इनमें होने वाले सब कार्य प्रभु-सत्ता से ही सम्पन्न होते हैं। यदि यह ईश्वर-सत्ता अकर्मण्य और गतिरहित हो जाए तो चौदह भुवनों में विचरणशील सब लोकों में गतिरोध हो जाए जिससे सारे ब्रह्माण्ड में उथल-पुथल मच जाए। संसार का कोई भाग तो जल कर राख हो जाए और कोई भाग शीत द्वारा नष्ट हो जाए क्योंकि जब किसी स्थान के दिन और रात थोड़े से अन्तर द्वारा ही घटते बढ़ते हैं तो गर्मियों में अधिक गर्मी और सर्दियों में अधिक सर्दी हो जाती है। अब जरा अनुमान लगाइए कि जिस स्थान के सामने सूर्य सदा के लिये स्थिर हो जाएगा वहाँ पर कितनी भयानक गर्मी हो

जाएगी और जो स्थान सदा के लिए सूर्य से ओझल हो जाएँगे वहाँ कितनी अधिक सर्दी बढ़ जाएगी।

देखो जब हम पानी से भरी हुई बाल्टी को दाहिने हाथ से पकड़कर चक्राकार घुमाते हैं तो उसके भीतर का पानी नीचे गिरता नहीं है परन्तु जब उस को उल्टा हो जाने पर घुमाना बन्द कर देते हैं तो सारा पानी नीचे पृथ्वी पर गिर जाता है। यही हाल ब्रह्माण्ड में घूम रहे सूर्य आदि सब पिण्डों का है। जब तक ये सब तीव्र गति से घूम रहे हैं अपने-अपने मार्गों पर बराबर दौड़ते चले जा रहे हैं परन्तु भगवान् के स्वयं कर्म न करने पर इनको घुमाने वाला प्रभुसत्ता का हाथ रुक जाएगा जिससे फिर ये सब बाल्टी के पानी की तरह पाताल में गिर कर एक दूसरे से टकरा जाएँगे और कच्चे घड़ों, मतीरों, खरबूजों या कांशी फलों की तरह टूट-फूट कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँगे। इससे सिद्ध होता है कि सब लोकों को पानी से भरी हुई बाल्टी की भाँति घुमाने वाला परमेश्वर का हाथ यदि काम करने से रुक जाए तो बाल्टी के जल की तरह सब लोकों का नष्ट-भ्रष्ट होना स्वाभाविक ही है।

गीता के अध्याय १८, श्लोक ६१ में भगवान् स्वयं कहते हैं—"हे अर्जुन ! सब प्राणियों के शरीर (पानी में चलने वाले जहाज़ों, हवा में उड़ने वाले विमानों, पुलाड़ में विचरण करने वाले राकटों, और धरती पर दौड़ने वाली रेलों-मोटरों, कारों आदि) यन्त्रों के समान हैं। जिनके हृदय इञ्जनों के तुल्य हैं उन सब में यन्त्र-चालक (ड्राइवर) स्वयं मैं परमेश्वर स्थित हूँ। जीवात्मा और रक्त तथा वीर्य में विचर रही असंख्य जीवित कणिकाएं उन यन्त्रों पर चढ़ी हुई सवारियाँ हैं जिनको मैं परमेश्वर अपनी माया रूपी आण्विक-शक्ति के द्वारा भ्रमण करवा रहा हूँ।

भला सोचो और विचार करो कि ईश्वर यदि स्वयं यह कर्म न करे तो सारे यन्त्र बेकार हो कर रुक जाएँ अर्थात् सारे भूत शरीर कर्महीन हो जाएँ। जिससे सब लोग कर्म करना बन्द करदें और सारा संसार नष्ट हो जाए। जैसे किसी बहुत बड़े कारखाने में तालाबन्दी होने से उसका सारा काम रुक जाता है और उसमें काम करने वाले सारे लोग बेकार होकर भूखे मरने लगते हैं, इसी प्रकार प्रभु के कार्यहीन होने से सब जीवों की दशा होगी। इसलिए भगवान् यह शिक्षा देते हैं कि श्रेष्ठ पुरुषों को कभी कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। ताकि उनकी देखा-देखी सर्वसाधारण भी कर्म करते रहें जिससे राष्ट्र और देश की व्यवस्था बनी रहे। हे अर्जुन ! यदि मैं यज्ञादि शुभ कर्म न करूँ, तो मेरी देखा-देखी संसार के लोग भी वेदनिर्दिष्ट, शास्त्रविहित, धर्म-वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप शुभ कर्म न करेंगे जिससे वे कुमार्ग पर चलकर

मद्यपान, मांसभक्षरण, पर-नारी-गमन, परद्रव्यहरण, परप्राणहरण आदि कुकर्म करेंगे जिनसे वर्णसंकर (हरामज़ादे) बदमाश, लुच्चे, लफंगे, चोर, जुआरी और उचक्के आदि कुकर्मी लोग अधिक हो जाएँगे जिनका मूल-कारण कर्म न करने से मुझे बनना होगा और उसके परिणामस्वरूप जगत् के मनुष्यरूप सन्तानों को नाश करने वाला मैं बनूंगा।

कल्याण के गीता तत्त्वांक में यह प्रश्न उठाया गया है कि—

"इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूं" इस कथन का क्या अभिप्राय है? उत्तर में कहा गया है कि—

"जिस समय कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाने से लोगों में सब प्रकार की संकरता फैल जाती है उस समय मनुष्य भोगपरायण और स्वार्थान्ध होकर भिन्न-भिन्न साधनों से एक दूसरे का नाश करने लग जाते हैं। वे अपने अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक सुखोपभोग के लिए दूसरों का नाश कर डालने में जरा भी नहीं हिचकते। इस प्रकार अत्याचार बढ़ जाने पर उसके साथ-साथ नई-नई दैवी विपत्तियां भी आने लगती हैं जिनके कारण सभी प्राणियों के लिए आवश्यक खान-पान और जीवन की सुविधाएं प्रायः नष्ट हो जाती हैं। चारों ओर महामारी, अनावृष्टि, जलप्रलय, अकाल, अग्निकोप, भूकम्प और उल्कापात आदि उत्पात होने लगते हैं। इनसे समस्त प्रजा का विनाश हो जाता है। अतः भगवान् ने "समस्त प्रजाओं को नष्ट करने वाला बनूं" इस वाक्य से यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों का त्याग कर दूं तो मुझे उपर्युक्त प्रकार से लोगों को उच्छृंखल बनाकर समस्त प्रजा का नाश करने में निमित्त बनना पड़े॥"

नारायण स्वामी जी का कथन है—

"दूसरा तात्पर्य (मैं वर्णसंकर का करने वाला बनूं) भगवान् के इस कथन का यह भी होसकता है कि वर्णसंकर युद्ध करने या कर्तव्य पालन करने से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि कर्महीन होने अर्थात् कर्तव्य को छोड़ देने व धर्म की रक्षा न करने से होता है। अतः यह कथन अर्जुन के भय को व्यर्थ दर्शाने के लिए है।"

इस श्लोक पर व्याख्या करते हुए स्वामी चिद्घनानन्द गिरि जी इस प्रकार कहते हैं—

"हे क्षत्रिय शुद्ध वंश में उत्पन्न होने से हमारे समान शूरवीर पृथापुत्र अर्जुन! सबका ईश्वर मैं कृष्ण भगवान् जो कभी शास्त्र विहित शुभ कर्मों को न करूँ तो मेरा अनुसरण या अनुकरण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष भी उन शुभ कर्मों में प्रवृत्त नहीं होंगे जिससे जल की वृष्टि के द्वारा सब लोगों की स्थिति के कारण रूप जो यज्ञादि कर्म हैं उन सब कर्मों का लोप हो जाएगा। उन

सब कर्मों के लोप होने पर ये सब लोग नाश हो जाएंगे। उन सब श्रेष्ठ पुरुषों के नाश होने के बाद लोक-मर्यादा बिगड़ने से जो वर्णसंकर उत्पन्न होंगे उनकी उत्पत्ति का कारण मैं बनूंगा जिससे उस सारी प्रजा का मारने वाला मैं ही हो जाऊँगा। अतः यह बात हमारे लिए अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि मैंने तो सारी प्रजा पर अनुग्रह करने के लिए अवतार धारण किया है। इसलिए मैं कभी शास्त्रविहित शुभ कर्मों का त्याग नहीं करता हूँ। लोगों को उनकी ओर प्रवृत्त करने के लिए उनका अनुष्ठान सदा करता हूँ" ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

सक्ताः कर्मणि + अविद्वांसः + यथा कुर्वन्ति भारत ! कुर्यात् + विद्वान् + तथा + असक्तः + चिकीर्षुः + लोक-संग्रहम् ॥

सक्ताः = (वि०) √सञ्ज् (भ्वा० पर० सक० = चिपकना) + क्त = सक्त + प्र० ब० व० = आसक्त हुए। ['इन कर्मों का फल हमें अवश्य मिलेगा' इस प्रकार कर्मों में आसक्त हुए।]

कर्मणि = (नपुं०) कर्मन् + सप्त० ए० व० = कर्म में।

अविद्वांसः = (वि०) न विद्वांसः (नञ्०)। [विद्वस् (√विद् + शतृ, वसु आदेश) + प्र० ब० व०]। अज्ञानी लोग।

यथा = (अव्यय) जैसे। जिस प्रकार। [यद् + थाल् = यथा]।

कुर्वन्ति = √कृ (तना० उभ० सक० = करना) + लट् प्र० पु०, ब० व० = करते हैं।

भारत ! = (पुं०) भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत + अण् = भारत + सम्बो० ए० व० = हे भरत-वंश में उत्पन्न हुए शूर-वीर अर्जुन !
['भा' नाम ज्ञान का है। 'रत' = प्रेम करने वाला। अर्थात् ज्ञान में प्रेम करने वाला। इससे हे अर्जुन ! तू मेरे ज्ञान सम्बन्धी उपदेश का अधिकारी है तथा उसको सुनने और समझने के लिए समर्थ है]।

कुर्यात् = √कृ + विधि०, प्र० पु०, ए० व० = (कर्म) करे।

विद्वान् = (वि०) विद्वस् + प्र० ए० व० = ज्ञाता। पण्डित। आत्मवेत्ता। ज्ञानी।

तथा = (अव्यय) तद् + थाल् = वैसे।

असक्तः = (वि०) न सक्तः (नञ्०) = अनासक्त हुआ। फल की अभिलाषा से रहित हुआ। (पुं०) प्र० ए० व०।

चिकीर्षुः = (वि०) √कृ + सन् + उ = चिकीर्षु + प्र० ए० व० = (कर्तुम् इच्छुः) करना चाहता हुआ।

लोक-संग्रहम् = (पुं०) द्विती० ब० व० = लोकसंग्रह को। लोक कल्याण को। लोक शिक्षा को। लोगों की भलाई को ॥

अर्थ—हे भारत ! जिस प्रकार अज्ञानी लोग कर्म में आसक्त हुए कर्म को करते हैं वैसे ही निरासक्त हुआ आत्मवेत्ता विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ कर्म को करे ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे ज्ञान में प्रेम रखने वाले, मेरे उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनने वाले, तथा शूरवीर-शिरोमणि भरत वंश में उत्पन्न हुए अर्जुन ! अज्ञानी लोग जो कर्म करते हैं उन कर्मों में उनकी अहं-बुद्धि होती है। अर्थात् वे लोग उन कर्मों के करने में अपने आपको कर्त्ता मानते हैं। कर्म में ममता रखते हैं। फलेच्छा करते हैं। कर्म के करने में हिंसा-अहिंसा का विचार भी नहीं करते। सफल हो जाने पर खुशियाँ मनाते हैं। बाजे बजाते हैं। उछलते और कूदते हैं। नाच रंग के अखाड़े जमाते हैं। मित्रों को पार्टियाँ देते हैं जिनमें मद्य-मांस के भरपूर प्रयोग होते हैं। वे इन कर्मों की सफलता पर फूले नहीं समाते। कई बार तो खुशी से पागल हो कर भले-बुरे की परख भी नहीं कर पाते।

परन्तु जब कभी असफल हो जाते हैं तो चीखते-चिल्लाते और खूब रोते हैं। इन कर्मों के करने से न उनके अन्तःकरण की शुद्धि होती है। न वे कर्म-मोक्ष का ही साधन बनते हैं। बल्कि वे कर्म इन अज्ञानी कर्ताओं को संसार-चक्र में फंसाने का ही हेतु होते हैं और जन्म-मरण का कारण बनते हैं। क्योंकि अज्ञानियों के ये कर्म लोक-संग्रह की इच्छा से तो होते ही नहीं।

कर्म तो तत्त्ववेत्ता विद्वान् तथा ज्ञानियों के द्वारा भी अज्ञानियों की तरह पूरी लग्न से दत्तचित्त होकर ही किए जाने चाहिएँ। परन्तु उनके करने में अहंभाव कदापि न होना चाहिए। उन्हें कभी अपने द्वारा किए हुए न मानने चाहिए क्योंकि वे सब परमेश्वर द्वारा ही किए जा रहे हैं और किए जाने वाले होते हैं। उनके करने में हिंसा, आसक्ति और अहंभाव का लेशमात्र भी दखल न होना चाहिए, चाहे सफलता हो चाहे असफलता मिले। दोनों अवस्थाओं में परमेश्वरेच्छा समझकर हर्ष-शोक से रहित रहना चाहिए। फलेच्छा की वासना का त्याग होना चाहिए। वे सब कर्म केवल लोक-संग्रहार्थ ही होने चाहिएँ। अर्थात् लोकोपकार, लोककल्याण तथा जनता-मार्ग प्रदर्शन के हेतु ही होने चाहिएँ जिससे तत्त्ववेत्ता ज्ञानी के लिए मोक्ष का द्वार शीघ्र ही खुल जाता है।

स्वर्ग की इच्छा भी जन्म-मरण के चक्र में फँसाने वाली होती है। उसका अन्तःकरण से सर्वथा परित्याग होना चाहिए।

ज्ञानी को कर्मरत देखकर अज्ञानी भी कर्म-विरक्त नहीं होते। ऐसा होने से समाज की रूप-रेखा और व्यवस्था शुद्ध, स्वच्छ और सुचारु रूप में बनी रहती है और कर्मों में संलग्न और संसक्त लोगों का ध्यान बुरे मार्गों और

दुर्व्यसनों की ओर आकर्षित नहीं होता। परन्तु ज्ञानी को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अज्ञानियों के कर्म भी वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार शास्त्र-विहित और कर्तव्य कर्म ही हों, क्योंकि भगवान् स्वयं अज्ञानियों को इन कर्मों में लगाए रखने का आदेश देते हैं और ज्ञानियों को भी उन्हीं के समान कर्म करने को कहते हैं। दोनों में अन्तर केवल आसक्ति और अनासक्ति का ही होता है।

इस श्लोक में कथित कर्म आजीविका के लिये किए गए कर्म तथा यज्ञ हवनादि वेद विहित कर्म कहे गए हैं। यद्यपि कर्म करने में इच्छाओं का त्याग होना चाहिए परन्तु लोक-संग्रहार्थ इच्छा का अथवा मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा का परित्याग न होना चाहिए। इसलिए जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं और फल की इच्छा करते हैं वैसे तत्त्ववेत्ता ज्ञानी को आसक्ति रहित होकर लोक-कल्याण की इच्छा से सदा कर्म करते रहना चाहिए ।। २५ ।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

न बुद्धि-भेदम्+जनयेत्+अज्ञानाम्+कर्म-सङ्गिनाम्। जोषयेत्+सर्व-कर्माणि विद्वान्+युक्तः समाचरन् ।।

न=(अव्यय) न। नहीं।

बुद्धि-भेदम्=(पुं०) बुद्धौ भेदम् (सप्त० तत्पु०)। किसी की बुद्धि को विचलित करने या भ्रम में डालने का नाम "बुद्धि-भेद" है। मन के डांवाडोल होने को। कर्म करने में सन्देह उत्पन्न हो जाने को। [√बुध्+क्तिन्=बुद्धि (स्त्री०)। जानने, समझने और विचार करने वाली अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति का नाम 'बुद्धि' है।

√भिद्+घञ्=भेद (पुं०)+द्विती० ए० व०=भेद को। भ्रम उत्पन्न होने को]। गड़बड़ को। बुद्धि में भेद को। कर्म में अश्रद्धा को।

जनयेत्=√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+णिच्+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न करे। (उत्पादयेत्)।

अज्ञानाम्=(वि०) न ज्ञानाम् (नञ्०)=अज्ञानियों की। [√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+क=ज्ञ+(पुं०) षष्ठी० ब० व०]।

कर्म-सङ्गिनाम्=(पुं०) कर्मणि सङ्गः आसक्तिः येषाम् (बहुव्री०)। कर्म में सङ्गति या आसक्ति वालों की। कर्म के संगियों की। कर्म के साथियों की।

जोषयेत्=√जुष् (तुदा० आत्म० अक०, सक०=अनुकूल होना। अनुरक्त होना। जुड़ना। लगना)+णिच्+विधि०+प्र० पु०, ए० व०=लगावे। जोड़े। अनुरक्त करे। जोड़ना चाहिए। करावे। (कारयेत्)

सर्व-कर्माणि=(नपुं०) सर्वाणि कर्माणि। द्वितीο ब० व०। सब कर्मों को।
विद्वान्=(पुं०) विद्वस्+प्र० ए० व०=विद्वान्। ज्ञानी पुरुष।
युक्तः=(वि०)√युञ्ज्+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=(परमात्मा के स्वरूप में) स्थित हुआ। योग युक्त हुआ। समाहित चित्त हुआ।
समाचरन्=(वि०) सम्-आ√चर्+शतृ=समाचरत्+(पुं०) प्र० ए० व० =अच्छी प्रकार करता हुआ।

अर्थ—ज्ञानी पुरुष, कर्मों में आसक्त अज्ञानी पुरुषों की बुद्धि में गड़बड़ी (सन्देह या अश्रद्धा) उत्पन्न न करे। (बल्कि स्वयं योग-) युक्त हुआ (अर्थात् परमेश्वर में सदा ध्यान-मग्न रहता हुआ) (और शास्त्र-विहित) समस्त कर्मों को भली-भाँति करता हुआ (उन अज्ञानियों को भी अपने उच्चादर्श से वैसा करने के लिए) प्रेरित करे॥ २६ ॥

व्याख्या—संसार में गड़बड़ और झगड़ा उस समय उत्पन्न होता है जब हम अपने विचार डण्डे के ज़ोर से बरज़ोरी दूसरों पर ठोंसने या लादने का प्रयत्न करते हैं। जो लोग अल्प-बुद्धि और बे-समझ होते हैं वे अपनी समझ से काम न लेते हुए चालाक और धूर्त ज्ञानी लोगों की बातें सुनकर उत्तेजित हो जाते हैं तथा अपने किए जा रहे कर्मों को त्याग कर राष्ट्र और अपने से भिन्न लोगों की सम्पत्ति को नष्ट-भ्रष्ट करने लगते हैं। अग्नि लगाकर सारे संसार को जला देना चाहते हैं। लूट मार करते हैं और निरपराध लोगों का वध करते हैं। इस प्रकार धूर्त ज्ञानियों की बात सुनकर अपने कर्मों के प्रति उनकी बुद्धि विचलित होकर गड़बड़ा जाती है। केवल ये धूर्त्त लोग ही उनकी बुद्धि में भेद उत्पन्न नहीं करते बल्कि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी लोग भी यदि असावधानी से उनको उपदेश करते हैं तो भी उनकी बुद्धि गड़बड़ा जाती है क्योंकि उनको अपने किए जा रहे कर्मों में सन्देह उत्पन्न हो जाता है और ज्ञानियों की कही हुए बात पूरी तरह से उनकी समझ में नहीं आती। इससे वे अपने कर्मों का त्याग करके धोबी के कुत्ते की तरह न घर के रहते हैं, न घाट के रहते हैं। यदि कहीं वे बलिष्ठ और महामूर्ख भी हों तो मूर्ख बन्दर की भाँति ज्ञानी बये का घर उजाड़ने का भी प्रयत्न करते हैं। इसलिये ज्ञानी को कोरा उपदेश देकर अज्ञानियों को उनके कर्मों से भ्रष्ट करना ठीक नहीं होता। ठीक बात तो यह होती है कि ज्ञानी पुरुष आठों पहर परमेश्वर के ध्यान में मग्न रहता हुआ लोक-संग्रह के लिये शास्त्र-विहित कर्म करता रहे और उसके कर्म करने का ढंग बनावटी या केवल ढोंग मात्र ही न हो। अर्थात् मुंह में राम राम बगल में छुरी वाली लोकोक्ति उस पर चरितार्थ न होती हो। प्रायः देखा जाता है कि भारत के वनमहोत्सव सप्ताह में पदाधिकारी और नेता लोग पौधा लगा कर

चित्र खिचवाते हुए ढोंग रचते हैं। वह पौधा पानी न मिलने और रक्षा के अभाव से उसी सप्ताह के अन्त में सूख जाता है, जिससे जनसाधारण पर उसका उलटा प्रभाव पड़ता है और खर्च किया हुआ सारा पैसा व्यर्थ हो जाता है। कई नेता लोग ऐसे होते हैं जिनके घरों में और समीपवर्ती गलियों में तो गन्दगी के कारण सदा मक्खियां भिनभिनाती रहती हैं तथा मच्छर डेरे डाले रहते हैं परन्तु वे अपने अनुयायियों को साथ लेकर हरिजनों की गलियों को झाडू लेकर साफ करने का ढोंग रचते हैं। परन्तु साधारण लोग उनकी काली करतूतों और पाप-कर्मों से पूरी तरह परिचित होते हैं। इसलिए लोगों पर उनके इस शुभ कर्म का प्रभाव भी उलटा ही होता है।

इस सम्बन्ध में एक कथा इस प्रकार है—एक बार एक वृद्धा माता अपने पौत्र को लेकर एक महात्मा जी के पास गई और हाथ जोड़ कर उनसे प्रार्थना की कि हे स्वामिन् ! यह बालक गुड़ बहुत खाता है जिससे रक्तकोप के कारण इसके शरीर पर फोड़े-फुनसियाँ बहुत निकलती हैं। हमारे रोकने से गुड़ खाने से रुकता नहीं है। आप इसे इस कर्म से विरक्त करने की कृपा कीजिए। यह सुन कर महात्मा जी ने उत्तर दिया—हे माता ! इस बालक को लेकर कल यहाँ आना, तो यह मेरे उपदेश को सुनकर गुड़ खाना छोड़ देगा।

यह सुनकर वह वृद्धा बालक को लेकर चली गई और दूसरे दिन बालक को लेकर पुनः महात्मा जी के पास आई तब महात्मा जी बालक के सिर पर हाथ फेरते हुए प्रेमपूर्वक बोले—बेटा ! गुड़ न खाया करो। लड़के ने कहा, बहुत अच्छा, अब मैं गुड़ न खाया करूँगा। यह सुनकर महात्मा जी उस वृद्धा से कहने लगे—माता ! आपका काम हो गया है। इसलिए अब इस बालक को लेकर घर जाओ। तब उस वृद्धा ने चौंक कर कहा—हे महात्मन् ! यही बात यदि कल ही बालक से कह देते, तो आज हमें यहाँ आने का कष्ट न करना पड़ता। यह बात सुनकर महात्मा जी हँस कर बोले—माता जी ! कल मैंने स्वयं गुड़ खाया हुआ था। जिससे कल मेरे कहने का प्रभाव बालक पर विपरीत पड़ सकता था। परन्तु मैंने आपके चले जाने के बाद कल यह दृढ़ प्रतिज्ञा की है कि अब मैं आजीवन कभी गुड़ न खाऊँगा। इससे आज मेरे कहने का प्रभाव बालक पर ठीक ही पड़ेगा। और यह अब गुड़ नहीं खाएगा।

इस कथा से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी पुरुष को परमात्मा में दत्तचित्त रह कर स्वयं शास्त्र-विहित कर्म लोकसंग्रहार्थ करना चाहिए जिससे उसको देखकर अज्ञानी लोग भी प्रभावित हों और उस जैसे कर्म करते रहें अर्थात् उसके द्वारा किए जा रहे कर्मों को देखकर उन अज्ञानियों को भी ठीक कर्म

करने की प्रेरणा हो तथा उनकी बुद्धि विचलित, भ्रष्ट और डांवाडोल न होने पाए।

दूसरे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जो अज्ञानी पुरुष यज्ञादि शुभ कर्मों को करने में लगे हुए हैं और वे लोग कर्तापन के अभिमान और स्वर्गादि प्राप्ति रूप फल की इच्छा से ये कर्म करते हैं उनकी इस बुद्धि में ज्ञानी पुरुष यह कहकर भ्रम उत्पन्न न करे कि "आत्मा तो अकर्ता और अभोक्ता है, तू यह कर्म किसके लिए करता है।"

ऐसी बातें सुनकर उन अज्ञानियों की बुद्धि भ्रमग्रस्त और डांवाडोल हो जाएगी जिससे वे अपने द्वारा हो रहे शुभ कर्मों का परित्याग कर देंगे। इस लिए ज्ञानी पुरुष मुँह से कुछ भी न कहता हुआ स्वयं शुभ कर्मों को करे तब उसकी देखा-देखी अज्ञानी लोग भी वैसे शुभ कर्मों में निरत रहेंगे। फिर उन कर्मों के फलस्वरूप उन अज्ञानियों के अन्तःकरण शुद्ध हो जाएँगे जिससे वे सच्चे ज्ञान के अधिकारी बन कर मोक्ष को प्राप्त कर लेंगे। क्योंकि बिना कर्म किए अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती और अन्तःकरण की शुद्धि के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। शास्त्र में इस सम्बन्ध में यह श्लोक लिखा है—

"अज्ञस्यार्द्ध-प्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरय-जालेषु स तेन विनियोजितः॥"

[**अर्थ**—अन्तःकरण की शुद्धि से रहित तथा विषयों में आसक्त ऐसा जो केवल कर्मों का अधिकारी अर्द्ध-प्रबुद्ध अज्ञानी पुरुष है उसके प्रति जो विद्वान् पुरुष 'तू' या 'मैं' यह सब जगत् ब्रह्म रूप है इस प्रकार का उपदेश करता है उस ज्ञानी पुरुष द्वारा वह अज्ञानी पुरुष महारौरव नरक में डाल दिया जाता है।] इस बात को सदा ध्यान में रखकर ज्ञानी पुरुष स्वयं शुभ कर्म करता हुआ अज्ञानियों को भी शुभ कर्मों में जोड़े जिससे उनके अन्तःकरण भी शुद्ध, पवित्र और स्थिर हो जाएँ और अन्त में वे मोक्ष को प्राप्त करलें।

एक और उदाहरण इस सम्बन्ध में सुनिए—जो बालक माता का स्तन-पान भी बहुत कष्ट से कर सकता हो उसको पक्वान्न का भोजन कराना कदापि हितकर नहीं हो सकता। वह तो उसकी मृत्यु का कारण ही बन सकता है। इसी प्रकार जो अज्ञानी शुभ कर्म भी बड़ी कठिनता से कर सकते हैं उनके प्रति कर्मों के त्याग और ब्रह्मज्ञान का उपदेश भी हानिकारक ही होता है। इसी प्रकार यदि पहली श्रेणी के बालक को दसवीं श्रेणी में बैठा कर पढ़ाया जाए तो उसे क्या लाभ होगा? कोई भी बात अध्यापक द्वारा कही हुई उसकी समझ में न आएगी जिससे वह पढ़ाई से भगोड़ा हो जाएगा।

इसलिए अज्ञानियों के हित के लिए सत्कर्म की प्रशंसा करते हुए ज्ञानियों को स्वयं वह कर्म करना ही ठीक है। धर्मों और उनके बाह्य आचरणों के कारण संसार में जो झगड़े और दंगे आए दिन होते रहते हैं उन सब को शान्त करने के लिए इस श्लोक की अन्तरात्मा को समझ कर उस पर आचरण करना परमावश्यक और अत्यन्त लाभकारी है। सब धर्मों के मानने वालों को अपने-अपने ढंग से ईश्वर-पूजा तथा ध्यान-अभ्यास की उस सीमा तक पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए जिससे समूचे राष्ट्र का अहित न हो और संसार की शान्ति भंग न होती हो। किसी को किसी के धर्म को गलत कहने की आज्ञा न होनी चाहिए। झगड़ा तो केवल उस समय होता है जब कोई मतावलम्बी अपने मत को ठीक समझकर दूसरों पर दिन-रात गन्दगी और कीचड़ उछालता है। जैसा कि किसी समय पंजाब, तामल आदि कई प्रान्तों में नित्य यह गन्दा खेल खेला जा रहा था। प्रातः चार बजे से सूर्य के उदय होने तक और सायं सूर्य अस्त होने से रात के दस बजे तक लाउड स्पीकरों की असह्य ऊँची ध्वनियों द्वारा शान्त-चित्त लोगों के कानों के पर्दे फाड़े जाते हैं। न रोगियों को आराम करने दिया जाता है, न विद्यार्थियों को पढ़ने दिया जाता है। और फिर विशेष बात यह कि यह सब कुछ डण्डे के जोर से धर्म के नाम पर किया जाता है।

इस प्रकार के मनमाने प्रचार करने वाले ज्ञानी लोग यह कभी नहीं सोचते कि अन्धविश्वास का समय व्यतीत हो चुका है और अब यह विज्ञान का युग प्रारम्भ हो गया है। इस युग का सूर्य उदय हो चुका है जिसके तेज और प्रचण्ड प्रकाश के सामने रात्रिकाल में फैले हुए मत-मतान्तरों के अन्धकार दूर होने में अब देर न लगेगी। उर्दू के एक कवि ने ठीक ही लिखा है—

"घेर लेते हैं जब तेरी कुद्रत के ज़हूर।
सुनकर भी पुकार उठते हैं तुझ को मजबूर॥
ख़फ़्फ़ाश को ज़िलमत में न सूझी कोई राह।
खुरशीद का शश जहत में फैला जब नूर॥"

[**अर्थ**—हे परमात्मन्! जब तेरी शक्ति और सत्ता के प्रमाण सब ओर प्रत्यक्ष रूप में मिलने लगते हैं तो नास्तिक लोग भी विवश होकर कह उठते हैं कि भगवान् ही सारे संसार में व्यापक और सदा रहने वाला है। जैसे सूर्योदय के समय सूर्य का प्रकाश जब दशों दिशाओं में फैलने लगता है तो चमगादड़ नामधारी जीव को अन्धकार में छिपने के लिये कोई मार्ग नहीं मिलता।

इस श्लोक का कदाचित् यह अर्थ न समझना चाहिए कि ज्ञानी पुरुष अज्ञानियों को सदा अज्ञानान्धकार में ही फंसाए रखें। बल्कि उनको ज्ञानवान्

और चतुर बनाना भी ज्ञानियों का कर्तव्य है क्योंकि लोकसंग्रह का अर्थ भी यही है कि ज्ञानी, लोगों को अपने कर्मों से कल्याण मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करे। यह काम केवल कोरे उपदेश करने मात्र से ही नहीं हो सकता बल्कि उपदेश के बिना भी अपना उत्कृष्ट उदाहरण पेश करने से हो सकता है। कोरे उपदेश करने वालों के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी ने चार सौ साल पहले ही कह दिया था—

"पर उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥"

इसलिए इन सब बातों को ध्यान में रखकर ज्ञानी पुरुष अनासक्त होकर शुभ कर्म करे और अपने उच्च और निर्दम्भ उदाहरण से अज्ञानियों को भी शुभ कर्म करने की प्रेरणा करे परन्तु कर्म करते हुए *विद्वान् अज्ञानियों की बुद्धि में गड़बड़ी, अश्रद्धा और सन्देह कभी उत्पन्न न करे। यह काम उससे तभी सुचारु रूप में सम्पन्न हो सकेगा जब वह योग-युक्त हुआ सदा परमेश्वर के ध्यान में लीन रहेगा। इसी में संसार का कल्याण और सबका भला है॥ २६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार-विमूढ+आत्मा कर्ता+अहम्+इति मन्यते॥

प्रकृतेः=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ (तना० उभ० सक० =करना)+क्तिन्=प्रकृति+षष्ठी० ए० व०=प्रकृति के।
[सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों की जो साम्यावस्था है उसका नाम प्रकृति है]।

क्रियमाणानि=(वि०)√कृ+यक्+शानच्=क्रियमाण+(नपुं०) प्र० ब० व०=किये जा रहे हैं। किए जाते हैं। [शानच् प्रत्यय वर्तमान काल में होता है]।

गुणैः=(पुं०)√गुण्+अच्=गुण+तृती० ब० व०=गुणों के द्वारा।
[आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन दस का नाम कार्य है। अहंकार, मन, बुद्धि, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुह्य—इन तेरह का नाम करण है। इन तेईस कार्य और करण रूप समस्त विकारों से लौकिक और शास्त्रीय सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से किए जाते हैं]।

---

* विदेः शतुर्वसुः ॥ ७।१।३६ ॥√विद् धातु से परे 'शतृ' के स्थान में वसु आदेश विकल्प से होता है इस प्रकार विद्वस् और विद्वत् दो रूप बनते हैं॥

कर्माणि=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ब० व०=सारे कर्म। कार्य। धन्धे।
सर्वशः=(वि०) √सृ+व=सर्व+शस्=सर्वशस्। सर्वप्रकारैः। सब प्रकार से। सर्वत्र।
अहंकार-विमूढ+आत्मा=(वि०) कार्य और करण के संघात रूप शरीर में आत्म-भाव की प्रतीति का नाम अहंकार है। उस अहंकार से विमोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष। शरीर और इन्द्रियों के धर्म को अपना धर्म मानने वाला पुरुष। (अविद्यावश प्रकृति द्वारा किये जा रहे कर्मों को अपने द्वारा होते हुए मानने वाला) देहाभिमानी पुरुष। [अहंकारेण विमूढ आत्मा (अन्तःकरणं) यस्य सः अहङ्कार-विमूढात्मा। (बहुव्रीहि०)] अहंकार से मूर्ख बनी हुई आत्मा वाला। (पुं०) प्र० ए० व०।
कर्ता=(वि०)√कृ+तृच्=कर्तृ+(पुं०) प्र० ए० व०=करने वाला। कर्ता।
अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं (हूँ)।
इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=इस प्रकार। ऐसा। ऐसे।
मन्यते=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना, मानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=मानता है। जानता है॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्म सर्वत्र सब प्रकार से प्रकृति के (सत्त्व, रज, तम—इन तीन) गुणों द्वारा किए जा रहे हैं। परन्तु (देहाभिमानी) अहंकार से मूर्ख बने हुए अन्तःकरण वाला पुरुष "मैं करने वाला हूँ।" ऐसा मानता है॥ २७॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यह माया सत्त्व, रज और तम से युक्त अर्थात् त्रिगुणात्मिका है जिसको श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा की शक्ति रूप करके कथन किया गया है यथा—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्।
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्॥ १।३॥

[**अर्थ**—उन मुनियों ने मन और इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अर्थात् ध्यान योग में स्थित होकर सत्त्व, रज और तम इन अपने तीन गुणों से ढकी हुई परब्रह्म परमेश्वर की स्वरूप भूत दिव्य अचिन्त्य शक्ति को देखा।]

इस विषय में यह एक श्रुति भी है—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।"

अर्थात् माया को जगत् की प्रकृति जानना चाहिए। और माया-पति को महेश्वर जानना चाहिए। इस प्रकृति के तीनों गुणों से दस कार्य और तेरह करण उत्पन्न होते हैं। जिनसे लौकिक और शास्त्रीय सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से किए जाते हैं। आत्मा तो कुछ भी नहीं करती। प्रकृति यद्यपि काम करने

वाली है परन्तु वह मशीन की भांति जड़ या अचेतन है जिससे वह यह भी नहीं जान सकती कि उसे क्या करना चाहिए ? अचेतन प्रकृति और चेतन पुरुष का सम्बन्ध पंगु और अन्धवत् है। जैसे अन्धे के कन्धे पर जब लंगड़ा बैठ जाता है तो वे दोनों मार्ग पर चलने लगते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर की प्रेरणा से प्रकृति द्वारा सब कार्य होते रहते हैं। यद्यपि वह प्रेरक प्रकृति से सब कार्यों को स्वयं करवाता है परन्तु काम करने वाली तो प्रकृति (मशीन) ही समझी जाती है। इस प्रकार अचेतन प्रकृति और चेतन पुरुष द्वारा संसार के सब कार्य चलते रहते हैं।

प्रभु की प्रेरणा से यह प्रकृति रूपी नटी सत्त्व, रज और तम गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक रूप धारण करके नाचती रहती है। प्रकृति के इस नाच से विमोहित हुए अज्ञानी लोग वृथा अभिमान के कारण प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए कार्य को अपना ही किया हुआ कार्य समझने लगते हैं। और प्रकृति के उस नाच से प्रभावित होकर कभी रोते हैं। कभी प्रसन्न होते हैं। कभी चिन्ता-मग्न होते हैं। इस प्रकार वे अपने को सुख-दुःख के जाल में फँसाए रखते हैं। उनकी समझ में यह कभी नहीं आता कि माया का संसार रूप यह सब खेल सिनेमा के खेल या ड्रामे की तरह झूठा है जिसके परिणामस्वरूप वे कुधी जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। परन्तु जिस समय वे इस ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं कि त्रिगुणात्मक प्रकृति हमसे भिन्न है उस समय उन्हें मोक्ष का मार्ग मिल जाता है। क्योंकि यथार्थ में पुरुष न तो कर्ता है, न ही बंधा हुआ है। मन और बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार हैं। इस बुद्धि को जो कुछ ज्ञान होता है वह भी प्रकृति के कार्यों का ही होता है या फल है। यह ज्ञान भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होता है। जब बुद्धि को सात्त्विक ज्ञान प्राप्त होता है तब पुरुष को पता चलता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। उस समय पुरुष को अपना असली स्वरूप दिखाई देने लगता है। यह देखकर प्रकृति लज्जित होकर पुरुष के सामने नाचना, खेलना और जाल फैलाना बन्द कर देती है तथा चरणों में गिर कर दासी बन जाती है। तब यह पुरुष सब प्रकार के पाशों-जालों तथा सुख-दुःख आदि झञ्झटों से मुक्त होकर स्वयं माया-प्रेरक बन जाता है और नौकर से स्वामी कहलाता है जिससे प्रकृति अपने सब भेद उस पर प्रकट कर देती है। फिर वह पुरुष ज्ञानी या विज्ञानी कहलाने लगता है और प्रकृति दूसरों को नाच दिखाने के लिए उस ज्ञानी की भ्रू के इंगित की प्रतीक्षा करती रहती है।

कर्तापन तो प्रकृति में है। सब प्रकार के कर्मों का बोझ उसीके सिर पर है अथवा उस भार को उस प्रकृति के तीनों गुण उठाते हैं। परन्तु देह के अभिमान

से मूर्ख बना हुआ मनुष्य डींगें मारता है और कहता है कि मैंने यह किया, मैंने वह किया। मेरे समान शिल्पकार और कोई नहीं है। मुझ-सा शूर वीर और कौन हो सकता है ? मैंने अनाज के ढेर उत्पन्न कर दिए हैं। परन्तु इस मूर्ख को पता नहीं कि अपने को कर्ता मानने से उन कर्मों का शुभाशुभ फल भोगने के लिए जन्म-मरण के चक्र में फंस कर नाना प्रकार के दुःख और नरक भोगने पड़ेंगे। प्रकृति के गुणों को कर्ता न मानकर अपने को कर्ता मानने वाला उस मूर्ख पुरुष के समान है जो अकारण ही अपनी खुशी से दूसरों का बोझ उठाए फिरता है और उसके बदले में उसको न कोई वेतन मिलता है न पारितोषक। न ही कोई प्रशंसा-पत्र। बल्कि बोझ उठवाने वाला उसे अवैतनिक नौकर समझता है जिसमें मति-भ्रम के साथ-साथ उसको निन्दा और बदनामी का भागी भी बनना पड़ता है। इसलिए हे अर्जुन ! इस गूढ़ तत्त्व को भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि जगत् के सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा ही किए जा रहे हैं। "उन कर्मों को मैं करता हूँ" देहाभिमान से मूर्ख बने हुए पुरुषों की तरह ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिए ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

तत्त्ववित्+तु महाबाहो ! गुण-कर्म-विभागयोः। गुणाः+गुणेषु वर्तन्ते +इति मत्वा न सज्जते ॥

तत्त्व-वित्=(वि०) तत्त्वं वेत्ति इति (उपपद तत्पु०) (पुं०) प्र० ए० व०= (गुण-विभाग और कर्म-विभाग से आत्मा को पृथक् या निर्लेप होने के) तत्त्व को जानने वाला।

[√तन्+क्विप्, तुक्, पृषो० साधुः, तस्य भावः, तन्+त्व=तत्त्व (नपुं०)=यथार्थ स्वरूप को। √विद् (अदा० पर० सक०=जानना) +क्विप्=विद् या वित्=जानने वाला]

तु=(अव्यय)=परन्तु।

महाबाहो !=सम्बोधन, ए० व०। 'महत्' शब्द को समास में आत्व होकर 'महा' शब्द बन जाता है। महान्तौ बाहू यस्य सः (बहुव्री०)=महा-बाहुः। हे लम्बी भुजाओं वाले (अर्जुन) ! [जानुओं या घुटनों तक जिस के बाहु लम्बे हों, उसका नाम "महाबाहु" होता है। सामुद्रिक शास्त्र में 'महाबाहु' होना श्रेष्ठ पुरुष का लक्षण कहा गया है। इसलिए ऐसे श्रेष्ठ लक्षण वाला होकर तुझे साधारण पुरुषों की तरह विवेकहीन नहीं होना चाहिए]

गुण-कर्म-विभागयोः=गुण-विभागस्य कर्म-विभागस्य च (इतरेतर द्वन्द्व०)= गुण-विभाग और कर्म-विभाग के। (पुं०) षष्ठी० द्वि० व०।

[माया से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इन गुणों के पाँच महाभूत (वायु, जल, तेज, पृथ्वी, आकाश), मन, बुद्धि, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय इस प्रकार २३ विभाग हैं। इन तेईस को ही गुण-विभाग कहा जाता है। क्योंकि माया के ऊपर कहे गए तीनों गुण इन तेईस तत्त्वों के रूप में बदल जाते हैं। और इन सब गुण-विभागों की परस्पर की चेष्टाएँ "कर्म-विभाग" कहलाती हैं।]

गुणाः=(पुं०)√गुण्+अच्=गुण+प्र० ब० व०=सब गुण (सत्त्व, रज, तम)।

गुणेषु=(पुं०) गुण्+सप्त० ब० व०=गुणों में।

वर्तन्ते=√वृत् (भ्वा० आत्म० सक०=वर्तना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= वर्तते हैं। बरतते हैं।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=इस प्रकार। ऐसा। ऐसे।

मत्वा=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना, मानना)+क्त्वा= मानकर। जानकर। समझकर।

न=(अव्यय)=न। नहीं।

सज्जते=√सस्ज् (तुदा० आत्म० अक०=फँसना। असक्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=फँसता है। आसक्त होता है॥

अर्थ—परन्तु हे लम्बी भुजाओं वाले (अर्जुन)! गुणविभाग और कर्म-विभाग के तत्त्व को जानने वाला ब्रह्मज्ञानी "सारे गुण ही गुणों में बरतते रहते हैं" ऐसा जानकर उन में आसक्त नहीं होता॥ २८॥

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन को महाबाहु कह कर उसे यह चेतावनी दी है कि तू श्रेष्ठ लक्षणों वाला पुरुष है जिससे तू ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी है। दूसरे तू शूरवीर भी है जिससे तुझे युद्ध करने से कभी हिचकचाना न चाहिए। तीसरे तू बड़ी पहुँच वाला है क्योंकि युगावतार मुझ कृष्ण का सखा है। फिर तुझे घबराने की क्या आवश्यकता है? यद्यपि सर्व कर्म परमात्मा की प्रेरणा से ही होते हैं परन्तु उनके करने वाली त्रिगुणात्मक मेरी माया या प्रकृति है। जब सत्त्व गुण प्रबल होता है तो कर्म शुभ और धर्म युक्त होते हैं। रजोगुण की प्रबलता होने पर कर्म धर्म और पाप-मिश्रित होते हैं। जब तमोगुण की अधिकता होती है तो मनुष्य पापमय कर्म करता हुआ भासमान होता है। वास्तव में मनुष्य तो स्वयं कुछ करता कराता ही

नहीं। यह तो अपनी अज्ञानता से ही माया-जाल में फँसा रहता है। माया या प्रकृति से सत्त्व, रज और तम जिन तीन गुणों की उत्पत्ति होती है वे तीनों पाँच महाभूतों, दस इन्द्रियों, पाँच इन्द्रियों के विषयों, मन, बुद्धि और अहंकार इन तेईस विभागों में परिवर्तित हो जाते हैं। इसलिये ये तेईस 'गुण-विभाग' कहलाते हैं और फिर इन गुण-विभागों द्वारा जो नाना प्रकार के कर्म सम्पन्न होते हैं वे सब कर्मविभाग कहलाते हैं। बुद्धि किसी विषय का निश्चय करती है। मन किसी विषय को मनन करता है। अहंकार कार्य और करण के संघात रूप शरीर में आत्म-भाव की प्रतीति कराता है। अन्तःकरण और इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं। कान शब्द को श्रवण करते हैं। त्वचा वस्तुओं को स्पर्श करती है। आँखें देखती हैं। जिह्वा रस का आस्वादन करती है। नाक गन्ध को सूंघती है। वाणी शब्दोच्चारण करती है। हाथ-पाँव काम करने और चलने फिरने में लगे रहते हैं। गुह्य और उपस्थ दोनों मल-मूत्र त्यागते हैं। जब प्राणियों के शरीरों की रचना और वृद्धि होती है तब जल, वायु, अग्नि, आकाश और पृथ्वी मिल कर रचना और वृद्धि में योगदान और देहदान देते हैं। इस प्रकार गुण-विभाग और कर्म-विभाग के परस्पर मिलाप से संसार के सम्पूर्ण कार्य होते रहते हैं जिसको दूसरे शब्दों में इस तरह कहा जाता है कि "सदा सर्वत्र गुण ही गुणों में बरतते हैं।" अर्थात् यह सारा संसार माया या प्रकृति के तीन गुणों का ही खेल या प्रसार है। आत्मा तो निर्लेप, अकर्ता, अभोक्ता और साक्षी है। वह स्वयं कोई भी कर्म नहीं करता। परन्तु प्रकृति को कर्म करने की प्रेरणा परमात्मा से ही मिलती है। क्योंकि प्रकृति तो जड़ है और एक ऐसी मशीन है जिसके द्वारा उत्पत्ति भरण-पोषण और मरणादि संसार के सम्पूर्ण कर्म सम्पन्न होते हैं जिसको केवल एक बार सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने चालू कर दिया है अब वह परमात्मा उसमें कुछ भी दखल नहीं देता। यह प्रकृति प्रलय काल तक इसी प्रकार संसार के सम्पूर्ण कर्म करती रहेगी। किसी राष्ट्र का प्रबन्ध भी सुचारु रूप से इसी ईश्वरीय प्रबन्ध का अनुकरण करने से हुआ करता है। जीव आवागमन के चक्र में तब फँसता है जब प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा हो रहे कर्मों को अपने द्वारा हो रहे कार्य समझता है। परन्तु प्रकृति, उसके गुणों, गुण-भेदों और उनके द्वारा हो रहे कर्म-विभागों को तथा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेने वाला तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष उन गुण-विभागों और कर्म-विभागों में आसक्त नहीं होता। जो कार्य उसका शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और अन्तःकरणादि करते हैं उनको वह अपने किए हुए नहीं समझता। उसका न उनमें अनुराग होता है, न उनसे

किसी फल की इच्छा होती है और उसके द्वारा उन कर्मों का स्वरूप से त्याग भी नहीं होता। ज्ञानी द्वारा कर्म तो सम्पन्न होते हुए अवश्य ही दिखाई देते हैं परन्तु उसके अन्तःकरण में कर्तापन की भावना नहीं होती। उसके वे सब कर्म निष्काम भाव से किए हुए होते हैं जिनको वह अपने कर्म न मान कर त्रिगुणात्मक प्रकृति द्वारा किए हुए समझता है।

इस श्लोक पर देशपिता महात्मा गांधी जी की टिप्पणी इस प्रकार है—

"जैसे श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाएँ अपने आप होती हैं। उनमें मनुष्य आसक्त नहीं होता और जब उन अंगों को व्याधि होती है तभी मनुष्य को उनकी चिन्ता करनी पड़ती है या उसे उन अंगों के अस्तित्व का भान होता है। वैसे ही स्वाभाविक कर्म अपने आप होते हों तो उनमें आसक्ति नहीं होती। जिसका स्वभाव उदार है वह स्वयं अपनी उदारता को जानता तक नहीं पर उससे दान किए बिना रहा ही नहीं जाता। ऐसी अनासक्ति और अभ्यास ईश्वर कृपा से ही प्राप्त होते हैं॥"

यद्यपि ऊपर किया गया अर्थ सरल और सर्वसम्मत है, तो भी कुछ टीकाकारों ने दो प्रकार के अर्थ और भी किए हैं, जिनको नीचे लिखा जाता है—

१. 'अहम्' अभिमान के विषय रूप जो देह, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण हैं उनका नाम गुण है और 'मम' अभिमान के विषय रूप जो उस देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण के व्यापार हैं उनका नाम कर्म है और जो वस्तु सब जड़ विकारों का प्रकाशक होने से इन सब जड़ विकारों से पृथक् है, उसका नाम विभाग है। ऐसा स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप असंग आत्मा है। वहाँ वे गुणकर्म तो भास्य जड़ विकारी रूप हैं और यह विभाग रूप आत्मा देव तो भासक चेतन और निर्विकार रूप है। इस प्रकार गुण, कर्म तथा विभाग या दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला जो विद्वान् पुरुष है वह अपनी आत्मा में कर्तृत्व का अभिमान नहीं करता।" (स्वामी चिद्घनानन्द गिरि जी)

२. किसी-किसी टीका में इस श्लोक की इस प्रकार योजना की गई है—

"यस्तत्त्ववित् स गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा गुणविभागे कर्म-विभागे च न सज्जते।"

अर्थ—आत्मा अनात्मा इन दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला जो विद्वान् पुरुष है वह इस प्रकार निश्चय करता है कि बुद्धि, चक्षु आदि गुण ही सुख रूपादिक विषयों में प्रवृत्त होता है। ऐसा निश्चय करके फिर वह गुण-विभाग और कर्म-विभाग में 'अहम्', 'मम' अभिमान नहीं करता। यहाँ सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों का जो बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों के विषय रूप करके भिन्न-भिन्न अवस्थान रूप हैं उसका नाम

गुण-विभाग है। उस गुण-विभाग में "मैं बुद्धि अहंकारादि रूप हूँ" इस प्रकार का "अहम्, अभिमान" वह तत्त्ववेत्ता पुरुष नहीं करता और इन बुद्धि अहंकारादिकों के जो भिन्न-भिन्न कर्म हैं उनका नाम कर्म-विभाग है। उस कर्म-विभाग में "यह कर्म मेरा है" इस तरह का 'मम' अभिमान भी तत्त्ववेत्ता पुरुष नहीं करता ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

प्रकृतेः+गुण-संमूढाः सज्जन्ते गुण-कर्मसु । तान्+अकृत्स्न-विदः+मन्दान्+कृत्स्नवित्+ न विचालयेत् ॥

प्रकृतेः=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ (तना० उभ० सक० =करना)+क्तिन्=प्रकृति+षष्ठी० ए० व०=प्रकृति के।

गुण-संमूढाः=(वि०) गुणैः सम्यङ्मूढाः (सम्मोहिताः)। तृती० तत्पु०। गुणों से अत्यन्त मोहित हुए (पुरुष)। गुणों से धोखा खाए हुए। सत्त्व, रज और तम नामक गुणों से मूर्ख बने हुए। [√गुण्+अच्=गुण (पुं०)। सम्√मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्ख बनना) क्त=संमूढ +(पुं०) प्र० ब० व०=मूर्ख बने हुए लोग]।

सज्जन्ते=√सस्ज् (तुदा० आत्म० अक०=फँसना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=फँस जाते हैं। आसक्त होते हैं।

गुण-कर्मसु=(नपुं०) गुणानां कर्मसु (षष्ठी० तत्पु०)। गुणों के कर्मों में। अथवा गुणेषु च कर्मसु च (इतरेतर द्वन्द्व०) गुणों और कर्मों में। सप्त० ब० व०।

तान्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=उनको।

अ-कृत्स्न-विदः=(वि०) न कृत्स्नं विदः (नञ्०) [√कृत्+क्स्न=कृत्स्न (वि०)=सम्पूर्ण। अ-कृत्स्न=अपूर्ण। अच्छी तरह से नहीं। √विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+क्विप्=विद्+ (पुं०) द्विती० ब० व० =जानने वालों को।] अपूर्ण रूप से जानने वालों को। थोड़ा जानने वालों को। अच्छी प्रकार न समझने वालों को। कर्म-फल-मात्र-दर्शिनः =कर्म-फल-मात्र ही देखने वालों को।

मन्दान्=(वि०)√मन्द् (भ्वा० आत्म० अक०=मन्द बुद्धि होना)+अच्= मन्द+(पुं०) द्विती० ब० व०=मन्द बुद्धि पुरुषों को। मूर्खों को, अज्ञानियों को।

कृत्स्न-वित्=(वि०, पुं०) कृत्स्न-विद्+प्र० ए० व०=पूरी तरह जानने

वाला। पूर्ण ज्ञानी। अच्छी तरह समस्त तत्त्व को समझने वाला तत्त्ववेत्ता। ज्ञानी पुरुष।

न=(अव्यय) न। नहीं।

विचालयेत्=वि √चल् (भ्वा० पर० अक०=चलना)+णिच्+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=चलायमान करे। विचलित करे। (सकाम कर्म करने से हटाए)।

अर्थ—प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए पुरुष, गुणों (द्वारा किए जा रहे) कर्मों में आसक्त या फँसे रहते हैं। उन अपूर्ण या थोड़ा जानने वाले मन्द बुद्धि पुरुषों को पूरी तरह आत्म-तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष (सकाम शुभ कर्मों से) भ्रष्ट या चलायमान न करे॥ २९॥

व्याख्या—पहले बतलाया जा चुका है कि प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं और इन तीनों गुणों के तेईस विभाग हैं। जिनमें पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ, पांच इन्द्रिय-विषय, तथा मन, बुद्धि और अहंकार सम्मिलित हैं। इन तेईस गुण-विभागों से नाना प्रकार के कर्म सम्पन्न होते हैं। प्रकृति के ये तीनों गुण और उनसे उत्पन्न होने वाले कर्म (देहादिक विकार) कम-समझ पुरुषों को सम्मोहित कर लेते हैं जिससे ये लोग सब कर्म आत्म-श्लाघा और स्वर्ग की इच्छा से करते हैं। अथवा उनके सब कर्म संसार के सुखों की प्राप्ति और भोगों के निमित्त ही होते हैं। आत्म-स्वरूप के अज्ञान के कारण ये लोग देहादिकों को ही अपना स्वरूप मानते हैं।

ये पुरुष दो प्रकार के होते हैं। इनमें से एक तो वे हैं जो शास्त्र-विहित यज्ञ, हवन, दान, पुण्य आदि सत्कर्म करते हैं परन्तु उनके मन में इन कर्मों के द्वारा इस लोक के सुख तथा स्वर्ग-सुखों की प्राप्ति की इच्छा होती है। वे आत्मा को देह और इन्द्रियों से भिन्न नहीं समझते, न ही मोक्ष की प्राप्ति ही उनका लक्ष्य होता है। इनके अन्तःकरणों में 'सत्त्व', 'रज', इन दो गुणों की प्रबलता होती है। इस श्लोक में इन्हीं लोगों को लक्ष्य करके भगवान् कहते हैं कि सकामी कर्मठ पुरुष जो सत्त्वगुण और रजोगुण की अधिकता के कारण कर्मकाण्ड में लगे हुए हैं वे प्रकृति के इन्हीं उक्त दोनों गुणों से विमोहित किए हुए हैं, क्योंकि वे लोग आत्मा और मोक्ष के तत्त्व को न समझ कर फलेच्छा से इस लोक और परलोक के भोगों की वासना करते हैं। इन अज्ञानी मन्द-बुद्धि लोगों को आत्मतत्त्व को पूर्णतया जानने वाला ज्ञानी पुरुष यह कह कर शुभ कर्मों से भ्रष्ट न करे, कि "कर्मों को करने में अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है, उस परिश्रम से बचने के लिए कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए।" "कर्मों में रखा ही क्या है ?" "कर्म ही संसार में फँसाने के

कारण है"। "कर्मों का फल असत् है"। "यह जगत् मिथ्या है; इससे छूटने का उपाय कर्मों का त्याग ही है"। "तू तो ब्रह्मरूप है, इसलिए कोई कर्म करना तेरे लिए कर्तव्य नहीं है।" इत्यादि।

ज्ञानी का ऐसा उपदेश सुनकर वे कर्मठ पुरुष उन कर्मों के करने की श्रद्धा से चलायमान हो जाएँगे। फिर जिससे वे लोग उन कर्मों को करना छोड़ देंगे और मन्द बुद्धि होने से ब्रह्मज्ञान को भी समझ न सकेंगे। इससे वे लोग धोबी के कुत्ते की भाँति न घर के रहेंगे और न घाट के रहेंगे। क्योंकि निष्काम कर्मों के बिना अन्तःकरण की शुद्धि और परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती और सकाम कर्मों से स्वर्ग के भोगों और इस लोक के सुखों की प्राप्ति होती है। परन्तु स्वरूपतः तो कर्मों का त्याग करना ही असम्भव है। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि शुभ कर्मों को छोड़ने से अशुभ कर्मों में प्रवृत्त हो जाती है जिसके फलस्वरूप न मोक्ष मिलता है न स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अपितु दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप नाना प्रकार के नरक भोगने पड़ते हैं और विविध प्रकार की अधमाधम योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इसलिए भगवान् उपदेश देते हैं कि उत्तम ब्रह्म-ज्ञानियों में शुद्ध सत्त्व गुण भरा रहता है और जो पूर्ण तत्त्ववेत्ता हो चुके हैं तथा जिन्होंने परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है वे सकाम शुभ कर्मों में लगे हुए अज्ञानियों को कदापि उन कर्मों के करने से हटने का उपदेश न दें क्योंकि समय बीतने पर इन शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्रभु की कृपा से उनके अन्तःकरण शुद्ध होकर स्वयं फलेच्छा से रहित हो सकते हैं जिससे वे मोक्ष पाने के अधिकारी बन सकते हैं। उन कर्मठ पुरुषों के सामने वह तत्त्ववेत्ता पुरुष शुभकर्म करने वालों की प्रशंसा और स्तुति करे जिससे वे अज्ञानी पुरुष और अधिक तत्परता से शुभ कर्मों में प्रवृत्त हों।

तीसरे प्रकार के वे लोग हैं जिनकी वृत्ति रज और तम दोनों गुणों से युक्त होती है अथवा केवल तमोगुण-प्रधान होती है। उनके सब कर्म निकम्मे और भ्रष्ट होते हैं। ऐसे पुरुषों को शास्त्र-विहित कर्मों से घृणा और नफ़रत होती है। उनका धर्म मनमाना, निज-कल्पित और हिंसात्मक होता है। अपने इष्ट की पूजा भी वे लोग मद्य-मांस से करते हैं। दशहरा, दीपमाला, वैशाखी आदि शुभ पर्वों और पवित्र अवसरों पर पशुवध करते हैं तथा मद्य-मांस सेवन करके स्वयं मरते और दूसरों को मारते हैं। ऐसे तमोगुण-प्रधान धर्म वालों को अवश्यमेव बुरे कर्मों से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि इससे संसार का कल्याण होता है।

इस श्लोक में इन दुष्टों को बुरे कर्मों से न रोकने के लिये नहीं कहा गया है। क्योंकि यदि इनको बुरे कर्मों से रोकने के लिए उपदेश और दण्ड का

आश्रय न ग्रहण किया जायेगा तो राष्ट्र और संसार की सुव्यवस्था बिगड़ जायगी और महान् अनर्थ उपस्थित हो जाएगा।

श्रीसुरेश्वराचार्य के अपने वार्त्तिक ग्रन्थ में 'अकृत्स्न' और 'कृत्स्न' शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

यहाँ जिस वस्तु के ज्ञान होने पर भी, उससे अन्य वस्तु का ज्ञान न होवे। तथा जिस वस्तु का ज्ञान न होने पर भी उससे अन्य वस्तु का ज्ञान हो जाए; उस वस्तु का नाम "अकृत्स्न" है। जैसे एक घट के ज्ञात हो जाने पर भी उस घट से भिन्न पट आदिकों का ज्ञान नहीं होता और उस घट के ज्ञान न होने पर भी उस घट से भिन्न पट आदिक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। इससे वे घट आदिक सब अनात्म पदार्थ "अकृत्स्न" इस नाम से कहे जाते हैं। और जिस एक वस्तु का ज्ञान होने पर सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है तथा जिस एक वस्तु का ज्ञान न होने से सब वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता, उस वस्तु का नाम "कृत्स्न" है। जैसे एक अद्वितीय आत्मा का ज्ञान हो जाने पर सब अनात्म पदार्थों का ज्ञान हो जाता है और उस अद्वितीय आत्मा का ज्ञान न होने से उन सब अनात्म पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। इसलिए यह अद्वितीय आत्मा 'कृत्स्न' नाम से कहा गया है। इस सम्बन्ध में श्रुति है—

"आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥"

(हे मैत्रेयि! उस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इस सब अनात्म जगत् का ज्ञान हो जाता है)॥

(बृहदा० २।४।५॥ का अन्तिम चरण) ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य+अध्यात्म-चेतसा। निराशीः+निर्ममः +भूत्वा युध्यस्व विगत-ज्वरः ॥

मयि=(सर्व०) अस्मद्+सप्त० ए० व०=मुझ में। मयि वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वात्मनि=मुझ सर्वज्ञ, परमेश्वर सर्वात्मरूप वासुदेव कृष्ण में।

सर्वाणि=(सर्व० वि०) सर्व+(नपुं०) द्विती० ब० व०=सब।

कर्माणि=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+द्विती० ब० व०=कर्मों को।

संन्यस्य=सम्-नि √अस् (दिवा, पर०, सक०=फेंकना, छोड़ना)+ल्यप्= छोड़कर। अर्पण करके। समर्पण करके। निक्षिप्य।

अध्यात्म-चेतसा=(नपुं०) विवेकबुद्ध्या अहं कर्ता ईश्वराय भृत्यवत् करोमि इति अनया बुद्ध्या=मैं सब कर्म ईश्वर के निमित्त सेवक की भाँति कर रहा हूँ, इस बुद्धि से। अध्यात्मनि चेतसा (सप्त० तत्पु०)=परमात्मा में जुड़े हुए चित्त से।

आत्मा के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र उपनिषद्, वेदान्त, गीता आदि 'अध्यात्म' कहलाते हैं। इन अध्यात्म शास्त्रों के विचार करने में जो चित्त तत्पर हो उसका नाम 'अध्यात्मचेतस्' है। अर्थात् 'आत्मा' 'अनात्मा' के विवेक वाले चित्त द्वारा। [अध्यात्म=(वि०) आत्मनि, देहे, मनसि वा इति विभक्त्यर्थे अव्ययीभावसमासः। अधि+आत्मन्=देह या मन में जो रम रहा है परमात्मा। प्रत्येक देह में परमब्रह्म परमात्मा की रम रही सत्ता।

चेतसा=(नपुं०) चेतस् (प्राणियों में वह शक्ति, जिसके द्वारा उनको वेदना, संकल्प, इच्छा, दोष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है। चित्त। मन। अन्तःकरण)+तृती० ए० व०=मन से। चित्त से। अन्तःकरण से]

निर्+आशीः=(वि०) निर्गता आशा यस्य यस्मात् वा सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। त्यक्ताशीः। आशारहित।

['आ' समन्तात् अश्नुते इति, आ√अश्+अच्+टाप्=आशा (स्त्री०) किसी अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की अभिलाषा और उसकी प्राप्ति का कुछ-कुछ निश्चय। अभिलाषा]।

निर्+ममः=(वि०) निर्गतो मम-भावः यस्य यस्मात् वा सः (बहुव्री०) प्र० ए० व०। ममतारहित। बिना मेरापन।

[मम=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मेरा (पन)। मम+तल्+टाप्=ममता (स्त्री०)। मेरापन। ममत्व। स्नेह।

भूत्वा=√भू+क्त्वा=होकर।

युध्यस्व=√युध् (दिवा० आत्म० अक०=लड़ना। युद्ध करना)+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) युद्ध कर।

विगत-ज्वरः=(वि०) वि√गम्+क्त=विगत। √ज्वर् (भ्वा० पर० अक०=ज्वर होना)+घञ्=ज्वर (पुं०)+प्र० ए० व०=ज्वरः=तप। बुखार। मानसिक व्यथा। विगतः ज्वरः यस्य (बहुव्री०)। विगत-सन्ताप। विगत-शोक। चिन्ता शोक से रहित हुआ। सन्ताप रहित हुआ।

अर्थ—परमात्मा में लगे हुए मन से, सब कर्मों को मुझ (सर्वज्ञ, परमेश्वर,

सर्वात्मरूप, वासुदेव कृष्ण) में समर्पण करके, आशारहित, ममतारहित और चिन्ता-शोक-सन्ताप से रहित हुआ (तू अब) युद्ध कर ॥ ३० ॥

व्याख्या—इस अध्याय के पांचवें श्लोक में भगवान् ने कहा है—कि "एक क्षण भर के लिये भी कोई मनुष्य सर्वथा कर्म किए बिना नहीं रह सकता।"

फिर छठे श्लोक में कहा है—"बाहर से कर्मों का त्याग करके मन से विषयों का चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है।" अगले श्लोक में कहा है कि "मन और इन्द्रियों को वश में करके निष्काम कर्म करने वाला श्रेष्ठ है।" फिर आठवें श्लोक में कहा गया है कि "कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है"। और "बिना कर्म किए शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता।"

फिर नवें श्लोक में भगवान् कहते हैं कि "यज्ञ के निमित्त किए हुए कर्म मुक्ति के हेतु होते हैं।" जिनके करने के लिए ब्रह्मा ने प्रजा को आदेश दिया और फिर यज्ञ और प्रजा दोनों को परस्पर सहयोग करने के लिए कहा और ऐसा करते हुए उनको फलने-फूलने का आशीर्वाद भी दिया तथा यज्ञ-शिष्टामृत-अन्न को श्रेष्ठ बताया। फिर भगवान् ने बीसवें श्लोक में कहा कि "जनकादिक ब्रह्मवेत्ता और पूर्ण ज्ञानी पुरुषों ने भी कर्म के द्वारा ही संसिद्धि प्राप्त की थी।" फिर आगे चल कर कहा कि "श्रेष्ठ पुरुषों को कर्म करते हुए देखकर दूसरे लोग भी कर्म करने लगते हैं"। "यद्यपि मेरा कर्म करने से कुछ भी प्रयोजन नहीं है और न मेरा कोई कर्तव्य ही है, तो भी मैं लोक-संग्रह के लिए कर्म करता हूँ। इसलिए प्रत्येक ज्ञानी को भी मेरी तरह लोक-संग्रह के लिए अवश्य कर्म करना चाहिए तथा कर्म करने वाले लोगों को उसके द्वारा कभी कर्म त्याग करने का उपदेश न दिया जाना चाहिए।"

इस प्रकार अर्जुन को कर्मों के सम्बन्ध में उपदेश कर चुकने के बाद भगवान् ने अर्जुन के उन प्रश्नों के उत्तर क्रमशः दिए जो उसने दूसरे अध्याय में किए थे। दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन ने कहा था—

"यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।"

अर्थात् (मैं आप से पूछता हूँ) जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याण-कारक-साधन हो वह मेरे लिए कहिए क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। इसलिए अपनी शरण में आये हुए मुझ को शिक्षा दीजिए ॥

अब इस तीसवें श्लोक में भगवान् अर्जुन की इस उक्त प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहते हैं और अर्जुन को कल्याणकारी मार्ग दर्शाते हुए आज्ञा देते हैं कि हे अर्जुन ! कोई ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी हो कर्म तो सब को करना ही उचित है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि अज्ञानी तो शास्त्रसम्मित

अथवा शास्त्र असम्मित सभी प्रकार के कर्म ममतायुक्त हुए किसी आशा को संमुख रखकर करते हैं और उनके अन्तःकरण में हर्ष-शोक, चिन्ता-फिक्र, आशा-निराशा, मोह-माया, ममता-आसक्ति, काम-क्रोध, मोह-लोभ और अहंकारादि डेरे डाले रहते हैं। परन्तु ज्ञानी के कर्म इन सब विकारों और उपाधियों से रहित होते हैं तथा उसका अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होता है। इसलिये तू ज्ञानी बन। अध्यात्म-चित्त से कर्म कर। जिसके लिए उपनिषद्, वेदान्त आदि अध्यात्म ज्ञान द्वारा बतलाए गए सर्वव्यापक, सनातन, सर्वान्तर्यामी मुझ परमेश्वर में अपने किए कर्मों को अर्पण कर दे। भाव यह कि अपने अन्तःकरण, बुद्धि और इन्द्रियों सहित शरीर में रम रहे परमेश्वर का अनुभव और दृढ़ निश्चय कर ले और शरीर को मिथ्या और नाशवान् समझकर उसके द्वारा हो रहे संपूर्ण कर्मों को परमात्मा द्वारा होते हुए देख ले, खाता-पीता, चलता-फिरता, पढ़ता-लिखता, कृषि-शिल्पादि करता हुआ, दान देता हुआ, पुण्य करता हुआ इत्यादिक देह और इन्द्रियों द्वारा सम्पूर्ण कर्म करता हुआ ऐसा अनुभव कर कि ये सारे कर्म देह में रम रहे परमेश्वर द्वारा ही हो रहे हैं और उसी के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कार्य किए जा रहे हैं। ज्ञानी बन कर अपने आपको सर्वथा भगवान् के अधीन समझ ले। सब कर्म भगवान् की आज्ञानुसार और उसी की प्रेरणा से होते देख ले। अपने आपको कठपुतली समझ ले और जगन्नियन्ता प्रभु को सूत्रधार जान ले। सब कर्मों को तो कर, परन्तु उनका कर्ता किसी समय भी स्वयं अपने को अनुभव न कर। इस धारणा का नाम "अध्यात्म-चित्त से सब कर्मों को मुझ वासुदेव में अर्पण कर देना है"। इस प्रकार करने पर तू आशा, ममता, सन्ताप, शोक, दुःख और मोहादि को छोड़ने में समर्थ हो जाएगा क्योंकि इन विकारों से मुक्त हुए बिना मोक्ष और प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। मुझ में अध्यात्म बुद्धि से सब कर्मों का संन्यास अर्थात् समर्पण करके निराशी और निर्मम होकर तेरे द्वारा युद्ध किया जाना ही उचित है। यही तुझे चढ़े हुए उस ज्वर की अचूक औषध है जो तुझे लड़ने के लिए संमुख उपस्थित योद्धाओं को देखकर चढ़ गया है जिसके सब लक्षण तूने अपने शरीर पर स्वयं अनुभव किए हैं और अपने मुख से मुझ पर प्रकट किए हैं।

इस भयंकर ज्वर के चढ़ने का कारण तेरे द्वारा युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए स्वजन समुदाय को केवल देखना मात्र ही है जिसके कारण से तेरे सब अंग शिथिल होते जा रहे हैं और सर्दी अनुभव होने से शरीर में कम्प बढ़ता जा रहा है। ज्वर की तीव्रता से बार-बार मुँह सूख रहा है जिसका उपचार शीतल जल-पान करने से भी नहीं हो सकता है। ज्वर की वेदना से

रोमाञ्च हो रहा है। ज्वर ने हाथों को इतना अशक्त कर दिया है कि गाण्डीव धनुष भी उनसे छूटकर नीचे गिर पड़ा है और त्वचा इस तीव्र ज्वर से भट्ठी में डाली हुई सी जलती जा रही है। ज्वर की अधिक तेज़ी से मन भ्रान्त होकर ठिकाने नहीं रहा है जिससे अर्जुन तू बहकी-बहकी बातें करने लगा है। टांगें कांप रही हैं जिससे तू खड़ा रह सकने में भी समर्थ नहीं रहा है और धड़ाम से रथ के उपस्थ में आँखों तले अन्धेरा आने से बैठ गया है और इस ज्वर के कारण लक्षण भी तू विपरीत अर्थात् मृत्यु के देखने लगा है। अहो! कितना भयंकर ज्वर है फार्नहाईट थर्मामीटर का पारा १०७° डिग्री पर पहुँच गया है, सेंटीग्रेड में भी ४१·६° डिग्री से अधिक है॥

[गीता अ० १। श्लोक २८ से ३१ तक]

फिर भगवान् बोले—हे अर्जुन! तू घबरा नहीं, मैं तुझे इस बुखार से मरने न दूंगा। ज्वर के सब बुरे लक्षण अभी दूर हो जाएँगे। तेरे मन और मस्तिष्क दोनों यथार्थ अवस्था को प्राप्त हो जाएंगे परन्तु मेरी निर्णीत औषधि का तुझे सेवन करना होगा—

ठीक है—'कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी।
वेद न देइ सुनहु मुनि योगी॥'

तू क्षत्रिय है। लड़ना तेरा धर्म है। इस समय धर्म-युद्ध सम्मुख आकर उपस्थित हो गया है। अपने धर्म पर चलना अत्यन्त श्रेष्ठ होता है और फिर इस युद्ध में तेरा तो शरीर ही लोगों को लड़ता हुआ दृष्टिगोचर होगा। वास्तव में तेरे इस शरीर में स्थित मैं ही लड़ूंगा। तू इस बात को भली-भाँति जान ले।

अध्यात्म बुद्धि से अर्थात् विचारशील अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से अपना युद्ध करना आदि सब कर्म मुझ में समर्पण कर दे। अर्थात् तू लड़ता हुआ भी अपने शरीर में मेरे स्वरूप को ही लड़ता हुआ देख। जीत या विजय आदि सब प्रकार की अभिलाषाओं को मन से त्याग दे। ताये-चाचे, भ्राता-जामाता, पिता-पितामह, मासड़-मामे, श्याले-बहनोई, पुत्र-पौत्र और फुफ्फुड़ इत्यादि सब बन्धुओं की ममता को छोड़ दे।

मोह-शोक, सुख-दुःख आदि विकारों से रहित होकर तथा अन्तःकरण को शुद्ध करके युद्ध में जुट जा। यही तेरे त्रिदोषज इस विषम ज्वर को दूर करने वाली अचूक औषध है। यही तेरे लिये श्रेयस्कर है और इसी में तेरा कल्याण है॥ ३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

ये मे मतम्+इदम्+नित्यम्+अनुतिष्ठन्ति मानवाः । श्रद्धावन्तः+अनसूयन्तः+मुच्यन्ते ते+अपि कर्मभिः ॥

ये=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ब० व०=जो ।

मे=(सर्व) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मे, मम=मेरा । मेरे । मदीयम् ।

मतम्=(नपुं०)√मन्+क्त=मत+द्वितीo ए० व०=मत को । माने हुए सिद्धान्त को । विचार को ।

इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) द्वितीo ए० व०=इसको ।

नित्यम्=(वि०) नियमेन भवः, नि+त्यप्=नित्य+(नपुं०) द्वितीo ए० व० । जो सदा रहे । जो कभी नाश न हो । शाश्वत को । अविनाशी को । अर्थात् मेरे इस अविनाशी मत को । इस प्रकार 'नित्यम्' शब्द मतम् का विशेषण है । परन्तु इसमें यह शंका हो सकती है कि भगवान् का मत तो सदैव नित्य या अविनाशी ही होता है तो फिर यहाँ 'नित्यम्' कहने से क्या प्रयोजन है । परन्तु यह शंका निराधार है । क्योंकि जो नित्य या अविनाशी हो उसे नित्य या अविनाशी कहने में कोई दोष नहीं है । यह एक प्रकार से गुण ही है । 'नित्यम्' को अव्यय मानकर 'अनुतिष्ठन्ति' क्रिया पद का क्रियाविशेषण मानना भी ठीक है । तब अर्थ होगा—'नित्यम् अनुतिष्ठन्ति' अर्थात् नित्य अनुसरण करते हैं । देहली दीपक न्याय से यह पद दोनों ओर भी लग सकता है ॥

अनुतिष्ठन्ति=अनु√स्था+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=अनुसार चलते हैं । अनुसार बरतते हैं । अनुसार करते हैं । अनुवर्तन्ते ॥

मानवाः=(पुं०) मनो गोत्रापत्यं मनोः अपत्यं वा पुमान्, मनु+अण्=मानव+प्र० ब० व०=लोग । मनुष्य ।

श्रद्धावन्तः=(वि०) श्रद्धा+मतुप् (वत्)=श्रद्धावत्+(पुं०) प्र० ब० व०=श्रद्धावान् लोग । श्रद्दधान पुरुष । श्रद्धा से युक्त हुए पुरुष ।

अनसूयन्तः=(वि०) असूयां मयि गुरौ वासुदेवे अकुर्वन्तः=गुरु स्वरूप मुझ वासुदेव में असूया (दोष-दृष्टि) न करते हुए । दोष-बुद्धि से रहित । अन्√असूय् (निन्दा करना)+शतृ (अत्)=अनसूयत्+(पुं०) प्र० ब० व०=अनसूयन्तः (न असूयन्तः—नञ्०) । अनिन्दक होते हुए ।

मुच्यन्ते=√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छोड़ना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व० (कर्मवाच्य)=छोड़े जाते हैं ।

ते=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ब० व०=वे (सब) ।

अपि=(अव्यय) भी ।

कर्मभिः=(नपुं०) कर्मन्+तृती० ब० व०=कर्मों द्वारा। कर्मों से ॥ पाप-पुण्य कर्मों से। शुभाशुभ कर्मों से ॥

अर्थ—जो लोग दोष-दृष्टि से रहित और श्रद्धावान् हुए, मेरे इस अविनाशी मत के अनुसार नित्य बरतते हैं वे भी (पुण्य-पापरूप) सम्पूर्ण कर्मों द्वारा छोड़ दिए जाते हैं। (अर्थात् ये लोग भी अपने द्वारा किए हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होकर जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं) ॥ ३१ ॥

व्याख्या—इससे पहले श्लोक में भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि हे अर्जुन ! परमात्मा में लगे हुए मन से अपने सब कर्मों को मुझ में समर्पण कर के आशा, ममता और सन्ताप रहित हो कर तू युद्ध (अर्थात्, लोकसंग्रहार्थ, स्ववर्णानुकूल कर्म) कर। यहाँ भगवान् का यह उपदेश मनुष्य मात्र के लिये है। कोई भी चाहे जिस किसी देश, जिस किसी जाति तथा जिस किसी वर्ण या श्रेणी का क्यों न हो सबके लिये ही इस श्लोक (३१) में भगवान् ने "मानवः" शब्द प्रयुक्त किया है और यह दर्शाया है कि तीसवें श्लोक में जो मत मैंने व्यक्त किया है वह संसार भर के मनुष्य मात्र के लिए है, केवल अकेले अर्जुन के लिए नहीं है। जो कोई भी श्रद्धावान् होकर किसी प्रकार की भी मीन-मेष न करता हुआ प्रतिदिन इसके अनुसार आचरण करेगा, वह अपने द्वारा किए हुए अच्छे-बुरे सब कर्मों के फल भोगने से मुक्त हो जाएगा और फिर जन्म-मरण के चक्र में न पड़ेगा।

भगवान् ने इस श्लोक में इन कर्मों से छुटकारा पाने वाले पुरुषों के लिए एक विशेषण "अनसूयन्तः" भी दिया है जिसका अर्थ "निन्दा न करते हुए" है। इस विशेषण का अभिप्राय यह है कि जो लोग भगवान् की अथवा दूसरों की निन्दा करते हैं, वे भगवान् से तो दूर रहते ही हैं किन्तु जिन लोगों की निन्दा करते हैं उन लोगों द्वारा किये हुए पाप-कर्मों का फल भी ग्रहण करते हैं। इस सम्बन्ध में एक पुरातन कथा इस प्रकार है—पूर्वकाल में एक समय एक राजा ने यज्ञ किया और सायंकाल तक वह भोजन बाँटता रहा। अन्त में उसके पास केवल उतना ही भोजन शेष रह गया जिससे दिन भर के व्रती उस राजा की क्षुधा ही निवृत्त हो सकती थी। वह उसे भक्षण ही करने वाला था कि एक तपस्वी द्वार पर आ खड़ा हुआ और उसने भोजन के लिए याचना की।

यह देखकर राजा का मन जल गया और उसने तपस्वी के फैलाए हुए वस्त्र में घोड़े की लीद उठा कर डाल दी। तब वह तपस्वी उसे लेकर चला गया। कुछ समय बीत जाने पर एक दिन वही राजा दैवयोग से उस तपस्वी के स्थान पर जा निकला तो उसने वहाँ पर लीद का एक बहुत बड़ा ढ़ेर लगा

हुआ देखा और तपस्वी से पूछा—

महात्मन् ! यह इतनी अधिक लीद क्या करोगे ? तब तपस्वी ने उत्तर दिया कि यह एक राजा का भोजन के लिए दिया हुआ दान नित्यप्रति फैलता और उत्तरोत्तर बढ़ता चला जा रहा है जिसको दाता स्वयं भक्षण करेगा। यह सुनकर राजा को लीद दान करने की अपनी बात स्मरण हो आई। तब उसको पावों के तले से पृथ्वी खिसक रही अनुभव होने लगी, आँखों के तले अन्धेरा छाने लगा। काँपता हुआ अव्यक्त से शब्दों में बोला—

महात्मन् ! क्या किसी उपाय से इस लीद के खाने से उस राजा का छुटकारा हो भी सकता है ? यह सुनकर मुनि ने कहा—हाँ, यदि बहुत से लोग उस राजा की झूठी निन्दा करें तो उस राजा के लीद-दान रूप दुष्कर्म का फल निन्दक लोग भोगेंगे।

तब राजा उन मुनि के चरणों पर गिर पड़ा और उससे अपने दुष्कर्म की क्षमा मांगी और अपने घर को लौट आया।

फिर राजा ने एक सुरंग अपनी पुत्री के भवन में गुप्त रूप से जाने के लिए बनवाई जिसके मार्ग से राजा प्रतिदिन सायंकाल के बाद अपनी पुत्री के पास जाता और उसको धर्म और ज्ञान का उपदेश देकर वापस अपने भवन में लौट आता।

तब सब लोग ठीक बात को न समझकर उस राजा की अति निन्दा करने और कहने लगे कि यह दुष्ट राजा पुत्रीगामी और कलंकी है जिससे मुनि के स्थान पर लगा हुआ लीद का वह ढेर समाप्त हो गया और राजा के दुष्कर्म का फल निन्दक लोगों के कर्मों के फलों में जा मिला। इस सम्बन्ध में यह एक श्रुति भी है—"तस्य पुत्रा दायमुपयान्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्।"

[उस ज्ञानवान् पुरुष के धनादिक पदार्थों को तो पुत्र (या शरीकादिक) ले जाते हैं। पुण्यों को सेवा करने वाले भक्त, भृत्य और हित चाहने वाले मित्र ले जाते हैं तथा पाप कर्मों को निन्दा करने वाले दुष्ट लोग ग्रहण कर लेते हैं (इस प्रकार वह ज्ञानी पुरुष सब प्रकार के कर्मों और द्वन्द्वों से रहित होकर हल्का-फुल्का हो जाता है जिससे वह बिना श्रम, लाघव गति से चलता हुआ परमपद में प्रविष्ट हो जाता है) ॥]

इस श्लोक में 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि मुझ भगवान् के इस मत का अनुसरण करने से अज्ञानी और साधारण लोग भी कर्मों के बन्धन से छूट जाते हैं और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। ज्ञानी और मुमुक्षु लोग तो इस मार्ग पर चल कर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

और इस रीति से निरन्तर कर्म करते-करते मस्त या निजानन्द की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिससे फिर इन्द्रियों के व्यवहार भी बन्द होने लगते हैं और सारे कर्मों में वैराग्य हो जाता है जिससे सम्पूर्ण कर्म उस निजानन्दी मस्त का साथ स्वयं छोड़ देते हैं और उसे केवल एक आत्मा से ही अर्थ रह जाता है तथा उसका देह, गेह और कर्मों से नाता टूट जाता है जिससे जन्म-मरण से छुटकारा होकर परम पद की प्राप्ति हो जाती है ।। ३१ ।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

ये तु+एतत्+अभ्यसूयन्तः+न+अनुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्व-ज्ञान-विमूढान्+तान्+विद्धि नष्टान्+अचेतसः ।

ये=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (लोग) ।

तु=(अव्यय) परन्तु । और ।

एतत्=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको ।

अभ्यसूयन्तः=(अभि√असूय्+शतृ (अत्)=अभ्यसूयत्+(पुं०) प्र० ब० व० =निन्दते हुए । दोषारोपण करते हुए । अच्छी तरह से असूया या निन्दा करते हुए । [√असू+यक्+अ—टाप्=असूया (स्त्री०) । किसी के गुणों में अवगुणों की कल्पना करना "असूया" कहलाता है जैसा कि उच्चकोटि के वक्ता को बकवादी, मौनधारी को दम्भी, सन्तोषी को आलसी और निकम्मा, और उद्योगी को अत्यन्त लोभी कहना "असूया" है । इस प्रकार गुणवानों के सब गुणों में कीड़े निकालना अथवा दुर्गुण रूप में कहना असूया या हसद कहलाता है] ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अनुतिष्ठन्ति=अनु√स्था (भ्वा० पर० अक०=स्थित होना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=अनुसार वर्तते हैं । अनुसार चलते हैं । अनुसार आचरण करते हैं ।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० प्र० ए० व०=मम, मे=मेरे ।

मतम्=(नपुं०)√मन्+क्त=मत+द्विती० ए० व०=माने हुए को । विचार को । मत को ।

सर्व-ज्ञान-विमूढान्=(वि०) सर्वेषु ज्ञानेषु विविधं मूढाः ते । सब ज्ञानों में अच्छी तरह से मोहित हुओं (अविवेकियों) को । सब ज्ञानों में अनेक प्रकार से मूर्ख बने हुओं को । सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित चित्त वालों को । [वि√मुह्+क्त=विमूढ+(पुं०) द्विती० ब० व०=मूढों को । मूर्खों को । मोह प्राप्त हुओं को । भ्रम में पड़े हुओं को । महामूर्खों को ।]

तान्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=उनको।

विद्धि=$\sqrt{}$विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व० =(तू) जान ले।

नष्टान्=$\sqrt{}$नश् (दिवा० पर० अक०=नष्ट होना)+क्त=नष्ट+द्विती० ब० व०=नष्ट हुओं को। नाशं गतान्। कल्याण से भ्रष्ट हुओं को। मरे हुए ही जैसों को।

अचेतसः=(वि० पुं० द्विती० ब० व०)। अविवेकिनः। अविवेकियों को। मूर्ख लोगों को। चित्तहीनों को।

अर्थ—परन्तु जो लोग मेरे इस मत को निन्दते हुए (उस पर) आचरण नहीं करते उन नष्ट हुओं, चित्त-हीनों और सब प्रकार के ज्ञान न जानने वाले महामूर्खों को (तू) जान (पहचान) ले ॥ ३२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पुरुष वेद, शास्त्र, उपनिषद्, वेदान्त, गीता आदि सच्छास्त्रों में मेरे द्वारा कहे हुए ज्ञान की निन्दा करता है और कहा करता है कि ये सब ज्ञान कपोल-कल्पित हैं, मिथ्या हैं, झूठे हैं, असत्य हैं, तथा यह जग मीठा, अगला किसने डीठा, मनुष्य तो खाने, पीने और मौज उड़ाने के लिए जगत् में जन्मा है, भगवान् नाम की कोई वस्तु या सत्ता नहीं है, यदि कोई परमात्मा होता तो वह सब को दिखाई देता, उसे किसी से डरने या छिपने की क्या आवश्यकता थी, कवियों, पण्डितों तथा अन्य धर्म-नेताओं ने लोगों को भयभीत करने के लिए भगवान् की कल्पना की हुई है—इस प्रकार ये मूर्ख नास्तिक लोग अनेक प्रकार के व्यर्थ तर्कों-वितर्कों और कुतर्कों से भगवान् और भगवान् के वचनों की निन्दा करते रहते हैं, तथा मुझ भगवान् और मेरे वचनों पर अश्रद्धा और अविश्वास रखते हैं। इस कारण से मेरे उन वचनों के अनुसार आचरण नहीं करते क्योंकि ये लोग अचेतस होते हैं। अर्थात् इनका अन्तःकरण होता हुआ भी न होने के बराबर होता है। कारण यह कि वेद शास्त्र विहित मुझ परमेश्वर के वचनों के अनुसार अनासक्ति, निर्मम तथा फलेच्छा-रहित होकर कर्म करने से चित्त या अन्तःकरण की शुद्धि होती है। जब ये लोग इस प्रकार कर्म ही नहीं करते तथा अपने कर्मों को न ईश्वर के अर्पण करते हैं न उनको लोक-संग्रहार्थ ही करते हैं तो फिर उनके अन्तःकरण की शुद्धि ही कैसे हो सकती है ? और अशुद्ध चित्त या अन्तःकरण, न होने के तुल्य ही होता है। क्योंकि उस अशुद्ध अन्तःकरण के द्वारा मनुष्य कर्मों से बन्ध जाता है और आत्मा, परमात्मा तथा अनात्म वस्तुओं सम्बन्धी सब प्रकार के ज्ञानों से वंचित रह जाता है जिसके अभाव से वह नष्ट हो जाता है अर्थात् मुक्ति-मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। तब फिर

मोक्ष और परमपद को न प्राप्त करके कर्मों के वशीभूत हुआ नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करता है तथा नरक तुल्य नाना प्रकार के दुःखों को भोगता हुआ अनेक यातनाओं और कष्टों को अनुभव करता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू मेरी निन्दा करने वाले, मेरे मत को न मानकर उसकी अवहेलना करने वाले, भ्रष्ट और मलिन अन्तःकरण वाले, प्रभु-प्राप्ति कराने वाले सब ज्ञानों को न जानने वाले, महामूर्ख बने हुए, कर्म बन्धन में बँधे हुए, बहुत योनियों में भ्रमण करने वाले तथा नरक भोगने वाले इन मरदूदों को अच्छी तरह से जान ले अर्थात् इनकी पहचान कर ले जिससे फिर तू अपने मोक्ष मार्ग से विचलित न हो सकेगा और मेरे दर्शाए हुए पथ पर चलकर कर्म करता हुआ परमपद को प्राप्त कर लेगा ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

सदृशम्+चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः+ज्ञानवान्+अपि । प्रकृतिम्+यान्ति भूतानि निग्रहः किम्+करिष्यति ॥

सदृशम्=(वि०) समानं दर्शनम् अस्य, समान√दृश्+क्विन्, समानस्य सादेशः=सदृश+(नपुं०) प्र० ए० व०=सदृशम्=अनुसार। अनुरूप। समान। तुल्य। सदृश।

चेष्टते=चेष्ट् (भ्वा० आत्म० अक० सक०=चेष्टा करना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=चेष्टा करता है।

स्वस्याः=(सर्व०) स्व+(स्त्री०) षष्ठी० ए० व०=अपनी। स्वकीया।

प्रकृतेः=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन्=प्रकृति+षष्ठी० ए० व०=प्रकृतेः=प्रकृति के। स्वभाव के।
[प्रकृतिः नाम पूर्व-कृत-धर्माधर्मादि-संस्कारः, वर्तमानजन्मादौ अभिव्यक्तः सा प्रकृतिः तस्याः=पहले जन्मों में किए हुए पाप-पुण्यों के संस्कार जो वर्तमान जन्म में मनुष्य में प्रकट होते हैं उनका नाम 'प्रकृति' या 'स्वभाव' है। उसके]।

ज्ञानवान्=(वि०)√ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान (नपुं०)+मतुप्=ज्ञानवत्+(पुं०) प्र० ए० व०=ज्ञानवान्। ज्ञानवान् पुरुष।

अपि=(अव्यय) भी।

प्रकृतिम्=(स्त्री०) द्विती० ए० व०=प्रकृति को। स्वभाव को।

यान्ति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=जाते हैं। प्राप्त होते हैं। [(स्वभाव से परवश हुए) कर्म करते हैं]।

भूतानि=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+प्र० ब० व०=सभी प्राणी।
निग्रहः=(पुं०) नि√ग्रह् (क्र्या० उभ० सक०=रोकना, हठ करना)+
अप्=निग्रह+प्र० ए० व०=हठ। निग्रह।
किम्=(सर्वं०) किम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या ?। क्या कार्य ?।
करिष्यति ?=√कृ+लृट्० प्र० पु०, ए० व०=करेगा ?। कर सकेगा ?॥

अर्थ—ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के सदृश चेष्टा करता है। अन्य सब भूत (भी) प्रकृति को प्राप्त होते हैं। [जब ज्ञानवान् भी अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करता है तो मूर्खों की तो बात ही क्या है]। (फिर इसमें किसी का) हठ क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

व्याख्या—सब दैवी, मानवी जीव और निर्जीव वस्तुएँ भूत कहलाती हैं। पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश ये पाँचों महा-भूत कहलाते हैं। प्रकृति स्वभाव का नाम है। जड़ पदार्थों का स्वभाव तो परमात्मा द्वारा आदिकाल में संसार की उत्पत्ति के साथ ही निश्चित कर दिया गया था। इसलिए वे कभी अपने स्वभाव या प्रकृति से विचलित नहीं होते। परन्तु प्राणियों की प्रकृति या स्वभाव उनके पूर्व जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों के संस्कारों से बनता है। चूँकि सबका कर्म-संचय एक समान नहीं होता इसलिए सब का सुख-दुःख, आकृति और प्रकृति भी एक सदृश नहीं होते।

पूर्व जन्म में तप करने वाले, दान-पुण्य करने वाले और दया-धर्म आदि शुभ कर्म करने वाले वर्तमान जन्म में भी इन संस्कारों से ओत-प्रोत या युक्त होते हैं। पहले जन्मों के पुण्य-प्रभाव से ही मनुष्य ज्ञानवान् और विचारवान् बनता है और वह अपनी प्रकृति के सदृश ही निरभिमान, निष्काम, निर्मम और निरिच्छ हुआ ईश्वरार्पण तथा लोक-संग्रह के लिए शुभ-कर्म करता रहता है जिससे उसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध और निर्मल हो जाता है। परन्तु जिन प्राणियों के पूर्व जन्म के कर्म शुभ और पुण्य-मय नहीं होते, वे सब मलिन और अपवित्र अन्तःकरणों वाले होने से अधम मनुष्य, पशु-पक्षी और कीट-पतङ्ग आदि नाना प्रकार की योनियों में जन्म धारण करते हैं और पूर्व जन्मों के कर्मों के संस्कारों से बने हुए स्वभाव के वशीभूत हुए उसी प्रकार के कर्म करते हैं, जो उनके लिए मरने के बाद और भी अधमतम योनियों में जन्म लेने का कारण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ जो पुरुष पूर्व जन्म में शिकारी होते हैं वे मरकर गीध, कुत्ते, बिल्ले, भेड़िए, चीते, गीदड़, उल्लू, बाज़ और सिंहादि के जन्म धारण करते हैं जिससे वे अपनी प्रकृति के सदृश अन्य प्राणियों के प्राणहरण करने में लगे रहते हैं। दुष्कर्म कर्ताओं को भाग्यवश

ईश्वर-कृपा से यदि मनुष्य देह की प्राप्ति हो भी जाती है तो भी वे लोग पूर्व जन्म के कर्मों के संस्कारों से बनी हुई दुष्ट प्रकृति के प्रभाव से शुभ कर्म नहीं करते हैं। महात्मा पुरुषों का उपदेश उनके लिए पत्थर पर गिरी हुई जल-बिन्दु के तुल्य होता है। अथवा दुग्ध पान कराने से जैसे भुजङ्ग के विष में वृद्धि हो जाती है वैसे ही सदुपदेश से उनकी भी पाप-कर्मों में रति अधिक हो जाती है। जैसे पानी सब वस्तुओं और वस्त्रों को धोकर निर्मल, स्वच्छ और साफ़ सुथरा कर देता है परन्तु लोहा उसमें पड़ा रहने से और भी काला और जंगार वाला हो जाता है इसी प्रकार ज्ञानवान् महात्माओं का उपदेश शास्त्र-विहित सकाम कर्म करने वाले पुरुषों के अन्तःकरणों को शुद्ध और स्वच्छ कर देता है परन्तु उससे दुष्कर्म करने वाले पापियों के अन्तःकरण और भी मलिन और दूषित हो जाते हैं। इसलिए किसी की प्रकृति को बदलना बहुत ही कठिन कार्य है।

कई बार तो प्रकृति-परिवर्तन करने का प्रयत्न करने से परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है। जैसे प्रत्येक परमाणु का स्वभाव है कि वह टूटना नहीं चाहता, परन्तु जब उसे तोड़ा जाता है तो वह परमाणुबम के रूप में क्षण भर में हीरोशिमा और नागासाकी जैसे लाखों लोगों की जनसंख्या वाले नगरों का सर्वनाश और विध्वंस कर देता है।

प्राणधारियों का स्वभाव तो तभी अच्छा किया जा सकता है जब उन के पूर्व जन्मों के कर्म अच्छे हों नहीं तो किसी का हठ या आग्रह क्या बना सकता है?

निर्जीव भूत पदार्थों की प्रकृति को बदलने के लिए भी हठ करना व्यर्थ और निष्फल है। हाँ यह बात भले ही ठीक और मान्य है कि इनके स्वभाव से परिचित होकर उनसे लाभ अवश्य उठाया जा सकता है।

यह सम्पूर्ण पृथ्वी-लोक ठोस, तरल और गैस इन तीन प्रकार के पदार्थों का संघात है। ये सब पदार्थ लगभग एक सौ तत्त्वों से मिल कर बने हुए हैं। आजकल के वैज्ञानिक तत्त्व उस शुद्ध पदार्थ को कहते हैं जिसको हम किसी भी क्रिया द्वारा दो या दो के अधिक पदार्थों में बदल नहीं सकते। इन सब तत्त्वों की प्रकृतियाँ और गुण पृथक्-पृथक् होते हैं। उनमें कोई मनुष्य परि-वर्तन करने में समर्थ नहीं समझा जाता। स्थूल रूप में पाँच महाभूतों को ही पाँच तत्त्व कहते हैं और कहा जाता है कि सब प्राणी पृथ्वी, जल, वायु तेज और आकाश इन पाँच तत्त्वों से मिलकर बने हुए हैं। वैसे तो यह बात बिल्कुल ठीक और सत्य है परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण तत्त्व की परिभाषा बदलने से कुछ बदल गया है। वे कहते हैं कि पृथ्वी तो स्वयं सम्पूर्ण

तत्त्वों का संघात है। जल दो तत्त्वों हाइड्रोजन गैस और ऑक्सीजन गैस के रसायनिक मेल का परिणाम है जिसे विद्युत् धारा के द्वारा सहज ही इन दो गैसों में बदला जाता है। हम सदा देखते हैं कि जल भाप बनकर सदा उड़ता रहता है और इसी की हाइड्रोजन से आकाशी विद्युत् और उसकी गरज या कड़क उत्पन्न होती है। प्राचीनों के विचार में वायु भी उनचास गैसों का समूह है। आजकल के वैज्ञानिकों ने भी दस से अधिक गैसों का मेल वायु में सिद्ध कर दिया है। 'तेज' नाम शक्ति का है जो विद्युत् की एक सहोदरा शक्ति है जिसके द्वारा सब तत्त्वों में रसायनिक क्रियाएँ होती हैं। परन्तु तेज में स्वयं तत्त्व का कोई गुण भार आदिक विद्यमान नहीं है। और आकाश तो नाम ही शून्य या अभाव का है उसे तो वर्तमान काल में समझे जा रहे तत्त्वों की श्रेणी में गिना ही कैसे जा सकता है? प्रत्येक तत्त्व के अन्तिम छोटे अंश का नाम परमाणु होता है और परमाणु को तोड़ना कठिन होता है। यदि उसको तोड़ने का प्रयत्न किया जाए तो उससे ऊर्जा या शक्ति उत्पन्न होती है, जो विनाश के लिए भी हो सकती है और सावधानी तथा युक्ति के साथ प्रयोग करने से शान्ति और विकास का कारण भी बन सकती है।

इस श्लोक में भगवान् ने जो कहा है कि "निग्रहः किं करिष्यति"। इस का अभिप्राय यह है कि हठ से इन्द्रियों की स्वाभाविक क्रियाओं को रोक लेना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। क्योंकि जब तक देह जीवित है तब तक भूख, प्यास आदि धर्म प्रकृतिसिद्ध होने के कारण छूट नहीं सकते। मनुष्य चाहे कितना भी ज्ञानी क्यों न हो, उसे भूख लगती है। जल पीना पड़ता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष वह है जो धींगामुश्ती इन्द्रियों को मारने का प्रयत्न नहीं करता। क्योंकि हठपूर्वक ऐसा करना तो नदियों के प्रवाहों को समुद्र की ओर जाने से रोकने के तुल्य है। परन्तु बुद्धिमान् इंजनीयर जिस प्रकार इन नदियों के प्रवाह-मार्ग को बदलकर उनके मार्ग में बहुत बड़े बाँध बाँध देते हैं और फिर उनके जल से पनचक्कियां चलाते हैं, बिजली के जनरेटर चलाकर विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करते हैं, देश की बहुत बड़ी भूमि को सींचते हैं तथा लोक-हित के नाना प्रकार के कर्म करते हैं, इसी प्रकार ज्ञानवान् पुरुष इन सब इन्द्रियों का शास्त्रोक्त विधि अनुसार निग्रह करके इनको शुभ कार्यों में प्रवृत्त और प्रेरित करता है। फिर इन कर्मों से उत्पन्न हुई शक्ति से लाभ उठाकर परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है। जब ये इन्द्रियाँ ज्ञानी पुरुष के पूर्णतया वशीभूत हो जाती हैं तो फिर अपने आप लोक-संग्रहार्थ कार्य करती रहती हैं।

भगवान् ने इस श्लोक में कहा है—"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?" तो फिर यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि सब जीव अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं, प्रकृति से रहित कोई है ही नहीं, तब तो पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता न रहने से विधि-निषेध-शास्त्र निरर्थक हो जाएँगे ।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मनुष्य का स्वभाव बदला ही नहीं जा सकता । वे तो केवल इतना ही कहते हैं कि जीव अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करता है । परन्तु जब किसी ट्रेनिंग, शिक्षा या संगति आदि द्वारा उसकी प्रकृति बदल दी जाती है तो फिर वह उस बदली हुई प्रकृति के अनुसार ही कर्म करने लगता है । सिखाए हुए तोते मनुष्य जैसी बोली बोलने लगते हैं । सिधाए हुए सिंह मनुष्य के इंगित पर कार्य करने लगते हैं । बड़े-बड़े डाकू महात्मा लोगों की संगति पाकर प्रसिद्ध ऋषि, मुनि और महात्मा बन जाते हैं । शीतल स्वभाव वाला जल अग्नि का ताप पाकर जलाने वाला बन जाता है । अमृत तुल्य दूध विष की संगति से मारक बन जाता है । इसलिए शिक्षा संगति वातावरण और आदर्श पुरुष के आचरण आदि को देखकर प्राणी का स्वभाव बदल जाता है परन्तु प्रत्येक प्राणी अपने वर्तमान स्वभाव या प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियस्य+इन्द्रियस्य+अर्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ । तयोः+न वशम्+आगच्छेत्+तौ हि+अस्य परिपन्थिनौ ॥

इन्द्रियस्य=(नपुं०) इन्द्रिय+षष्ठी० ए० व०=इन्द्रिय के ।
इन्द्रियस्य=इन्द्रिय के ।

[अर्थात् एक एक इन्द्रिय के=प्रत्येक इन्द्रिय के] ।

अर्थे=(पुं०) √अर्थ्+अच्=अर्थ+सप्त० ए० व०=विषय में [शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गन्ध विषय में] ।

राग-द्वेषौ=(पु०) रागः च द्वेषः च (इतरेतर द्वन्द्व समास)=(प्र० द्वि व० राग और द्वेष । प्रेम और शत्रुता । सुरुचि और घृणा ।

व्यवस्थितौ=(वि० क्रियास्थानीय) वि-अव√स्था (भ्वा० पर० अक०=स्थित होना)+क्त=व्यवस्थित+(पुं०) प्र० द्वि व०=(दोनों) स्थित हैं ।

तयोः=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी० द्वि० व०=उन (दोनों) के।
न=(अव्यय) न। नहीं।
वशम्=(पुं०, नपुं०) √वश् (अदा० पर० अक० सक०=अधीन होना। काबू में होना)+अप्=वश+द्विती० ए० व०=वश में। काबू में। अधीन।
आगच्छेत्=आ√गम् (भ्वा० पर० सक०=आना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=आये। आना चाहिए।
तौ=(सर्व०) तद्=(पुं०) प्र० द्वि० व०=(वे) दोनों।
हि=(अव्यय) क्योंकि।
अस्य=(सर्व०) इदम्+षष्ठी० ए० व०=इसके। (शास्त्रानुसार बरतने में लगे हुए) इस (पुरुष) के।
परिपन्थिनौ=(वि०) परि√पन्थ्+णिनि=परिपन्थिन्+(पुं०) प्र० द्वि० व०=मार्ग को रोकने वाले। चोर। डाकू। बटमार। शत्रु।

अर्थ—इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय-भोग में) [इष्ट में] राग (प्रीति) और (अनिष्ट में) द्वेष, (दोनों) स्थित हैं। (शास्त्रानुसार बर्तने में लगे हुए मनुष्यों को) उन (दोनों) के वश में न आना चाहिए। क्योंकि वे (राग और द्वेष दोनों) इस (उपरोक्त पुरुष) के (मोक्ष-) मार्ग को रोकने वाले—बटमार या शत्रु हैं।। ३४।।

व्याख्या—मनुष्य के शरीर में दस इन्द्रियां होती हैं। आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। क्योंकि आँखें वस्तुओं को देखकर पहचान लेती हैं। नाक सब प्रकार की सुगन्धों और दुर्गन्धों को सूंघ कर समझ लेती है कि अमुक वस्तु इस स्थान पर विद्यमान है। कान शब्द को सुनकर अपने-पराए, पशु-पक्षी, बिजली की गर्जन, रेल के इंजन की कूक और मोटर चलने की ध्वनि आदि को पहचान लेते हैं। जिह्वा षट् रसों की परख करती है। मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल और कटु—ये छः प्रकार के रस या स्वाद होते हैं जिनका ज्ञान जिह्वा द्वारा होता है। इन्द्रियों और शरीर की त्वचा से स्पर्श करके नेत्रहीन पुरुष भी वस्तुओं की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए देखना, सूँघना, सुनना, स्वाद चखना या रस लेना और छूना—ये पाँच क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों के विषय या भोग हैं। इसी प्रकार वाणी (मुख), हाथ, पाँव, उपस्थ और वायु या गुह्य—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनमें से वाणी सब प्रकार के शब्द बोलती है जिनसे मनुष्य अपने विचारों और भावों को दूसरों पर प्रकट और व्यक्त करता है। खेती या कृषि, भवन-निर्माण, शिल्प, दस्तकारी, लिखना, युद्ध करना, भोजन पकाना आदि सब प्रकार के कर्म हाथों द्वारा सम्पन्न होते हैं। पाँव स्वयं अपने को और धड़-समेत शरीर के

समस्त अङ्गों को यत्र-तत्र उठाए फिरते हैं। उपस्थों द्वारा सन्तानोत्पत्ति और ब्रह्मानन्द का सहोदर कहलाने वाले विषय-भोग के सुख-स्वाद के लिए दम्पती परस्पर मिलते हैं तथा इनके द्वारा मूत्र का त्याग भी किया जाता है। पायु या गुह्य विष्ठा या मल का त्याग करती है। इस प्रकार बोलना, कर्म करना, चलना-फिरना और मल-मूत्र का त्याग करना इत्यादि कर्म इन कर्मेन्द्रियों के विषय या अर्थ हैं।

इनमें से जो विषय किसी इन्द्रिय को रुचिकर होता है—चाहे वह शास्त्र, धर्म और लोक-मर्यादा के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल हो, उसमें उस इन्द्रिय का राग या प्रीति होती है; और जिस विषय में इस इन्द्रिय को घृणा या नफ़रत होती है, उसमें उसको द्वेष होता है। ये राग और द्वेष सब इन्द्रियों के विषयों में सदा स्थित रहते हैं। क्योंकि प्रत्येक प्राणी की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है, इसलिये इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रीतियाँ और ग्लानियाँ भी भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न होती हैं। कहने का भाव यह है कि इन्द्रियों को अपने स्वभावानुकूल पदार्थों में अनुराग या प्रीति होती है और स्वभाव-विरुद्ध वस्तुओं या कार्यों में अप्रीति या ग्लानि होती है। इस प्रकार मनुष्य का स्व-प्रकृति-अनुसार विषयों में राग या द्वेष होता है। भक्तों के कान प्रभु-यश-संकीर्तन में प्रीति, आनन्द और सुख का अनुभव करते हैं और वे लोग विषय-विकार-वर्धक कथाओं को सुनना नहीं चाहते हैं। परन्तु विषयासक्त मनुष्य भगवान् के यशोगान में द्वेष और विषय-वासना-वर्धक गीतों तथा वचनों को सुनने के लिए दत्तचित्त हो जाते हैं। इसी प्रकार जवाहर, गान्धी जैसे महापुरुष तो निरीह और अबोध शिशुओं को छूकर उनसे प्रेम करते हैं, परन्तु इन्द्रिय-लोलुप राजा और महाराजा लोग सुन्दर-सुन्दरियों के दर्श-स्पर्श में अनुराग करते हैं। इसी प्रकार किसी के नेत्र प्रभु-मूर्ति के दर्शन के चाहवान् रहते हैं और अन्य किन्हीं के नेत्र सदा सिनेमा की अभिनेत्रियों के दर्शनों के ही लुब्धक बने रहते हैं। किसी की जिह्वा मद्य, मांस, अण्डा और मुर्ग-मछली के खाने में ही स्वाद और प्रीति का अनुभव करती है और पवित्र एवं स्वच्छ मिष्टान्नों से ग्लानि करती है; परन्तु उससे भिन्न सात्त्विक-वृत्ति व्यक्ति की जिह्वा उससे विपरीत मद्य-मांस से ग्लानि करती है। इसी प्रकार किसी की नाक मद्य-मांस की गन्ध से प्रफुल्लित हो जाती है और किसी अन्य की नासिका हवनादि की सुगन्धियों से प्रसन्न होती है। इसी प्रकार किसी की वाणी आठों पहर प्रभु का यश गाने और राम-नाम रटने में लगी रहती है, परन्तु किसी की वाणी पर-निन्दा करने, डींगें मारने और गालियाँ देने में ही सुख का अनुभव करती है। किसी के हाथ लोकोपकारार्थ कार्यों के करने

में अनुराग रखते हैं तथा किसी दूसरे के हाथ दूसरों को मारने, लूटने अथवा उजाड़ने में ही सुख और आनन्द लेते हैं। इसी प्रकार किसी के पांव तो मन्दिरों, तीर्थों और सत्संग-भवनों में जाना रुचिकर समझते हैं तथा किसी के चरण मद्य-मांस-स्थलों और चकलों में घूमना अच्छा समझते हैं। इसी प्रकार धर्म-परायण दम्पती गृहस्थ तो अपने घर में ही सुख और आनन्द का अनुभव करते हैं परन्तु दुष्ट विषय-लोलुप स्त्री-पुरुष कुत्ते-कुत्तियों की तरह दर-दर डण्डे खाते फिरते हैं और जन-साधारण से कूर-कूर और दुर-दुर करवाते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग तो दिन में दो बार मल त्यागते हैं और कुछ चार दिनों में एक बार भी ऐसा करना पसन्द नहीं करते। मनुष्य से भिन्न अन्य जीवों की इन्द्रियां भी अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष रखती हैं। देखो, सिंह मांस खाना चाहता है; अनाजों, फलों और घास से द्वेष करता है; परन्तु बैल केवल घास अनाज और फल ही भक्षण करना चाहता है और मांस से द्वेष करता है।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! मनुष्य को इन्द्रियों में स्थित इस राग और द्वेष के वशीभूत कदापि न होना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में स्थित रहने वाले ये राग-द्वेष मनुष्य के मुक्ति-मार्ग के बाधक होते हैं। जिस प्रकार कोई ठग या बटमार मार्ग में किसी यात्री को रोककर उससे मीठी-मीठी बातें करने लगता है और फिर उसके अन्तःकरण पर अपना अधिकार कर लेता है और अन्त में एकान्त में ले जा कर उसे लूट लेता है अथवा उसका वध कर देता है, इसी प्रकार इन्द्रियों के विषय रूपी गहन वनों में रहने वाले राग और द्वेष ये दोनों मोक्ष पथ रोकने वाले ठग या बटमार हैं जो मनुष्य को मोहित करके उसके मन पर नियन्त्रण या कण्ट्रोल कर लेते हैं। और फिर उसे मुक्ति-मार्ग से भ्रष्ट करके जन्म-मरण के चक्र में फँसा देते हैं। जिसके कारण फिर यह जीव नाना प्रकार के कष्टों और दुःखों को अनुभव करता हुआ अनन्त काल तक शाश्वत शान्ति और सुख से वंचित हो जाता है। मनुष्य से भिन्न अन्य प्राणी भी इन्द्रियों के राग-द्वेष के वशीभूत होकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। मृग बांसुरी की मधुर तान में अनुराग करके वधिक के वशीभूत हो जाता है। हाथी त्वचा-सुख और लिंगेन्द्रिय-लोलुपता के कारण कागजों की हथिनी को देख कर गहरे गर्त में गिर कर प्राण दे देता है, अथवा भारी लौह-शृङ्खलाओं में जकड़ा जाता है। पतंग नाम का उड़ने वाला कीट, रूप का लोभी होकर दीप-शिखा पर जल मरता है। मछली आटे की गोली खाने के लोभ से गले में लोहे का कांटा फँसवा कर काल का ग्रास बन जाती है। भ्रमर कमल की सुगन्ध के अनुराग में कमल-

कोष का बन्दी बनकर प्राण गँवा बैठता है। शुक-पिक मनुष्य-वाणी बोलने के अनुराग से आजीवन पिंजरों में बन्द रहते हैं। बैल, भैंसे, गधे, घोड़े आदि भारवाहक पशु परकार्यासक्त होने से अपने गलों में रस्से, नाकों में नकेलें और दाँतों में लगाम डलवाए रहते हैं और सारा दिन डण्डे खाते और असह्य भार ढोते हैं। इसी प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि स्त्री-पशु विषयासक्त होकर गर्भ धारण करते हैं और दूसरों को अपना दूध पिलाते हैं। इसी प्रकार सब प्राणियों की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में राग और द्वेष रखती हैं। परन्तु मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को राग और द्वेष दोनों से रहित रखे। मन को इन्द्रियों का दास बनकर उनके अनुकूल न चलने दे, बल्कि मन को इन्द्रियों का स्वामी बनाकर, इन्द्रियों से वेद-विहित, धर्मानुकूल लोक-संग्रहार्थ कर्मों के करने का अभ्यास करवाए। वास्तव में सब इन्द्रियों का नियन्ता या कण्ट्रोलर मस्तिष्क है जो मन और बुद्धि के सहयोग से सारी इन्द्रियों पर शासन करता है। इन्द्रियाँ सदा स्वतन्त्र होना चाहती हैं और ऐसा करके मनमाने भोग भोगना चाहती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के भीतर एक-एक देवता का निवास है जो इन्द्रियों के विषय-भोगों का भूखा है। अपने विषय की पूर्ति के लिए वह अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। इसलिए मन को भ्रमित करने का प्रयत्न करता है जिससे मन भ्रमित होकर इन्द्रियों के वशीभूत हो जाता है और बुद्धि भी उसकी हां में हां मिलाने लगती है। तब मन, अपने मस्तिष्क को, मद्य, मांस, पोस्त, अफीम और जैश आदि मादक वस्तुओं द्वारा प्रमत्त या विमोहित बना देता है जिससे फिर मस्तिष्क को भले-बुरे की कोई परख नहीं रहती। और इन्द्रियाँ राग-द्वेष की सहायता से उससे सरकश या बेकाबू होकर अपनी मनमानी करने लगती हैं जिससे पुरुष का पतन हो जाता है। इन्द्रियों का विषयों से सीधा सम्बन्ध सदा शीत-उष्ण और दुःख-सुख का अनुभव कराने वाला होता है। इसलिए इन इन्द्रियों को सदा मन के अधीन करके रखना चाहिए और मन को शिव-संकल्प बना लेना चाहिए। और इस मन के साथ सदा बुद्धि का संयोग बना रहना चाहिए। मस्तिष्क को शुद्ध और सात्विक भोजनों द्वारा पुष्ट और निर्मल बनाए रखना चाहिए।

कठोपनिषद् (अध्याय २, प्रथमा वल्ली) के पहले दो श्लोक इसी भाव को प्रकट करते हैं जो इसे प्रकार हैं—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥ १ ॥

[अर्थ—(प्रश्न—एकाग्र बुद्धि का ऐसा कौन प्रतिबन्ध है जिससे उस एकाग्र बुद्धि को प्रभाव होने पर भी आत्मा दिखाई नहीं देती ?) उत्तर—

(स्वम्भूः) परमात्मा ने (खानि—'ख' (नपुं०)=छिद्र, द्विती० ब० व०) छिद्रों को—अर्थात् इन्द्रियों के छिद्रों को, (पराञ्चि=पराक्—बाहर की ओर। अञ्चि—अञ्चन या गमन करने वाली) बहिर्मुख करके (व्यतृणत्) रचा है। (तस्मात् पराङ् पश्यति) इस कारण से जीव बाहर के विषयों को देखता है। (न अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा को नहीं। कोई धीर पुरुष ही अमृतत्व की इच्छा करता हुआ अपनी आँखों को (प्रत्यक्) भीतर की ओर (आवृत्त=घूमा हुआ) करके आत्मा को देखता है।] ॥

"पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

[अर्थ—अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे लगे रहते हैं। वे मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए पाश में पड़ते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष अमृतत्व को ध्रुव (निश्चित) जान कर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी की भी इच्छा नहीं करते ॥] अन्तःकरण सहित समस्त इन्द्रियों के जितने भी भिन्न-भिन्न विषय हैं, जिनके साथ इन्द्रियों का संयोग-वियोग होता रहता है, उन सब विषयों में राग-द्वेष बने रहते हैं। मनुष्य सदा सुख में प्रीति करता है चाहे वह अधर्म और पाप से ही प्राप्त हो। दुःख से द्वेष करता है चाहे वह धर्म से ही मिला हो। परन्तु आत्मोन्नति के लिए शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों को ही करना चाहिए। विषयों में स्थित राग-द्वेष का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए जिससे ठीक मार्ग पर चलते हुए पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य की प्रकृति ही उसे राग-द्वेषपूर्वक उसके अपने कार्य में नियुक्त करती है। तब स्वाभाविक ही स्वधर्म का त्याग और परधर्म का अनुष्ठान होता है। परन्तु जब यह जीव प्रतिपक्ष भावना से रागद्वेष का संयम कर लेता है तब केवल शास्त्र दृष्टि वाला हो जाता है और फिर प्रकृति या स्वभाव के वश में नहीं रहता। इसलिए मनुष्य को राग-द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों इस जीव के परिपन्थी (लूटने वाले) या चोर हैं। राग-द्वेषयुक्त मनुष्य तो शास्त्र के अर्थ को भी धर्म मानकर अनुष्ठान करने लगता है, परन्तु उसकी यह महान् भूल होती है ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

श्रेयान्+स्व-धर्मः+विगुणः पर-धर्मात्+सु+अनुष्ठितात्। स्व-धर्मे निधनम्+श्रेयः परधर्मः+भय+आवहः ॥

श्रेयान्=(वि०) अतिशयेन प्रशस्यः, प्रशस्यतरः, प्रशस्य+ईयसुन्, श्र आदेशः =श्रेयस्+(पुं०) प्र० ए० व०=श्रेयान्। अति उत्तम। अत्यन्त श्रेष्ठ। कल्याणकर। प्रशंसनीय।

स्व-धर्मः=(पुं०) स्वस्य धर्मः। प्र० ए० व०। अपना धर्म।

विगुणः=(वि०) विगतः गुणः यस्य सः (बहुव्रीहि०)। (पुं०) प्र० ए० व०= गुणरहित। गुणविहीन।

पर-धर्मात्=(पुं०) परस्य धर्मात्। पंच० ए० व०=दूसरे के धर्म से।

सु+अनुष्ठितात्=(वि०) सु-अनु√स्था+क्त=स्वनुष्ठित+(पुं०) पंच० ए० व०=अच्छी तरह आचरण किए हुए से। सद्‌गुण से सम्पादित किए हुए से भी। अच्छी प्रकार अनुष्ठान किए हुए से भी। भली भाँति आज़माए हुए से भी।

स्व-धर्मे=(पुं०) स्वस्य धर्मे (स्थितस्य पुरुषस्य)=अपने धर्म में (स्थित पुरुष का) सप्त० ए० व०। (पर-धर्म में स्थित जीवन की अपेक्षा)

निधनम्=(नपुं०) नि√धा (जुहो० उभ० सक०)+क्यु+प्र० ए० व०= मरण। मृत्यु।

श्रेयः=(वि०) श्रेयस्+(नपुं०) प्र० ए० व०=श्रेष्ठ। कल्याणकारक। श्रेष्ठ। उत्कृष्टतम। अधिक प्रशंसनीय।

पर-धर्मः=(पुं०) प्र० ए० व०। परस्य धर्मः=दूसरे का धर्म। पराया धर्म।

भय+आवहः=(पुं०) भयस्य आवहः=भय को उत्पन्न करने वाला। भय को देने वाला। नरकादि रूप भय का देने वाला (होता है)। [आ√ वह्+अच्=आवह+प्र० ए० व०]।

अर्थ—अच्छी तरह अनुष्ठान किए हुए दूसरे के धर्म से गुण-विहीन भी अपना धर्म अत्यन्त श्रेष्ठ (या मोक्षप्रद) होता है। [पर-धर्म में स्थित जीवन की अपेक्षा] अपने धर्म में (स्थित पुरुष का) मरण भी कल्याणकारक होता है। (क्योंकि धारण किया हुआ) दूसरे का धर्म (नरकादि रूप) भय को देने वाला होता है ॥ ३५ ॥

व्याख्या—भगवान् ने इस श्लोक में एक ऐसे नियम और सचाई का वर्णन किया है जो सब जातियों, सब धर्मों, सब मत-मतान्तरों, सब देशों और सब समयों में रहने वाले व्यक्तियों के लिए अत्यन्त उपयोगी, अतिशय कल्याणकारी और शान्तिप्रद है तथा जिस पर आचरण करने से मनुष्य बिना भटके परमपद का भागी बन सकता है। यदि इस पर लोग आदि काल से ही आचरण करते चले आते, तो संसार में कभी गड़बड़ या अशान्ति न होती।

सब लोग अपने-अपने नियत मार्ग पर चलते जाते और किसी प्रकार का झगड़ा कभी खड़ा न होता। झगड़ा और क्लेश तो तभी उत्पन्न होता है जब कोई सत्ताधारी अथवा पदाधिकारी या बलवान् व्यक्ति किंवा संगठित संस्था अपने विचारों को ठीक समझकर दूसरों के धर्म (धारण किये हुए विचारों) को गलत समझती है और उन दूसरों पर अपने विचारों को बरज़ोरी थोपने का प्रयत्न किया जाता है। शासन के दबाव से, असहयोग के बल से, ज़र, जोरू तथा भूमि आदि देने के लोभ द्वारा, नौकरी देने के लालच से, तथा प्राणपीड़ा और दण्डयातना से दूसरों को अपना धर्म त्यागने पर बाध्य किया जाता है और अपने धर्म के कृत्रिम गुण और बनावटी श्रेष्ठता दर्शाकर उन्हें अपने धर्म में लाने का प्रयत्न किया जाता है तथा वास्तव-धर्म को त्याग कर धर्म के बाह्य चिह्नों और आडम्बरों को धारण करने पर मजबूर किया जाता है। इससे न अन्तरात्मा को शान्ति मिलती है, न बाह्य संसार में सुख क़ी प्राप्ति होती है। झूठ-मूठ बोलकर सब्ज बाग़ दिखाए जाते हैं। अल्फ़लैला जैसी कथाएं और चमत्कारपूर्ण वर्णन अपने पूज्यों के सम्बन्ध में घड़कर भोली-भाली जनता को मोहित किया जाता है। सचाई पर पर्दा डालने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया जाता है। देश चाहे भाड़ में पड़े, राष्ट्र चाहे चूल्हे में जाए, इनकी बला से ! परन्तु इन धर्मान्धों का लक्ष्य केवल अपने हलुए-मांडे और स्वार्थ की सिद्धि से ही होता है। दूसरों को बुद्धू बना कर नाना प्रकार की जत्थेबन्दियाँ की जाती हैं जिनके द्वारा कभी भाषा के झगड़े खड़े किए जाते हैं, कभी लिपि का शोर मचाकर सिर-फुटौअल कराई जाती हैं। कभी प्रान्तों की सीमाओं के लिए मरण-व्रत धारण किए जाते हैं, कभी साधारण और भोली-भाली जनता के हृदयों में कट्टरता के विष का संचार किया जाता है तो कभी जाति-विवाद का बीज बोया जाता है, कभी साम्य-वाद का टीका किया जाता है। कभी नौकरियों में भेद-भाव वर्ता जाता है। परन्तु ये लोग भूल जाते हैं कि बाह्य आडम्बर और वेष-भूषा का सम्बन्ध सच्चे धर्म से दूर का भी नहीं है क्योंकि सच्चा धर्म तो मानव मात्र के लिए केवल एक ही है जिसके धारण करने पर ईश्वर को सर्व व्यापक, अनादि, अनन्त, शाश्वत और अजन्मा जानकर उसकी उपासना और भक्ति करना, मन और इन्द्रियों का संयमन करना, सत्य बोलना, माता-पिता की सेवा करना, दीन-दुःखी की सहायता करना, प्राणी मात्र के कल्याण की इच्छा करना, अहिंसा, अस्तेय, दया, दान, क्षमा, निर्भीकता, पवित्रता और स्वच्छता आदि सद्गुणों से युक्त होना, स्वयं जीवित रहने का प्रयत्न करना और दूसरों को जीवित रहने देना इत्यादिक नियमों पर आचरण करना परमावश्यक होता है।

सात्विक भोजन करने से बुद्धि निर्मल और स्वच्छ रहती है। राजस भोजन बुद्धि में अभिमान, द्वेष, अहंकार तथा जीवहिंसा करना आदि दुर्गुण उत्पन्न करता है और तामस भोजन मनुष्य को महामूढ़ बना देते हैं। स्नान करना शरीर की स्वच्छता और स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला होता है। वस्त्र धारण करने से शरीर के गुप्त अंग ढकते हैं, शरीर की शोभा बढ़ती है और गर्मी, सर्दी तथा वर्षा-वायु से रक्षा होती है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म के नाम पर जो पाप और अत्याचार किए जाते हैं उनका सच्चे धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। धर्म के नाम पर अत्याचार करने में, अत्याचार करने वालों का व्यक्तिगत स्वार्थ होता है। जैसे राजा इन्द्र ने विश्वामित्र द्वारा राजा हरिश्चन्द्र को धर्म से पतित करने का जो प्रयास किया था उसमें इन्द्र का केवल स्वार्थ-भाव ही था। राजा शिवि के साथ दुर्व्यवहार भी केवल इसी कारण से हुआ था। हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद को यातनाएँ देकर धर्म से गिराने के प्रयत्न में भी उसका स्वार्थ ही काम कर रहा था। श्री गुरु तेगबहादुर का बलिदान भी इसी कारण से हुआ था। हकीकत राय धर्मी ने भी भगवान् के इन्हीं वचनों का स्मरण करते हुए अपने प्राणों की बलि दी थी। और यह कहकर कि "प्राण जाएँ बरु धर्म न जाई" अनेक लोग शहीद हुए हैं। महात्मा ईसा ने धर्म की खातिर शूली-आरोहण किया था। सरमद और मंसूर सरीखे ब्रह्मज्ञानी धर्म को न छोड़ने के कारण ही संगसार हुए थे, अर्थात् विधर्मी अत्याचारी शासकों की आज्ञा से लोगों द्वारा पत्थर मार-मार कर मार दिए गए थे। भगतसिंह जैसे अनेक शूरवीर देश-भक्त देशधर्म के लिए हँसते और गीत गाते हुए फाँसी के तख्तों पर झूल गए थे। परन्तु उन्होंने इस श्लोक में कथित भगवान् की आज्ञा का पूरी तरह से पालन किया था। मृत्यु तो स्वीकार कर ली थी; परन्तु अपना प्यारा धर्म छोड़ना स्वीकार न किया था। जो लोग किसी लोभ-लालच के वशीभूत होकर अपने धर्म का परित्याग कर देते हैं और विधर्मी बन जाते हैं, उन्हें पहले तो नवीन धर्म वाले नई दुल्हन की भाँति सिर-आँखों पर बिठलाते हैं, परन्तु पुनः शीघ्र ही जब नवीन धर्म का चमकीला पालिश उतर जाता है तो फिर कोई उन्हें टके में भी पूछता नहीं है। वह जब कभी थोड़ी सी भूल भी कर बैठता है तो सब उस पर संदेह करने लगते हैं और बहुत भद्दी और भोंडी गालियां देकर उसका अपवाद और अपमान करते हैं। उसे देखकर सब लोग कहने लगते हैं कि "कौवा चला हंस की चाल, भूल गया अपनी भी चाल", जिससे वह अपने धर्म-परिवर्तन के लिए पछताता है। जो दूर के ढोल उसे सुहावने मालूम होते थे, वे अब उस के कानों के पर्दे फाड़ने लगते हैं। जो पर्वत उसे दूर से सुन्दर दिखाई दिए

थे, उनमें जाने पर उसको केवल बड़े-बड़े पत्थर, मिट्टी के तोदे, कँटीली झाड़ियाँ और पाँवों में चुभने वाले कङ्कड़ों के सिवा कुछ भी नहीं मिलता है। जिस धर्म को वह अच्छी तरह से अनुष्ठान किया हुआ समझता है, चित्र के दूसरी ओर देखने से वही उसको बोदा, निकम्मा और दोषपूर्ण दीखने लगता है। तब वह धोबी के कुत्ते की तरह न घर का रहता है, न घाट का रहता है। क्योंकि भाईयों बन्धुओं और सम्बन्धियों से धर्म-परिवर्तन के साथ ही सम्बन्ध-विच्छेद हो चुकता है और नवीन धर्म वालों में पाँव धरती पर रखने से पहले ही उखड़ जाते हैं। इसीलिए तो भगवान् ने डंके की चोट से उच्चस्वर में घोषणा कर दी है कि दूसरों के सर्वश्रेष्ठ दिखाई देने वाले धर्म से उस समय न अच्छा लगने वाला भी अपना धर्म सहस्रों गुणा उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होता है। दूसरों का धर्म, ग्रहण कर लेने के अनन्तर, अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाला होता है। इससे होने वाले महा-भय की यातना को भोगने की अपेक्षा अपने धर्म में दृढ़ रहकर मरना भी अत्यन्त श्रेष्ठ और श्रेयस्कर होता है।

दूसरे का धर्म देखने में चाहे कितना भी अच्छा क्यों न जान पड़े, तो भी हमें अपने ही धर्म पर अटल और स्थिर रहना चाहिए। दूसरे के सुन्दर पक्के भवन को देखकर अपनी झोंपड़ी को गिरा देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? अपनी स्त्री अधिक सुन्दर न भी हो, तो भी जिस प्रकार उसकी संगति अपने किए कल्याणकारिणी होती है, उसी प्रकार स्वधर्म में कोई त्रुटि होने पर भी उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए, क्योंकि अपना धर्म परलोक में सुख और इस लोक में शान्ति देने वाला होता है।

जिस मनुष्य का जिस जाति या समुदाय में जन्म होता है, जिन माता-पिता के रज-वीर्य से उसका शरीर बनता है, जन्म लेकर कर्तव्य समझने की योग्यता आने तक जिन संस्कारों में उसका पालन-पोषण होता है और पूर्वजन्म के जैसे संस्कार होते हैं, उन्हीं के अनुकूल उसका स्वभाव बनता है। आजीविका के कर्मों में उसकी उनके अनुसार ही प्रवृत्ति होती है। उसी प्रवृत्ति के अनुसार उसे शुभ और शास्त्र-विहित कर्म करते हुए अपने धर्म का अनुचरण करना चाहिए। परन्तु उसे दूसरे के धर्म में कभी बाधक नहीं बनना चाहिए और अंध-विश्वास में फँसकर कोई ऐसा भी कार्य नहीं करना चाहिए जो लोक-हित और राज्य-नियमों के विरुद्ध तथा निन्दनीय एवं घृणित हो। जैसे देवी-देवताओं के मन्दिरों में नर-बलि देना और पशुवध करना किसी प्रकार भी उचित नहीं ठहराए जा सकते। दूसरों के बच्चों को मार कर टोने करना किसी के भी धर्म का अंग नहीं माना जा सकता। दूसरों के बच्चों को उठाकर भीख

माँगने अथवा मेलों में जंगली जानवरों के स्वरूपों में दिखाने के लिए उन्हें, जीभकटे, लूंजे या पंगु बना देना किसी भी धर्म का अंग नहीं माना जा सकता। अबोध बालकों और बालिकाओं को बदचलनी के लिए मन्दिरों, मठों और साधुओं के डेरों पर चढ़ा देना किसी का भी धर्म नहीं समझा जा सकता। ये सब स्वार्थी पुरुषों के ढोंग हैं। दुष्ट पुरुषों के अन्धविश्वास और रोटी कमाने के ढंग हैं। ऐसे ढोंगी लोग यम-दूतों द्वारा नरक भोगने के लिए घोर अंधकार में गिराए जाते हैं।

जैसे ब्राह्मण का स्व-धर्म शान्ति धारण करके लोक-हित में प्रयत्नशील होना है, इसी प्रकार क्षत्रिय का धर्म लोक-हित के लिए युद्ध करके दुष्टों और शत्रुओं का नाश करना होता है। हे अर्जुन ! तू अपने क्षात्र-धर्म से विमुख होकर भीख माँगना अच्छा मान रहा है। परन्तु भिक्षा माँगना तो क्षत्रिय का धर्म नहीं है—और तू भीख माँग कर निर्वाह करना अच्छा समझ रहा है। तथा अपने क्षात्र-धर्म युद्ध करने को हिंसा-रूप दोष से युक्त समझकर छोड़ने के लिए तैयार हो गया है। ब्राह्मण के धर्म भिक्षावृत्ति को अनुष्ठान करने योग्य समझकर धारण करना चाहता है। परन्तु यह धर्म तेरे लिए अत्यन्त भयावह होगा। ऐसा करने पर तेरे शत्रु तुझे डरपोक समझकर पाँवों की ठोकरें मारेंगे और कठोर एवं असह्य शब्दों में तुम्हारा घोर निरादर करेंगे। क्या उस घोर अपमान की अपेक्षा तेरे लिए यह श्रेष्ठ नहीं है कि तू युद्ध-रूपी स्वधर्म का आचरण करता हुआ शत्रुओं के हाथों से मारा जाए ? इससे तू वीर-गति को पाकर मोक्ष प्राप्त कर लेगा और इस तुच्छ नाशवान् देह के बदले सदा समीप रहने वाला ब्रह्म-रूप अनमोल हीरा पा लेगा।

महाभारत (स्वर्ग० ५।६३) में लिखा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख-दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

[अर्थ—मनुष्य को कभी न काम (स्त्री-भोग के लोभ) से, न भय से, न (धनादि) के लोभ से और न अपने जीवन की रक्षा के लिए धर्म को त्यागना चाहिए। धर्म तो नित्य रहने वाला है (अर्थात् जो देह के नाश होने पर भी नाश नहीं होता)। परन्तु इस (धर्म) का हेतु देह अनित्य है; आत्मा नित्य है और सुख-दुःख आने-जाने वाले हैं]॥

इसलिए युद्ध में मरने के भय से भी तुम्हें क्षत्रिय धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। इस आत्मा का धर्म अकर्तापन, अभोक्तापन और साक्षित्व है। मन का धर्म

संकल्प-विकल्प करना है। बुद्धि का धर्म सत्-असत् की विवेचना करना है और इन्द्रियों का धर्म देखना, सुनना, सूँघना, चलना, चखना, छूना, पकड़ना, बोलना इत्यादि कर्म करना है और इन सब में राग-द्वेष करना है। इस प्रकार इन चारों का धर्म भिन्न-भिन्न है। जब ये अपने धर्म को छोड़कर दूसरे के धर्म पर चलने लगते हैं तो परिणाम अत्यन्त हानिकारक और दुःखदायी होता है। देखो, जब मन और बुद्धि अपने धर्मों को त्यागकर इन्द्रियों के अनुयायी बन जाते हैं, तो वे मनुष्य को नरकगामी बना देते हैं। हे अर्जुन ! जब तुमने अपने क्षत्रिय-धर्म के अनुसार रण-भूमि में पदार्पण किया था तो अपने सब सम्बन्धियों को देखकर तुम्हारे नेत्र राग-द्वेष-युक्त हो गए थे और मन तथा बुद्धि नेत्रों के अनुचर बनकर उनका समर्थन करने लगे थे। इसका भयंकर परिणाम यह हुआ कि तुम को युद्ध रूपी अपने क्षत्रिय-धर्म से घृणा हो गई और दूसरों का धर्म भिक्षा माँगना श्रेष्ठ जँचने लगा। इससे तेरी बुद्धि का भट्ठा बैठने लगा। इसलिए अब तुम मन और बुद्धि को इन्द्रियों का अनुचर मत बनने दो, जिससे अपने स्वधर्म को त्याग न सकोगे। क्योंकि स्वधर्म को त्यागने का परिणाम बहुत भयंकर होता है।

भगवान् मनु ने लिखा है—

"वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥"

(मनु० १०।९७)

[अर्थ—अपना धर्म गुण-रहित भी श्रेष्ठ है। अच्छी तरह अनुष्ठान किया हुआ भी पर-धर्म श्रेष्ठ नहीं होता है। क्योंकि पर-धर्म धारण करने से जीवित रहता हुआ पुरुष स्व-जाति से शीघ्र पतित हो जाता है।] ॥३५॥

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुनः+उवाच—

अथ केन प्रयुक्तः+अयम्+पापम्+चरति पूरुषः। अनिच्छन्+अपि वार्ष्णेय ! बलात्+इव नियोजितः॥

अर्जुनः=(पुं०) प्र० ए० व०=अर्जुन। उवाच=√वच्+लिट् प्र० पु०, ए० व०=बोला। अथ=(अव्यय)√अर्थ्+ड, पृषो० 'र' लोप=तो, फिर। केन=(सर्व०) किम्+(पुं०) तृ० ए० व०=किससे। किसके द्वारा।

प्रयुक्तः=(वि०) प्र√युज् (रुधा० उभ० सक०=जोड़ना)+क्त=प्रयुक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=जोड़ा हुआ। प्रयुक्त किया हुआ। नियुक्त किया हुआ। प्रेरित किया हुआ। उकसाया हुआ। [राजा से प्रयुक्त किए हुए सेवक की तरह]।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

पापम्=(नपुं०) पाति रक्षति अस्मात् आत्मानम्। √पा (अदा० पर० सक०=रक्षा करना)+प=पाप+द्विती० ए० व०=पाप को।
[बुरे कर्मों से उत्पन्न होने वाला वह अदृष्ट, जिससे मनुष्य बुरी गति को प्राप्त होता है, पाप कहलाता है।]

चरति=चर् (भ्वा० पर० सक०=आचरण करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=आचरण करता है।

पूरुषः=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति, √पुर्+कुषण् निपा० दीर्घः=पूरुष+प्र० ए० व०=मनुष्य। पुरुष। आदमी।

अनिच्छन्=(वि०) अन्+इच्छन्=न इच्छन् (नञ्०)। √इष् (तुदा० पर० सक०=चाहना)+शतृ=न इच्छत्+(पुं०) प्र० ए० व०=(स्वयं) न चाहता हुआ।

अपि=(अव्यय) भी।

वार्ष्णेय !=वृष्णिगोत्रापत्यम् (वृष्णिकुलप्रसूत)। वृष्णि+ढक्=वार्ष्णेय [(पुं०) सम्बोधन ए० व०]। हे वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण जी !

बलात्=(नपुं०)√बल् (भ्वा० पर० अक०=जीना)+अच्=बल+पंच० ए० व०=बल से। बलात्कार से। शक्ति से। जोर से। धक्के से।

इव=(अव्यय) की तरह। सदृश।

नियोजितः=(वि०) नि√युज्+णिच्+क्त=नियोजित+(पुं०) प्र० ए० व०=अच्छी तरह जोड़ा हुआ। लगाया हुआ। प्रेरित किया हुआ। प्रेरा हुआ॥

अर्थ—अर्जुन बोला—

हे वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण जी ! फिर यह पुरुष किसके द्वारा प्रेरित किया हुआ स्वयं न चाहता हुआ भी (राजा से प्रयुक्त किए हुए सेवक की तरह) बलपूर्वक लगाए हुए की तरह पाप करता है ? ॥ ३६ ॥

व्याख्या—अर्जुन बोला—

हे श्रीकृष्ण जी ! आप अत्यन्त श्रेष्ठ कुल वृष्णि वंश में उत्पन्न हुए हैं जिस के कारण आपकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल और श्रेष्ठ है तथा आपको सब

कुछ भली भाँति ज्ञात और अच्छी तरह विदित है। इसलिए मुझ पर विशेष कृपा करते हुए मेरे इस प्रश्न का उत्तर दीजिए ताकि मेरे मन में उत्पन्न हुई एक बहुत बड़ी शंका दूर हो सके। हे भगवन् ! साधारण पुरुष तो तमोगुण की अधिकता और अज्ञानता के वशीभूत हुए इन्द्रियों के दास बने रहते हैं तथा सदा पापाचरण करते ही रहते हैं; परन्तु पण्डित लोग, ज्ञानी पुरुष और महाज्ञानवान् लोग, जो सदा शुभ कर्म किया करते हैं तथा आत्मा और अनात्मा को जानते हैं, कभी-कभी वे भी, स्वयं मन से न चाहते हुए भी, किसी के द्वारा घसीट कर लाए हुए की भाँति पाप-कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसा बलवान् पापी गुप्त शत्रु कौन है जो इन धर्मात्मा पुरुषों को भी पाप करने के लिए बाध्य या मजबूर कर देता है ? पुराणों और इतिहास के पृष्ठों में बहुत-से ऐसे कथानक लिखे हुए पाए जाते हैं जिनसे महाज्ञानी पुरुषों का भी पथ-भ्रष्ट होना विदित होता है। विश्वामित्र द्वारा वशिष्ठ के पुत्रों का मारा जाना और रेणुका के फंदे में फँस कर शकुन्तला के जन्म का कारण बनना क्या कोई श्रेष्ठ कर्म कहा जा सकता है ? अथवा परशुराम का क्षत्रियों को मारना कहाँ तक उचित कार्य था ? पराशर ऋषि ने एक धीवर-बालिका का सतीत्व भंग किया था। आज कल के ज्ञानवान् साधु-सन्त और महन्त जब गिरने लगते हैं तो फिर रसातल पर पहुँच कर ही विश्राम करते हैं। सर्व साधारण नेता लोगों की लँगोटी तो नित्य ही ढीली दृष्टिगोचर होती रहती है। हे भगवन् ! मुझे तो आपकी इस माया को देखकर बहुत विस्मय और अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है। कई बार यह देखने में आता है कि जिस महापुरुष को लोग गौरीशंकर के सर्वोच्च शिखिर पर बैठा हुआ देखा करते थे, और चढ़ते हुए सूर्य की भाँति सर्वोपहारों से पूजा करते थे, तथा जिसका मस्तिष्क ईश्वर के तेज से देदीप्यमान दृष्टिगोचर होता था, फिर एक दिन लोगों ने देखा था कि उसी महापुरुष के मुख पर न दूर हो सकने वाली कालिमा पुती हुई थी और लोगों ने उसे उठाकर संसार के सबसे निचले स्थान भील मुरदार में फेंक दिया था। हे भगवन् ! मेरे जैसा एक साधारण व्यक्ति इन घृणित घटनाओं को घटित होते देखकर दाँतों-तले अंगुली दबाकर सोचने लगता है कि जब महापुरुषों और पूजनीयों को कोई गुप्त महाशत्रु इस दुर्दशा तक पहुँचा देता है तो साधारण लोग अपनी इन्द्रियों को मन और बुद्धि के अधीन रखने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? कृपया मुझे वह उपदेश दीजिए जिससे मैं उस गुप्त शत्रु को पहचान सकूँ जो स्वयं पाप करने की इच्छा न करने वाले पुरुष को भी बलात्कार से पाप करने के लिए बाध्य कर देता है ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

कामः+एषः+क्रोधः+एषः रजोगुण-समुद्भवः। महा+अशनः महा-पाप्मा विद्धि+एनम्+इह वैरिणम् ॥

श्री भगवान्+उवाच=श्री भगवान् बोले—[विष्णु पुराण में भगवान् का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा ॥ (वि०६।५।७४॥)
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥" (वि० पु० ६।५।७८)

अर्थ—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, वैराग्य और मोक्ष, इन छः का नाम 'भग' है। और जो इन सबसे युक्त है, उसका नाम 'भगवान्' है ॥

तथा जो उत्पत्ति और प्रलय को, भूतों के आने और जाने को, एवं विद्या और अविद्या को जानता है, उसका नाम भगवान् है।

और ये सब गुण श्रीकृष्णचन्द्र जी में विद्यमान हैं इसलिए वे 'भगवान्' कहलाते हैं]।

कामः=(पुं०)√कम् (भ्वा० आत्म० सक०=चाहना)+णिङ्+घञ्=काम +प्र० ए० व०=कामना। अभिलाषा। सब प्रकार की इच्छा। मैथुनेच्छा।

एषः=(सर्व०) एतद्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

क्रोधः=(पुं०)√क्रुध् (दिवा० पर० अक०=कुपित होना)+घञ्=क्रोध+ प्र० ए० व०=रोष। गुस्सा। कोप। क्रोध।

एषः=यह।

रजोगुण-समुद्भवः=(वि०) रजोगुणात् समुद्भवः यस्य सः (बहुव्री०) अथवा-रजोगुणस्य समुद्भवः यस्मात् सः (बहुव्री०) जिसकी उत्पत्ति रजोगुण से हुई है, अथवा जिससे रजोगुण की उत्पत्ति हुई है। रजोगुण से उत्पन्न हुआ या रजोगुण को उत्पन्न करने वाला। [सम्-उत्√भू+अप्=समु-द्भव+(पुं०) प्र० ए० व०=उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने वाला]।

महा+अशनः=(वि०) महद् अशनम् अस्य इति महाशनः (बहुव्री०) बहुत खाने वाला। [(पुं०) प्र० ए० व०]। कभी तृप्त न होने वाला। पेटू। भोजनभट्ट।

['महत्' शब्द समास में 'महा' हो जाता है]। [√अश् (क्र्या० पर० सक०=खाना)+ल्युट्=भोजन करना।]

महापाप्मा=(वि०)[√पा+मनिन्, पुगागम=पाप्मन्+(पुं०) प्र० ए० व०=पाप्मा=पापी] सबसे बड़ा पापी। बहुत-बहुत पापी [काम से ही प्रेरित हुआ जीव पाप किया करता है। अर्थात् तृष्णा ही पापों की माता है]।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व० =(तू) जान ले।

एनम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको। इस काम को।

इह=(अव्यय) इदम्+ह, 'इ' आदेशः=यहाँ इस विषय में। इस संसार में।

वैरिणम्=(वि०) वैर+इनि=वैरिन्+(पुं०) द्विती० ए० व०=शत्रु को। वैरी को। शत्रु। वैरी।

अर्थ—श्री भगवान् बोले —[हे अर्जुन !] रजोगुण से उत्पन्न होने वाला [अथवा रजोगुण को उत्पन्न करने वाला (क्योंकि काम ही रजोगुण को प्रकट करके पुरुष को कर्म में लगाता है)] काम ही (किसी कारण से बाधित होने पर, या अतृप्त हुआ भयानक रूप धारी) क्रोध है। यह बहुत खाने वाला (अर्थात् काम रूप में विषयों से कभी न तृप्त होने वाला और क्रोध रूप में) महापापी है। तू इस (संसार) में इस (काम या क्रोध रूपी) शत्रु को (भली-भाँति) जान ले ।।३७।।

व्याख्या—भगवान् पहले अर्जुन से कह चुके हैं कि काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है; अर्थात् जब तक किसी व्यक्ति की विषय-वासना और कामना पूरी होती जाती है तब तक उस मनुष्य के इस शत्रु का नाम काम ही होता है; परन्तु इच्छा-पूर्ति में विघ्न-बाधा होने से यह काम ही भयानक क्रोध का रूप धारण कर लेता है।

"सेवित विषय विवर्ध जिमि, नित नित नूतन मार" तुलसीदासजी की इस सूक्ति के अनुसार कामवासना कभी तृप्त नहीं होती। मनुष्य जैसे-जैसे विषयों को भोगता जाता है। वैसे वैसे ही उसमें विषयाग्नि बढ़ती जाती है। इस कामना या तृष्णा की क्षुधा की कभी तृप्ति नहीं होती।

चौंतीसवें श्लोक में कहा गया है कि प्रत्येक इन्द्रिय में राग और द्वेष व्यवस्थित रहते हैं। ये दोनों बटमार या मार्ग में मुसाफिरों के लूटने वाले डाकुओं के सदृश हैं। इससे पुरुष को इनके काबू में आने से बचने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना चाहिए। इस श्लोक में उसी राग को न तृप्त होने वाला काम कहा गया है। क्योंकि काम की उत्पत्ति राग से होती है और पुत्र, पिता का रूप ही होता है। इसलिए उसे रजोगुण-समुद्भव कहा गया है। और काम ही फिर रजोगुण को उत्पन्न करता है। क्योंकि काम ही रजोगुण को प्रकट

करके पुरुष को विषयों में लगाता है इस लिए "काम से रजोगुण की उत्पत्ति होती है" यह कहना भी युक्ति-युक्त ही है ।

काम और क्रोध दोनों में काम ही प्रधान या प्रमुख है । इस लिए "काम एष क्रोध एषः" कहा गया है । वास्तव में ये दोनों एक ही चित्र के दो रूप हैं जिसको सीधा देखने से एक सुन्दर हँसता हुआ युवक दिखाई देता है और उलटा करके देखने से क्रुद्ध हुआ भयंकर एक वृद्ध दिखाई देता है । इस चित्र के नाश होने की भाँति यदि काम (या हँसते हुए सुन्दर युवक) का नाश हो जाता है तो क्रोध (क्रुद्ध हुआ भयंकर वृद्ध) भी स्वयं ही नाश को प्राप्त हो जाता है ।

जिस प्रकार समुद्र में अनेक नदियाँ निरन्तर प्रवेश करती चली जा रही हैं और उनका यह कार्य-क्रम अनादिकाल से हो रहा है परन्तु समुद्र की क्षुधा तृप्ति आज तक भी पूरी तरह से नहीं हो सकी है और न भावी में पूरी होने की कोई आशा ही की जा सकती है, इसी प्रकार काम या तृष्णा की तृप्ति भी कभी नहीं होती । कोई पुरुष भोगों को जितना अधिक भोगता जाता है, उसकी उतनी ही अधिक भोग-तृष्णा बढ़ती जाती है । महाभारत में लिखा है—

"अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ।
विनाशयति भूतानि साऽयोनिज इवानलः ॥"

(महा० ३।२।३७)

(अर्थ—वह तृष्णा आदि और अन्त से रहित है । वह प्राणियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर अयोनिज (बिना कारण ही उत्पन्न हुई) अग्नि के समान उन्हें नष्ट कर देती है ।)

यह तृष्णा निस्सन्देह सब पापों से युक्त होती है । मनुष्य को अधर्म और घोर पाप-कर्मों में लगा देती है । काम का दूसरा रूप क्रोध भी कुछ कम पापी नहीं है जिसके सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है—

"क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसञ्चितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥"

(अर्थ—निःसन्देह क्रोध यतियों के कष्टों से संचित किए हुए धर्म को हर लेता है । फिर धर्महीन यतियों को गति इष्ट [मनचाही और शुभ] नहीं होती ।) ।

कई लोग कहा करते हैं कि सब भोगों को भोग लेने के बाद ही ठीक भक्ति हो सकती है, क्योंकि एक बार अच्छी तरह तृप्त हुई इन्द्रियाँ फिर भोगों की वासना नहीं किया करतीं, जिससे फिर उनके द्वारा भक्ति के भङ्ग होने का सन्देह नहीं रहता । अर्थात् तृप्त हुई ये इन्द्रियाँ फिर समाधि में विघ्न नहीं डालतीं ।

परन्तु मनुष्य का ऐसा समझना तो उसकी एक महा-भूल है। क्योंकि सदा संसार और व्यवहार में उनके कथन से विपरीत ही देखा जाता है। जो लोग पोस्त, अफ़ीम और मद्य आदि का एक बार सेवन कर लेते हैं फिर आजीवन ये मादक पदार्थ उन प्राणियों का संग नहीं छोड़ते। इसी प्रकार सामदाम नीति से इस महाशन, महापापी काम-क्रोध पर विजय प्राप्त करना असम्भव है। इसका दमन तो दण्डनीति द्वारा ही किया जा सकता है। मनुष्य को बिना इच्छा ही पाप कर्मों में निरत करने वाला केवल काम ही है जो उसे भोगों में आसक्त करके बलपूर्वक पापों में प्रवृत्त कर देता है। इस विषय में प्रारब्ध और परमेश्वर तो तटस्थ ही होते हैं। इसलिए तू इस सच्ची बात को अच्छी तरह जान ले कि यह काम ही तेरा सबसे बड़ा शत्रु है। इस काम-रूप शत्रु को तू भली-भाँति पहचान ले, ताकि यह बहुरूपिया कभी क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार का वेश परिवर्तन करके भी तेरा अहित या नाश न कर सके। परमेश्वर तो परम दयालु और सबका हितकारी है। वह तो किसी को भी पाप-कर्मों में नियुक्त नहीं करता है। पूर्व के जन्मों में किए हुए कर्मों के भोग का नाम प्रारब्ध है, वह किसी को पापों में प्रवृत्त करने की सामर्थ्य ही नहीं रखता। इसलिए पापों में प्रवृत्त करने वाला केवल काम ही है॥

विषयों का ध्यान करते रहने से उनमें पुरुष का अनुराग दृढ़ हो जाता है जिससे मनुष्य में कामवासना उत्पन्न हो जाती है। वासना की पूर्ति में बाधा पड़ जाने से काम ही क्रोध का रूप धारण कर लेता है। क्रोध से अविवेक की उत्पत्ति होती है। अविवेक स्मृति को नष्ट कर देता है; और अच्छे-बुरे का विवेक न रहने से बुद्धि भी नाश हो जाती है; फिर बुद्धि का नाश मनुष्य का सर्वनाश कर देता है।

इससे भी सिद्ध होता है कि सब अनर्थों का मूल कारण काम ही है। मनु० (२।९४,९५) में लिखा है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ ९४॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥ ९५॥

[अर्थ—काम कभी मनचाहे भोगों से भी शान्त नहीं होता। बल्कि घी आदि डालने से जैसे अग्नि अधिक प्रचण्ड होती है, वैसे ही यह काम भी भोगों के भोगने से और अधिक बढ़ता है॥ ९४॥

इस पृथिवी में जितने जौ, चावल आदि अन्न, स्वर्णादि धन, गौ, घोड़े आदि पशु और पद्मिनी-चित्रिणी सुन्दर स्त्रियाँ आदि सकल पदार्थ भी कामना

वाले किसी एक ही पुरुष को प्राप्त हो जाएं, तो भी वे उसकी महदाकांक्षा को तृप्त नहीं कर सकते, ऐसा जान कर पुरुष काम के वशीभूत कभी न हो ॥६५॥]
स्वभाव और वासना या काम के भेद को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। स्वभाव तो पूर्व कर्मों के अनुसार जन्म के साथ ही उत्पन्न होता है; परन्तु वासना या काम जन्म से बहुत चिर काल बाद विषयों में आसक्ति होने से प्रादुर्भूत होता है। स्वभाव का नाश कर देने से प्राणी का स्वयं नाश हो जाता है; परन्तु काम का विरोध करने से प्राणी की प्रगति और ऊर्ध्वगति होती है। इसी से स्वाभाविक कर्म प्राणी को किसी प्रकार के बन्धन में डालने का कारण नहीं बनते और न पुनः जन्म दिलाने वाले ही होते हैं। परन्तु काम्य कर्म मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में डाल देते हैं। पशुओं के सब कर्म स्वाभाविक होते हैं, इसलिए पशु-योनि भोग-योनि कहलाती है। परन्तु मनुष्यों में स्वाभाविक और काम-जन्य दोनों प्रकार के कर्म होते हैं इससे मनुष्य कर्म-योनि कहलाते हैं। अतः मनुष्य का ही ऐसा जन्म है, जिसमें निष्काम कर्म करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसलिए काम-क्रोध आदि सब शत्रुओं से बचना चाहिए। और भगवान् द्वारा बतलाए हुए मार्ग पर चलकर मोक्ष-प्राप्ति का भरपूर प्रयत्न करना चाहिए ॥

इस श्लोक पर श्री ज्ञानेश्वरजी की सुन्दर व्याख्या इस प्रकार है—

"इस पर योगियों के निष्काम मन में रमण करने वाले पुरुष-श्रेष्ठ श्री-कृष्णजी ने कहा—

हे अर्जुन ! मैं बतलाता हूँ। सुनो भाई ! यह बलात्कार करने वाले काम और क्रोध ही होते हैं। इन में करुणा का लेश भी नहीं होता। ये काल के समान निष्ठुर होते हैं। ये ज्ञान रूपी सम्पत्ति को घेरकर बैठने वाले काल-सर्प हैं। अथवा ये विषयों की खाई में रहने वाले बाघ हैं। अथवा इन्हें ईश्वर-भक्ति के मार्ग में डाका डालने वाले प्राण-घातक दस्यु ही समझो।

वास्तव में इनकी उत्पत्ति तो रजोगुण से हुई है, पर जान पड़ता है कि तमोगुण को ये बहुत अच्छे लगते हैं।

ये काम और क्रोध प्राण लेने वाले हैं, इसलिये मृत्यु की राजधानी में इनका बहुत सम्मान है। जब एक बार इनकी भूख शुरू होती है, तब समस्त विश्व भी इनके एक ग्रास मात्र के लिए पर्याप्त नहीं होता।

क्रोध ने साधु मण्डली तक को भी भ्रष्ट कर दिया है। विवेक का आश्रम उजाड़ दिया है। वैराग्य के शरीर पर का चमड़ा उधेड़ दिया है। उपशम का गला घोंट डाला है। सन्तोष का वन उजाड़ डाला है। धैर्य का कोट गिरा दिया है। आनन्द का चन्दन-वृक्ष उखाड़ फेंका है। उपदेश का पालिश खुरच

डाला है। सुख के अक्षर मिटा दिए हैं।

संसार के अन्तःकरण में तीनों तापों की आग लगा दी है।

ये काम-क्रोध बिना पानी के ही डुबो देते हैं। बिना अग्नि के ही जला देते हैं" ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

धूमेन+आव्रियते वह्निः+यथा+आदर्शः मलेन च। यथा+उल्बेन+आवृतः+गर्भः+तथा तेन+इदम्+आवृतम् ॥

धूमेन=(पुं०)√धू (स्वा० भ्वा० उभ० सक०=हिलना, कांपना)+मक्=धूम+तृती० ए० व०=धुएँ से। (अन्धकार रूप) धुएँ से।

आव्रियते=आ√वृ (चुरा० उभ० सक०=छिपाना। ढकना)+कर्मवाच्य, लट्० प्र० पु०, ए० व०=ढका जाता है। ढक जाता है। आच्छादित होता है।

वह्निः=(पुं०)√वह् (भ्वा० उभ० सक०=ले जाना। ढोना)+नि=वह्नि+प्र० ए० व०=देवताओं के लिए आहुति ले जाने वाला। अग्नि। (प्रकाशात्मक) आग।

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=जिस प्रकार। जैसे। ज्यों।

आदर्शः=(पुं०) आ√दृश्+घञ्=आदर्श+प्र० ए० व०=दर्पण।

मलेन=(पुं०, नपुं०) मृज्यते शोध्यते,√मृज् (अदा० पर० सक०=शुद्ध करना)+अलच्, टि लोप=मल। अथवा—मलेन धारयति व्याध्यादि-दौर्गन्ध्यम्, √मल् (भ्वा० आत्म० सक०=अन्धकार में फेंकना)+अच्=मल+तृती० ए० व०=मल से। मैल से।

च=(अव्यय) और।

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=जैसे। जिस तरह। ज्यों।

उल्बेन=(नपुं०) √उच् (दिवा० पर० सक०=इकट्ठा करना)+ब (व), चस्य लत्वम्=उल्ब, उल्ब+तृती० ए० व०=उल्ब से। जरायु से। गर्भाशय में बच्चे को ढकने वाली झिल्ली से। जेर से, गर्भवेष्टन से।

आवृतः=(वि०) आ√वृ (चुरा० उभ० सक०=छिपाना। ढकना)+क्त=आवृत+(पुं०) प्र० ए० व०=ढका हुआ है।

गर्भः=(पुं०)√गृ (भ्वा० पर० सक०=छिड़कना)+भन्=गर्भ+प्र० ए० व०=शुक्र-शोणित के संग से उत्पन्न मांसपिण्ड। गर्भ का बच्चा। गर्भ।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण। तद्+थाल्=वैसे। उसी प्रकार।

तेन=(सर्व०) तद्+(पुं०) तृती० ए० व०=उससे। उस काम से। उस तृष्णा से।
इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह (ज्ञान)।
आवृतम्=आ√वृ+क्त=आवृत+(नपुं०) प्र० ए० व०=ढका हुआ है।

अर्थ=जैसे (अन्धकार-मय) धुएँ से (प्रकाशात्मक) अग्नि, और (मलीन) मल से (शुद्ध प्रतिबिम्ब बनाकर दिखा देने वाला) दर्पण ढक जाता है। तथा जैसे (जड़ पदार्थ) उल्ब (जरायु या जेर) से (चेतन स्वरूप) गर्भ (भ्रूण या शिशु) ढका हुआ (होता) है, वैसे (ही) उस (काम) से यह (ज्ञान) ढका हुआ (होता) है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—इससे पहले श्लोक में काम को मनुष्य का वैरी बताया गया है और फिर कहा गया है कि तू भोगों से कभी न तृप्त होने वाले और क्रोध-रूप धारण करने वाले उस महापापी काम को भली प्रकार जान और पहचान ले। और इस श्लोक में 'तेन' या 'उसके द्वारा' ही कहा गया है जिस का अर्थ यहाँ 'उस काम के द्वारा' है। 'इदम्' (यह) सर्वनाम अगले श्लोक में वर्णित 'ज्ञान' के लिए है और उसी के अनुसार नपुंसकलिंग 'आवृतम्' पद प्रयुक्त किया गया है।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! 'ज्ञान' तो सब के हृदय में विद्यमान होता है। परन्तु 'विक्षेप', 'मल' और 'आवरण' ये तीन कारण ऐसे हैं जिन के कारण वह ज्ञान ढका हुआ या छिपा रहता है। जिसके न दिखाई देने से मनुष्य को आत्मस्वरूप की प्रतीति या शरीर-स्थित परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। जैसे किसी स्थान पर अग्नि तो मौजूद है परन्तु उससे ज्वाला नहीं निकल रही है और उसके स्थान पर धूम्राली फैल कर आँखों को अन्धा कर रही है। सब ओर इतना अधिक धुआँ फैला हुआ है कि जिससे उस स्थान पर व्यापक अग्नि दिखाई नहीं देती। यह धुआँ इधर-उधर, नीचे-ऊपर दशों दिशाओं में फैलकर घूमता हुआ अग्नि को ढाँपे रखता है। इसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि को मन में छाया हुआ 'विक्षेप' ढके रखता है। जो मन की चंचलता, विषयों के चिन्तन, विकलता, बेचैनी, मोह, लोभ और अहं-कारादि रूपी गीली लकड़ियों से उत्पन्न होता है और चंचल धुएँ की तरह 'अज्ञानता' रूपी अन्धकार को फैला देता है और ज्ञान-रूपी अग्नि के प्रकाश को प्रकट नहीं होने देता। इस विक्षेप के कारण मन सदा चंचल बना रहता है, फिर मन की एकाग्रता के अभाव से आत्म-स्वरूप के दर्शन नहीं होते। जैसे वायुवेग से अथवा किसी और कारण से हिल रहे स्वच्छ जल में भी प्रति-बिम्ब दिखाई नहीं देता ॥

ज्ञान को ढकने वाला दूसरा दोष 'मल' है। जब वह मोह-माया रूप अन्तः-करण में बढ़ जाता है तो भी परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता। जैसे स्नेह, तेल, ग्रीस या घी आदि चिकने पदार्थों में रज या धूलि के मिल जाने से जो मैल बनता है वह मल या मैल दर्पण के ऊपर के तल पर चढ़ जाने से दर्पण अन्धा हो जाता है फिर उसमें प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता इसी प्रकार ज्ञान-रूपी निर्मल दर्पण पर स्नेह, मोह, रज, तम आदि के एकत्रित हो जाने से एक प्रकार का मल उत्पन्न हो जाता है। जिससे फिर अन्धे दर्पण की तरह अन्तःकरण में रहने वाला ज्ञान मल-रूपी दोष से ढक जाता है। उससे फिर अन्तःकरण में आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, अर्थात् परमात्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता।

ज्ञान को ढकने वाला तीसरा दोष 'आवरण' कहलाता है। जैसे शिशु गर्भ के भीतर झिल्ली में हाथ-पाँव सुकेड़ कर छिपा रहता है। उसका कोई अंग भी नंगा नहीं होता। उस पर सदा निद्रा और आलस्य छाए रहते हैं। उसी प्रकार आवरण द्वारा अन्तःकरण में ज्ञान सर्वथा ढका रहता है, ऐसा पुरुष सदा आलस्य और निद्रारत रहता है। इस प्रकार काम के तीन रूप विक्षेप, मल और आवरण ज्ञान को ढका हुआ किए रखते हैं। विक्षेप से मनुष्य के मन में नाना प्रकार के भोगों की लालसा, तृष्णा या कामना उत्पन्न होती है जिससे पाप-कर्मों में प्रवृत्ति होकर मन में मल की अधिकता हो जाती है जिससे बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है। तब उसे शुभाशुभ कुछ भी सूझता नहीं है तथा भले-बुरे की कुछ भी पहचान नहीं रहती। मोह, मद, अहंकार, आलस्य, निद्रा आदि दुर्गुण सदा घेरे रहते हैं। ज्ञान का अभाव होने से आत्म-स्वरूप कभी दिखाई ही नहीं देता। जिससे फिर मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है ॥

काम के कारण मनुष्य को अपना असली स्वरूप भी अन्यथा ही मालूम होने लगता है। जैसे धुएँ या राख से ढकी हुई अग्नि अपने कार्य (प्रकाश) को प्रकट नहीं करती। मल से ढका हुआ दर्पण प्रतिबिम्ब-रूप कार्य को करने में असमर्थ हो जाता है। जरायु या जेर से ढका हुआ गर्भ अपने हाथ-पाँव हिलाकर अपना आप प्रकट नहीं कर सकता। इसी प्रकार काम से ढका हुआ ज्ञान भी न बुद्धि में प्रकाश और न निष्काम कर्म करने का तेज उत्पन्न करता है। न आत्मसाक्षात्कार कराने का कारण बनता है। न पाप-कर्मों से हटाने, न मोह, मद, अहंकार, निद्रा और आलस्य आदि से बचाने का कोई उपाय करता है। इसलिए इस काम-रूप शत्रु से बचना चाहिए। यह ज्ञान काम के बिना किसी काल में ही देखा जाता है। जिस प्रकार साधारण अग्नि सब जगह

धूम्र-सहित ही होती है, परन्तु अति देदीप्यमान विद्युत् बल्ब धूम्र-रहित भी होते हैं। दर्पण पर मल जमता ही रहता है। गर्भ भी तभी झिल्ली से रहित होता है जब शिशु जन्म लेकर उदर से बाहर आ जाता है। चावल तुष से बाहर निकलकर ही स्वच्छ और खाने आदि के प्रयोग में लाने योग्य होता है। यदि चावल तुष से ढका हुआ हो तो उसका नाश होकर वह पौधे के रूप में जन्म लेता है। इसी प्रकार विक्षेप, मल और आवरण से युक्त अन्तःकरण में स्थित ज्ञान सदा जन्म-मरण का कारण बना रहता है।

इस प्रकार छाल या छिलके उतार कर ही सब सब्जियां और फल प्रयोग में लाए जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान भी काम के इन तीनों रूपों—विक्षेप, मल और आवरण—को दूर करने से ही देदीप्यमान, निर्मल, स्वच्छ और प्रकट होता है। जिस ज्ञान-रूपी सूर्य के उदय होते ही विषय-रूपी चोर-चकार और अज्ञान के सखा मोह-माया रूपी अन्धकार सब विलीन और नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। पाप रूपी उल्लू, चमगादड़ और सिंह, बाघ तथा सर्पादि अपने-अपने स्थानों में जाकर छिप जाते हैं। स्थूल शरीर की उत्पत्ति से पूर्व यह काम सूक्ष्म रूप में सूक्ष्म शरीर में स्थित रहता है। स्थूल शरीर की प्रगति होने पर अन्तःकरण में उद्भूत होता है। फिर विषयों के निरन्तर चिन्तन से लगातार प्रबल होता जाता है। विषय-भोग भोगने से अत्यन्त प्रौढ़ावस्था धारण कर लेता है। और अन्त में ज्ञान का सुदृढ़ आवरण बन जाता है। धुएँ से ढकी हुई अग्नि भी जलाती है। मल से ढके हुए दर्पण में भी प्रतिबिम्ब का कुछ आभास होता ही है। पेट के फूला हुआ होने से जरायु में ढके हुए शिशु की विद्यमानता का पता भी लगता है। इसी प्रकार काम से ढका हुआ ज्ञान भी अपनी विद्यमानता का थोड़ा-बहुत पता देता ही है। इसलिए मनुष्य को भक्ति की तेज नश्तर से ज्ञान के ऊपर चढ़ा हुआ काम-रूप, पर्दा फाड़ डालना चाहिए, नहीं तो काम से ढका हुआ ज्ञान कुछ भी कार्य न कर सकेगा। हिलना-डुलना तो एक ओर, सांस भी न ले सकेगा॥ ३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

आवृतम्+ज्ञानम्+एतेन ज्ञानिनः+नित्य-वैरिणा। काम-रूपेण कौन्तेय! दुष्पूरेण+अनलेन च॥

आवृतम्=(वि०) आ√वृ (चुरा० उभ० सक०=छिपाना)+क्त=आवृत+(नपुं०) प्र० ए० व०=छिपा हुआ है। ढका हुआ है।

ज्ञानम्=(नपुं०)+ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+ल्युट्=ज्ञान+प्र० ए० व०=बोध। ज्ञान। आत्म-बोध।

एतेन=(सर्व०)=एतद्+(नपुं०) तृती० ए० व०=इसके द्वारा। इससे।
ज्ञानिनः=(वि०)+ज्ञान+इनि=ज्ञानिन्+षष्ठी० ए० व०=ज्ञानी के।
नित्य-वैरिणा=(वि०) नित्यनियमेन भवः, नि+त्यप्=नित्य [=सदा रहने वाला]। वैर+इनि=वैरिन्+(नपुं०) तृती० ए० व०, नित्य वैर करने वाले से। नित्य के वैरी द्वारा। सदा के शत्रु द्वारा।
काम-रूपेण=(नपुं०) तृती० ए० व०=काम के रूप से। काम-रूप द्वारा।
कौन्तेय !=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन) !
दुष्पूरेण=(वि०) दुःखेन पूरणम् अस्य इति दुष्पूरः, तेन (अनलेन)=कष्ट से पूर्ण (तृप्त) होने वाली (अग्नि) से। दुस्+पूर=दुष्पूर+(पुं०) तृती० ए० व०=कठिनता से भरी या तृप्त की जाने वाली से।
अनलेन=(पुं०) न अस्य अलं पर्याप्तिः विद्यते, इति अनलः, तेन=बहुत सी जलाने योग्य वस्तुओं को जला कर भी जिसकी तृप्ति नहीं होती, उसका नाम अनल (=अग्नि) है। अग्नि से।
च=(अव्यय) और।

अर्थ—हे कुन्ती-पुत्र (अर्जुन) ! इस अग्नि जैसे न पूर्ण (तृप्त) होने वाले, ज्ञानियों के (पथ-भ्रष्ट करने वाले) काम-रूप नित्य वैरी से (ज्ञानियों का) ज्ञान (भी) ढका हुआ (हो जाता) है ॥ ३९ ॥

व्याख्या—हे बुद्धिमती भूआ कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! ज्ञानी तो पहले ही जानता है कि "यह काम अनर्थों में नियुक्त करने वाला है। और मेरा यह नित्य-वैरी है।" परन्तु मूर्ख इस काम को कभी अपना वैरी नहीं मानता। क्योंकि वह तो तृष्णा के समय उसको मित्र के समान समझता है और उस मित्र की वृद्धि और प्रगति के लिए काम-मोदक, सिद्ध मकरध्वज, कई प्रकार की भस्मों, मूसली, शतावर, चोबचीनी और शिलाजीत आदि काम-वर्द्धक दवाइयों का सेवन करता है और शरीर को इतर-फुलेल और चन्दन से चर्चित करता है। सुवासित रेशमी वस्त्र धारण करता है। आँखों में काजल लगाता है। होठों को पान की सुर्खी से रागयुक्त करता है। बालों को स्निग्ध और भ्रमर-सरीखे काले, चमकीले और फैशनेबल बनाता है। गले में सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ धारण करता है। और भी अनेक कामवर्द्धक उपचारों से शरीर को सजाकर काम का घोड़ा बनाता है। अफ़ीम, मद्य-मांस खा-पीकर ज्ञान को बुद्धि के सहित ही अज्ञान के गहरे गर्त में दबा देता है। इसलिए यह काम केवल ज्ञानी का ही वैरी है, मूर्ख का नहीं।

सांसारिक विषय-भोगों की कामना का नाम ही 'काम' है। और यह

काम अग्नि के समान दुष्पूर है—अर्थात् जिसकी तृप्ति कभी नहीं होती। अपितु "सेवित विषय विवर्ध ज्यों नित-नित नूतन मार।" अर्थात् विषयों को ज्यों-ज्यों भोगते जाओ, उतनी ही भोगों की तृष्णा अधिक बढ़ती जाती है। जैसे अग्नि में समिधा और घृतादि हव्य द्रव्य ज्यों-ज्यों डालते जाएं, त्यों-त्यों अग्नि और अधिक भड़कती जाती है। 'अनल' शब्द में नञ् बहुव्रीहि समास है, जिसका भाव यह है कि बहुत से जलाने योग्य पदार्थों को जलाकर भी जिसकी तृप्ति नहीं होती, उसका नाम 'अनल' है। इसी प्रकार सब प्रकार के विषयों की कामना-रूप कामाग्नि की भी तृप्ति नहीं होती, बल्कि भोगों को भोगने पर उसकी भूख और अधिक बढ़ती जाती है। भूतपूर्व महाराजा पटियाला के एक सचिव श्री जर्मनी दास ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि एक भूतपूर्व महाराजा के राजमहल में तीन सौ से अधिक रानियाँ कामवासना की पूर्ति के हेतु रखी हुई थीं और इस पर भी अनेक अनुचर अन्य सुन्दर लड़कियाँ ढूंढ़ लाने के लिए नियुक्त किए हुए थे। यही हाल भारत के अन्य बहुत-से भूतपूर्व राजाओं और नवाबों का था जिनकी काम-वासना कभी तृप्त नहीं होती थी। यही दुष्कर्म अनेकों ख्यातिलब्ध बड़े-बड़े डेरेदार साधु, महात्मा, ज्ञानी, वैरागी, संन्यासी और त्यागी कहलाने वाले बहुत से लोग भी किया करते थे। सर्व साधारण जनता इनके चरणों को धोती और पूजती थी तथा जो लोग अपने वचनों की अमृत-वर्षा भी किया करते थे। वर्तमान महात्मा लोग इस ढिठाई के लिये मुझे क्षमा करें, मैं उन ज्ञान-वेत्ताओं के चरणकमलों में सिर रखकर अभिवादन करता हूं जो गंगा-जल-तुल्य शुद्धाचरण और निर्मल चरित्र वाले हैं और जिनके चरित्रों को देखकर सर्व साधारण को भी शुद्धाचरण से रहने के लिए प्रेरणा मिलती है। मेरा संकेत तो केवल उन लोगों की ओर है जो साधु-समाज को कलंकित करने के लिए साधु रूप में सांडों का-सा आचरण किए हुए हैं और अपने कुकर्मों के कारण लज्जित भी नहीं होते। इसी प्रकार अन्य सब इन्द्रियों के विषय भी सेवन करने से उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। श्रीमद्भागवत (९।१९।१४) में बहुत भोग भोगने के बाद राजा ययाति ने कहा है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥"

[अर्थ—विषयों के उपभोग से काम कभी शान्त नहीं होता। यह तो घृत डालने से अग्नि की तरह और अधिक बढ़ जाता है ॥] हे कौन्तेय ! जब यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति के लिए साधन में लगे हुए विवेकशील साधक लोग भी इस महाशत्रु काम के चुंगल में फँस कर पथ-भ्रष्ट हो सकते हैं तो साधारण

पुरुषों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। वे तो नित्य-प्रति काम के ही चेरे बने रहते हैं और उनकी पैसे की भूख तो कभी शान्त ही नहीं होती। जीभ के स्वाद के लिए वे लोग हिंसादिक घोर पापों में रत रहते हैं। दर्शं-स्पर्श और श्रवणादि सब विषयभोग तो उनका अधःपतन करते ही हैं।

स्त्री-भोग सब कामनाओं में मुख्य होने से नरक का द्वार कहा गया है और शेष सब वासनाएँ उसका अनुसरण करती हैं तथा उसकी पूर्ति का साधन बनी रहती हैं। इसलिए सब कामनाओं का नाम 'काम' ही रखा गया है। और यह काम अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाला है और वह ज्ञान पर पर्दा डालने वाला है। अर्थात् थोड़ी-सी असावधानी होने पर भी उसके ज्ञान, विवेक और वैराग्य को नष्ट कर देने वाला है। निष्काम कर्म भाव को तो कभी उत्पन्न ही नहीं होने देता। प्रभु-भजन-कीर्तन, पूजा, पाठ, दान, पुण्य, और तीर्थयात्रा इत्यादि शुभ कर्मों के करने के लिये जो इच्छा उत्पन्न होती है उसका नाम काम नहीं है। क्योंकि ऐसी शुभेच्छा तो अन्तः करण की शुद्धि करके ईश्वर की प्राप्ति का साधन बन जाती है। केवल वही इच्छा काम कहलाती है जो विषय-वासनाओं में फँसाकर नरकों में ले जाने का कारण बनती है।

जैसे आक्सीजन या प्राण-वायु के संयोग से अग्नि अति तेजी से जल उठती है और उसको ढकने वाला धुआँ नष्ट हो जाता है। तथा जैसे साबुन, सोडा और राख आदि के द्वारा दर्पण का मल दूर हो जाता है। अथवा गर्भ में रहने वाले शिशु के संपूर्ण अंग पूरी तरह बन चुकने के बाद बच्चा झिल्ली के पर्दे को फाड़ कर बाहर निकल आता है। इसी प्रकार किसी महापुरुष सद्गुरु के उपदेश से अग्नि के समान कभी न तृप्त होने वाला काम रूप ज्ञानियों का नित्य वैरी नष्ट हो जाता है। फिर इस काम-रूप पर्दे के फट जाने से ज्ञान नंगा हो जाता है और ज्ञान-गंगा बहने लगती है। साथ ही ज्ञान का प्रचण्ड सूर्य उदय हो जाता है जिसके प्रकाश में साधक बड़े सुख से चलकर अपने लक्ष्य ब्रह्मधाम में पहुँच जाता है। डोडे, अफीम, शराब आदि सब नशे अज्ञानी को बहुत सुखप्रद मालूम होते हैं, परन्तु धीरे-धीरे उसके तन, मन, धन और स्वास्थ्य का सर्वनाश कर देते हैं। परन्तु ये सब मादक पदार्थ ज्ञानी की दृष्टि में भोग-काल में भी शत्रु होते हैं और अन्त-काल में भी शत्रु के सदृश हानिकारक होते हैं। यही हाल अज्ञानी और ज्ञानी के लिए सब कामनाओं की पूर्ति का है। ये तृष्णाएँ शत्रुओं की भाँति मन, बुद्धि और इन्द्रियों को कभी शान्त नहीं होने देतीं, बल्कि उत्तरोत्तर अपना बिस्तार ही करती चली जाती हैं। और मनुष्य को सदा आवागमन के चक्र में फँसाए

रखती हैं। काम रजोगुण का विकार है जो प्रकाशात्मक 'ज्योतिषां ज्योतिरेक:' अन्त:करण या मन को ढक लेता है जिससे वह मन विवेक की ओर न झुक कर आत्म-साक्षात्कार नहीं कर सकता। उस समय यह काम मनुष्य की बुद्धि को भी किंकर्तव्यविमूढ बना देता है। इसलिए यह काम ज्ञानी पुरुष का नित्य वैरी कहलाता है ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि मनः+बुद्धिः+अस्य+अधिष्ठानम्+उच्यते । एतैः+विमोहयति+एषः+ज्ञानम्+आवृत्य देहिनम् ॥

इन्द्रियाणि=(नपुं०) प्र० ब० व०=(दस) इन्द्रियां। मनः=(नपुं०) √मन्+असुन्=मनस्+प्र० ए० व०=मनः=प्राणियों में वह शक्ति, जिसके द्वारा उनको वेदना, संकल्प, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है, मन, चित्त या अन्त:करण कहलाती है। मन।

बुद्धिः=(स्त्री०) प्र० ए० व०। जानने, समझने और विचार करने की शक्ति। बुद्धि।

अस्य=(सर्व०) इदम्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=इसके। इस काम के। इस काम का।

अधिष्ठानम्=(नपुं०) अधि√स्था+ल्युट्=अधिष्ठान+प्र० ए० व०=आधार। रहने का स्थान। निवास-स्थान (तीन प्रकार के कमरों वाला)।

उच्यते=√वच्+कर्म-वाच्य, लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है।

एतैः=(सर्व०) एतद्+तृती० ब० व०=इन (इन्द्रियों, मन और बुद्धि तीनों) के द्वारा।

विमोहयति=वि√मुह् (दिवा० पर० अक०=मोहित होना)+णिच्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=मोहित करता है।

एषः=(सर्व०) एतद्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह। यह काम।

ज्ञानम्=√ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान (नपुं०)+द्विती० ए० व०=ज्ञान को।

आवृत्य=आ√वृ (चुरा० उभ० सक०=ढकना)+ल्यप्=ढक कर।

देहिनम्=(पुं०) देह+इनि=देहिन्+द्विती० ए० व०=देहधारी को। मनुष्य को ॥

अर्थ—इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि (इन तीन कक्षों वाला) इस (काम) का निवास-स्थान कहा जाता है। यह (काम) इन (इन्द्रियों, मन और बुद्धि)

के द्वारा (ही) ज्ञान को (अज्ञानता के पर्दे से) ढककर (इस) जीवात्मा को विमोहित करता है ॥ ४० ॥

व्याख्या—शब्द का विषय भोगने वाला कान है। त्वचा स्पर्श-सुख अनुभव करती है। नेत्र रूप के लोभी होते हैं। 'रसना' स्वाद और रसों का आस्वादन करती है। गन्ध के विषय का सम्बन्ध नाक से होता है। ये पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं जो अपने-अपने विषयों का उपभोग अपने भीतर रहने वाले काम के लिए करती हैं। इनके अतिरिक्त पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं जो अपनी-अपनी क्रियाओं में सदा प्रवृत्त होती हैं। 'वाक्' से वचन बोले जाते हैं। हाथों से आदान-प्रदान किया जाता है। पाँवों द्वारा गमन-क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। उपस्थ मूत्र-त्याग और आनन्द-प्राप्ति का कारण है। पायु द्वारा मल का त्याग होता है। इस प्रकार ये दसों इन्द्रियाँ काम के निवास-स्थान के दस कमरों वाला पहला कक्ष या भाग है। काम के आवास का दूसरा कक्ष मन है जिसमें स्थित होकर वह संकल्प-विकल्प और विषयों का चिन्तन करता है। काम की कोठी का तीसरा कक्ष बुद्धि है जिसमें बैठकर वह करने योग्य कर्म का निश्चय करता है ॥

इस प्रकार विषयों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान-प्रदान, गमन, आनन्द, संकल्प और निश्चय आदि के द्वारा काम प्रकट होता है। और इन सब विषयों के मूल कारण इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं जो काम के निवास के तीन भाग या कक्ष कहे जाते हैं। इस तीनों भागों से बने हुए एक विशाल भवन में काम रूप शत्रु निवास करता है और प्राणियों के ज्ञान को अज्ञान-रूप अन्धकार से आच्छादित करके जीवात्मा को विमोहित कर देता है। इस शत्रु से मनुष्य बहुत बड़ा धोखा खाता है तथा मोह और भ्रम आदि में पड़कर अपने मुक्ति-मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।

जब ये इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि मनुष्य के ज्ञान के अधिकार को न मान कर काम के वशीभूत होकर बरतने लगते हैं, तो यह काम-रूप शत्रु प्राणी का सर्वनाश कर देता है। इसलिए इस शत्रु को जीत कर उसे इस कोठी के तीनों कक्षों से बाहर धकेल देना चाहिए और फिर ज्ञान को राजा बनाकर (देह-रूपी दिल्ली के) इन निवास-स्थानों पर उसका अधिकार करा देना चाहिए ताकि पुरुष को परम सुख की प्राप्ति हो सके।

प्राणी के जन्म-काल में यह काम-रूप शत्रु इन्द्रियों, मन और बुद्धि में नहीं होता। जब जीव बढ़ने लगता है तब काम-रूप शत्रु भी व्यापारी का वेष धारण करके शरीर में प्रवेश करने लगता है और चिकनी-चुपड़ी बातें करके देही को अपने माल की झलक दिखाने लगता है तथा प्राणी को नाना प्रकार

के मन लुभाने वाले हरे बाग़ दिखाकर मोहित कर लेता है जिससे उसे हितकारी समझकर उसे इन्द्रियों, मन और बुद्धि-रूपी शरीर (सूरत शहर) की तीन कोठियों में रहने के लिए अनुमति मिल जाती है। फिर वह इन स्थानों में रहकर सब प्रकार के जोड़-तोड़ करने लगता है। अन्त में सारे शरीर (भारत) पर अपना अधिकार कर लेता है और उसके मानचित्र को अपने अनुराग से लाल रंग में रँग देता है। तब फिर अपनी मनमानी करने लगता है और शरीर को विषय-भोगों की अधिकता से कमज़ोर और कृश करके क्षयरोग का रोगी बना देता है जिससे पुरुष केवल हड्डियों का, बिना मांस का, पंजर बनकर रह जाता है। शरीर का सारा रक्त चूस लेता है। आत्मा को कुचल देता है। परन्तु इस अवस्था में भी यदि कोई कामिल गुरु महात्मा (गान्धी) मिल जाए और सारे शरीर पर अधिकार जमाए हुए सुन्दर कोठियों में रहनेवाले इस महाभयंकर शत्रु से शाँतिपूर्ण लड़ाई का ढंग बतला दे, तो परस्पर एकता करके और शत्रु से असहयोग करके उसे शरीर से बाहर निकाला जा सकता है।

आज से कई शताब्दियों पूर्व ठीक इसी प्रकार की एक घटना भारत में भारत-वासियों के साथ घटित हुई थी। काम रूपी अंग्रेज शत्रु सौदागर का रूप धारण करके भारत में आया था और भारत के मुगल शासक जहाँगीर को प्रसन्न करके सूरत आदि नगरों में कोठियाँ बना कर रहने लगा था। सम्राट् शाहजहाँ को प्रसन्न करके उसने सारे देश में व्यापार करने की अनुमति ले ली थी। फिर फर्रुखसीयर से बिना कर दिए माल बेचने का पट्टा प्राप्त कर लिया जिससे अंग्रेज का माल अधिक और सस्ता बिकने लगा। इस क्षेत्र के दूसरे सब सौदागर मात खा गए। फिर यह व्यापारी रूपधारी अंग्रेज (काम) शत्रु देश की राजनीति में भाग लेने लगा और देशी राजाओं और नवाबों से जोड़-तोड़ करके देश के भू-भागों को अपने अधिकार में लेने लगा। अन्त में सारे भारत पर अधिकार करने में सफल हो गया और इसके सम्पूर्ण मानचित्र को लाल रंग से रँग दिया और उसने इस देश का सारा धन लूट कर इसे निर्धन और दुर्बल बना दिया। देश की यह दुर्दशा देखकर बहुत से देश-भक्तों ने इस प्रबल अंग्रेज शत्रु को देश से बाहर निकालने का भरसक प्रयत्न किया। अन्त में राष्ट्र-पिता महात्मा गान्धी का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने सच्चे धर्म का आदर्श भारत की जनता के सम्मुख रखा। सचाई, स्वच्छता, सादगी, निर्भीकता, निष्काम सेवा, सर्वोदय की कामना, स्वदेश-प्यार, शत्रु से असहयोग आदि गुणों का पाठ भारत की सम्पूर्ण जनता को पढ़ा दिया जिससे अंग्रेज अपने-आपको अकेला और असहाय समझ

कर भय-भीत हो गया और भारत को छोड़कर चोर की तरह आधी रात के अन्धकार में बाहर निकल गया। ऐसे महापुरुषों का बड़े भाग्य से ही संसार में आना होता है—

हज़ारों वर्ष के पीछे यहाँ इक देव आया था,
कि जिसने आदमी को आदमी बनना सिखाया था।
नहीं वह स्वर्ग से कोई यहाँ सन्देश लाया था,
पिला कर सत्य का अमृत मुक्त भारत कराया था।

इसी प्रकार इन्द्रियों, मन और बुद्धि में घर बनाकर रहने वाला काम भी ज्ञान को ढक कर शरीर पर मनमाना शासन करता है जिससे मनुष्य की उन्नति रुक जाती है। अवनति होने लगती है। महात्मा गान्धी के दर्शाए हुए मार्ग पर चलकर इस दुष्ट काम-रूप शत्रु से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

तस्मात्+त्वम्+इन्द्रियाणि+आदौ नियम्य भरत+ऋषभ ! पाप्मानम्+प्रजहि हि+एनम्+ज्ञान-विज्ञान-नाशनम् ॥

तस्मात्=(अव्यय)=इसलिए। इससे। [तद् (सर्व०)+(नपुं०) पंच० ए० व०]।

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू।

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्रिय+द्विती० ब० व०=इन्द्रियों को।

आदौ=(वि०) आ√दा+कि=आदि+सप्त० ए० व०=पहले। पूर्व।

नियम्य=नि√यम् (चुरा० पर० सक०=रोकना)+ल्यप्=रोककर। वशीकृत्य=वश में करके।

भरत+ऋषभ !=(सम्बो०) ए० व०। भरतानां भरतेषु ऋषभः श्रेष्ठः। हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) !
[√ऋष् (तुदा० पर० सक० अक०)+अभच्, कित्=ऋषभ। साँड। उत्तम। श्रेष्ठ।]

पाप्मानम्=(वि०) पाप्मन्+(पुं०) द्विती० ए० व०=पापाचारी को। पापी को।

प्रजहि=प्र√हन् (अदा० पर० सक०=मारना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=अच्छी तरह मार डाल। भली भाँति जीत ले।

हि=(अव्यय) निश्चयपूर्वक ।

[प्रजहि हि=परित्यज (श्रीस्वामी शंकराचार्य जी)]

एनम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको । इस (काम) को ।

ज्ञान-विज्ञान-नाशनम्=(वि०) ज्ञानं च विज्ञानं च ते ज्ञानविज्ञाने तयोः नाशनम् (इतरेतर द्वन्द्व०) (नपुं०) द्विती० ए० व० । ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाले को ।

[शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो आत्मा-अनात्मा और विद्या-अविद्या आदि पदार्थों का बोध होता है, उसका नाम 'ज्ञान' है । उसका जो विशेष रूप से अनुभव है, उसका नाम 'विज्ञान' है ।]

अर्थ—इसलिए हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) ! तू पहले इन्द्रियों को रोक कर (अपने वश में करके) ज्ञान और विज्ञान को नाश करने वाले इस (काम) पापी को निश्चय करके (बलपूर्वक) भली-भाँति मार डाल ॥ ४१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू भरत-वंश में बहुत श्रेष्ठ है जिसको मुझ परमेश्वर की मित्रता और साक्षात्कार प्राप्त है । ये दुर्योधनादि कौरव तेरे तुल्य श्रेष्ठ नहीं हैं । इसलिए तू सबसे पूर्व अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर ले । अर्थात् अपनी इन्द्रियों को विषय-वासनाओं से पूरी तरह से हटा ले । इनको मनमानी करके बाह्य विषयों में रस मत लेने दे, बल्कि आत्म-साक्षात्कार में लगा दे । यही इनका 'मारना' है । तू ऐसा करने में अवश्य समर्थ हो जाएगा । कारण यह कि मन और बुद्धि की अपेक्षा इन्द्रियाँ स्थूल होती हैं । पहले इनको वश में करना परमावश्यक है । अभ्यास और वैराग्य से इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं । भोगों और सारे संसार को नाशवान् समझकर उससे विरक्त हो जाने का नाम 'वैराग्य' है । परमात्मा के रूप, गुण, नाम और चरित्र के श्रवण करने, मनन करने तथा इन्द्रियों को स्वेच्छाचार से हटा कर बार-बार शुभकर्मों में लगाते रहना 'अभ्यास' कहलाता है ।

इन्द्रियों को वश में कर लेने से मन और बुद्धि को वश में कर लेना सम्भव हो जाता है । इस तरह बाह्य इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति न होने से संकल्प-विकल्प रूप मन और निश्चय रूप बुद्धि, दोनों, फिर अनर्थ के हेतु नहीं बन सकते । क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम के बिना ये दोनों कुछ भी कर सकने में असमर्थ होते हैं । इनके भले-बुरे सब कार्य इन्द्रियों के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं । इसलिए तू सबसे पहले इन्द्रियों को बुरे कामों की ओर से हटा । स्वाभाविक कर्म तो इनसे होते ही रहेंगे । क्योंकि उनका होना तो जीवित रहने के लिए परमावश्यक है । तथा स्वस्थ शरीर के द्वारा आराधना करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । इन्द्रियों के राग-द्वेष ही काम-क्रोध का रूप

धारण कर लेते हैं । जो मोक्ष की प्राप्ति में बाधक बनकर जन्म-मरण-चक्र का कारण बन जाते हैं। इन्द्रियों को वश में कर लेने से काम-क्रोध रूप बहुरूपिया ठग अपने छिपने के स्थान का अभाव हो जाने के कारण इन्द्रियों को सदा के लिए छोड़कर भाग जाता है। और फिर कभी उनके पास नहीं आता। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—

"अथ योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति।"

अर्थात्—इन्द्रियों को वश करके जो पुरुष कामरहित हो जाता है, वह पुरुष निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है।

यह काम ही ज्ञान और विज्ञान को विकसित होने से रोकने वाला पापी शत्रु है। शास्त्रों और आचार्य के उपदेश से आत्मा या परमात्मा का जो परिचय होता है और जिससे भगवान् के निर्गुण, निराकार और नित्य स्वरूप का साक्षात्कार होता है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं। प्रकृति-पदार्थों का तत्त्वदर्शन और उनके द्वारा परमात्मा का विशेष साक्षात्कार 'विज्ञान' कहलाता है। इस ज्ञान और विज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण में जो आकांक्षा उत्पन्न होती है, उसका नाश यह पापी काम कर देता है। क्योंकि हृदय में ज्ञान-विज्ञान के उत्पन्न होने से पापी काम को इन्द्रियों द्वारा मिलने वाला मनभाता भोगों का चारा मिलना बन्द हो जाता है। तब इन्द्रियाँ काम के कण्ट्रोल से निकलकर ज्ञान-विज्ञान के वशीभूत हो जाती हैं और काम को तब इन्द्रियों से कोई लाभ नहीं होता। मन और बुद्धि भी काम से घृणा करने लगते हैं। इसलिए तब पापी काम इन्द्रियों, मन और बुद्धि को त्याग कर डण्डा खाए हुए कुत्ते की भाँति दुम दबाकर भाग जाता है। परन्तु भागने से पूर्व वह भरसक प्रयत्न करता है कि किसी-न-किसी तरह ज्ञान और विज्ञान का नाश कर दे। किन्तु इस प्रयत्न में असफल होने पर ही वह अपने उक्त तीनों निवास-स्थानों का त्याग करता है। हे अर्जुन ! मेरे इस उपदेश को अच्छी तरह समझ कर उसके अनुसार आचरण करके तू अवश्य काम रूप शत्रु को भगा सकेगा, अथवा उसका संहार कर देगा। ज्ञान काम से इसी प्रकार ढका हुआ होता है जिस प्रकार बादाम का मग्ज़ छिलके से ढका हुआ होता है। जब तक काम रूप छिलका फोड़ कर दूर न कर दिया जाए तब तक ज्ञान-रूप भीतरी मग्ज़ व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। अर्थात् काम को त्याग किए बिना ज्ञान और विज्ञान से लाभ नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसलिए हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! तू पहले अपनी इन्द्रियों को वश में कर ले। फिर ज्ञान और विज्ञान को नाश करने वाले महापापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक दूर कर देगा। काम-रूप आसक्ति को छोड़कर स्वधर्म के अनुसार लोक-संग्रहार्थ

समस्त कर्म करने के लिए इन्द्रियों पर नियन्त्रण होना चाहिए। इसी का नाम इन्द्रियों को वश में करना है ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

इन्द्रियाणि पराणि+आहुः+इन्द्रियेभ्यः परम्+मनः। मनसः+तु परा बुद्धिः+यः+बुद्धेः परतः+तु सः ॥

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्रिय+द्वितो० ब० व०=इन्द्रियों को। पाँच कर्म-इन्द्रियों और पाँच ज्ञान-इन्द्रियों को।

पराणि=(वि०)√पृ (जुहो०, क्र्या०, पर० सक०=परिपूर्ण करना)+अच्=पर+(नपुं०) द्वितो० ब० व०=पराणि=श्रेष्ठ। बलवान्। सूक्ष्म।
[बाह्य, परिच्छिन्न स्थूल धड़ की अपेक्षा कर्म-इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं क्योंकि धड़ के लिए सारे कार्य कर्मेन्द्रियाँ ही करती हैं और कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म अन्तःस्थ और व्यापक आदि गुणों से युक्त होने के कारण श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म हैं। इस प्रकार दसों इन्द्रियाँ शेष देह या हड्डियों, मांस और मज्जा आदि के पुंज धड़ से श्रेष्ठ हैं।]

आहुः=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना। बोलना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=कहते हैं। (पण्डित लोग) कहते हैं। बुद्धिमान् लोग कहते हैं।

इन्द्रियेभ्यः=(नपुं०) इन्द्रिय+पंच०, ब० व० इन्द्रियों से। इन्द्रियों की अपेक्षा।

परम्=(वि०) पर+(नपुं०) प्र० ए० व०=परम्=श्रेष्ठ, बलवान्, सूक्ष्म।

मनः=(नपुं०) मनस् (मन्यते बुध्यते अनेन, √मन्+असुन्)+प्र० द्विती० ए० व०=मन। मन को। (संकल्प-विकल्प-आत्मक) मन को।

मनसः=(नपुं०) मनस्+पंच० ए० व०=मन से। मन की अपेक्षा।

तु=(अव्यय) तो। और।

परा=(वि०) पर+(स्त्री०) प्र० ए० व०=परा। परे। श्रेष्ठ। बलवान्। सूक्ष्म।

बुद्धिः=(स्त्री०) बुद्धि+प्र० ए० व०=(निश्चयात्मिका) बुद्धि। [√बुध् (जानना)+क्तिन्=बुद्धि=निश्चयात्मिका शक्ति]।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो। बुद्धेः=(स्त्री०) बुद्धि+
 पंच० ए० व०=बुद्धि से। बुद्धि की अपेक्षा।

परतः=(अव्यय) पर+तस्=परतस्=परतः=परे। ऊपर। बलवान्।
 श्रेष्ठ। सूक्ष्म। सर्वश्रेष्ठ।

तु=(अव्यय) तो। और।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह। वह (बुद्धि का द्रष्टा)
 परमात्मा।

अर्थ—बुद्धिमान् लोग स्थूल देह की अपेक्षा उसमें कार्य कर रही दशों इन्द्रियों को पर (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं। और इन्द्रियों से (संकल्प-विकल्प-आत्मक) मन को पर (बलवान्, श्रेष्ठ और सूक्ष्म) (कहते हैं)। मन से परा (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) (निश्चयात्मिका) बुद्धि है। और जो बुद्धि से (भी) परे है वह परमात्मा है॥ ४२॥

व्याख्या—यह श्लोक कठोपनिषद् अध्याय १, वल्ली ३ के १०वें मन्त्र से मिलता-जुलता है, जो इस प्रकार है—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ २॥"

अर्थ—इन्द्रियों से उनके विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म हैं। और विषयों से मन श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म है। और मन से बुद्धि श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म है। तथा बुद्धि से आत्मा (या परमात्मा) अत्यन्त श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म है।

यह बात सब को भली भाँति ही विदित है कि संसार के सब जड़ पदार्थों से जीव की इन्द्रियाँ अति श्रेष्ठ हैं, बलवान् हैं और सूक्ष्म हैं। क्योंकि ये सब प्रकार के पदार्थों से लाभ उठाती हैं अर्थात् इनके द्वारा ही सारे पदार्थ काम में लाए जाते हैं। परन्तु पदार्थों में इन्द्रियों से लाभ उठाने की कोई शक्ति नहीं है। इन्द्रियों को सूक्ष्म कहने का भाव यह है कि ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों की अपेक्षा इन्द्रियाँ अत्यन्त छोटी होती हैं। हाथी एक बहुत बड़ा प्राणी है परन्तु उसकी भी इन्द्रियां शेष सारे शरीर की अपेक्षा बहुत छोटी होती हैं। मनुष्य और अन्य जीवों की इन्द्रियों का भी यही हाल है।

इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों से भी सूक्ष्मतर होते हैं। क्योंकि उनको चर्म-चक्षु तो देख ही नहीं सकते। उनका स्वाद तो मन ही अनुभव करता है। इसलिए इन इन्द्रियों से परे अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म मन है; यह

मन प्रकाशक, व्यापक, अन्तःस्थित और संकल्प-विकल्प करने वाला है। कठोपनिषद् (१।३।३) में कहा गया है—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

[अर्थ—तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथि जान और मन को (घोड़ों को वशीभूत करने वाली) लगाम या (टैंक को चलाने या रोकने वाली) चाबी समझ]।

इस मन्त्र में शरीर को रथ (या टैंक) से उपमा दी गई है। उसमें लगी हुई इन्द्रियां रथ में जुते हुए दस घोड़े या टैंक में लगे हुए दस इंजन हैं। मन इन सब इंजनों को चलाने वाली चाबी या सब घोड़ों को काबू में रखने वाली लगाम के समान है। बुद्धि इस रथ या टैंक को चलाने वाला सारथि या ड्राइवर है तथा जीवात्मा या आत्मा इस रथ या टैंक का स्वामी और जीवन-युद्ध करने वाला योद्धा है जो इस शरीर-रूपी रथ में विराजमान है। कर्मफल भोगने वाले संसारी को इस श्रुति में 'आत्मा' कहा गया है। यद्यपि शरीर रूपी रथ अपने स्थान पर श्रेष्ठ है, परन्तु उससे श्रेष्ठ उसको खींचने वाले इन्द्रिय रूपी घोड़े या इंजन होते हैं। जिस प्रकार लगाम ही घोड़ों को काबू में रखती है अथवा चाबी ही इंजनों को चलाती और रोकती है उसी प्रकार मन द्वारा ही इन्द्रियों को कण्ट्रोल में रखा जाता है। इसलिए मन इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ और बलवान् होता है। बुद्धि इस शरीर का सारथि या ड्राइवर है अर्थात् मन रूपी लगाम या चाबी उसकी ही मुट्ठी में होती है, इसलिए वह मन से भी अधिक श्रेष्ठ और बलवती है। सारथि रथी की आज्ञा और इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य कर ही नहीं सकता है। और इस शरीर का रथी आत्मा है, जो इस शरीर में सब से अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि वह बुद्धि का भी द्रष्टा कहलाता है।

कठोपनिषद् के अगले कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं—

"इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥"

अर्थात् विवेकी पण्डित लोग इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं और विषयों को उनके गमन करने के मार्ग बतलाते हैं। तथा शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। इससे आगे कहा है—

"यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥"

[अर्थ—परन्तु बुद्धि-रूप यह सारथि जब सदा अविवेकी एवं असंयत चित्त से युक्त होता है, तब इन्द्रियां उसके कण्ट्रोल में इसी तरह नहीं रहतीं जिस प्रकार प्रमत्त सारथि के अधीन दुष्ट या अड़ियल घोड़े नहीं रहते।]

बुद्धि, इन्द्रियों तथा मन, दोनों से ही अधिक बलवान् और सूक्ष्म होती है क्योंकि सब प्रकार के निर्णय और निश्चय इसी के द्वारा होते हैं। परन्तु जब यह प्रमत्त होकर अपनी श्रेष्ठता और शक्ति से अनभिज्ञ हो जाती है, तो मन और इन्द्रियों पर इसका अधिकार समाप्त हो जाता है। इससे -इन्द्रिय-रूपी घोड़े मन को साथ मिलाकर अपनी मनमानी करने लगते हैं और दुष्ट एवं अड़ियल घोड़ों की भाँति जिधर चाहते हैं चले जाते हैं। परन्तु श्रेष्ठ और सावधान बुद्धि इन्द्रियों और मन को कभी अनियन्त्रित नहीं होने देती, जैसाकि अगले मन्त्र में कहा है—

"यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

[अर्थ—परन्तु जो बुद्धि-रूप सारथि विज्ञानवान् और सदा युक्त मन सहित होता है, उसके वश में इन्द्रियां इसी प्रकार रहती हैं जैसे कुशल बुद्धिमान् सारथि के वश में अच्छे घोड़े रहते हैं।]

आत्मा तो इन्द्रियों, मन और बुद्धि से अत्यन्त श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म-तर होती है। परन्तु जो आत्मा-रूप रथी अविज्ञानवान्, अमनस्क और असंयत-चित्त होने से अपवित्र रहता है, वह अक्षर-परम पद को प्राप्त नहीं होता। इससे विपरीत जन्ममरण-रूप संसार को ही प्राप्त होता है, जैसा कि इस अगले मन्त्र में कहा गया है—

"यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥" ॥७॥

अर्थ—परन्तु जो अविज्ञानवान् अनिगृहीत-चित्त और सदा अपवित्र रहने वाली आत्मा होती है, वह उस परम पद मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकती। प्रत्युत संसार को ही प्राप्त होती है।]

परन्तु उपर्युक्त दुर्गुणों से रहित आत्मा मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेती है जिससे फिर वह संसार के जन्म-मरण चक्र से रहित हो जाती है। अगले मन्त्र में इसी बात का वर्णन किया गया है—

"यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥"

[परन्तु जो पुरुष विज्ञानवान् संयत-चित्त और सदा पवित्र रहने वाला होता है वह तो उस परम पद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है जिससे वह फिर संसार में उत्पन्न नहीं होता ।]

इस बात को अगले मन्त्र में दृढ़ तथा स्पष्ट किया गया है—

"विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥"

[अर्थ—जो पुरुष विवेकयुक्त बुद्धि-रूप सारथि वाला तथा मन को वश में करने वाला है, वह संसार-मार्ग से पार होकर उस व्यापक परमात्मा विष्णु के परमपद को प्राप्त कर लेता है ॥]

श्रुति ने आत्मा को बुद्धि से श्रेष्ठ, महान् और सूक्ष्मतर बतलाया है। इसी आत्मा का नाम 'महत्तत्त्व' है। इस महत्तत्त्व से उत्कृष्ट अव्यक्त होता है। अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष होता है। फिर पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। निम्न ग्यारहवें मन्त्र में यही बात कही गई है—

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥"

अव्यक्त नाम मूल प्रकृति का है। उस पुरुष के सम्बन्ध में बृहदा० (१।४।१) में इस प्रकार लिखा है—

"आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाभवत्......॥"

[अर्थ—(सृष्टि के आरम्भ में) यह पुरुषाकृति केवल एक आत्मा ही था। उसने (चारों ओर) देखकर अपने से भिन्न और कुछ न देखा। उसने "मैं हूँ" पहले यह कहा। इससे फिर वह 'मैं' नाम वाला हुआ।]

इसी उपनिषद् में फिर आगे मन्त्र १० में लिखा है—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्........॥"

[अर्थ—पहले यह ब्रह्म ही था। उसने अपने को ही जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ।" अतः वह 'सर्व' हो गया। उसे देवों में भी जिस-जिसने जाना, वही 'वह' अर्थात् 'तद्रूप' हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में से भी जिस-जिसने उसे जाना, वह तद्रूप हो गया।]

सारे कथन का भावार्थ यह है कि यद्यपि इन्द्रियों से मन बलवान् होता है, मन से बुद्धि बलवती होती है और बुद्धि से आत्मा बलवान् होती

है। परन्तु जो पुरुष अविज्ञानवान्, असंयत-चित्त और सदा अपवित्र रहनेवाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ चापलूस भृत्यों की भाँति मन को मोह लेती हैं, जिससे मन इन्द्रियों का अनुगामी हो जाता है तथा इन्द्रियों के साथ मिलकर बुद्धि को विषयासक्त कर लेता है। फिर यह बुद्धि भी मन और इन्द्रियों की संगिनी बन जाती है और उनके आग्रह से आत्मा को मोहित कर लेती है जिससे देही (जीवात्मा) विषयों में निमग्न और आसक्त हो जाता है। फिर इससे जीव का सर्वनाश हो जाता है। इससे यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है कि जब तक बुद्धि, मन और इन्द्रियों पर जीवात्मा का आधिपत्य नहीं होता, तब तक वह अपनी शक्ति को भूल कर उनके अधीन बना हुआ रहता है। तभी तक इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आत्मा को भ्रम में डाल कर विषयों का प्रलोभन दिखाती हैं और अपने पीछे लगाकर कुमार्ग पर ले जाती हैं। इसलिए इन इन्द्रियों को वश में कर लेना जिज्ञासु के लिए परमावश्यक है। मन की मालिकिन होने से ही बुद्धि का नाम मनीषा है।

कुमार्ग पर चलने वाली इन्द्रियां मनुष्य की शत्रु होती हैं। मन इन्द्रियों से भी बलवान् और सूक्ष्म होता है। यदि बाह्य इन्द्रियों को किसी प्रयत्न से विषयों की ओर जाने से रोक भी लिया जाए तो भी अनरुद्ध मन संकल्प-विकल्प करता ही रहेगा। जैसे कि दिन के समय जागता हुआ मनुष्य अपनी भलाई-बुराई सब कुछ समझता है और पाप कर्मों से बचता है, परन्तु स्वप्न-काल में मन ऐसे दृश्य सामने लाकर उपस्थित कर देता है कि जिनको इन्द्रियाँ जागृत अवस्था में देखना, सुनना और करना पसन्द नहीं करतीं। इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति होने पर भी मन की विषयवासना निवृत्त नहीं होती। वह तो संकल्प-विकल्पों द्वारा उसमें रस का अनुभव करता ही रहता है और सदा इसी चक्र में पड़ा भटकता रहता है। इसलिए मन इन्द्रियों से प्रबल है।

बुद्धि या मनीषा तो मन की मालिकिन ही है। जिस प्रकार सेवक से स्वामी अति उत्तम होता है इसी प्रकार बुद्धि मन से बहुत बलवती और श्रेष्ठ होती है। यदि मन को किसी कारण-विशेष से रोक भी लिया जाए तो भी अव्यवस्थिता बुद्धि पदार्थों के सम्बन्ध में अच्छा या बुरा निश्चय करती ही रहती है। इसलिए उसको भी वश में करना परमावश्यक है, नहीं तो काम-रूप शत्रु इन्द्रियों, मन और बुद्धि को वशीभूत करके अधोगति की ओर खींच ले जाएगा। क्योंकि यह काम बुद्धिमान् पुरुष को भी समय-समय पर फुसलाता रहता है। इस काम से फुसलाए हुए अनेक ऋषियों-मुनियों की गाथाओं से इतिहास और पुराणों के बहुत-से पृष्ठ भरे पड़े हैं जिनको यहाँ लिखने की

आवश्यकता नहीं है क्योंकि सर्वसाधारण लोग भी उनको जानते हैं। यह काम तो भोगों को भोगने से और बढ़ता है। इसलिए मनुष्य को इसे त्याग कर परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक के दो अर्थ किए हैं। पहले अर्थ में बुद्धि से आत्मा को उत्कृष्ट कहा है और दूसरे अर्थ में बुद्धि से काम को बड़ा शत्रु कहा है। हमारे विचार में तो ये दोनों अर्थ युक्तिसंगत हो सकते हैं; परन्तु कल्याण के गीता-तत्त्वांककार को दूसरा अर्थ मान्य नहीं; इसका कारण उसी के शब्दों में श्रवण कीजिए—"यहाँ काम को मारने का प्रकरण अवश्य है परन्तु उसे श्रेष्ठ बतलाने का प्रकरण नहीं है। उसे मारने की शक्ति आत्मा में मौजूद है। मनुष्य यदि अपने आत्म-बल को समझ जाए तो वह बुद्धि, मन और इन्द्रियों पर सहज ही अपना पूर्ण अधिकार स्थापित करके काम को मार सकता है। इस बात को समझाने के लिए इस श्लोक की प्रवृत्ति हुई है। यदि इन्द्रिय, मन और बुद्धि से 'काम' को अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाएगा तो उनके द्वारा काम को मारने के लिए कहना ही असंगत होगा। इसके बिना 'सः' पद का अर्थ काम मानना कठोपनिषद् के वर्णन से भी विरुद्ध पड़ेगा। अतः यहां 'सः' पद काम का वाचक नहीं है, वरन् दूसरे अध्याय में जिसको लक्ष्य करके कहा है—"रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते", उस 'पर-तत्त्व' अर्थात् नित्य-शुद्ध स्वरूप आत्मा का ही वाचक है ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

एवम्+बुद्धेः परम्+बुद्ध्वा संस्तभ्य+आत्मनाम्+आत्मना। जहि शत्रुम्+महाबाहो ! काम-रूपम्+दुरासदम् ॥

एवम्=(अव्यय) √इ+वमु (वा०)=इस तरह। इस प्रकार।

बुद्धेः=(स्त्री०) √बुध्+क्तिन्=बुद्धि+पंच० ए० व०=बुद्धि से।

परम्=(वि०) पर+(पुं०) द्वितीय० ए० व०=पर को। आत्मा को। अति श्रेष्ठ आत्मा को। श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म आत्मा को।

बुद्ध्वा=√बुध+क्त्वा=जान कर। (ज्ञात्वा)।

संस्तभ्य=सम्यक् स्तम्भनं कृत्वा। सम्√स्तम्भनं (भ्वा० आत्म० अक०, क्र्या० पर० सक०=रोकना, वश में करना)+ल्यप्=वश में करके। रोक कर। शुद्ध मन से अच्छी प्रकार (आत्मा को) समाधिस्थ करके।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्वितीय० ए० व०=आत्मा को। मन को।

आत्मना=(पुं०) आत्मन्+तृती० ए० व०=आत्मा से। बुद्धि के द्वारा।
जहि=√हन् (अदा० पर० सक०=वध करना। मार डालना)+लोट्, म० पु०, ए० व०=मार डाल। त्याग कर दे। जीत ले।
शत्रुम्=(पुं०)√शद् (भ्वा० पर० सक०=काटना। गिराना। नाश करना) क्रुन्=शत्रु+द्विती० ए० व०=शत्रु को।
महाबाहो!=(वि०,पुं०, सम्बो० ए० व०)। महान्तौ बाहू यस्य। (बहुव्रीहि)। हे लम्बी भुजाओं वाले (अर्जुन)!
काम-रूपम्=(पुं०) काम एव रूपं यस्य=द्विती० ए० व०=काम रूप को।
दुरासदम्=(वि०) दुःखेन आसद आसादनं प्राप्तिः यस्य तम् (बहुव्री०)। दुर्+आ+√सद्+खल्=दुरासद+द्विती० ए० व०=दुःख से वश में किए जाने वाले को। दुर्जय को।

अर्थ—इस प्रकार बुद्धि से पर (आत्मा) को जान कर, आत्मा (बुद्धि) द्वारा, आत्मा (मन) को रोककर (अच्छी तरह समाधिस्थ करके) हे बड़ी भुजाओं वाले (महापराक्रमी अर्जुन)! तू दुःख से जीते जाने वाले काम रूप (और दुर्योधन) शत्रु को जीत ले ॥४४॥

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन को इस श्लोक में बड़ी भुजाओं वाला कह कर सम्बोधित किया है। इसका आशय यह है कि तू तो बहुत बड़ा वीर, योद्धा और पराक्रमी है। इसलिए तू बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके कठिनता से जीते जाने योग्य काम रूप शत्रु को जीत ले। यह दूसरों के लिए तो अत्यन्त कठिन कार्य है परन्तु तुझ अर्जुन महाबाहु के लिए तो यह कार्य कठिन नहीं है। फिर तुझे दुर्योधन आदि कौरव-रूप शत्रुओं के जीतने में कुछ भी कठिनाई न होगी। यद्यपि काम-रूपी शत्रु दुर्जय है, परन्तु मुझ तक पहुंच वाले अर्जुन के लिये कोई दुर्जय नहीं है।

जो पुरुष आत्मा की अनन्त और असीम शक्ति का अनुभव कर लेता है, उसके लिए कुछ भी कर सकना कठिन नहीं है। काम-रूप शत्रु इन्द्रियों, मन और बुद्धि में घर बनाकर छिपा रहता है। उसको जब भी समय और अवसर मिलता है वह इन्द्रियों, मन और बुद्धि को भ्रमाकर लोभ दिलाता है। जिस से ये तीनों मिलकर काम की इच्छा और अनुमति से आत्मा को भ्रम में डाल देते हैं। तब आत्मा इनसे उस समय तक धोखा खाए रहता है, जब तक कि वह अपनी अनन्त और असीम शक्ति से अनभिज्ञ या बे-खबर रहता है।

एक उदाहरण द्वारा अब इस सचाई का स्पष्टीकरण किया जाता है। कहते हैं कि किसी भेड़-बकरी पालने वाले ने जंगल में किसी बहुत छोटे सिंह के बच्चे को देखा। तब वह उसको उठा कर घर ले आया। और बकरी के स्तन-पान द्वारा पालने लगा। वह सिंह-शिशु सदैव बकरियों के संग ही खेलने और फिरने लगा और स्वयं अपने को भी बकरा ही समझने लगा।

जब वह कुछ बड़ा हो गया तो एक दिन बाहर के एक सिंह ने आकर बकरियों पर आक्रमण कर दिया। तब उस सिंह के बच्चे ने आक्रमणकारी सिंह का पूरी तरह से सामना किया। यह देख कर वह सिंह बोला—अरे, तू कौन है ? उसने उत्तर दिया—क्या तू नहीं देखता, मैं बकरा हूँ।

उसकी यह बात सुन कर सिंह हँस पड़ा और बोला—अरे मूर्ख ! तू तो बकरा नहीं है। जंगल में रहने वाला सब जीवों में बलवान् सिंह है। भूल में पड़ा हुआ अपने को बकरा समझ रहा है। यदि अब भी तुम्हें इस बात का विश्वास नहीं है तो अपने मुख का प्रतिबिम्ब समीप के सरोवर के निर्मल जल में देखो। वह इन बकरे-बकरियों से सर्वथा भिन्न है। तुम आप अपने कान, आँख और दुम की पहचान करो। मैं सिंह हूँ, तुम अपने अंगों का मेरे अंगों से मिलान करो।

तब उस सिंह के बच्चे ने उसकी सब बातों पर विचार किया और वह अपने आपको सिंह के रूप में देखने लगा। और बकरियों का संग छोड़कर अपने असली घर वन को चला गया।

इसी प्रकार इस आत्मा ने गर्भ में प्रविष्ट होकर गृहिणी कीट-विशेष की भाँति पाँच तत्त्वों से बने हुए कीचड़ से स्वयं अपने शरीर की रचना की है। उस समय इस शरीर-रचना में यह इतना तन्मय था कि इसे इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि मैं कहाँ हूँ और क्या कर रहा हूँ। सूक्ष्म इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये तीनों भी पूर्व शरीर से निकल कर इसके साथ ही गर्भ में प्रविष्ट हुए थे और इन तीनों की प्रेरणा से ही इस असीम-शक्ति आत्मा ने अपने आपको भूल कर गर्भ में प्रवेश किया था। और इनके वशीभूत होकर ही स्थूल शरीर और स्थूल इन्द्रियों की रचना की थी। अब उनके वशीभूत हुआ अपने को शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि का संघात ही मान रहा है। स्मरण रहे कि हृदय-शक्ति का नाम मन है और मस्तिष्क-शक्ति का नाम बुद्धि है। इन इन्द्रियों, मन और बुद्धि के भोलेपन और लोभ को देख कर काम-रूप दुराधर्ष, दुर्जय शत्रु, चोर, ठग और डाकू ने इनमें निवास करना प्रारम्भ कर दिया, जो सौम्य रूप धारण करके काम कहलाता है और

भयंकर रूप धारण करके क्रोध कहलाने लगता है। इस बहुरूपिए चोर, ठग, डाकू दुर्धर्ष काम ने सम्पूर्ण इन्द्रियों में राग-द्वेष के अस्त्र-शस्त्र एकत्रित कर दिए हैं। इन्द्रियों को उनके विषयों में फँसाकर उनके द्वारा मन को मोहित कर लेता है और फिर मन के द्वारा बुद्धि पर अपना कुप्रभाव डाल देता है, जिससे बुद्धि आत्मा को अपने पीछे लगा लेती है और फिर यह असीम-शक्ति आत्मा बकरियों के संग पालित-पोषित सिंह की भाँति अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर इन्द्रियों, मन और बुद्धि से बँधी हुई जन्म-मरण के चक्र में फँसी रहती है। इसी अवस्था में अनेक जन्म धारण करती है और इसी नाटक या ड्रामे की पुनरावृत्ति होती रहती है। फिर जब कभी जन्म-जन्मान्तर के शुभ कर्मों के संचय से प्रभु-कृपा द्वारा सद्गुरु की प्राप्ति होती है तो वह अपने ज्ञानालोक से जीव के इस अज्ञानान्धकार का नाश कर देता है तथा आत्म-साक्षात्कार करा देता है। तब इस जीव के द्वारा निष्काम कर्म किए जाते हैं जिससे उसके अन्तःकरण की शुद्धि और निर्मलता हो जाती है और फिर इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं से वियुक्त और राग-द्वेष से रहित हो जाती हैं तथा फिर सदा स्वाभाविक नित्य नैमित्तिक कर्मों में ही प्रवृत्त रहती हैं। अन्तःकरण या मन के संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं जिससे शुद्ध, स्वच्छ और निर्मल अन्तःकरण अमृत का सरोवर बन जाता है। उस पर शीतल, मन्द, सुगन्ध-युक्त शान्ति-रूप समीर का संचार होने लगता है और इस आनन्द-सरोवर में आत्मा पूरी तरह से प्रतिबिम्बित होने लगती है। बुद्धि शुद्ध, पवित्र और निश्चयात्मिका हो जाती है। आत्मा अपनी असीम और अनन्त शक्ति का अनुभव करने लगती है। मृत्यु के समय आनन्दमग्न आत्मा मन, बुद्धि और सूक्ष्म इन्द्रियों का संग त्याग कर परब्रह्म परमेश्वर में लीन हो जाती है अर्थात् यह जीवरूप जल-विन्दु जिस असीम और अथाह समुद्र से पृथक् होकर पर्वतों से टक्करें लगाती हुई वायु में झूलता हुआ अनेक बार पृथिवी पर गिरा था और उठा था और अनेक बार वायु-मण्डल में सूक्ष्म रूप धारण करके घूमा था, अनन्त बार गहरे गह्वर गर्तों और स्थानों में भटकता फिरता था, अन्त में मुमुक्षु और ज्ञानवान् आत्मदर्शी महापुरुष रूपी महानद की संगति से परमपद रूप स्थिर और असीम सागर में जाकर स्थिर और तद्रूप हो जाता है।

इसलिए हे महाशक्तिशाली अर्जुन ! सब से प्रथम बुद्धि से अत्यन्त परे उत्कृष्ट, बलवान् और सूक्ष्मतम आत्मा को भली भाँति जान ले। उसका अनुभव और साक्षात्कार कर ले। फिर तेरी बुद्धि भली भाँति आज्ञाकारिणी और वशीभूत हो जाएगी। फिर इसके अधीन किया हुआ मन मनमानी न कर सकेगा और यह संकल्प-विकल्प करना छोड़ देगा। इस प्रकार जब मन

और बुद्धि दोनों तेरे वशीभूत हो जाएँगे तो शरीर रूपी टेंक के इंजन की चाबी और ड्राइवर तेरे इंगित और इच्छा के अनुसार कार्य करेंगे।

ऐसा पक्का प्रबन्ध हो जाने पर इन्द्रिय-रूपी घोड़े या इंजन और शरीर-रूपी रथ या टेंक स्वयं अपने-आप कुछ भी न करेंगे। तथा काम-रूप यह दुर्जय डाकू शत्रु, निर्बल और असहाय होकर, ठगी-बगी और लूट-मार करने के लिए असमर्थ हो जाएगा। क्योंकि तब उसकी इन्द्रियों को भोगों का चारा मिलना ही बन्द हो जाएगा, इससे वह भूखा रहकर क्षीण और दीन हो कर स्वयं मर जाएगा।

हे महाशूरवीर और पराक्रमी योद्धा अर्जुन! मैंने तुझे इस दुर्जय दुष्ट काम रूप शत्रु के मारने की विधि समझा दी है। तू इस पर आचरण कर। किसी ने यह ठीक ही कहा है—

"जो मारे नफ़स को, करे गुस्से को ज़ेर,
बनाए साँप का कोड़ा वह शेर पर चढ़ कर।"

अर्थात्—जो पुरुष नफ़स (=काम) को मार लेता है और क्रोध को अपने अधीन कर लेता है वह पुरुष सर्प-रूप कशा हाथ में लेकर सिंह पर चढ़े हुए पुरुष के तुल्य होता है—अर्थात् उसने सिंह और सर्प भी वशीभूत किए हुए होते हैं।

हे अर्जुन! तू इस काम और क्रोध को वश में कर लेने से परम-पद (मोक्ष) को प्राप्त होकर जन्म-मरण के चक्र से छूट जाएगा। इसीमें तेरा कल्याण है। इसीमें तेरी भलाई है॥

शुभम्

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् से गायी या कही हुई उपनिषदों में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'कर्म-योग' नाम का तीसरा अध्याय समाप्त॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

इमम्+विवस्वते योगम्+प्रोक्तवान्+अहम्+अव्ययम् । विवस्वान्+मनवे प्राह मनुः+इक्ष्वाकवे+अब्रवीत् ॥

श्रीभगवान्+उवाच=श्रीभगवान् बोले—

इमम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको । (दूसरे और तीसरे अध्याय में कहे हुए) इस (योग) को ।

विवस्वते=(पुं०) विशेषेण वस्ते आच्छादयति, वि√वस् (भ्वा० पर० अक० =वसना; अदा० आत्म० सक०=ढकना; दिवा० पर० सक०= रोकना; चुरा० पर० सक० अक०=स्नेह करना)+क्विप्=विवस्वत् +चतु० ए० व०=सूर्य के लिए । क्षत्रिय-वंश के आदि-पिता सूर्य के लिए । सूर्य के प्रति ।

योगम्=(पुं०)√युज्+घञ्=योग+द्विती० ए० व०=जगत् के प्रतिपालक क्षत्रियों में बल-स्थापन करने की विधि को । योग को । चित्त की चंचलता के निग्रह करने की विधि को । कर्म-योग को । सांख्य-योग को । प्राणायाम आदि साधनों द्वारा चित्तवृत्तियों और इन्द्रियों के निरोध को । सृष्टि-निर्माण की ईश्वरी कुशलता और अद्‌भुत सामर्थ्य को । कर्मबन्धन को तोड़ने वाली युक्ति को । (यद्यपि योग के उपरोक्त सब अर्थ युक्तियुक्त और यथार्थ हैं परन्तु इस श्लोक में योग का अर्थ 'कर्मयोग' ही मालूम होता है । क्योंकि दूसरे अध्याय के श्लोक ३९ से कर्मयोग का ही प्रसंग चल रहा है । और यहाँ जिन तीन नामों 'विवस्वान्', 'मनु' और 'इक्ष्वाकु' का उल्लेख है वे तीनों गृहस्थ और कर्म-योगी ही थे । तीसरे अध्याय में जीवात्मा द्वारा बुद्धि, मन और इन्द्रियों को वशीभूत करके उनमें घर बनाकर रहने वाले काम को मारने की शिक्षा दी गई है ।) कर्म-योग को ।

प्रोक्तवान्=प्र√ब्रू, √वच् (अदा० उभ० सक०=कहना)+क्तवतु=प्रोक्तवत्+(पुं०) प्र० ए० व०=कहा था।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० ब०= मैंने।

अव्ययम्=(वि०) न व्ययो यस्य तम् (नञ्०, द्विती० ए० व०) (पुं०)=अव्यय को। अविनाशी को। अक्षय को [इस योग का फल अविनाशी है। इसलिए यह भी अविनाशी है। क्योंकि इस सम्यक्-ज्ञान-निष्ठा रूप योग का मोक्ष-रूप फल कभी नष्ट नहीं होता]।

विवस्वान्=(पुं०) विवस्वत्+प्र० ए० व०=विवस्वान् ने। सूर्य-वंश के मूल पुरुष सूर्य ने।

मनवे=(पुं०) मनु+चतु० ए० व०=मनु के प्रति। मनु से। (अपने पुत्र) मनु से।

[पुराणों के अनुसार तथा सूर्य-सिद्धान्त नामक ग्रन्थ के अनुसार एक कल्प में १४ मनुओं का अधिकार होता है। इनमें से प्रत्येक के अधिकार-काल को मन्वन्तर कहते हैं। इन चौदह मनुओं के नाम इस प्रकार हैं—

१—स्वायंभुव, २—स्वारोचिष, ३—औत्तमि, ४—तामस, ५—रैवत, ६—चाक्षुष, ७—वैवस्वत, ८—सावर्णि, ९—दक्षसावर्णि, १०—ब्रह्म-सावर्णि, ११—धर्मसावर्णि, १२—रुद्र सावर्णि, १३—रौच्यदेव सावर्णि, १४—इन्द्र सावर्णि।

इनमें से छः मनु अपने-अपने मन्वन्तरों सहित पहले व्यतीत हो चुके हैं। अब सातवें वैवस्वत मनु का मन्वन्तर बीत रहा है। प्रत्येक मनु का मन्वन्तर इकहत्तर (७१) चतुर्युगियों का होता है। इस समय वैवस्वत मनु का अट्ठाईसवां कलियुग बीत रहा है। सम्वत् २०३१ वि० में कलियुग सम्वत् ५०७५ है।

कलियुग का सारा समय ४,३२,००० वर्ष होता है।

द्वापर ४३२००० × २=८,६४,००० वर्ष। और

त्रेता ४३२००० × ३=१२,९६,००० वर्ष। तथा

सत्ययुग ४३२००० × ४=१७,२८,००० वर्ष होता है।

इसलिए एक चतुर्युगी ४,३२,००० वर्ष की होती है। इस समय कल्पादि से गत वर्ष=१९७२९४९०७५ है। और सृष्टि-सम्वत्=१९५५८८५०७५ है। उक्त चौदह मन्वन्तर ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा की रात भी इतने ही मान की होती है। इस मन्वंतर के वैवस्वत मनु को भगवान् विष्णु ने मत्स्य-अवतार धारण करके प्रलयकालीन समुद्र के प्रवाह में डूबने से बचाया था।]

प्राह=प्र √ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+(लङ्) लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहा ।

मनुः=(पुं०) मनु+प्र० ए० व०=मनु ने ।

इक्ष्वाकवे=(पुं०) इक्षुम् इच्छाम् आकरोति, इति इक्षु-आ √कृ+डु=इक्ष्वाकु +चतु० ए० व०=इक्ष्वाकु के लिए। (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु से । सूर्य वंश के मूल पुरुष इक्ष्वाकु से । [इक्ष्वाकु सूर्य वंश के पहले राजा थे जो मनु के पुत्र थे और मनु विवस्वत् सूर्य का पुत्र है । इसीसे उसका नाम वैवस्वत मनु है ।]

अब्रवीत्=√ब्रू (अदा० उभ० सक=कहना)+लङ्०, प्र० पु०, ए० व०= कहा था ।

अर्थ—श्रीभगवान् बोले—

इस अविनाशी (सनातन) योग (कर्म-योग) को (कल्प के आदि में) मैंने विवस्वान् (सूर्य) से कहा था । विवस्वान् ने (अपने पुत्र) मनु से कहा । (और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु से कहा ।।१।।

व्याख्या—श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा—(दूसरे अध्याय के श्लोक ५० में) मैंने तुम से कहा था—

"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।"

अर्थात् "समत्व-बुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है, अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है । इसलिए तू समत्व-बुद्धि-युक्त हुआ 'कर्मयोग' के लिए ही चेष्टा कर । कर्मों में कुशलता का नाम ही योग है । अर्थात् भले-बुरे सब प्रकार के कर्मों से छूटने के उपाय का नाम ही योग है ।।"

वास्तव में शुभाशुभ कर्म ही जन्म-मरण का कारण बनते हैं और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाने पर पुनः जन्म और मरण नहीं होता । अच्छे कर्मों के फलस्वरूप अच्छी योनि में जन्म लेकर उनका अच्छा फल भोगना होता है । बुरे कर्मों के फलस्वरूप बुरी योनियों में जन्म लेकर उनका बुरा फल भोगना पड़ता है । परन्तु तीनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होने पर फिर अच्छी या बुरी किसी भी योनि में जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता । मोक्ष की प्राप्ति से ब्रह्मानन्द और सदानन्द की प्राप्ति होती है ।

कर्मों के दो वर्ग हैं—

१—यज्ञार्थ या क्रत्वर्थ कर्म । ये कर्म मनुष्य को बन्धायमान नहीं करते ।

२—पुरुषार्थ कर्म—ये कर्म मनुष्य के लिए बन्धक बन जाते हैं। ब्रह्म-ज्ञान के विज्ञान के बिना किए गए यज्ञ-यागादि कर्म भी बन्धक बन जाते हैं। ये यज्ञ-याग आदि श्रौत कर्म कहलाते हैं। इनका नाम ही वैदिक कर्म होता है। चारों वर्णों के विहित कर्म, जो धर्मशास्त्रों या स्मृतियों में वर्णन किए गए हैं, उनका नाम स्मार्त कर्म होता है। व्रत-उपवासादि जिन कर्मों के करने का पुराणों में विधान है, वे सब पौराणिक कर्म कहलाते हैं।

इन सब कर्मों के और भी तीन भेद होते हैं—१—नित्य कर्म, २—नैमित्तिक कर्म, ३—काम्य कर्म।

स्नान, सन्ध्यादि जो कर्म नित्य करने योग्य होते हैं वे सब नित्य कर्म कहलाते हैं। इनके करने से किसी विशेष फल या अर्थ की सिद्धि नहीं होती; परन्तु न करने से हानि और दोष अवश्य होते हैं। जो कर्म किसी कारण-विशेष, जैसे अनिष्ट ग्रह की शांति अथवा किसी पाप को दूर करने के प्राय-श्चित्त आदि के निमित्त किए जाते हैं, नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं तीसरी प्रकार के काम्य कर्म वे होते हैं जो किसी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। जैसे राजा दशरथ ने पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से पुत्रेष्टि यज्ञ किया था। किसान वर्षा की इच्छा से इन्द्र की आराधना करते हैं। विद्यार्थी परीक्षा में सफल होने के लिए देवता की प्रार्थना करते हैं। बताशे और पैसे बाँटते हैं। ये उपर्युक्त तीनों प्रकार के कर्म तो शास्त्रानुकूल ही होते हैं। परन्तु कुछ ऐसे कर्म भी होते हैं जिनको शास्त्रों ने 'त्याज्य' कहा है। जैसे मांस बेचना, पशु-वध करना, मदिरा बेचना और पीना, चोरी, व्यभिचार इत्यादि कर्म छोड़ने योग्य होते हैं।

खाना, पीना, खेलना, सुस्ताना, उठना-बैठना, श्वासोच्छ्वास-क्रिया, हँसना, रोना, सूंघना, सुनना, देखना, बोलना, स्वाद चखना, चलना-फिरना, देना-लेना, सोना-जागना, लड़ना-मरना, ज्ञान-ध्यान करना, आज्ञा, निषेध, यज्ञ, दान करना, खेती, व्यापार, भिक्षा, नौकरी आदि का करना—यह सब-कुछ 'कर्म' के अन्तर्गत है। परन्तु गीता में 'कर्मयोग' शब्द के पूर्व जो कर्म शब्द जुड़ा हुआ है, उसका भाव केवल 'नित्य-कर्म', 'कर्तव्य-कर्म', 'विहित कर्म' और 'लोक-संग्रहार्थ' कर्म-मात्र ही है। हे अर्जुन! मैंने तुम से पहले ही यह कहा है कि "योगः कर्मसु कौशलम्" अर्थात् कर्म करने की किसी विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैली को 'योग' कहते हैं। या इस प्रकार कहना चाहिए कि कर्म में स्वभाव-सिद्ध रहने वाले बन्धन को तोड़ने की युक्ति का नाम 'योग' है। इस कर्म-बन्धन को तोड़ने के लिए जो 'उपाय या साधन' अन्य सब उपायों या साधनों से अत्युत्तम हैं, उन्हें ही योग कहा जाएगा। जैसे

धन कमाना एक कर्म है। और वह अनेक उपायों से कमाया जाता है। जैसे ठगी करना, खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करके बेचना, ब्लैक-धन्धा करना, कम तोलना, डाका डालना, हेरा-फेरी करना, भीख माँगना, नौकरी करना, शिल्पी कर्म करना, कृषि करना, मजदूरी करना और शुद्ध-बुद्ध होकर परिश्रम करना।

यद्यपि योग शब्द के अर्थानुसार ये सब काम और धन्धे 'युज्' (जुड़ना) धातु के अनुसार 'योग' संज्ञक हैं परन्तु गीता के कर्म-योग का अभिप्राय उन निष्काम और आसक्ति तथा ममता से रहित लोक-संग्रहार्थ किए गए कर्मों से ही है जिनसे धर्म की प्राप्ति होती है तथा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। कर्म-जाल से छुटकारा मिलता है और ब्रह्मानन्द तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भगवान् ने मोक्ष-प्राप्ति के दो मुख्य-मार्ग दर्शाए हैं: १—सांख्य-योग; और २—कर्म-योग। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो ये दोनों एक पेड़ के दो तनों के तुल्य मालूम होते हैं। अथवा एक ही नदी के दो प्रवाह-पथ हैं जो आगे बढ़कर एक ही विशाल धारा के रूप में परमब्रह्म रूपी अगाध और असीम समुद्र में जाकर मिल जाते हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है—

"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योग च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता, ५।४-५)

सांख्ययोग का दूसरा नाम संन्यास-मार्ग भी है। इसमें साधक को विरक्त, अलमस्त, देहाभिमान से रहित और सम्पूर्ण गृहस्थ-झंझटों से मुक्त होकर निरासक्त वृत्ति से रहना होता है। तथा उसके जितने भी कर्म होते हैं वे सब सहज स्वभाव ही हुआ करते हैं, उनमें उसकी अपनी इच्छा का कोई दखल नहीं होता; परन्तु कर्मयोगी प्रायः गृहस्थी बनकर निरासक्त और निर्मम हुआ लोकसंग्रहार्थ कर्म करता रहता है। दोनों प्रकार के साधकों की अन्तिम गति माक्ष की प्राप्ति या परमात्मा में लीनता ही होती है। तथा दोनों मार्गों में बुद्धि की स्थिरता, मन पर नियन्त्रण, इन्द्रियों का दमन और काम-क्रोध-रूपी बहुरूपिए शत्रु का नाश करना—ये चारों बातें भी अवश्य ही पूरी की जाती हैं। क्योंकि संन्यासी चाहे जन्म से क्षत्रिय ही हो, तो भी उसका युद्ध करना धर्म नहीं होता। परन्तु कर्म-योगी को अपने वर्ण के अनुसार स्वधर्म

का अनुसरण और आचरण करना पड़ता है। इसीलिए कर्म-योगी अर्जुन को भगवान् युद्ध-कर्म में प्रवृत्त करना चाहते हैं। इसी कारण से इस श्लोक में 'योग' शब्द का अर्थ 'कर्म-योग' ही है। क्योंकि भगवान् के विचार में अर्जुन का कल्याण संन्यासी बन कर भिक्षा का अन्न खाने में नहीं है, बल्कि कर्म-योगी बन कर क्षत्रिय-धर्म का पालन करने में ही है। स्वयं भगवान् ने अपना अवतार भी दुष्टों का नाश करने और भले पुरुषों की रक्षा करने के लिए ही धारण किया है। जैसा कि इसी अध्याय में आगे चलकर भगवान् अर्जुन के प्रति स्वयं कहते हैं।

भगवान् कृष्ण तो स्वयं नारायण हैं और अर्जुन नर है। इसलिए अर्जुन-रूप नर के लिए कृष्ण-रूप नारायण का अनुसरण करना परमावश्यक, ठीक और युक्ति-युक्त है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! मैंने इस योग का उपदेश जो इस समय तुझे किया है, यद्यपि यह तुझे इस समय युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए ही किया है, क्योंकि इस समय ऐसा करके तू अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करता हुआ मरने के बाद मुझ सच्चिदानन्द-घन परब्रह्म परमात्मा में समा जाएगा परन्तु इससे पूर्व भी मैंने सृष्टि के प्रारम्भ काल में क्षत्रिय वंश के मूल पुरुष भगवान् सूर्य नारायण से यह कर्म-योग कहा था, जैसाकि प्रत्येक मन्वन्तर के प्रारम्भ में यह ज्ञान उस समय के सूर्य के प्रति मैं कहता हूँ। इसीसे यह योग सनातन और अविनाशी है। फिर इस मन्वन्तर के आदिकाल में विवस्वान् (सूर्य) ने इस योग का उपदेश अपने पुत्र वैवस्वत मनु को किया था और फिर उस मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से यह कर्म-योग कहा था। इक्ष्वाकु से क्रमशः क्षत्रिय वंश में उत्तरोत्तर इस कर्मयोग का प्रचार हुआ। जनकादि राजा लोग भी इस योग को जानकर सदा इस पर आचरण करते हुए मोक्ष-पद को प्राप्त हो गए थे। तीसरे अध्याय में भगवान ने स्वयं कहा है—

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।"

अर्थात् निःसन्देह कर्मयोग से ही जनकादि राजाओं ने संसिद्धि प्राप्त की थीं। इससे क्षत्रिय राजवंशों में कर्मयोग के प्रचार की परम्परा होना सिद्ध है ॥१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

एवम्+परम्परा-प्राप्तम्+इमम्+राजर्षयः+विदुः। सः+कालेन+इह महता योगः+नष्टः परम्+तप ! ॥

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार।

परम्परा-प्राप्तम्=(वि०) (क्षत्रियाणां) परम्परायाः प्राप्तम् (पंच० तत्पु०) =क्षत्रियों की परम्परा से प्राप्त को ।
(परम्परा (स्त्री०) । प्र√आप्+क्त=प्राप्त+द्वितीo एo वo=सिलसिलेवार प्राप्त को । एक के बाद दूसरे तक उत्तरोत्तर प्राप्त को ।)
इमम्=(सर्व०) इदम्+द्वितीo एo वo=इसको ।]
राजर्षयः=(पुं०) राज+ऋषयः। राज्ञाम् ऋषयः (षष्ठी० तत्पु०)। राजानः च ते ऋषयः च ते राजर्षयः (कर्मधा०) । राजाओं में जो ऋषि हैं उन्होंने । जो राजा भी हैं ऋषि भी हैं उन्होंने । राजर्षियों ने । प्र० ब० व० ।
विदुः=√विद् (जानना) लट्० प्र० पु, ब० व०=जानना ।
[√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)

लट् में रूप

वेत्ति, वित्तः, विदन्ति । वेत्सि, वित्थः, वित्थ । वेद्मि, विद्वः, विद्मः ।
इस धातु से लट्-लकार में विकल्प से लिट् लकार के समान भी प्रत्यय होते हैं । यथा—वेद, विदतुः विदुः । वेत्थ, विदथुः विद । वेद, विद्वः, विद्मः ।]

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ।
कालेन=(पुं० नपुं०) कलयति आयुः,√कल्+णिच्+अच् या अण्, कालयति सर्वाणि भूतानि=कालः+तृती० ए० व०=काल से । समय से । देर से । चिरकाल से ।
इह=(अव्यय) यहाँ । इस लोक में ।
महता=(वि०)√मह्+अत्=महत्+तृती० ए० व०=बहुत से ।
योगः=(पुं०) योग+प्र० ए० व०=योग । कर्मयोग ।
नष्टः=√नश् (दिवा० पर० अक०=लुप्त होना)+क्त=नष्ट+(पुं०) प्र० ए० व०=नष्ट हो गया था । लोप हो गया था । क्षत्रियों को भूल गया था ।
परन्तप !=(पुं०, सम्बो० ए० व०) आत्मनो विपक्षभूताः 'पर' उच्यन्ते तान् शौर्य-तेजो-गभस्तिभिः भानुः इव तापयति इति परन्तपः (शत्रुतापनः) =अपने विपक्षियों को 'पर' कहते हैं । उन्हें जो अपने शौर्य-रूप-तेज की किरणों के द्वारा सूर्य के समान तपाता है, उसका नाम 'परंतप' या शत्रुओं को तपाने वाला होता है ।
परं शत्रुं तापयति इति (उपपद तत्पु०) ।
हे शत्रुओं को तपाने वाले (अर्जुन) !

अर्थ—हे (विपक्षियों को शौर्य रूप तेज की किरणों के द्वारा सूर्य के समान तपाने वाले) अर्जुन ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजा रूपधारी ऋषियों ने जाना। (परन्तु) वह योग इस मनुष्य-लोक में बहुत काल से नष्ट (लोप) हो गया था ॥ २ ॥

व्याख्या—यहाँ अर्जुन को 'परन्तप' कहकर उसे युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया और समझाया गया है कि तू तो विपक्षियों को अपने शौर्य-रूप तेज की किरणों के द्वारा प्रचण्ड सूर्य के समान तपाने वाला है। परन्तु तू युद्ध से इसलिए घबरा रहा है कि वर्तमान क्षत्रियों में चिर काल और परम्परा से चला आ रहा कर्मयोग का प्रचलन लुप्तप्राय-सा हो गया है। अब मैंने पुनः तेरे मिस इस धर्म का प्रचार किया है। अब तू इस कर्मयोग को अपने जीवन में ढाल ले और सम्मुख उपस्थित युद्ध में पूरी तरह से भाग लेकर अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन करके अपने शत्रुओं का नाश कर डाल। तुम राजवंश में उत्पन्न हुए हो, साथ ही वेदों को जानने वाले और ज्ञानवान् भी हो। इस लिए तुम भी राजा जनक की भाँति राजर्षि हो और इस योग को ग्रहण करने और इस पर आचरण करने के योग्य हो। महाराज जनक से पहले और बाद सत्ययुग और त्रेता में अनेक 'राजर्षि' पदवी को प्राप्त हुए राजा लोग हो चुके हैं जिनके द्वारा इस योग धर्म की परम्परा द्वापर के पूर्व तक चलती रही। तब इसका प्रचार राजवंशों और प्रजा-वर्ग में प्रचुर और पर्याप्त हुआ था। उस काल में ब्राह्मण लोग हवन, यज्ञ, सन्ध्यावन्दन आदि नित्य और नैमित्तिक वेद-विहित कर्म स्वयं करते थे और जनता से करवाते थे। क्षत्रिय और राजा लोग स्वयं ज्ञानवान् और ब्रह्मविद्या के धनी होते थे। तथा अपनी राज-सभाओं में ब्रह्मज्ञानी महर्षियों को आमन्त्रित करके ब्रह्मविद्या का प्रचार करवाते थे और स्वयं उनसे अपनी ज्ञान-सम्बन्धी शंकाओं का समाधान करवाते थे जिसके फलस्वरूप अधिकतर उपनिषदों की रचना इन्हीं राज-सभाओं में हुई थी। प्रसिद्ध उपनिषदों की संख्या ग्यारह है। इन पवित्र ग्रन्थों में अनेक संवाद हैं जिनके द्वारा ईश्वर, प्रकृति, आत्मा, परमात्मा, जीव, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, जीवन, मृत्यु, नरक, स्वर्ग, काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदि अनेक गुत्थियों को बड़े प्रभावशाली और सुचारु ढंग से सुलझाया गया है।

राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्यादि अनेक ऋषियों के ब्रह्मविद्या-संबंधी अनेक संवाद हुए। सूर्य और मनु से लेकर त्रेता युग के अन्त तक ब्रह्मविद्यान्तर्गत कर्मयोग का प्रचार सारी प्रजा में राजघरानों की देख-रेख में होता रहा। इस काम को करने के लिए मनु, इक्ष्वाकु, निमि, जनक, अजातशत्रु और कैकेय आदि राजा लोग प्रमुख थे। त्रेता युग की समाप्ति के साथ ही इस योग

का लोप होना प्रारम्भ हो गया और द्वापर में लोगों में ज्यों-ज्यों भोगों की आसक्ति बढ़ने लगी, त्यों-त्यों इस योग के जानने, समझने और आचरण करने वालों की संख्या घटने लगी और अन्त में इस महाभारत के युद्ध-काल में इसके जानने और आचरण करने वाले सब लोग समाप्त हो गए। इससे मुझे यह कहना पड़ा है कि हे परंतप ! आदि-काल से चला आ रहा और राजर्षियों द्वारा जाना हुआ वह योग चिरकाल से नष्ट हो गया था। और इस समय पृथिवी लोक में उसको जानने वाला कोई नहीं रहा था। कहने का भाव यह है कि उपनिषद् आदि ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी पुस्तकों में तो इस योग का वर्णन पाया जाता है, परन्तु वर्तमान राजा लोग न स्वयं उस पर आचरण करते हैं और न अपनी राजसभाओं में उसकी चर्चा करवाते हैं। और न प्रजावर्ग को ही इस योग की जानकारी रही है। वर्तमान राजा लोग स्वयं अभिमानी, इन्द्रिय-लोलुप और पापकर्म-निरत होते जा रहे हैं। साधु-सन्तों, महापुरुषों और पूज्य वृद्धों की अवज्ञा होने लगी है। कंस, जरासन्ध, दुर्योधन, आदि पापी और अभिमानी राजा लोग किसी की भी नहीं सुन रहे हैं। इसलिए मुझे अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार जन्म धारण करना पड़ा, जिसका कारण यह है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥"

(गीता, ४। ७-८)

अपनी इस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए ही इस समय मैं कृष्ण-रूप में तेरे सामने उपस्थित हूँ और तेरे प्रति अपने आदि और अविनाशी योग का उपदेश कर रहा हूँ।

यह ब्रह्मविद्यान्तर्गत कर्मयोग वास्तव में राजकुलोत्पन्न क्षत्रियों का अपना वर्ण या जाति-धर्म है। इसलिए तुझे अपने इस क्षत्रिय धर्म का पालन ब्रह्म-विद्यान्तर्गत कर्मयोग के द्वारा करना चाहिए। तेरा नाम परंतप है इसलिए तू तो इस युद्ध-रूप स्व-क्षत्रिय धर्म का परिपालन इस कर्मयोग द्वारा सहज ही कर सकेगा। तुझे भिक्षा माँग कर निर्वाह करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए अब यथार्थ कर्तव्य को समझ कर तू इस महाभारत के प्रारम्भ हो चुके युद्ध को अपना धर्म-युद्ध समझ ले। मेरी बतलाई हुई रीति से युद्ध

करने पर तुझे किसी प्रकार का भी पाप न लगेगा। इसलिए तू निःशंक हो कर युद्ध कर! इसी में तेरा कल्याण है ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सः+एव+अयम्+मया ते+अद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तः+असि मे सखा च+इति रहस्यम्+हि+एतत्+उत्तमम् ॥

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व० (पुराना योग)।
एव=(अव्यय) ही।
अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।
मया=(सर्व०) अस्मद्+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा। मुझ से।
ते=(सर्व०) युष्मद्+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए। तुझ से।
अद्य=(अव्यय) अब। आज।
योगः=(पुं०) योग। कर्मयोग। पुरुषार्थ-विधि।
प्रोक्तः=प्र√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्त=प्रोक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=कहा है।
पुरातनः=(वि०) पुरा+ट्यु+तुट्=पुरातन+ (पुं०) प्र० ए० व०= प्राचीन। पुरातन। आदिकाल से चला आ रहा। आदि काल का।
भक्तः=(पुं०) √भज् (भ्वा० उभ० सक०=आश्रय लेना; (अक०—अनुरक्त होना। भजना)+क्त=भक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=भक्तः=(मेरा) स्मरण करने वाला। (मुझ में) अनुरक्त। (मेरा) आश्रय लिया हुआ। भक्त।
असि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्०, म० पु०, ए० व०= (तू) है।
मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे, मेरा।
सखा=(पुं०) सह समानं ख्यायते,√ख्या+डिन्=सखि+प्र० ए० व०= मित्र, साथी, सहचर।
[सखा, सखायौ, सखायः]।
च=(अव्यय) और।
इति=(अव्यय) इसलिए।
रहस्यम्=(नपुं०)√रम्+असुन्, हकार आदेश=रहस्+यत्=रहस्य+ प्र० ए० व०=रहस्यम्=गोपनीय विषय। वह बात जो हर किसी को मालूम न हो। वह विषय जिसका तत्व सब की समझ में न आसके। मर्म या भेद की बात। रहस्य।

हि=(अव्यय) क्योंकि ।
एतत्=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।
उत्तमम्=(वि०) उद्+तमप्=उत्तम+(नपुं०) प्र० ए० व०=सर्वोत्कृष्ट । सबसे अच्छा । उत्तम ।

अर्थ—तू मेरा भक्त और सखा है। इसलिये वह ही यह प्राचीन (कर्म) योग मेरे द्वारा तेरे (हित के) लिए कहा गया है। क्योंकि यह (योग) उत्तम रहस्य (सर्वोत्कृष्ट गोपनीय विषय) है ।। ३ ।।

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन, तू मेरा परम भक्त है। मुझे भजने वाला है। सदा मुझे स्मरण करता है। सदैव मुझ में अनुरक्त है। मेरे द्वारा तू अङ्गीकार किया गया है। तू भक्ति के साथ ही व्याकुलता-भरी जिज्ञासा से परिपूर्ण हृदय से युक्त है। साथ ही तू मेरा सखा है। मेरा मित्र है। तू मेरा अनुगत है। इसलिए तू इस परम श्रेष्ठ गोपनीय योग को श्रवण करने का अधिकारी है। इसीसे मैंने इस योग का उपदेश तुझे किया है। यह योग आचरण किए जाने पर संसार के समस्त दुःखों से मुक्त करानेवाला है। जन्म-मरण से छुटकारा दिलाने वाला है। मोक्ष का प्रदाता है। अत्यन्त श्रेष्ठ और गोपनीय है। इसलिए अनधिकारी पुरुष के सम्मुख कदापि प्रकट करने के योग्य नहीं है। तू इसके रहस्य को भली-भाँति समझ ले और इसके अनुसार आचरण करता हुआ युद्ध कर। जिससे तेरे क्षत्रिय धर्म का परिपालन हो सके। इसके फलस्वरूप तुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी ।। ३ ।।

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।। ४ ।।

अपरम्+भवतः+जन्म, परम्+जन्म विवस्वतः। कथम्+एतत्+विजानीयाम्+त्वम्+आदौ प्रोक्तवान्+इति ।।

अपरम्=(वि०) न परम् (नञ् तत्पु०)। आधुनिक। अर्वाचीन। आजकल का। वर्तमान समय का। अभी का। हाल का ।
भवतः=(सर्व०) भवत्+षष्ठी० ए० व०=आपका ।
जन्म=(नपुं०) जन्मन् (√जन्+मनिन्)+प्र० ए० व०=जन्म। उत्पत्ति। [जन्म, जन्मनी, जन्मानि]
परम्=(वि०) सबसे पहले का। बहुत पुराना। सृष्टि के आदिकाल का।
जन्म=(नपुं०) जन्मन्+प्र० ए० व०=जन्म। उत्पत्ति ।

विवस्वतः=(पुं०) विवस्वत्+षष्ठी० ए० व०=विवस्वान् का। सूर्य का।
कथम्=(अव्यय) कैसे? किस प्रकार? किस तरह से?
एतत्=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) प्र० द्विती०, ए० व०=यह। इसको।
विजानीयाम्=वि√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+विधि०, म० पु०, ए० व०=(मैं) जानूं?
त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू ने। (आपने)।
आदौ=(वि०) आदि+(पुं०) सप्त० ए० व०=आदि काल में। कल्प के प्रारम्भ काल में।
[आ√दा+कि=आदि]
प्रोक्तवान्=प्र√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्तवतु=प्रोक्तवत्+(पुं०) प्र० ए० व०=कहा था।
इति=(अव्यय) कि। इस प्रकार (यह)।

अर्थ—अर्जुन बोला—(हे भगवन्!)

आपका जन्म वर्तमान काल (द्वापर युग) में हुआ है। विवस्वान् (सूर्य) का जन्म प्राचीन काल अर्थात् वर्तमान कल्प के आदि में हुआ था। मैं यह कैसे जानूं कि आपने कल्प के प्रारम्भ काल में यह (योग, विवस्वान् से) कहा था? ॥ ४ ॥

व्याख्या—अर्जुन ने विचार किया कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म श्री वसुदेवजी के गृह में श्री देवकी जी के उदर से हुआ है। और यह थोड़े ही समय की बात है। क्योंकि मेरा जन्म भी तो लगभग उसी समय में हुआ है। और हम दोनों बचपन से एक साथ खेलते चले आ रहे हैं। परन्तु विवस्वान् (सूर्य) का जन्म तो कल्प के आदि में हुआ था जिसको बीते इस समय लाखों-करोड़ों वर्ष हो चुके हैं। ऐसी अवस्था में इतने प्राचीन काल में विवस्वान् (सूर्य) को इस योग का उपदेश श्रीकृष्णजी ने कैसे किया होगा? अन्तःकरण में इस सन्देह के उत्पन्न हो जाने पर अर्जुन ने भगवान् से कहा—हे भगवन्! आपने इस अध्याय के पहले श्लोक में इस अविनाशी कर्म-योग की परम्परा बतलाते हुए कथन किया है कि "इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" (अर्थात् इस अविनाशी योग को मैंने विवस्वान् (सूर्य) से कहा था) परन्तु विवस्वान् (सूर्य) का जन्म तो कल्प के आदि-काल में हुआ था और आपका जन्म तो वर्तमान द्वापर युग में लगभग मेरे जन्म के साथ ही हुआ है। यह बात तो कुछ ही वर्ष पूर्व की है और विवस्वान् के जन्म को लाखों वर्ष हो चुके हैं।

यदि यह कहो कि "विवस्वान् (सूर्य) तो अब भी विद्यमान है। मैंने इसी जन्म में इस योग का उपदेश उसे किया था।"—तो यह कथन भी ठीक और मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा गया है कि "विवस्वान्मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्"—अर्थात् विवस्वान् ने मनु महाराज से कहा था और फिर मनु ने इक्ष्वाकु से कहा था। यदि यह बात ठीक है तो मनु और इक्ष्वाकु भी आपके जन्म से लाखों वर्ष पूर्व मर कर मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं। इससे इस जन्म में भी आपके द्वारा विवस्वान् (सूर्य) को उपदेश देना सिद्ध नहीं होता है। इसलिए आपकी बात को सुन कर मेरे मन में जो सन्देह उत्पन्न हो गया है, उसके निवारणार्थ मुझे अच्छी तरह से समझाइए कि कल्प के आदि में आपने इस अविनाशी योग का उपदेश विवस्वान् (सूर्य) को कैसे या किस रूप में किया था? ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव च+अर्जुन!। तानि+अहम्+वेद सर्वाणि न त्वम्+वेत्थ परन्तप! ॥

श्रीभगवान्+उवाच=[श्रीभगवत्+(पुं०) प्र० ए० व०=श्रीभगवान्, √वच्+लिट्, प्र० पु०, ए० व०=श्रीभगवान्+उवाच] श्रीभगवान् बोले—

बहूनि=(वि०) बहु+(नपुं०) प्र० ब० व०=बहुत से।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे।

व्यतीतानि=वि—अति√इ+क्त=व्यतीत+(नपुं०) प्र० ब० व०=व्यतीतानि। अतिक्रान्तानि। व्यतीत हो चुके हैं। गुजर चुके हैं। बीत चुके हैं। हो चुके हैं।

जन्मानि=(नपुं०) जन्मन्+प्र० ब० व०=बहुत जन्म।

तव=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरे।

च=(अव्यय) और।

अर्जुन!=(पुं०) सम्बोधन ए० व०=हे अर्जुन!

तानि=(सर्व०) तद्+ (नपुं०) द्वि० ब० व०=उनको।

अहम्—(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।

वेद=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्, उ० पु०, ए० व०=(मैं) जानता हूँ। (अहं जाने)।

['विद्' धातु के लट् लकार में दो तरह के रूप होते हैं—

१—वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। वेत्सि, वित्थः, वित्थ। वेद्मि, विद्वः, विद्मः।
विकल्प से लिट् लकार के समान भी प्रत्यय होते हैं। जैसे,
२—वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद, विद्वः, विद्मः।]
सर्वाणि=(सर्व०) सर्व+(नपुं०) द्विती० ब० व०=सबको।
न=(अव्यय) न। नहीं।
त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू।
वेत्थ=√विद्+लट्० म० पु०, ए० व०=जानता है। परन्तप !=
(वि०) उपपद तत्पु०। हे शत्रुओं को तपाने वाले (अर्जुन)!

अर्थ—(तब) भगवान् श्री कृष्णचन्द्र बोले—हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। [नित्य-शुद्ध-बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला होने से मेरी ज्ञान-शक्ति आवरण-रहित है इसलिए] उन सब (जन्मों) को मैं जानता हूँ। (परन्तु) हे परन्तप! [पुण्य-पाप आदि के संस्कारों से ज्ञान-शक्ति आच्छादित होने के कारण] तू (उन जन्मों को) नहीं जानता है॥ ५॥

व्याख्या—अर्जुन की उक्त शंका वाले प्रश्न को सुनकर उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण जी बोले—हे अर्जुन! तू नर है, मैं नारायण हूँ। तू जीव है, मैं परमेश्वर हूँ। जीव का जन्म उसके पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार होता है। इस विषय में उसका अपना कोई वश नहीं चलता। परन्तु मैं तो स्वयं अपनी इच्छा से प्रकट होता हूँ।

सब जीवों का जन्म, माता-पिता द्वारा ही होता है। यह मर्यादा आदि-काल से मेरे द्वारा ही स्थिर की हुई है। मैं कभी अपनी मर्यादा को भंग नहीं करता हूँ। इसलिए मैं भी किसी-न-किसी माता-पिता के द्वारा ही जन्म ग्रहण करता हुआ भासमान होता हूँ। वसुदेव और देवकी ने अपने पूर्व जन्म में बहुत तपस्या की थी और मुझे पुत्र-रूप में पाने का वरदान ग्रहण किया था। इसलिए उनकी इच्छा पूर्ण करने तथा अपनी मर्यादा को स्थिर रखने के लिए मेरी अपनी इच्छा से मेरा अवतार हुआ है। इससे पूर्व त्रेता युग में राजा दशरथ और कौसल्या की पूर्वजन्म की तपस्या से प्रसन्न होकर मैंने राम-रूप में उनके घर में अवतार लिया था। इस प्रकार मेरे अनेक अवतार हुए हैं। मैं उन सबको इसी तरह जानता हूँ जिस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाला बहुरूपिया अपने धारण किए जा चुके सब रूपों से अवगत होता है—अथवा जो अभिनेता अनेक रूप धारण करके रंगमंच पर अभिनय करता है, वह अपने वास्तविक स्वरूप से कभी अनभिज्ञ नहीं होता है।

हे अर्जुन! मेरा न कोई आदि है और न कोई अन्त है। मैं तो अविनाशी, अनन्त और अजन्मा हूँ। जब मैं सृष्टि-रचना से अवकाश पाकर आराम करता

हूँ तो मेरे बिना कहीं भी और कुछ नहीं होता। उस समय केवल मैं ही अकेला होता हूँ। जिस प्रकार तुम्हारे लिए आराम करने के हेतु रात बनाई गई है, इसी प्रकार मेरा यह एकान्त काल ही मेरी एक रात होती है। जब मेरी इस रात का अवसान हो जाता है, तो फिर एक नवीन कल्प का आरम्भ होने लगता है और सहज स्वभाव से ही मेरी इच्छा से अनेक आकाश-गंगाएं उत्पन्न होकर आकाश में फैल जाती हैं। प्रत्येक आकाश-गंगा में अरबों सूर्य प्रज्वलित और देदीप्यमान हो जाते हैं जिन सबके परिवार अपने-अपने केन्द्रीय सूर्य की परिक्रमा करने लगते हैं। और ये सब आकाश-गंगाएं भी अपने-अपने गांगीय केन्द्रों के चारों ओर घूमती रहती हैं। इस तुम्हारी जन्मदायिनी पृथिवी पर मैं जैसे अवतार धारण करता हूँ, वैसे ही संसार की अन्य सब पृथ्वियों में भी प्रकट होता हूँ। चूंकि तेरा सम्बन्ध केवल तेरी अपनी पृथ्वी से ही है, इसलिए मेरे इस गीता-उपदेश का सम्बन्ध भी केवल तेरी इस पृथ्वी तथा तेरे इस दृश्यमान सूर्य से ही है।

कल्प के आदि में मैंने विवस्वान् (तेरे सूर्य-वंश के अधिष्ठातृ-देवता) को इस योग का उपदेश दिया था, जिससे वह निष्काम कर्म में निरत हो कर इस हमारे सारे विश्व को प्रकाश, गर्मी, ऊर्जा, प्राण, जीवन, भोजन और बुद्धि की तीक्ष्णता आदि वितरण करने में लगा हुआ है। ये सब कार्य वह निरन्तर घूम-फिरकर कर रहा है। उसका सारा परिवार भी उसका अनुसरण करता हुआ उसके चारों ओर निरन्तर घूम रहा है। इस सूर्य-मण्डल के अधिष्ठातृ-देवता ने कर्मयोग का यह उपदेश अपने पुत्र और मनुष्य जाति के मूल वंशज मनु को किया था जो इस विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र होने से 'वैवस्वत मनु' कहलाया। इस मनु की सम्पूर्ण सन्तान इस पृथ्वी लोक में मानव, मनुष्य या मनुज कहलाती है। मनु का नाम आदम भी है जिससे आदम के सब पुत्र आदमी कहलाते हैं। इस मनु ने अपने पिता सूर्य द्वारा सीखा हुआ यह कर्म-योग का ज्ञान अपने पुत्र इक्ष्वाकु को सिखाया और फिर राजा इक्ष्वाकु से परम्परा द्वारा यह ज्ञान उसके परवर्ती राजवंशों में फैला था।

मैं स्वयं परमेश्वर हूँ और पूर्ण हूँ और संसार की सब घटनाओं से पूरी तरह अवगत हूँ, क्योंकि सबका मूल कारण मैं ही हूँ तुम्हें यह रहस्य भली भाँति जान लेना चाहिए कि—

"वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥" (गीता, ७।२६)

अर्थात्—हे अर्जुन ! पूर्व में व्यतीत हुए, वर्तमान तथा भविष्यकाल में होने

वाले सब भूतों को मैं जानता हूँ। परन्तु मुझ को (पूरी तरह से) कोई भी जानता नहीं है।

जब जीवात्मा पूर्वशरीर का त्याग करता है, तब वह दसों इन्द्रियों, मन बुद्धि और दस अन्य सूक्ष्म तत्त्वों का सार लेकर शरीर से पृथक् हो जाता है। जैसे वायु पुष्प से गन्ध लेकर बाहर निकलती है तथा जिस वस्तु में जाकर प्रवेश करती है उसमें उस गन्ध को फेंक देती है, इसी प्रकार जीवात्मा जब नवीन शरीर का निर्माण करती है तो उसमें इन इन्द्रियों, मन, बुद्धि और अन्य तत्त्वों का सार सूक्ष्म बीज के रूप में डाल देती है जिससे नवीन शरीर में इन्द्रियों, मन और बुद्धि आदि की उत्पत्ति हो जाती है और मस्तिष्क की सब शक्तियाँ उसमें भर जाती हैं। मस्तिष्क की एक शक्ति का नाम स्मरण-शक्ति है। दूसरी शक्तियों की भाँति यह शक्ति भी किसी जीव में क्षीण होती है और किसी में प्रबल होती है। क्षीण स्मरण शक्ति वाले लोग बहुत कम बातों को याद रख सकते हैं। कई बार तो ऐसा होता है कि ये क्षीण शक्ति वाले लोग कहीं अपनी छड़ी रख कर भूल जाते हैं तो कभी घड़ी रख कर खो जाते हैं। कभी उन्हें अपना चश्मा ढूंढ़ने से नहीं मिलता। परन्तु उत्कृष्ट प्रबल शक्ति वाले कुछ बच्चे ऐसे भी देखने में आते हैं जिन्हें अपने पूर्व-जन्म की बातें स्मरण हो जाती हैं और वे अपने पहले जन्म के घर-बार एवं सम्बन्धियों को पहचान लेते हैं। हमने स्वयं अपने जीवन में कई ऐसे बच्चों को देखा है और उनसे बातें करके इस तत्त्व को ठीक-ठीक समझा है। परन्तु यह स्मरण लाखों-हजारों में से किसी एक व्यक्ति को ही एक-आध जन्म के सम्बन्ध में होता है।

हे अर्जुन! तुम परंतप तो अवश्य हो, परन्तु पूर्वजन्मों की स्मरण-शक्ति का तुम में सर्वथा अभाव है। इसलिए तुम मेरे और अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्तों से अनभिज्ञ हो। इसीलिए तुमको मेरे द्वारा अपने पूर्व जन्म के कथन करने पर सन्देह उत्पन्न हुआ है। परन्तु तुमको यह बात अच्छी तरह से जान लेनी चाहिए कि मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं जिनका तुम्हें कोई ज्ञान नहीं है; क्योंकि पुण्य-पाप आदि के संस्कारों से तुम्हारी बुद्धि आच्छादित है। परन्तु मैं उनको जानता हूँ क्योंकि मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला हूँ जिससे मेरी ज्ञान-शक्ति सब प्रकार के आवरणों से रहित है॥

अब यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि साधारण मनुष्य तो मोक्ष को प्राप्त करके जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं परन्तु भगवान् सदा जन्म धारण करते ही रहते हैं और उनके कथन से यह सिद्ध हो रहा है कि अर्जुन ने भी

अनेक जन्म धारण किए हैं। तब उन्हें मोक्ष कब प्राप्त होगा ?

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है कि भगवान् के बिना तो वास्तव में और कुछ है ही नहीं। यह संसार, यह ब्रह्माण्ड, तथा यह पृथ्वी, सूर्य-चन्द्र आदि सब-कुछ उसी का खेल है। चाहे वह अनेक जन्म धारण करके इसमें एकरस रमता रहे, चाहे बिना जन्म धारण किये ये सब खेल खेले। वह तो सर्वेसर्वा है। उसी से हम सब निकले हैं और उसी में सबको मिलना है। इसलिए उसके सम्बन्ध में तो कोई ऐसी बात सोची भी नहीं जा सकती। रही अर्जुन के मुक्त होने की बात, वह अर्जुन तो भगवान् का संगी और साथी ही है, जो भगवान् के अवतार धारण करने पर उनका अनुसरण करता है। महाभारत (वन-पर्व, अध्याय १२) में लिखा है—

"नरस्त्वमसि दुर्धर्ष ! हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥"

अर्थात्—हे दुर्धर्ष (वीर अर्जुन) ! तुम पूर्वजन्म में नर थे, मैं नारायण था। अब इस समय इस लोक में कृष्ण और अर्जुन रूप में हम दोनों प्रकट हुए हैं।

एक बात और भी स्मरण रखने योग्य है कि जो अनेक महापुरुष मुक्त होकर भगवान् में मिल चुके हैं, जब कभी संसार के सुधार की आवश्यकता होती है तो भगवान् उनमें से किसी एक को समयानुसार अपने अनन्त वपु से पृथक् करके संसार में भेज देते हैं और संसार में वह कार्य पूरा हो जाने पर वे महात्मा लोग फिर मुक्त होकर परमात्मा में मिल जाते हैं। महात्मा बुद्ध, महात्मा मूसा, महावीर वर्धमान, महात्मा ईसा और हजरत मुहम्मद आदि सब लोग इसी प्रकार के थे। जब भारत में हिन्दू-मुसलमान परस्पर धर्म के नाम पर लड़ रहे थे तो उनको समझाने और शान्ति स्थापित करने के लिए भगवान् ने समय-समय पर अनेक मुक्त हुए महात्मा लोग अपने अनन्त वपु से पृथक् करके हिन्दुओं और मुसलमानों के शरीर में संसार में भेजे थे, जिनकी गिनती अधिक होने से यहाँ नामों का उल्लेख नहीं किया जा रहा है। मध्य-ाल में मुसलमानों में कबीर प्रमुख थे और पंजाब में गुरु नानक देव शिरोमणि थे जो महाज्ञानी राजा जनक के अवतार थे।

यहाँ एक बात और भी विचार करने योग्य है वह यह कि भगवान् का गीता-सम्बन्धी यह उपदेश केवल अकेले अर्जुन के लिए ही नहीं है। यह तो मनुष्य-मात्र के लिए है। इसीलिये भगवान् ने इसका ऐसे ढंग से वर्णन किया है जिस पर आचरण करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। दूसरे, "साईयां भए कोतवाल, अब डर काहे का" अर्थात् जब सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता-भर्त्ता-हर्त्ता स्वयं अर्जुन से कहता है—कि, "भक्तोऽसि मे सखा चेति", अर्थात्—हे

अर्जुन ! तू मेरा भक्त है, तू मेरा सखा है—तो फिर अर्जुन को मोक्ष की भूख कहाँ की शेष रह गई ? भक्त तो सदा भगवान् के साथ ही रहता है और सखा या मित्र तो मित्र का संग पल भर के लिए भी नहीं छोड़ता है। जैसे मीन जल से वियुक्त होते ही विनष्ट हो जाती है, इसी प्रकार भक्त और सखा भगवान् से कभी पृथक् होकर नहीं रह सकता। इसलिए नर-रूप अर्जुन नारायण के साथ ही जन्म धारण करता है। अतः भगवान् और अर्जुन के जन्मों का कोई अन्त नहीं है। उन सब को भगवान् तो जानते हैं, परन्तु अर्जुन नहीं जानता। यह बात भगवान् के कथन से भली भाँति प्रकट है ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

अजः+अपि सन्+अव्यय+आत्मा भूतानाम्+ईश्वरः+अपि सन् । प्रकृतिम्+स्वाम्+अधिष्ठाय सम्भवामि आत्म-मायया ॥

अजः (वि०) न जायते इति, √जन्+ड । नञ् तत्पु० । (पुं०) प्र० ए० व० =जन्म-रहित । अजन्मा । सदा से वर्तमान । अनादि ।

अपि=(अव्यय) भी ।

सन्=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+शतृ=सत्+(पुं०) प्र० ए० व०=सन्=होता हुआ ।

अव्यय+आत्मा=(वि०) अक्षीण-ज्ञान शक्ति-स्वभाव वाला । यस्य आत्मनः (स्वभावस्य स्वरूपस्य वा) व्ययो नास्ति सः (नञ् बहुव्री०)=जिसके ज्ञान-शक्ति-रूप-स्वभाव का नाश नहीं होता । अथवा जिसके स्वरूप का कभी नाश नहीं होता । अविनाशी स्वरूप वाला ।

भूतानाम्=(नपुं०) √भू+क्त=भूत+षष्ठी० ब० व०=सब भूतों का । ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों का । जीव तथा निर्जीव सब का ।

ईश्वरः=(पुं०)√ईश् (अदा० आत्म० अक०=ऐश्वर्यवान् होना । समर्थ होना)+वरच्=ईश्वर+प्र० ए० व०=ईशन-शील । नियमन करने वाला—ईश्वर । स्वामी ।

अपि=(अव्यय) भी ।

सन्=(पुं०) होता हुआ ।

प्रकृतिम्=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र √कृ+क्तिन्=प्रकृति+द्विती० ए० व०=प्रकृति को । जगत्-मोहिनी, त्रिगुणात्मिका (अपनी) नारायणी माया को ।

स्वाम्=(सर्व०) स्व+(स्त्री०) द्वितीयो० ए० व०=अपनी को।

अधिष्ठाय=अधि√स्था (भ्वा० पर० अक०=स्थित होना)+ल्यप्=अधिष्ठाय=आश्रय करके। अधीन करके। वश में करके।

सम्भवामि=सम् √भू+लट्० उ० पु०, ए० व०=प्रकट होता हूँ। जन्म लेता हुआ सा भासमान होता हूँ। शरीर वाला-सा, जन्म लिया हुआ-सा हो जाता हूँ। [तात्पर्य यह कि वास्तव में मैं कभी जन्म नहीं लेता हूँ—परन्तु साधारण जनता को किसी माता के उदर से जन्म लेता हुआ प्रतीत होता हूँ।]

आत्म-मायया=(स्त्री०) आत्मनः मायया (षष्ठी० तत्पु०) न परमार्थतः लोकवत्। [माया+तृती० ए० व०=मायया]। अपनी माया से। अपनी योग-माया से। अपनी लीला से।

अर्थ—(मैं) अजन्मा, अक्षीण ज्ञान-शक्ति-स्वभाव वाला तथा अविनाशी स्वरूप होता हुआ भी, और सम्पूर्ण भूतों का (नियमन करने वाला) ईश्वर होता हुआ भी, अपनी (जगत्-मोहिनी त्रिगुणात्मिका नारायणी) प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया या अपनी लीला द्वारा (मनुष्य-शरीरधारी होकर प्रकट होता हूँ [अन्य लोगों की भाँति वास्तव में मेरा जन्म नहीं होता है] ॥६॥

व्याख्या—हे अर्जुन! मैं वास्तव में अजन्मा हूँ। तो भी दशरथ-सुत राम तथा वसुदेव-पुत्र कृष्ण आदि अनेक रूपों में जन्म लेता हुआ लोगों को दिखाई देता हूँ। यद्यपि मैं अक्षीण ज्ञान-शक्ति-स्वभाव वाला हूँ, तो भी यशोदा, नन्द, देवकी, वसुदेव, गोप और गोपियों में विचित्र नर-लीलाएँ कर चुका हूँ। और शत्रु-भाव वालों को भूल-भूलैयों में डाल चुका हूँ। सीता के वियोग में वन-वन रोता फिरा हूँ। लक्ष्मण को मूर्च्छित देख कर विलाप करके विह्वल हुआ हूँ। मेरे ये सब काम रंगमंच पर खेल करने वाले अभिनेता के तुल्य ही होते हैं जिनको सत्य समझकर दर्शक लोग प्रभावित और रस-युक्त हो जाते हैं। मैं अविनाशी-स्वरूप होता हुआ भी लोगों को शरीर छोड़कर संसार से जाता हुआ दिखाई देता हूँ। परन्तु जब कोई भक्त मेरी भक्ति करता है तो मैं भक्त के मनचाहे रूप में उसके पास आकर उसे दर्शन देता हूँ, बातचीत करता हूँ, उसके दुःखों को हरता हूँ और उसकी प्रत्येक अभिलाषा पूर्ण करता हूँ। इससे तुम्हें यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि मैं जाकर भी कहीं जाता नहीं हूँ, बल्कि सब जगह विद्यमान रहता हूँ।

मैं समस्त भूतों का नियमन करनेवाला—अर्थात् ईश्वर—हूँ। परन्तु सर्व-साधारण को साधारण संसारी मनुष्य-सा प्रतीत होता हूँ। इसका कारण

यह है कि अज्ञान के कारण अधिकतर लोग मेरे तत्त्व को जानते नहीं हैं। उन की बुद्धियों पर मेरी माया ने पर्दा डाल रखा है जो आँखों के सामने छाए हुए घने अन्धकार के समान है। इस अज्ञान-रूपी तिमिर-पटल को ज्ञान-रूपी भास्कर की किरणें ही नष्ट कर सकती हैं। ज्ञान की प्राप्ति के विना प्रभु की कृपा नहीं होती और विना साधना तथा विना अन्तःकरण के शुद्ध हुए ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भगवान् स्वय (गीता १४।३-४ में) कहते हैं—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

अर्थात्—हे भारत ! महद्ब्रह्म (प्रकृति) मेरी योनि (स्त्री) है। मैं उस प्रकृति-रूप योनि में गर्भ को स्थापन करता हूँ। तब फिर सब भूतों या प्राणियों की उत्पत्ति होती है।

हे कौन्तेय ! नाना प्रकार की सब योनियों (स्त्री-नामधारी सब जीवों) में जो-जो मूर्तियां (प्राणधारी जीवों की देहें) उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि (जन्म देने वाली माता) महद्ब्रह्म (प्रकृति) है, और उसमें बीज डालने वाला पिता मैं हूँ ॥४॥

पिता का शरीर पुत्र से पृथक् होता है; ऐसा कभी नहीं होता कि पिता ही बीज डाले और फिर पिता ही पुत्र के रूप में जन्म ले। सबका पिता और उत्पत्ति का कारण या बीज डालने वाला तो परमात्मा ही है जिस के उत्पन्न करने वाला और कोई पिता होना भी असम्भव है। फिर योनि में डाला हुआ बीज बढ़ता-फूलता और कुछ काल के अनन्तर पूरे बच्चे का रूप धारण करता है। परन्तु जिसके लिए बीज डालने वाला कोई नहीं है तथा जिसका बीज भी कोई नहीं है, तो उसके उत्पन्न होने या गर्भ में आने का भी कोई प्रश्न नहीं है। इसलिए भगवान् के अवतार अन्य जीवों द्वारा किसी भी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न नहीं हुआ करते। परन्तु भगवान् किसी भक्त को दिए हुए वरदान के अनुसार जन्म लेते हुए भासमान अवश्य होते हैं। और वह केवल उनका एक खेल या नाटक ही होता है। [illegible] बिना बीज ही भगवान् स्वयं प्रवेश करके गर्भ से बाहर निकलते हुए [illegible] हैं। अज्ञानी लोग तो इसे भगवान् का जन्म ही समझते हैं।

परन्तु वास्तव में वह उनका जन्म नहीं होता केवल प्रकट होना होता है क्योंकि न तो उनकी उत्पत्ति के लिए कोई बीज डालने वाला था, न वह गर्भ बढ़ा या फूला था। जैसे जब हनुमान्‌जी सीता का पता लगाने के लिए समुद्र के ऊपर आकाश में उड़कर लंका को जा रहे थे, तो मार्ग में उनको 'सुरसा' नाम की एक वृद्ध स्त्री ने पकड़ लिया। हनुमान् जी ने उससे अपने पकड़े जाने का कारण पूछा तो वह बोली—"मैं बहुत भूखी हूँ और तुम्हें खाना चाहती हूँ।" यह सुनकर हनुमान् जी बोले—

राम-काज करि फिरि मैं आवउँ।
सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावउँ॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई।
सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥

तब सुरसा बोली—"कवनेहु जतन देइ नहिं जाना"॥

तब फिर हनुमान् जी हँसकर बोले—"तो फिर देखती क्या है? खा ले।"

यह सुनकर सुरसा ने अपना मुख बहुत फैलाया। यह देखकर हनुमान्‌जी ने भी अपना शरीर बहुत बड़ा कर लिया। तब सुरसा राक्षसी ने मुख को और अधिक फैलाया। अब हनुमान्‌जी ने एक अत्यन्त छोटा रूप धारण किया और सुरसा के मुख के द्वारा उसके जठर में प्रविष्ट होकर बहुत जल्दी बाहर निकल आए और हाथ जोड़कर बोले—

"हे माता! तूने मुझे ठीक ही अच्छी तरह से खा लिया है। अब मुझे तू जाने की आज्ञा दे।" तब सुरसा उनकी योग-शक्ति और आत्मिक बल के प्रभाव से अतीव प्रसन्न होगई तथा "शिवास्ते सन्तु पन्थानः" कहकर उनके मार्ग से पीछे हट गई।

हनुमान् के इस खेल की भाँति कुछ ऐसा ही खेल या कौतुक अवतार धारण करने के समय भगवान् करते हैं। वे अजन्मा होने से साधारण जीवों की भाँति गर्भ में नहीं आते। वे न किसी बीज से उत्पन्न होते हैं और न वृद्धि को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे अव्यय या अविनाशी हैं। केवल जन्म का नाटक रचते हैं। भगवान् कभी मृत्यु का ग्रास भी नहीं बनते क्योंकि वे तो सब जीवों के स्वयं कर्ता-भर्ता-हर्ता और स्वामी हैं। भगवान् अपनी प्रकृति को अधीन करके अर्थात् जगत् के सब जीवों के उत्पत्ति-कारण को एक ओर फेंक कर अपनी माया अर्थात् अपनी कारीगरी से ही प्रकट होते हैं। बुद्धिमान् और ज्ञानी लोग ही भगवान् की कृपा के इस रहस्य को समझते हैं। परन्तु मूर्ख

लोग अपनी अज्ञानता से भगवान को जन्मने और मरने वाला समझकर विमोहित होते हैं।

भगवान् की कभी मृत्यु नहीं होती। वे तो अपनी माया द्वारा केवल अन्तर्धान ही होते हैं—अर्थात् उस समय लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाया करते हैं। इसका प्रमाण यह है कि मरे हुए जीव अपने पहले शरीर में कभी वापस पृथ्वी पर लौट कर नहीं आते परन्तु भगवान् तो हर जगह प्रत्येक काल में उसी स्वरूप में तत्काल भक्त के सामने प्रकट होकर उपस्थित हो जाते हैं जिस स्वरूप की वह आराधना या आकांक्षा करता है। तथा उससे अनुराग और वार्तालाप कर उसकी मनोकामनाओं को पूर्ण करते हैं। गुरु नानकदेवजा ने भगवान् को अजन्मा और अविनाशी समझकर ही कहा था—

इक्कु सिमरिए मानका जो जल थल रहा समाय।
सो काहे सिमरिए जो जम्मे ते मर जाय॥

इसमें अवतारवाद की कुछ भी निन्दा नहीं है, क्योंकि अवतार तो वास्तव में न जन्मता है और न मरता है। वह तो प्रभु का एक ड्रामा या नाटक ही है। ज्ञानी इस भेद को भली भाँति जानता है, परन्तु अज्ञानी के सम्बन्ध में तो भगवान् ने स्वयं गीता, ७।२५ में कहा है—

"मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।"

अर्थात्—यह मूर्ख जन-समुदाय (अपनी मूढ़ता के कारण) मुझको अजन्मा और अविनाशी नहीं समझता है।

प्रकृति भगवान् की घोड़ी है जिस पर काठी डाले चढ़े हुए मनुष्य की भाँति वे सदा सवार रहते हैं। और इस अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के द्वारा जीवों के पूर्वले कर्मों के अनुसार बार-बार उनकी रचना करते हैं। और भगवान् इस मूलप्रकृति को अपने वशवर्ती किए हुए अर्थात् प्रकृति के वश में न होकर अपनी योग-माया से अवतीर्ण होते हैं। परन्तु साधारण जीवों के जन्म और मरण उनके कर्मों के अनुसार होते हैं। उनकी अपनी इच्छा के अनुसार नहीं होते। परन्तु भगवान् का प्रकट होना तथा अन्तर्धान होना उन की अपनी इच्छा पर निर्भर है। वे सब कुछ करने में समर्थ हैं। गीता के ग्यारहवें अध्याय में उनके द्वारा विराट् रूप का प्रदर्शन इस सत्य का एक बहुत बड़ा प्रमाण है। जन्म-काल में वसुदेव और देवकी ने भगवान् को अपने सम्मुख शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी चतुर्भुज विष्णु के रूप में देखा था। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०।३।९-१०) में लिखा है—

"तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥९॥

महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥१०॥

तब माता देवकी ने प्रार्थना की थी—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शंखचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥

[श्रीमद्भाग०, १०।३।३०]

अर्थात्—हे विश्वात्मन् ! शंख, चक्र, गदा और पद्म की आभा से युक्त इस अपने अलौकिक चतुर्भुज रूप को अब छिपा लो !

क्या कोई नवजात शिशु इस प्रकार का कौतुक और प्रदर्शन कर सकता है? बिल्कुल नहीं । इससे सिद्ध होता है कि भगवान् कभी जन्म नहीं लेते । बल्कि वे तो अवतार रूप में प्रकट होते हैं; परन्तु अपनी मर्यादा को भंग न करते हुए जन्म लेते हुए से मालूम होते हैं ।

वास्तव में भगवान् तो अविनाशी शुद्ध बुद्ध स्वतन्त्र मुक्त सर्वज्ञ सत्यस्वरूप और सत्यसंकल्प हैं । वे अपने किसी पूर्व कर्म के परवश होकर जन्म ग्रहण नहीं करते । बल्कि केवल अपनी इच्छा से ही अवतीर्ण होते हैं । इसमें उनका लक्ष्य भक्तों की रक्षा, दुष्टों का नाश और नारायणी धर्म की स्थापना करना होता है ।

जीवन-मुक्त पुरुष सर्वशक्ति-सम्पन्न होते हैं । वे जो चाहते हैं करते हैं । इस अवस्था को प्राप्त होकर वे सच्चिदानन्द-घन पर-ब्रह्म में लीन हो जाते हैं । कभी-कभी वे धर्म की रक्षा करने के लिए अपने शिव और सत्संकल्प से अपनी माया द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक स्वशरीर रच लेते हैं । वे भी अवतार कहलाते हैं । वे किसी कर्म-बन्धन में नहीं होते । इनके सम्बन्ध में श्रुति में कहा है—

"अजायमानो बहुधा विजायते ।"

अर्थात्—जन्म न लेते हुए अनेक रूपों में प्रकट होते हैं । कभी वे नरसिंह आदि रूपों में अचानक प्रकट होते हैं । कभी राम, कृष्ण आदि रूपों में अवतीर्ण होते हैं । भगवान् ने नारद से कहा था—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यति नारद !
सर्वभूत-गुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥"

अर्थात्—हे नारद ! जिस मेरे शरीर को तू (चर्म-चक्षुओं से) देखता है वह (मेरा शरीर) मेरे द्वारा माया से रचा हुआ है । परन्तु तू मुझ सर्वगुण-सम्पन्न को देखने के लिये समर्थ नहीं है ।

जिस प्रकार दर्पण में जो प्रतिविम्ब दिखाई देता है, वह यद्यपि हमें

हूबहू असल वस्तु के तुल्य असल ही दिखाई देता है, परन्तु दृश्यमान रूप के बिना उसमें कुछ भी असलियत नहीं होती। वह उसी समय तक स्थिर रहता है जब तक असल वस्तु सामने स्थित या विद्यमान रहती है। इसी प्रकार देवकी, कौसल्या आदि माताएँ दर्पण-रूप होती हैं। भगवान् बिम्ब या असल रूप हैं। उनका जन्म प्रतिबिम्ब मात्र है। जिस प्रकार असल स्वरूप हाथ-पाँव हिलाता है, मुंह बनाता है, उसका प्रतिबिम्ब भी वैसा ही करता हुआ दिखाई देता है। यही बात भगवान् के जन्म लेने और अवतार धारण करने के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। किसी के वस्त्र से प्रेम करना, चित्र या प्रतिबिम्ब से प्रेम करना वास्तव में उसीसे प्रेम करना होता है। यही बात भक्त के प्रेम की समझनी चाहिए। अलाउद्दीन खिलजी ने दर्पण में पद्मिनी का प्रतिबिम्ब ही देखा था, जो हाथ में नंगी तलवार लिये उसे मारने के लिए घूर रहा था। परन्तु वह उसको साक्षात् पद्मिनी समझकर उस पर मोहित हो गया था ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः+भवति भारत ! अभ्युत्थानम्+अधर्मस्य तदा+आत्मानम् सृजामि+अहम् ॥

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले, यद्+दा=जिस समय। जब।

यदा=(अव्यय) जब।

हि=(अव्यय) ही।

धर्मस्य=(पुं० नपुं०) धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा। √धृ (भ्वा० उभ० सक०=धारण करना)+मन्=धर्म। षष्ठी० ए० व०= धर्म की।
[धर्म उस काम करने का नाम है जिसके करने से करने वाले का इस लोक में अभ्युदय हो, और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो]। प्राणियों के कल्याण के साधनों की।

ग्लानिः=(स्त्री०) √ग्लै (भ्वा० पर० अक०=हानि होना, क्षय होना)+नि =ग्लानि+प्र० ए० व०=ह्रास। हानि।

भवति=√भू+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होती है।

भारत !=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे भारत !। हे भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन !
[भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत+अण्=भारत]।

अभ्युत्थानम्=(नपुं०) अभि-उत् √स्था (भ्वा० पर० अक०=खड़ा होना) +ल्युट्=अभ्युत्थान+प्र० ए० व०=वृद्धि । उन्नति । तरक्की ।
अधर्मस्य=(पुं०, नपुं०) नञ् तत्पु० । षष्ठी० ए० व०=अधर्म की ।
तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले, तद्+दा=तदा=उस समय । तब ।
आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=अपने आपको । अपने रूप को । अपने स्वरूप को ।

सृजामि=√सृज् (दिवा० आत्म० सक०=रचना)+लट्०, उ० पु०, ए० व० =रचता हूँ । प्रकट करता हूँ ।

अर्थ—हे श्रेष्ठ भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने आपको (मनुष्य-रूप में) रचता हूँ (अर्थात् अपनी इच्छा से अवतार धारण करता हूँ) ॥७॥

व्याख्या—श्रीभगवान् बोले ! हे भरत-वंशज अर्जुन ! तेरे वंश के पूर्वज राजा भरत के वंश में बहुत से प्रतापी राजा ऐसे हो चुके हैं जो बहुत धर्मात्मा और सदाचारी थे तथा जिन्होंने अनेक दुष्ट पुरुषों का दमन किया था, नारायणी धर्म का प्रचार किया था तथा ऋषियों-मुनियों और साधु-सन्तों की सब प्रकार से रक्षा की थी । पापियों को दबाने का भरसक प्रयत्न किया था । परन्तु अब इस भरत वंश में ही दुःशासन और दुर्योधनादि ऐसे कुल-कलकी, दुष्ट पुरुष उत्पन्न हो गए हैं जिन्होंने अपने कुल की वधू को सभा में लाकर सबके सामने नंगा करने का प्रयत्न किया और इस कुकर्म को करते समय तनिक-सी लज्जा का भी अनुभव न किया । तथा छल-कपट करके अपने वंशजों का धर्म-पूर्वक अर्जित किया हुआ राज्य छीन लिया । इन लोगों का बर्ताव जब अपनों के साथ ही अत्यन्त दुष्टतापूर्ण है तो दूसरों के साथ ये कैसे सद्-व्यवहार कर सकते हैं ? इसलिए आप लोगों के लिए यह उचित और यथायोग्य है कि पूर्वजों का अनुसरण करते हुए युद्ध करके दुर्योधनादि दुष्टों का नाश करो । युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है । और आप क्षत्रिय हो, इसलिए अपने धर्म का पालन करो । देखो, मैंने इस समय धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि को देख कर अपनी इच्छा से अवतार धारण किया है । सुनो, मैं (महाभारत, पर्व ३, अध्याय १८९ में) पहले भी कह चुका हूँ, कि—

दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन्यदोत्पस्यन्ति दारुणाः ॥२८॥
तदाऽहं संप्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥२९॥

अर्थात्—जब हिंसानुरक्त दारुण और प्रधान देवताओं द्वारा भी न मारने योग्य दैत्य और राक्षस इस भूलोक में उत्पन्न हो जाते हैं, तब मैं धर्मात्माओं की कुल में जन्म लेता हूँ और मनुष्य देह में प्रविष्ट होकर सबको शान्त करता हूँ ॥

श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—

"यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥"
[भाग० ९।२४।५६]

अर्थ—इस पृथ्वीलोक में जब-जब धर्म का क्षय और पाप की वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् ईश्वर हरि अपना सृजन करते हैं। अर्जुन को 'भारत' कहने से भगवान् का एक और अभिप्राय भी भासमान होता है। [भारतम् अभिजनोऽस्य, भारत-अण्, अणो लुक्] इस व्युत्पत्ति से 'भारत' भारत देश में रहने वाले पुरुष का नाम भी होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे धर्म-प्रधान भारत-देश के रहने वाले अर्जुन ! तू सोच कि तेरे देश के भीतर भी धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि हो रही है जिससे मुझ सच्चिदानन्द-घन परमेश्वर को अवतार धारण करना पड़ा है। परन्तु एक तुम हो जो अपने क्षत्रिय-धर्म का त्याग करके भिक्षा माँगकर निर्वाह करने की बात कर रहे हो। यह बहुत आश्चर्य की बात है !

हे अर्जुन ! मेरे अवतार धारण करने का न कोई निश्चित समय होता है और न कोई निश्चित देश ही होता है। परन्तु जब कभी धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होती है, तभी मैं अवतार धारण करता हूँ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान से भगवान् का क्या अभिप्राय है, जिनके वर्तमान होने पर वे अवतार धारण करते हैं।

यदि हम यह कहें कि वर्तमान हिन्दु धर्म की ग्लानि होने पर भगवान् अवतार धारण करते हैं तो यह बात ठीक मालूम नहीं होती है क्योंकि संसार में दूसरे भी बहुत से धर्म प्रचलित हैं। क्या उन धर्मों की हुई हानि को भगवान् धर्म की हानि नहीं मानते ? यदि यह बात ठीक मान ली जाए तो भगवान् पर पक्षपाती होने का आरोप लग जाएगा। परन्तु भगवान् पक्षपाती कदापि नहीं हैं, वे तो समद्रष्टा माने जाते हैं। और वे सारी सृष्टि के स्वामी हैं। वे किसी का पक्षपात नहीं करते।

संसार में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं जिनके धर्म प्रायः परस्पर एक

दूसरे से टकराते हैं। जैसे कोई मूर्तिपूजक है तो कोई दूसरों की आराध्य मूर्तियों को तोड़ डालना अपना धर्म समझता है। कोई शाकाहारी है तो दूसरा कोई देवी-देवताओं अथवा अपने इष्टदेव को पशु मारकर उसकी बलि भेंट करता है। तथा कोई केश धारण करना पुण्य तथा मुण्डन कराना पाप समझता है, कोई इसके विपरीत आचरण करना अपना धर्म समझता है। इसी प्रकार कोई धर्मान्ध व्यक्ति केवल अपने धर्म को पवित्र और शेष सब धर्मों को अपवित्र मानता है। ज्ञानी कहलाने वाले लोग तो गुरु ग्रन्थ साहिब को केवल पढ़ते ही हैं और साधारण जनता और अज्ञानी लोग धरती पर सिर रखकर केवल मस्तक ही टेकते हैं और ब्रह्मज्ञानी लोग केवल उसके अनुसार आचरण ही करते हैं। भला अब इन तीनों श्रेणियों में से किसके धर्म को बचाने के लिए भगवान् अवतार धारण करेंगे ? दशों गुरु अपने समय के अवतार थे जो धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि को देखकर ही संसार में अवतीर्ण हुए थे। वे सारे भारत के थे, किसी विशेष जाति या फिरके के लिए न थे।

असली बात तो यह है कि उस धर्म और अधर्म के ठीक अर्थों को तो भगवान् ही जानते हैं जिनके पतन और उत्थान को देखकर भगवान् अवतार धारण करते हैं। परन्तु हमारे विचार में सब धर्मों के बाहरी चिह्नों या रहन-सहन के ढंगों से तो नारायणी धर्म का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। ये सब आडम्बर त्याग कर मनुष्य को देश-काल-परिस्थिति और जल-वायु आदि से लाभ उठाते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। यदि किसी मतान्तर के बाहरी बन्धन स्वास्थ्य या जीवन-यापन की सुविधा में बाधक हों तो उन्हें तत्काल त्याग देना चाहिए।

यह बात भी ठीक नहीं है कि केवल भारत में ही अवतार प्रकट होते हैं। क्योंकि मूसा, ईसा मुहम्मद, कन्फ्यूशस, जरथुश्त आदि बहुत से अवतार भारत से बाहर के देशों में भी हो चुके हैं और होते रहेंगे।

चूंकि भारत बहुत प्राचीन और इतना विशाल देश है जिसमें संसार की कुल जन-संख्या का पाँचवाँ भाग निवास करता है, इसलिए इस धरती पर राम, कृष्ण, परशुराम, बुद्ध, महावीर आदि अनेक अवतार समय-समय पर होते रहे हैं। इस कलियुग में भी कई महात्मा या आंशिक अवतार हुए हैं जिन्होंने सच्चे नारायणी धर्म का प्रचार समय-समय पर किया है। चैतन्य महाप्रभु, समर्थ रामदास, कबीर, नानक, शिवाजी, प्रताप और गुरु गोविन्दसिंह प्रभृति अनेक महापुरुष अवतार ही तो थे जिन्होंने अत्याचार और पाप को हटाने के लिए तथा धर्म को फैलाने के लिए प्रयत्न किया था।

थोड़ा समय हुआ, हमने वर्तमान पीढ़ी के अवतार को अपनी आँखों देखा

था। परन्तु अभी तक बहुत से लोगों ने उसको पहचाना नहीं है। इस महापुरुष को असली रूप में देखने के लिए लोगों को अभी और बहुत से वर्षों की प्रतीक्षा करनी होगी। उसने न केवल अकेले भारत की, अपितु सारे संसार की दासता की शृंखलाओं को शान्ति और अहिंसा के शस्त्रों से काटकर महासागरों के अगाध तलों में फेंक दिया है। इस अवतार का नाम महात्मा गांधी था जिसके सम्बन्ध से कवि ने ठीक ही कहा है—

"हजारों वर्ष के पीछे यहाँ इक देव आया था,
कि जिसने आदमी को आदमी बनना सिखाया था।
नहीं वह स्वर्ग से कोई यहाँ सन्देश लाया था,
पिला कर सत्य का अमृत मुक्त भारत कराया था।"

अब सोचने योग्य बात यह है कि सच्चा धर्म या नारायणी धर्म क्या है? एक वाक्य में इसका उत्तर यह हो सकता है—"प्रत्येक आदमी का आदमी बनकर रहना ही सच्चा मानव धर्म है। अथवा वह काम, जिसके करने से करने वाले का इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो, वही शुद्ध नारायणी धर्म है। उसकी पूर्त्ति के लिए ईश्वर को सब कालों में सर्वत्र व्यापक जानकर उस पर विश्वास रखना परमावश्यक है; स्वयं जीना और दूसरों को जीने देना इस धर्म का एक विशेष अंग है। सत्य बोलना, न्याय करना, दीनों पर दया आदि कर्म निष्काम भाव से करते रहना, सर्वोदय की अभिलाषा करना, अपने नियत धर्म पर चलते हुए भी अन्य के धर्म का विरोध न करना और मोक्ष-प्राप्ति के लिए यत्नशील होना इत्यादि सब सच्चे नारायणी धर्म के लक्षण हैं।

यदि सब लोग सच्चे नारायणी धर्म का अनुसरण करने लग जाएँ, तो सब लोग निःसन्देह सदा सुखी और शान्त रहें। परन्तु इस समय हमारे देश की स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वर्तमान काल के हाकिम न्याय करने में असमर्थ हैं। और व्यभिचार, भ्रष्टाचार तथा अत्याचार आदि दोष नित्य नये सूर्य बढ़ते ही जा रहे हैं। धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान हो रहा है, इसलिए इस समय संसार किसी नये अवतार के प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहा है ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

परित्राणाय साधूनाम्+विनाशाय च दुष्कृताम् धर्म-संस्थापन+अर्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

परित्राणाय=(नपुं०) परि√त्रै (भ्वा० आत्म० सक०=रक्षा करना, बचाना) +ल्युट्=परित्राण। चतु० ए० व०=परित्राणाय, परिरक्षणाय=रक्षा करने के लिए। बचाने के लिए। उद्धार करने के लिए।

साधूनाम्=(पुं०)√साध् (स्वा० पर० सक०=पूरा करना। जीत लेना)+उन्=साधु। षष्ठी० ब० व०=साधूनाम्, सन्मार्गस्थानाम्=साधुओं के। सन्मार्गस्थ पुरुषों के। भले या पुण्यात्मा पुरुषों के।

विनाशाय=(पुं०) वि √नश् (दिवा० पर० अक०=नष्ट होना)+घञ्= =विनाश+चतु० ए० व०=अच्छी तरह से नाश करने के लिए। मलियामेट करने के लिए।

च=(अव्यय) और।

दुष्कृताम्=(नपुं०, पुं०) दुस्√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+त्= दुष्कृत्। षष्ठी ब० व०=दुष्कृताम्, पापकारिणाम्=दूषित कर्म करने वालों का। दुष्टों के।

धर्म-संस्थापन+अर्थाय=(नपुं०) धर्मस्य सम्यक् स्थापनं तदर्थम्=धर्म की अच्छी प्रकार स्थापना करने के लिए।

[सम् √स्था+णिच्+पुक्+ल्युट्=संस्थापन]

सम्भवामि=सम् √(भ्वा० पर० अक०=होना)+लट्, उ० पु०, ए० व० =(मैं) प्रकट होता हूँ।

युगे युगे=(नपुं०) √युज् (दिवा० आत्म० सक०; रुधा० उभ० सक०)+घञ्, कुत्वं न गुणः=युग+सप्त० ए० व०=युगे। प्रतियुगम्। युग-युग में। प्रत्येक युग में। समय-समय पर।

अर्थ—साधु पुरुषों (सन्मार्ग में स्थित भले लोगों) की रक्षा करने के लिए, पाप करने वालों (दुष्टों) का अच्छी तरह से नाश (मलियामेट) करने के लिए और धर्म की अच्छी प्रकार स्थापना करने के लिए (मैं) युग-युग में अर्थात् समय-समय पर प्रकट होता हूँ ॥८॥

व्याख्या—गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' में भगवान् के इस श्लोक में कथित भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"जब जब होइ धर्म कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
सीदहिं धेनु बिप्र सुर धरनी॥

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा ।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।
असुर मारि थापहिं सुरन, राखहिं निजश्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जन्म कर हेतु ।।"

भगवान् ने इस श्लोक में अपने प्रकट होने के तीन मुख्य कारण बतलाए है—१. साधुओं का परित्राण करने के लिए; २. दुष्कृत्य करने वालों का विनाश करने के लिए; और ३. धर्म का संस्थापन करने के लिए ।

भगवान् के इस कथन का आशय यह है कि जिस-जिस समय संसार में साधुओं या भले पुरुषों पर संकट आया हुआ हो, दुष्कर्म करने वाले लोग संसार में खुले-बन्द दनदना रहे हों, गुण्डों और जंगबाजों के अत्याचार इस सीमा तक बढ़ चुके हों कि सम्पूर्ण संसार का विनाश समीप आ रहा दिखाई देता हो, इन दुष्टों के दुष्कर्मों से रणचण्डी रक्त की प्यासी हो रही हो, पापी पुरुषों ने धर्मात्माओं का धरती पर रहना असम्भव बना दिया हो, तथा सर्वसाधारण का दम नाक में कर रखा हो, धर्म-कर्म करने की राज्य की ओर से मनाही कर दी गई हो, सद्ग्रन्थों और सच्छास्त्रों का पठन-पाठन हुकमन बन्द कर दिया गया हो, गौओं के लुप्त हो जाने से दूध का अभाव हो गया हो तथा उसके स्थान पर मद्य की नहरें बह रही हों, हिंसक लोग भेड़-बकरियों की भाँति नर-वध कर रहे हों, शासक वर्ग कुकर्मी, व्यभिचारी, अन्यायी, निर्दयी, पक्षपाती, लोभी, निर्घृणी, घूसखोर, देशद्रोही, रक्तचूस और प्रजाभक्षक बन चुका हो, डरकर नहीं बल्कि निःशंक होकर दीनों दुःखियों का रक्त चूसा जा रहा हो, धर्म-निरपेक्षता रूप गाय का गला काटा जा रहा हो, दरिद्री लोग दाने दाने को तरस रहे हों, धनीलोग मनमानी मौजें उड़ा रहे हों, गरीबों की बहूबेटियां राजकर्मचारियों के सामने ही घसीट कर ले जाई जा रही हों और उनको नंगा करके नहरों-नदियों के जलों में जनाकीर्ण मार्गों में दिन के समय ही धक्के देकर डुबोया जा रहा हो, पापी दुष्टों के डर के कारण कोई उनको उनके चुंगल से छुड़ाने का साहस भी न करता हो, निर्बलों के गले घोंट कर उनके शव मार्गों में मरे हुए कुत्तों की तरह पड़े सड़ रहे हों, बालक और बालिकाएँ दिनरात अपहरण किए जा रहे हों, सती-साध्वी सुन्दर स्त्रियों को धक्के देकर घर से बाहर धकेला जा रहा हो अथवा पिता के घर से धन (दहेज) न लाने के कारण मिट्टी का तेल या पेट्रोल डाल कर जलाया जा रहा हो किंवा ऊँचे भवनों से नीचे गिराया जा रहा हो; सब ओर दिन-रात डाकू, चोर, उठाईगीरे, गठकतरे और बलात्कार करने वाले निःशंक अपने-अपने धन्धों में लगे हुए हों,

प्रजा के रक्षक ही उसके भक्षक बने हुए हों, सूबा-परस्ती और फिरकापरस्ती की दावानल और बड़वानल, सब ओर देश में भड़क रही हो; सद्धर्म या नारायणी धर्म पर चलने की स्वतन्त्रता छीनी जा रही हो; अपनी भाषा पढ़ने पर रोक लग रही हो; देश-भाषा का खुले-आम अपमान किया जा रहा हो; शराबी और कबाबी अभिमानी और अत्याचारी होकर रावण और कंस का रूप धारण कर चुके हों अथवा अपने मनघड़न्त धर्म पर प्रजा को चलाने के लिए हिरण्यकशिपु की भाँति विवश कर रहे हों—तब इन सब पापों द्वारा धर्म को डूबता और लुप्त होता हुआ देख कर मैं अवतार धारण करता हूँ। इस प्रकार मेरे प्रकट होने से साधुओं की रक्षा होती है और पापियों का उनके पापों के सहित नाश हो जाता है। जो लोग अहिंसा, अस्तेय, सत्य, सदाचार, परोपकार और शुभ कर्मों से युक्त होते हैं, दीन-दुःखी की सेवा करते हैं, सच्चे वर्णाश्रमों के धर्मों का परिपालन करते हैं, जगद्-दिखावे से परे रहते हैं, सद्गुणों के भण्डार और मधुर-भाषी हैं, प्रेमपूर्वक प्रभु-पदों में लीन रहते हैं, सदा मोक्ष-प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं, कोई ऐसा कर्म मन, वाणी शरीर द्वारा नहीं करते जिससे दूसरों को दुःख हो, तथा जो लोग सदैव सर्वोदय की इच्छा करते हैं—इत्यादि गुणों से युक्त लोग साधु कहलाते हैं चाहे वे गृहस्थ के रूप में हों, चाहे यति या संन्यासी के रूप में हों। जब दुष्ट और पापी लोग इनको सताते हैं तो इनके त्राण और धर्म के संस्थापन के लिए ही भगवान् अवतार लेते हैं। भगवान् अपने भक्तों को केवल दुष्टों से बचाते ही नहीं, बल्कि उन्हें अपनी भक्ति और मोक्ष भी प्रदान करते हैं तथा उनके पापों और शुभाशुभ सब प्रकार के कर्मों का समूल नाश कर देते हैं।

रावण-कंसादि दुष्टों को भगवान् शत्रु समझकर नहीं मारते हैं, बल्कि उन पर दया करके उनको तमोगुण-प्रधान अधम शरीरों से मुक्त करा देते हैं, ताकि वे अगले जन्म में सत्त्व-गुण-प्रधान शरीरों को प्राप्त होकर सद्गति या मोक्ष को पा सकें। जिस प्रकार कोई शल्य-चिकित्सक या डाक्टर किसी रोगी का गल-सड़ रहा अवयव काट कर पृथक् कर देता है अथवा टीका लगा कर उसके प्राणों की रक्षा करता है, उसी प्रकार दयालु कृपानिधि भगवान् भी दुष्टों-पापियों को मारकर उनके जीवात्मा को पाप-रूपी कीचड़ और कालिमा से रहित करके शुद्ध और स्वच्छ कर देते हैं। बच्चा रोता है, परन्तु दयालु माता उसके फोड़े को नश्तर लगवा ही देती है। दुष्ट और पापी लोग भी परमात्मा के रोगी पुत्र होते हैं जिनको स्वस्थ करना भी अवतार का ध्येय होता है। इनके अनन्तर धर्मात्मा पुरुष ही शेष रह जाते हैं जो भगवान् की आज्ञा और निर्देश के अनुरूप ही अनुसरण और आचरण करते हैं। संसार में

ऐसा होना ही धर्म का संस्थापन करना है। सीधे और सच्चे मार्ग पर प्रजा को चलाने के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। इस कार्य की पूर्त्ति के लिए प्रभु के आदेश किसी पुस्तक-रूप में लेखनी-बद्ध किए जाते हैं जो उस समय की धर्म-पुस्तक कहलाती है।

यद्यपि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे विना अवतार लिए भी अपनी इच्छा मात्र से ही संसार के सम्पूर्ण कार्य ठीक ढंग से कर सकते हैं परन्तु संसार का प्रकट होना ही भगवान् का केवल एक खेल मात्र है। जिस प्रकार कोई निरीह बालक मिट्टी के खिलौने बनाता और बिगाड़ता रहता है और खेल-कूद कर अपना समय व्यतीत कर देता है, इसी प्रकार भगवान् अपने दिन के प्रारम्भ में ही अनेक ब्रह्माण्डों की रचना कर देते हैं और उनमें नाना प्रकार की सृष्टियाँ रची जाती हैं। सब जीवों के निवास, भोजन और सुख का प्रबन्ध हो जाता है और भगवान् सब में स्वयं रमण करते हैं। तथा समय-समय पर अवतार धारण करके अपने दर्श-स्पर्श और वचनों से भक्तों के नेत्र और अन्तःकरण प्रफुल्लित करते हैं। दुष्टों का विनाश करते हैं। सज्जनों की रक्षा करते हैं और नारायणी धर्म की स्थापना करते हैं। जब भगवान् के दिवस का अवसान हो जाता है तो वे इस सम्पूर्ण संसार-खेल को समाप्त करके आनन्द-मग्न हो जाते हैं और सारा रचना-प्रसार उन्हीं में समा जाता है। उस समय सिवा भगवान् के कहीं और कुछ भी नहीं होता।

श्री तिलक महाराज इस श्लोक पर इस प्रकार टिप्पणी करते हैं—

"जगत् में जब अन्याय, अनीति और दुष्टता की अंधाधुंधी मच जाने से साधु लोगों को कष्ट होने लगता है और जब दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है तब अपने निर्माण किए जगत् की सुस्थिति को स्थिर रख कर उसके कल्याण के निमित्त तेजस्वी और पराक्रमी पुरुष के रूप में (गीता १०.४१) अवतार लेकर भगवान् समाज की बिगड़ी हुई व्यवस्था को फिर ठीक कर दिया करते हैं। इस रीति से अवतार लेकर भगवान् जो काम करते हैं, उसको लोक-संग्रह भी कहते हैं।"

देश-पिता महात्मा गांधी जी इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"यहाँ श्रद्धालु को आश्वासन है; और सत्य की, धर्म की, अविचलता की प्रतिज्ञा है। इस संसार में उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है, परन्तु अन्त में धर्म की ही जय होती है। सन्तों का नाश नहीं होता, क्योंकि सत्य का नाश नहीं होता। दुष्टों का ही नाश होता है, क्योंकि असत्य का अस्तित्व नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि इसका ख्याल रखकर अपने कर्तापन के अभिमान के कारण हिंसा न

करे। दुराचार न करे। ईश्वर की गहन माया अपना काम करती ही रहती है। यही अवतार या ईश्वर का जन्म है। वस्तुतः तो ईश्वर का जन्म होता ही नहीं।"

सन्तशिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर लिखते हैं—

"इस समय मैं धर्म-निष्ठा का पक्ष लेकर साकार रूप से अवतार धारण करता हूँ, और तब अज्ञान के अन्धकार को निगल जाता हूँ। मैं अधर्म की सत्ता का नाश करता हूँ, दोषों का नाम मिटा देता हूँ और साधु पुरुषों के हाथों से सुख की पताका फहरा देता हूँ। असुरों के कुलों का नाश कराता हूँ, साधुओं की प्रतिष्ठा बढ़ाता हूँ और धर्म, दया, नीति को एकत्र करके उनपर पुण्याक्षत छिड़कता हूँ—उनका विवाह सम्बन्ध कराकर उन्हें आशीर्वाद देता हूँ। मैं अविचारों की कालिख साफ करके विवेक का दीपक प्रज्वलित और उज्ज्वल करता हूँ जिससे योगियों के लिए वह समय दीपावली के समान हो जाता है। उस समय सारा विश्व आत्म-सुख से पूरी तरह भर जाता है, संसार में धर्म के बिना और कुछ भी दिखाई नहीं देता और भक्त-मण्डली मेरी सात्त्विक भक्ति से ओत-प्रोत होकर फूल जाती है।"

"हे अर्जुन ! जिस समय मैं साकार होकर अवतार धारण करता हूँ, उस समय पापों के पर्वत नष्ट हो जाते हैं और पुण्यों का स्वर्णमय प्रभात प्रकट हो जाता है। इस प्रकार के कार्यों के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार धारण करता हूँ। जिसे यह रहस्य मालूम हो जाए, उसी को इस संसार में सच्चा विवेकशील समझना चाहिये" ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

जन्म कर्म च मे दिव्यम्+एवम्+यः+वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहम्+ +पुनः+जन्म न+एति माम्+एति सः+अर्जुन ! ॥।

जन्म=(नपुं०)√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+मनिन्= जन्मन्+प्र० ए० व०=जन्म। मायामय जन्म।

कर्म=(नपुं०) √कृ (तना० उभ० सक०=करना)+मनिन्=कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म। साधु-परित्राणादि कर्म।

च=(अव्यय) और।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी ए० व०=मे, मम=मेरे। मेरा।

दिव्यम्=(वि०) √दिव् (दिवा० पर० अक०, सक०=चमकना)+यत्= दिव्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=दिव्यम्, अप्राकृतम्=अलौकिक है। अप्राकृतिक है। दिव्य है।

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार।
यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो। जो पुरुष।
वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्, प्र० पु०, ए० व०= जानता है।
तत्त्वतः=(अव्यय) तत्त्व+तस्=तत्त्व से। यथार्थ रूप से। [भाव यह कि परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्दघन, अज, अविनाशी, सबके परम गति और परम आश्रय हैं। वे केवल धर्म के संस्थापनार्थ, और संसार के उद्धार करने के लिए अपनी योगमाया से अवतार रूप में प्रकट होते हैं—यही तत्त्व से जानना है।]
त्यक्त्वा=√त्यज् (भ्वा० पर० सक०=त्यागना, छोड़ना)+क्त्वा=त्याग कर। छोड़ कर।
देहम्=(पुं०, नपुं०) देह+द्विती० ए० व०=देह को। इस शरीर को।
पुनः=(अव्यय) पुनर्=फिर। दूसरी बार के।
जन्म=(नपुं०) जन्मन्+द्विती० ए० व०=जन्म को। पुनः उत्पत्ति को।
न=(अव्यय) न। नहीं।
एति=√इण् (अदा० पर० सक०=जाना, प्राप्त होना)+लट्, प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।
[न आप्नोति]।
माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझको।
एति=√इण्+लट्, प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह। वह पुरुष।
अर्जुन !=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे अर्जुन !

[नोट—इस श्लोक में प्रयुक्त चार पद 'जन्म', 'कर्म' 'दिव्यम्' और 'एवम्' प्रथमा विभक्ति के भी एकवचन हैं और द्वितीया विभक्ति के भी एकवचन हैं। इसलिए इस श्लोक का अर्थ दो प्रकार से हो सकता है।]

पहला अर्थ—हे अर्जुन ! मेरा (मायामय अवतार) जन्म और (साधु-परित्राणादि) कर्म दिव्य (अर्थात् अलौकिक) होता है। इस प्रकार जो (कोई पुरुष) तत्त्व से जानता है, वह (इस) देह को त्याग कर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता है, वरन् मुझको ही प्राप्त होता है ॥९॥

दूसरा अर्थ—हे अर्जुन ! मेरे ऐसे दिव्य जन्म और कर्म को जो तत्त्व से जानता है वह देह को त्याग कर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। वह मुझको (ही) प्राप्त होता है ॥९॥

व्याख्या—भगवान् कभी प्राकृत प्राणी की भांति जन्म नहीं लेते हैं। क्योंकि प्राकृत जीवों का जन्म तो उनके पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए ही होता है। परन्तु भगवान् तो स्वयं सबके कर्ता, भर्ता और हर्ता हैं तथा सबके मूल कारण और स्वामी हैं। हो रहे सब कार्य उनके ही अधीन हैं। तो फिर उनको कर्मों का बन्धन कैसे हो सकता है ? इसलिए केवल यही कहा जा सकता है कि भगवान् जन्म लेते हुए भासमान तो होते हैं, परन्तु वे वास्तव में जन्म नहीं लेते हैं; केवल नर या अन्य किसी रूप में प्रकट ही होते हैं। यद्यपि वे किसी माता की गोद में शिशुवत् खेलते और स्तन्य-पान भी करते हैं, परन्तु गर्भ में होने वाले दुःख और माता की प्रसव-पीड़ा को प्राप्त नहीं होते। अपनी इच्छा से अपना अवतार-शरीर स्वयं प्रकट करते हैं और प्राकृत प्राणियों-जैसी लीलाएँ करके अपनी मर्यादा को स्थिर रखते हैं। जैसे उनके जन्म दिव्य, पवित्र, अप्राकृतिक और अलौकिक होते हैं, वैसे ही उनके कर्म भी दिव्य, पवित्र, अप्राकृतिक और अलौकिक होते हैं। भला जिसका जन्म ही नहीं होता, तो फिर उसकी मृत्यु कैसे हो सकती है ? अवतार धारण करके अर्थात् किसी शरीर में प्रकट होकर भगवान् अपने भक्तों पर अनुग्रह करते हैं। उनको अपना सुन्दर रूप दिखा कर प्रसन्न और प्रफुल्लित करते हैं। अपने दर्श, स्पर्श और मधुर वचनों से सुख देते हैं। अपने यश, कीर्ति, भजन और नाम-कीर्तन द्वारा उनके पापों को हरण करते हैं। भगवान् का शरीर प्राकृत मनुष्य से अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त निर्मल, दिव्य सुगन्ध से सुवासित, प्रकाशमान, पवित्र और अलौकिक होता है। जरा, मरण और रोग से रहित होने के कारण सदा सुन्दर और एकरस बना रहता है, उसमें कभी कुरूपता या विकृति उत्पन्न नहीं होती।

सब मनुष्य उनकी माया के वशीभूत होते हैं, परन्तु इसके विपरीत माया भगवान् की वशवर्तिनी होती है। उनकी आज्ञा के विना माया स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती।

भगवान् को सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी और सच्चिदानन्दघन, पूर्ण-परब्रह्म परमात्मा जान कर जो पुरुष उसको अजन्मा जानता है और अवतार रूप में केवल प्रकट होने वाला ही समझता है, वह उसके जन्म को तत्त्व से जानता है। तथा वह उस प्रभु के जन्म को दिव्य, पवित्र और अलौकिक रूप में देखता है। सर्वशक्तिमान् होने के कारण भगवान् विना जन्म धारण किए ही सब प्रकार के कार्य स्वतः ही पूर्ण कर सकते हैं। अवतार धारण करके कर्मों को करते हुए दिखाई देना तो उनका एक खेल मात्र होता है। जो इस रहस्य को जानता है वह भगवान् के दिव्य, अलौकिक और पवित्र

कर्मों को तत्त्व से जानता है ।

जो व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है वह भगवान् के दिव्य, अलौकिक तथा पवित्र जन्मों और कर्मों को तत्त्व से जान लेता है क्योंकि वह भगवान् के इतना समीपतम हो जाता है कि उसे अपने आप में और परमात्मा में कोई भेद ही मालूम नहीं होता जिसके कारण देह त्याग करने पर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वह तो परमात्मा के स्वरूप में ही लीन हो जाता है ।

(गीता ९।२९) में भगवान् ने कहा है—

"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।"

अर्थात्—जो पुरुष मुझ को श्रद्धा और भक्ति से भजते हैं, वे मुझ में हैं और मैं भी उनमें प्रकट होता हूँ ।

गीता (८।१६) में भगवान् द्वारा कहा गया है—

"मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ।"

अर्थात्—हे कौन्तेय ! मुझ को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता ।

लोकमान्य तिलक महाराज इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"भगवान् के दिव्य जन्म को समझने के लिए यह जानना पड़ता है कि अव्यक्त परमेश्वर माया से (व्यक्त) सगुण कैसे होता है; और इसके जान लेने से अध्यात्म ज्ञान हो जाता है । एवं दिव्य कर्म को जान लेने पर कर्म करके भी अलिप्त रहने का, अर्थात् निष्काम कर्म के तत्त्व का ज्ञान हो जाता है । सारांश, परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को पूरा-पूरा जान लें तो अध्यात्म-ज्ञान और कर्मयोग दोनों की पूरी-पूरी पहचान हो जाती है और मोक्ष की प्राप्ति के लिए उसकी आवश्यकता होने के कारण ऐसे मनुष्य को अन्त में भगवत्प्राप्ति हुए विना नहीं रहती, अर्थात् भगवान् के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेने में सब-कुछ आ गया है । फिर अध्यात्म-ज्ञान अथवा निष्काम कर्मयोग दोनों का अलग-अलग अध्ययन नहीं करना पड़ता । अत एव वक्तव्य यह है कि भगवान् के जन्म और कृत्य का विचार करो, एवं उसके तत्त्व को परख कर बर्ताव करो । भगवत्प्राप्ति करने के लिए दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं, भगवान् की यही सच्ची उपासना है ॥९॥"

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

वीत-राग-भय-क्रोधाः+मत्+मयाः माम्+उपाश्रिताः। बहवः+ज्ञान-
-तपसा पूताः+मत्+भावम्+आगताः ॥

वीत-राग-भय-क्रोधाः=(पुं०) रागः च भयं च क्रोधः च वीताः (विगताः) येभ्यः ते (बहुव्री०)। जिनके राग, भय और क्रोध चले गए हैं वे लोग। दूर हुए राग, भय और क्रोध वाले। राग, भय और क्रोध रूप दोषों से रहित हुए। (प्र० ब० व०)।

[वीत=(वि०) √वी (अदा० पर० सक०=निकल जाना) अथवा वि √इण् (अदा० पर० सक०=जाना)+क्त=वीत=चला गया। निकल गया। दूर हुआ।]

[राग=(पुं०) √रञ्ज् (दिवा०, स्वा०, उभ० अक०=प्रेम में फँसना) +घञ्=प्रीति। अनुराग। आसक्ति।]

[भय=(नपुं०) √भी (जुहो० पर० अक०=डरना)+अच्=भय। डर। अन्तःकरण की घबराहट।]

[क्रोधः=(पुं०) √क्रुध् (दिवा० पर० अक०=क्रुद्ध होना)+घञ्= क्रोध। कोप। गुस्सा।]

मत्+मयाः=(वि०) अस्मद् सर्वनाम का पंच० ए० व०=मत्+मय= मन्मय+(पुं०) प्र० ब० व०=मन्मयाः=अनन्य भाव से मेरे में स्थिति वाले। मुझ ईश्वर से अपना अभेद समझने वाले। मुझ से भरे हुए।

माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्वितीय० ए० व०=मुझ को।

उपाश्रिताः=(वि०) उप-आ √श्रि (भ्वा० उभ० सक०=आश्रय लेना)+ क्त=उपाश्रित+(पुं०) प्र० ब० व०=आश्रय किए हुए। आश्रित।

बहवः=(वि०) बहु+(पुं०) प्र० ब० व०=बहुत से।

ज्ञान-तपसा=(नपुं०) ज्ञानम् एव परमात्म-विषयः तेन। तपस्+तृती० ए० व० =ज्ञान-रूप तप से। ज्ञान-रूपी अग्नि से।

पूताः=(वि०) √पू+क्त=पूत+(पुं०) प्र० ब० व०। परम शुद्धि को प्राप्त हुए। पवित्र हुए।

मत्-भावम्=(पुं० द्विती० ए० व०=मेरे भाव को। मेरे स्वरूप को। मेरे साक्षात्कार को। मेरे सायुज्य को। मेरे वास्तविक स्वरूप को। मोक्ष को। मुझ ईश्वर के भाव को। पूर्णतया मोक्ष को।

आगताः=आ √गम्+क्त=आगत+(पुं०) प्र० ब० व०=प्राप्त हुए हैं। प्राप्त हो चुके हैं।

अर्थ—राग, भय, क्रोध दोषों से रहित हुए, मेरे अनन्य प्रेम में लीन, मुझ को आश्रय किए हुए, और ज्ञान-रूप तप से पवित्र हुए बहुत-से लोग मुझ को प्राप्त हो चुके हैं ॥१०॥

व्याख्या—जो भक्त भगवान् के दिव्य जन्म तथा स्वरूप को और कर्म के रहस्य को भली भाँति जान लेता है अर्थात् भगवान् के तत्त्व को समझ लेता है—उसको भगवान् प्रत्यक्ष अनुभव होने लगते हैं—इससे फिर उसमें राग या आसक्ति का अभाव हो जाता है। संसार में सबके साथ उसका प्रेम ईश्वर-रूप समझ कर ही होता है। किसी प्रकार की मोहमाया या विषय-वासना से नहीं होता। जिस प्रकार उसके अन्तःकरण में राग का अभाव हो जाता है उसी प्रकार उसके मन में भय भी नहीं होता। अर्थात् वह हिंसक या अहिंसक किसी प्राणी से भी भयभीत नहीं होता। उसे मृत्यु का भी भय नहीं होता है। उसके अन्तःकरण में क्रोध भी उत्पन्न नहीं होता। उसका चित्त सदैव शान्त और एकरस रहता है। कोई उसका अपमान करे, कोई उसका नुकसान करे, वह उससे प्रभावित नहीं होता है क्योंकि वह सब कुछ भगवान् की इच्छा से होता हुआ समझता है, और उसकी लीला ही मानता है। इस प्रकार सर्वथा वीत-राग-भय-क्रोध हो जाने से उस व्यक्ति में प्रभु का अनन्य प्रेम जागृत हो जाता है। सदा, सर्वत्र, सब ओर विना भगवान् के उसे और कुछ दिखाई ही नहीं देता। ऐसी अवस्था हो जाने पर फिर वह मुझ को ही अपना एक-मात्र आश्रय बना लेता है। जिस प्रकार सोना अग्नि द्वारा शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार वह ज्ञान-रूप तप से परम पवित्र और निर्मल हो जाता है। इस प्रकार वह जीवित अवस्था में ही सर्वशक्ति सम्पन्न होकर मेरा रूप हो जाता है और देह-त्याग के अनन्तर मेरे रूप में लीन हो जाता है। इस प्रकार कोई एक-आध भक्त ही मेरे भाव या स्वरूप को प्राप्त नहीं हुआ है बल्कि इस मार्ग पर चल कर बहुत से लोग मेरे भाव को प्राप्त होकर सायुज्य मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

ये यथा माम्+प्रपद्यन्ते तान्+तथा+एव भजामि+अहम्। मम वर्त्म +अनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥

ये=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (भक्त लोग)।

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=यथा। येन प्रकारेण। येन प्रयोजनेन। यत्फलार्थितया। जिस प्रकार से। जिस प्रयोजन से। जिस फल-प्राप्ति की इच्छा से। जैसे।

माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्वितीय० ए० व०=मुझ को।

प्रपद्यन्ते=प्र √पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=भजना। प्राप्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०,=भजते हैं। प्राप्त होते हैं। आराधना करते हैं।

तान्=(सर्व०) तत्+(पुं०) द्विती० ब० व०=उनको। उन भक्तों को।

तथा=(अव्यय) तद्+थाल्=तथा। वैसे, उसी प्रकार फल देकर।

एव=(अव्यय) ही।

भजामि=√भज् (भ्वा० उभ० सक०=भजना+लट्०, उ० पु०, ए० व० =भजता हूँ। (कामनाओं के अनुसार फल देकर) अनुग्रह करता हूँ।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।

मम=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे।

वर्त्म=(नपुं०) वर्त्मन्+द्विती० ए० व०=मार्ग को।

अनुवर्तन्ते=अनु√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=वर्तना+लट्० प्र० पु०, ब० व०=अनुवर्तन करते हैं। अनुसरण करते हैं। अनुसार वर्तते हैं। अनुसार चलते हैं।

मनुष्याः=(पुं०) मनोः अपत्यम्, मनु+यत्, षुक् आगम=मनुष्य+ प्र० ब० व०=मनुष्य=सब लोग।

पार्थ !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्=पार्थ। हे पृथा-पुत्र (अर्जुन) !

सर्वशः=(अव्यय) सर्व+शस्=सब प्रकार से। पूर्ण रूप से। (ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग, कर्म-मार्ग आदि) सब तरह से॥

अर्थ—हे पृथापुत्र (अर्जुन) ! जो (भक्त जन) मुझ को (जिस फल-प्राप्ति की इच्छा से अथवा) जिस प्रकार से भजते हैं (आराधना करते हैं), मैं उनको उसी प्रकार (फल देकर) भजता हूँ (अनुग्रह करता हूँ)। (यह रहस्य जानकर बुद्धिमान् भक्त) मनुष्य मेरे मार्ग का अनुवर्तन (अनुसरण) करते हैं॥११॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे बुद्धिमती पृथा (कुन्ती) के पुत्र अर्जुन ! तेरी माता ने तपस्या की, तभी तेरे-जैसे शूर-वीर, ज्ञानी और सत्यवादी भक्त पुत्रों को प्राप्त किया। देख, मुझको प्राप्त करने के कई मार्ग हैं। कुछ लोग कर्म-योग के द्वारा मुझ को प्राप्त होते हैं। वे इन्द्रियों का दमन करते हैं; मन को वशीभूत करके बुद्धि को स्थिर करते हैं; काम-क्रोध से रहित होकर अन्त में मुझ में मिल जाते हैं। कुछ भक्तजन ध्यान-योग के द्वारा मुझे प्राप्त

कर लेते हैं। कई-एक ज्ञान से शुद्ध अन्तःकरण हुए मोक्ष को प्राप्त कर लेते है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो भक्तियोग के द्वारा मुझ तक पहुँच जाते हैं। ये भक्त जन मुझे कभी कृष्ण के रूप में भजते हैं। कभी राम-रूप में मेरी उपासना करते हैं। महाकवि भास जैसे भक्त वामन भगवान् जानकर मुझ में लीन रहते हैं। कोई शिव रूप में मेरी आराधना करता है, कोई महामाई भगवती दुर्गा समझकर मेरी पूजा करता है। कुछ भक्त लोग मुझ को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सरस्वती या लक्ष्मी समझकर पूजते हैं। इसी प्रकार मेरे अन्य अवतारों के रूपों में भी मेरा पूजन और अर्चन किया जाता है। कुछ भक्त मुझे गुरु मान कर पूजते हैं; अन्य कुछ माता, पिता, भ्राता अथवा सखा समझ कर मुझसे अनन्य प्रेम करते हैं। कुछ भक्तों की भावना मुझ में पति या स्वामी रूप में होती है। नन्द, यशोदा, दशरथ, कौसल्या आदि भक्त अपना पुत्र समझ कर ही मेरे चरण छूते हैं। कुछ लोग वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करके इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा प्रजापति आदि देवताओं के रूप में ही मेरी पूजा करते हैं। चूंकि मैं सबमें स्थित और सर्व-व्यापक हूँ, इसलिए वास्तव में ये सब मेरे ही पूजक हैं। यद्यपि ये लोग टेढ़े और लम्बे मार्गों पर चल कर मुझ तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु फिर भी कई जन्मों के अभ्यास और कठोर परिश्रम के अनन्तर निरन्तर चलते हुए मुझ को अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह बात प्रत्यक्ष ही है कि जो भक्त जिस प्रकार भी मुझ को भजता है अथवा मुझ तक पहुँचने का प्रयास करता है, मैं भी उसको उसी रूप में भजता हूँ अर्थात् प्राप्त होता हूँ तथा मनोवाञ्छित फल देता हूँ। दुःखी के दुःख को दूर करता हूँ। आर्त गज को ग्राह से बचाता हूँ अर्थात् भक्त हाथी की दुष्ट निहंग से रक्षा करता हूँ। दुष्टों के चुंगल में फँसी हुई द्रौपदी की भरी सभा में लाज रखता हूँ। डरे हुए सुग्रीव का बाली से त्राण करता हूँ; अर्थी के अर्थ को पूरा करके उसे किष्किन्धा का राजा बनाता हूँ। विभीषण को लंकेश की पदवी प्रदान करता हूँ अर्थात् जिस लंका को रावण ने कठिन उपायों से प्राप्त किया था उस लंका को मैं सहज ही अपने अनन्य भक्त विभीषण को दे देता हूँ। मुमुक्षु को ज्ञान प्रदान करता हूँ। ज्ञानी को मोक्ष देता हूँ। इस प्रकार जो भक्त जिस आशा से मेरा भजन करता है मैं तत्काल उसकी वह आशा पूर्ण कर देता हूँ। मैं भक्तों को उनकी कामना के अनुसार ही फल देता हूँ, उल्ट-पुल्ट या विपरीत नहीं। क्योंकि इन फलासक्त भक्तों को उस काल मोक्ष की इच्छा नहीं होती। एक ही समय में किसी पुरुष में मुमुक्षुत्व और फलार्थित्व ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। इसलिए जो फल की इच्छा वाले हैं, उन्हें फल देकर, जो फल न चाहते हुए शास्त्रोक्त प्रकार से कर्म करने वाले और मुमुक्षु हैं उनको ज्ञान देकर, अन्त में मोक्ष देता

हूँ। परन्तु किसी से राग, द्वेष या मोह नहीं करता हूँ। सब मनुष्य सब प्रकार से बर्तते हुए भी सर्वत्र स्थित मुझ ईश्वर के मार्ग का सब प्रकार से अनुसरण करते हैं। उपासना और भक्ति के सब मार्ग मेरे द्वारा ही दर्शाए हुए हैं क्योंकि वेदादि सच्छास्त्रों और पवित्र ग्रन्थों का कर्ता और रचयिता वास्तव में मैं ही हूँ। मैं ही महात्माओं के मस्तिष्क में प्रवेश करके विचार-तरंगें उत्पन्न करता हूँ और फिर मैं ही अंगुलियों में प्रवेश करके लेखनी से लिखता हूँ। ज्ञानी पुरुष इस रहस्य को भली भाँति जानते हैं, परन्तु अज्ञानियों की बुद्धि में मन्द-भाग्यवश यह बात बैठती ही नहीं है।

सब भक्त-जन मेरी ओर आ रहे मार्गों पर ही चले आ रहे हैं। मैं संसार रूपी वृत्त के केन्द्र में मध्य विन्दु-रूप में स्थित हूँ जिसमें लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई कुछ भी नहीं हैं। केवल चिह्न-मात्र ही भासमान होता है। ये सब संसारी जीव वृत्त की परिधि पर जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए घूम रहे हैं। परन्तु जिन पर मेरी दयादृष्टि हो जाती है उनका मुख वृत्त के केन्द्र-विन्दु रूप मेरी ओर घूम जाता है और वे आवागमन या जन्म-मरण के चक्र को त्याग कर मुझ केन्द्र-विन्दु रूप ध्रुव की ओर चल पड़ते हैं। आप सब लोग यह बात आकाश पर नित्य-प्रति देखते हैं कि सम्पूर्ण तारा-मण्डल ध्रुव के चारों ओर घूम रहा है। केवल ध्रुव ही एक ऐसा तारा है जो अपने स्थान पर सदा स्थिर और स्थित रहता है। यह सब रचना सृष्टि के जन्म-काल से चली आ रही है। परन्तु जो तारे अपने घूमने के मार्ग को त्याग कर ध्रुव की ओर चल देते हैं वे अन्त में ध्रुव में विलीन हो जाते हैं। परिधि पर जहाँ भी कोई जीव स्थित है वह जब मुझ केन्द्र-बिन्दु या ध्रुव की ओर मुख करके चलने लगता है तो उसके पदचिह्नों का एक मार्ग बन जाता है जो मुझ तक पहुँचने में सहायक होता है। ये सब मत-मतान्तर ऐसे ही मार्ग हैं जो अपने चलाने वालों के मूल पद-चिन्हों द्वारा बने हैं। इसलिए मेरे मार्ग या मेरी ओर आने वाले वर्त्म अनेक हैं जिन पर भक्त जन चलते रहते हैं और चुम्बक की सुई की भान्ति मुझ ध्रुव परमात्मा को प्राप्त होकर निश्चल और स्थिर हो जाते हैं॥ ११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

काङ्क्षन्तः कर्मणाम्+सिद्धिम्+यजन्ते+इह देवताः। क्षिप्रम्+हि मानुषे लोके सिद्धिः+भवति कर्मजा॥

काङ्क्षन्तः=(वि०) काङ्क्ष् (भ्वा० उभ० सक०=इच्छा करना, चाहना)+ शतृ=काङ्क्षत्+ प्र० ब० व०=चाहते हुए।

कर्मणाम्=(नपुं०) √कृ+मनिन्=कर्मन्+षष्ठी० ब० व०=कर्मों की।
सिद्धिम्=(स्त्री०)√सिध् (दिवा० पर० अक०=सिद्ध होना)+क्तिन्=
सिद्धि+द्विती० ए० व०=सिद्धि को। फल-प्राप्ति को।
यजन्ते=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना। पूजा करना)+लट्०
प्र० पु०, ब० व०=पूजते हैं। यज्ञों द्वारा पूजते हैं।
इह=(अव्यय) इदम्+ह, इ आदेश। अस्मिन् लोके। इस लोक में। यहाँ।
देवताः=(स्त्री०)√दिव्+अच्=देव=पूज्य। देव+तल्+टाप्=देवता
+द्विती० ब० व०=देवताओं को। इन्द्र आदि देवताओं को।
क्षिप्रम्=(अव्यय) जल्दी। तत्काल। शीघ्र।
हि=(अव्यय) ही। क्योंकि।
मानुषे लोके=(पुं०) सप्तमी अलुक तत्पुरुष समास। सप्त० ए० व०=
मनुष्य-लोक में।
[मनुष्य+अण्, वृद्धि, य लोप=मानुष+सप्त० ए० व०=मानुषे]
[लोक (पुं०)+सप्त० ए० व०=लोके]
सिद्धिः=(स्त्री०) सिद्धि+प्र० ए० व०=फल-सिद्धि। सफलता।
भवति=√भू+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होती है।
कर्म—जा=(वि०) कर्मणो जाता। कर्मन्+ज=कर्मज+टाप्=कर्मजा+
+प्र० ए० व०=कर्मजा=कर्मों से उत्पन्न हुई।

अर्थ—इस मनुष्य-लोक में कर्मों की सिद्धि (कर्मों की फल-प्राप्ति) को चाहते हुए लोग देवताओं (इन्द्र आदि) को यज्ञों द्वारा पूजते हैं। क्योंकि कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र ही (प्राप्त) होती है ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो लोग इस मनुष्य-लोक में ही अपने किए हुए कर्मों की सफलता या सिद्धि चाहते हैं, अर्थात्—धन चाहते हैं, भूमि चाहते हैं, सुन्दर भवन और तीव्रगामी वाहन चाहते हैं, स्त्री-पुत्र आदि की इच्छा रखते हैं। अथवा किसी और वासना की पूर्ति करना चाहते हैं, किंवा किसी रोग या अभियोग आदि से छुटकारा पाना चाहते हैं—वे किसी भी लौकिक फल को प्राप्त करने के लिए अग्नि-इन्द्रादि देवताओं का आराधन करते हैं। तब प्रसन्न हुए ये देवता लोग यज्ञ करने वाले के हित-अहित का विचार किए बिना शीघ्र ही पूजक को मन-वाञ्छित फल प्रदान कर देते हैं। परन्तु जो लोग इन देवताओं को भगवान् से भिन्न समझ कर पूजते हैं, वे महामूर्ख और बे-समझ होते हैं और देवता लोग उनको सवारी के घोड़ों और दूध देने वाली गायों-भैंसों के सदृश पशु बना लेते हैं। जैसा कि श्रुति में कहा है—

"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव ँस देवानाम् ।

यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥" (बृहदा० १।४।१०)

[**अर्थ**—जो अन्य देवता की इस भाव से उपासना करता है कि 'यह (देवता) अन्य है और मैं (प्रभु) अन्य हूँ', तो वह कुछ भी नहीं जानता है। जैसे पशु होता है वैसे ही वह देवताओं का पशु है। जैसे लोक में बहुत से पशु मनुष्य का पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है। एक पशु के हरण किए जाने पर ही अप्रिय (बुरा मन) होता है, तो फिर बहुतों का हरण होने पर तो कहना ही क्या है ? इसलिए देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य (ब्रह्मात्म-तत्त्व को) जाने ।]

जब कोई मनुष्य भगवान् की पूजा करता है और उस पूजा से इस मनुष्यलोक में मिलने वाले किसी विशेष फल पाने की इच्छा करता है तो भगवान् भक्त का हित-अहित विचार करके ही फल प्रदान करते हैं। वे ऐसा फल अपने भक्त को माँगने पर भी नहीं देते जिससे उसका किसी प्रकार से पतन होता हो, अथवा जिससे भक्त की मोक्ष-प्राप्ति में विघ्न-बाधा उपस्थित होती हो। भगवान् विष्णु ने स्वयं नारद से कहा था—

कुपथ माँग रुज-ब्याकुल रोगी ।
बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ ।
कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ ॥
माया-बिबस भये मुनि मूढ़ा ।
समझी नहिं हरि-गिरा निगूढ़ा ॥

[रामचरितमानस, प्र० सो०, १४०]

यही कारण है कि लोग अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए भगवान् की पूजा न करके सकाम कर्मों के द्वारा देवताओं की आराधना ही अधिक करते हैं।

कहते हैं कि एक बार भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी से कहा—हे लक्ष्मि ! लोग तेरा सत्कार अधिक करते हैं या मेरा ? यह सुनकर लक्ष्मीजी बोलीं—हे पतिदेव ! इस सम्बन्ध में आप अपने से मेरी तुलना न कीजिए। क्योंकि मैं तो अपने भक्तों को शीघ्र सिद्धि प्रदान करती हूँ जिससे वे संसार में सुख और आनन्द भोगते हैं; परन्तु आप कठोर तपस्या और परिश्रम करने पर

मोक्ष प्रदान करते हैं। इससे लोग मेरा सत्कार और सम्मान संसार में आपकी अपेक्षा अत्यन्त अधिक करते हैं। यह सुनकर भगवान् ने कहा—लक्ष्मि! यह बात तो तूने अति अयुक्त कही है। तब लक्ष्मीजी हँसकर बोलीं—हे नाथ! बहुत अच्छा, आप धनदास सेठ (श्रेष्ठी) के घर में जाकर एक मास विश्राम कीजिए। पीछे से मैं भी आती हूँ।

तब भगवान् लक्ष्मीजी के कथनानुसार अत्यन्त सुन्दर पुरुष का स्वरूप धारण करके धनदास सेठ के निवास-स्थान पर गये और सेठ से बोले—मैं मोक्ष-प्रदाता भगवान् विष्णु हूँ। मैं इस समय तेरे घर में एक मास रहना चाहता हूँ। तब सेठ ने सादर भगवान् के चरण छूए और चरण-रेणु माथे पर लगाई। पाँव धोकर चरणामृत पिया और सादर नम्रतापूर्वक भगवान् को भवन के भीतर ले गया। उनका पूजन-अर्चन करके एक सुन्दर कमरे में उन को निवास दे दिया तथा नित्य नया सत्कार करने लगा।

अभी एक सप्ताह ही व्यतीत हुआ था कि सुन्दर स्वरूप धारण किये हुए लक्ष्मीजी भी उस सेठ के पास पहुंच गईं और पीने के लिए पानी माँगा। सेठ ने नौकर को पानी लाने की आज्ञा दी तो वह एक पीतल का गिलास पानी से भर कर लाया और लक्ष्मी के हाथ में दे दिया। जब लक्ष्मीजी ने पानी पीकर गिलास सेठ को वापस किया तब वह शुद्ध स्वर्ण का बन चुका था। इस घटना को देख कर सेठ धनदास बहुत चकित हुआ और पूछा—देवि! यह क्या? लक्ष्मीजी ने उत्तर दिया—मैं जिस भी पात्र को अपने हाथ से स्पर्श करती हूँ, वह तत्काल स्वर्ण का हो जाता है। यह सुनकर सेठ ने लक्ष्मीजी के चरण पकड़ लिये तथा अत्यन्त नम्रतापूर्वक बोला—हे अम्ब! आप तो साक्षात् कोई देवी हैं। कृपया मेरे घर में निवास करो। तब लक्ष्मीजी ने उत्तर दिया—मैं रह तो सकती हूँ परन्तु अपने मनपसन्द कमरे में रहूँगी। सेठ ने कहा—यह हमें स्वीकार है। तब लक्ष्मीजी ने वही कमरा पसन्द किया जिसमें भगवान् विष्णु का निवास था।

यह देखकर सेठ धनदास भगवान् विष्णु से बोला—श्रीमान् जी! आप किसी दूसरे कमरे में चले जाइए।

जब भगवान् कमरा बदलने में आनाकानी करने और ढील दिखाने लगे तो सेठ हाथ जोड़कर रूखेपन से बोला—हे महाराज! आप चाहे विष्णु हों चाहे शिवजी अथवा ब्रह्मा हों, चाहे कुछ भी हों। यहाँ कई दिन विश्राम कर चुके हैं, अब और कहीं जा सकते हैं।

सेठ के इतना कहते ही लक्ष्मी ने भगवान् के मुख की ओर व्यंगपूर्ण दृष्टि से देखा और खिलखलाकर हँस पड़ीं। तदनन्तर तत्क्षण दोनों अन्तर्धान हो

गए और सेठ आँखें फाड़े देखता ही रह गया। तात्पर्य यह है कि धन-धान्य, पुत्र-कलत्र, सम्पत्ति-विभूति इत्यादि लौकिक फलों की प्राप्ति के लिए बहुत से यज्ञों का वेदों में विधान किया गया है, इसलिए पुरुष अपनी प्रत्येक लौकिक कामना की पूर्ति के लिए वेद-विहित यज्ञ किया करते हैं जिनमें इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं का आराधन किया जाता है। इसीसे भगवान् ने इस श्लोक में कहा है कि कर्मों की सिद्धि चाहने वाले लोग इस मनुष्य-लोक में देवताओं की उपासना करते हैं। 'मनुष्य-लोक' कहने से यह भाव भी टपकता है कि ये देवताओं की उपासना वाले यज्ञ केवल मनुष्य ही करते हैं। अन्य कोई प्राणधारी नहीं करता। इन सकाम कर्म करने वाले भक्तों को देवता लोग इस संसार के सम्पूर्ण सुख और भोग तो दे सकते हैं, परन्तु जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाकर न मोक्ष दे सकते हैं और न किसी से दिला सकते हैं। यह मोक्ष तो जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष ही पा सकता है। वास्तव में देवता लोग भी मेरे ही रूप हैं। इससे विधिपूर्वक उनको मेरा ही रूप जानकर की हुई उनकी पूजा कभी निष्फल नहीं होती। वह सांसारिक सुख तो अवश्य देती है। ज्ञानजन्य सिद्धि की अपेक्षा कर्म-जन्य सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है और सबको प्रत्यक्ष या प्रकट दिखाई देती है।

देशपिता महात्मा गान्धी ने इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "देवता से मतलब स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र-वरुणादि व्यक्तियों से नहीं है। देवता का अर्थ है—ईश्वर की अंशरूपी शक्ति। इस अर्थ में मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान् शक्तियाँ देवता हैं। इनकी आराधना करने का फल तुरन्त इस लोक में मिलता हुआ हम देखते हैं। वह आत्मा को ही सन्तोष नहीं देता तो वह मोक्ष कहाँ से दे सकता है? ॥ १२ ॥"

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चातुर्वर्ण्यं + मया सृष्टम् + गुण + कर्म + विभागशः। तस्य कर्तारम् + अपि माम् + विद्धि + अकर्तारम् + अव्ययम् ॥

चातुर् + वर्ण्यम् = (नपुं०) चत्वार एव वर्णाः = चातुर्वर्ण्यम्। चतुर्वर्ण + ष्यञ् + प्र० ए० व० = चार वर्णों की व्यवस्था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण। चार भागों वाला मनुष्य-समुदाय।

मया = (सर्व०) अस्मद् + तृती० ए० व० = मेरे द्वारा। मुझ ईश्वर के द्वारा।

सृष्टम् = (वि०) √सृज् (दिवा० आत्म० सक०। तुदा० पर० सक० = सृष्ट करना। रचना। उत्पन्न करना) + क्त = सृष्ट + (नपुं०) प्र० ए० व० = रची हुई है।

गुण-कर्म-विभागशः=गुण-विभागशः कर्म-विभागशः च=गुणों के विभाग से और कर्मों के विभाग से। गुण और कर्मों में अन्तर होने से।

[१—सत्त्वगुण-प्रधान ब्राह्मण के शम, दम, तप आदि कर्म हैं।

२—सत्त्वगुण-गौण तथा रजोगुण-प्रधान क्षत्रिय के शूरवीरता, तेज-प्रदर्शन आदि कर्म हैं।

३—तमोगुण-गौण और रजोगुण-प्रधान वैश्य के व्यापार करना और कृषि आदि कर्म हैं।

४—रजोगुण-गौण और तमोगुण-प्रधान शूद्र के नौकरी तथा सेवा करना आदि कर्म हैं।

यह व्यवस्था केवल मनुष्य-लोक अर्थात् अति सभ्य देश में ही है। असभ्य देशों के लोगों में किसी विशेष रूप से नहीं है।]

तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=उसके।

कर्तारम्=(पुं०)√कृ+तृच्=कर्तृ+द्विती० ए० व०=कर्ता को।

अपि=(अव्यय) भी।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्, म० पु०, ए० व०=(तू) जान ले।

अकर्तारम्=(पुं०) न कर्तारम् (नञ् तत्पु०) अकर्तृ+द्वितीया, ए० व०=अकर्ता को।

अव्ययम्=(पुं०) न व्ययो यस्य तम् अविनाशिनम्=अविनाशी को॥

अर्थ—गुणों के विभाग से और कर्मों के विभाग से (अथवा उन ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों में गुणों और कर्मों का अन्तर होने से) चार वर्णों की व्यवस्था मुझ ईश्वर के द्वारा रची हुई है। उस (चातुर्वर्ण्य) के मुझ कर्ता को भी (तू) अकर्ता और अविनाशी जान ले॥ १३॥

व्याख्या—महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय १८८) में मुनि भरद्वाज का प्रश्न सुनकर महर्षि भृगु बोले—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ १०॥

[**अर्थ**—पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों का कोई भेद नहीं था, क्योंकि ब्रह्मा के पुत्र होने से सब लोग ब्राह्मण ही थे—अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा पहले सारा जगत् ब्राह्मण जाति का ही रचा गया था। फिर (अपने पृथक्-पृथक् कर्मों से) वर्णता को प्राप्त हुआ। अर्थात्, ये सब लोग

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में अपने-अपने कर्मों द्वारा विभक्त हो गए ॥]

काम-भोग-प्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रिय-साहसाः ।
त्यक्त-स्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥ ११ ॥

[**अर्थ**—काम-भोग के प्रिय, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस-प्रिय ब्राह्मण लोग अपने (ब्राह्मणों-जैसे) धर्म को छोड़कर (गोरे रंग से) लाल रंग वाले होकर क्षत्रिय वर्ण को प्राप्त हो गये ।]

गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥ १२ ॥

[**अर्थ**—जो गौओं के पालन द्वारा निर्वाह करने वाले, पीले रंग के, कृषि-उपजीवी अपने ब्राह्मण धर्म का अनुष्ठान नहीं करते थे, वे ब्राह्मण लोग वैश्यता को प्राप्त हुए ।]

हिंसानृत-प्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौच-परिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥ १३ ॥

[**अर्थ**—हिंसा करने वाले, झूठ बोलने वाले, लोभी (शिकारी), (भले-बुरे) सब प्रकार के कर्मों द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाले, पवित्रता से रहित (मैले, गलीज़, गन्दे, जूठन और भक्ष्याभक्ष्य सब प्रकार का भोजन भक्षण करने वाले) काले रंग के ब्राह्मण अपने ब्राह्मणों-जैसे कर्मों को त्याग कर शूद्रता को प्राप्त हुए ।]

गीता (अध्याय १८) में चारों वर्णों के कर्म बताते हुए भगवान् कहते हैं—

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परन्तप !
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

[**अर्थ**—हे परन्तप अर्जुन ! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्म (उनके) स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के कारण से विभक्त किए गए हैं ॥४१॥

शम, दम, तप, शुद्धि, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और परमात्मा में श्रद्धा होना—ये सब कर्म ब्राह्मण में स्वाभाविक होते हैं ॥ ४२ ॥

शूरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में शत्रु को पीठ न दिखाना, दान देना तथा स्वामि-भाव (सरदारी या शासन करना)—ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषि, गोरक्षण और वाणिज्य—ये तीनों वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं; और नौकरी या सेवा सम्बन्धी सर्व-कर्म शूद्र के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४४ ॥]

जो पुरुष सत्त्वगुण-संपन्न है, स्नान, सन्ध्या, जप, तप, हवन, यज्ञ, प्रभु-चिन्तन, देव-पूजा, अतिथि-सेवा, बलिवैश्वदेव-पूजा, वेदों का पढ़ना-पढ़ाना, शुद्ध हृदय, सत्यवक्ता और संस्कारों से शुद्ध और पवित्र है, वह सच्चा ब्राह्मण है। जो रजोगुण से युक्त है तथा जिसमें गौण रूप में सत्त्व गुण भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, न्यायकारी है, शूरवीर है, दान-वीर है, शासन करने की रुचि और समझ रखता है, वेदशास्त्र पढ़ा हुआ है तथा धर्मानुसार वर्तता है वह सच्चा क्षत्रिय है। वैश्य में थोड़ी मात्रा में सत्त्वगुण, गौणरूप में रजोगुण और अधिक मात्रा में तमोगुण होता है तथा जिसमें तमोगुण की प्रधानता हो वह शूद्र होता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन चारों वर्णों के पेशे, धन्धे और कर्म एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन गुणों और कर्मों की भिन्नता से ही इन सब लोगों के वर्णों की परख होती है। मुख से केवल कहने मात्र से ही कोई पुरुष न ब्राह्मण होता है और न किसी अन्य वर्ण का ही बन सकता है। संसार के प्रत्येक देश में केवल इन चार वर्णों के ही लोग पाये जाते हैं, भले ही उनके नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र न हों। पहली श्रेणी में बुद्धिजीवी, ज्ञानी, विज्ञानी, लेखक, अध्यापक, आविष्कार करने वाले और शिल्पी आदि लोग गिने जा सकते हैं। दूसरे वर्ग में जल, स्थल और वायु सेनाओं के अधिकारी, न्यायाधीश तथा विधान-सभाओं के सदस्य आदि देश के प्रबन्ध से सम्बन्धित छोटे-बड़े सब शासक लोग होते हैं। तीसरी श्रेणी में मिल-मालिक, कारखानेदार, पूँजीपति, बैंकर, कृषक और पशु पालक आदि लोगों की गणना की जाती है। शेष समस्त नौकर-चाकर और श्रमिक-वर्ग शूद्र श्रेणी में गिना जा सकता है। अन्तर केवल गोरे, लाल, पीले और काले रंग का ही रह जाता है जो अब कहीं भी किसी वर्ण पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि अब इन देह-रंगों का सम्बन्ध तो केवल जल-वायु, भोजन और स्वास्थ्य के साथ ही रह गया है, किसी जाति या वर्ण-विशेष के साथ नहीं। सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ अब काले भी गोरे बनते जा रहे हैं। जिस प्रकार प्रायः संसार के सब देशों में आजकल अपनी बुद्धि, गुण और कर्म के अनुसार अपना धन्धा और जाति-परिवर्तन करने की सुविधा और स्वतन्त्रता है, उसी प्रकार प्राचीन भारत और वैदिक

काल में ब्राह्मण आदि जातियों में गुण और कर्म के अनुसार परिवर्तन हो जाया करते थे। वाल्मीकि, व्यास और विश्वामित्र आदि अनेक महापुरुष अपने गुणों और कर्मों के बल से 'ब्रह्मर्षि' नाम की अत्युच्च पदवी को प्राप्त हो चुके हैं और रावणादि अनेक दुष्ट ब्राह्मण अपने दुष्कर्मों के कारण पतित होकर राक्षस बन गए थे।

इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि सब मनुष्यों में चार वर्णों की व्यवस्था मेरे द्वारा ही रची हुई है। पूर्व जन्मों के शुभकर्मों के फलस्वरूप जिन व्यक्तियों में सत्त्वगुण प्रधान होता है, उनमें ब्राह्मणों के कर्म करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। वे शुद्ध-बुद्धि श्रेष्ठ ब्राह्मणों के घरों में जन्म लेते हैं तथा उनकी प्रवृत्ति ब्राह्मण के कर्मों में हो जाती है। यदि वे किसी दोष के कारण अन्य—अर्थात् ब्राह्मण-भिन्न—जातियों में भी जन्म धारण कर लेते हैं, तो भी अपने शुद्ध और स्वच्छ कर्मों के कारण से महात्मा, सिद्ध, साधु, सन्त या ज्ञानी की पदवी प्राप्त करके पूजित और सम्मानित हो जाते हैं—और इस जन्म में शुभ कर्म करके ऊर्ध्व गति प्राप्त कर लेते हैं।

पूर्व जन्म के कर्मों के कारण जिनमें सत्त्व-मिश्रित रजोगुण की अधिकता होती है, वे क्षत्रिय-कुलों में जन्म लेते हैं। अथवा किसी दोष-विशेष से अन्य जातियों में जन्म लेकर भी राजा, शासक, सेनानायक, न्यायाधीश आदि बन ज ते हैं।

इसी प्रकार तमोगुण-मिश्रित रजोगुण वाले लोग वैश्य कहलाते हैं। ये लोग चोरबाजारी द्वारा काला धन एकत्रित करते हैं। धन कमाने और उपार्जन करने के लिए नाना प्रकार के पापड़ बेलते हैं। भोज्य पदार्थों में अपवित्र और हानिकारक पदार्थ मिला देते हैं। अनेक प्रकार की नकली और कृत्रिम वस्तुओं का व्यापार करते हैं, उन वस्तुओं को प्रयुक्त करके कोई मरे या कोई जिए, उन को इस बात की तनिक सी भी परवाह नहीं होती। देश चाहे भाड़ में जाय, चाहे चूल्हे में पड़े, परन्तु उनके धन्धे को हानि न होनी चाहिए।

और जिनमें तमोगुण की प्रधानता होती है वे शूद्र कहलाते हैं। इनकी पहचान केवल इनके कर्मों से ही होती है।

अब यह वात तो स्वतःसिद्ध ही है कि गुण और कर्मों के अनुसार ही ब्राह्मणादि की पहचान की जा सकती है। बहुतों का यह विचार है कि जन्म, कर्म और गुण से ही वर्ण माना जाना चाहिए; इस नियम से दूषित कर्म करने वाला ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से गिर जाता है।

मनु महाराज ने लिखा है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

जिस प्रकार प्राणहीन काठ का हाथी हाथी ही कहलाता है तथा जैसे प्राण-रहित भूसा भरा हुआ चमड़े का मृग मृग नाम वाला होता है, इसी प्रकार कर्म, गुण, ज्ञान और विद्या से रहित ब्राह्मण नाममात्र का ही ब्राह्मण होता है। ये तीनों केवल नाममात्र ही धारण किए हुए होते हैं।

इसी प्रकार महाभाष्य में भी लिखा है—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

अर्थात् तप करना, वेद पढ़ना और ब्राह्मण के घर में जन्म लेना, ये तीन ब्राह्मण के लक्षण हैं। जिस ब्राह्मण कहलाने वाले पुरुष में तप करना और वेद पढ़ना दोनों कर्म नहीं हैं, वह केवल जातिमात्र का ही ब्राह्मण है। अर्थात् कच्चा या अधूरा ब्राह्मण है। यद्यपि चारों वर्णों की रचना गुण और कर्म के विभाग से स्वयं भगवान् द्वारा की हुई है, फिर भी भगवान् कर्ता होने पर भी अकर्ता और अविनाशी हैं। जब एक ज्ञानी पुरुष कर्मों का कर्ता होने के लिए तैयार नहीं है तो फिर भगवान् सब कर्मों के कर्ता होते हुए भी अकर्ता क्यों नहीं हो सकते ?। माया उपाधि के कारण ही भगवान् जगत् के रचयिता कहे जाते हैं, वास्तव में सच्चिदानन्दघन रूप से तो भगवान् स्वयं कुछ भी नहीं करते॥ १३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

न माम्+कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म-फले स्पृहा। इति माम्+यः+अभिजानाति कर्मभिः+न सः बध्यते॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=माम्, मा=मुझको। मुझे।

कर्माणि=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+प्र० ब० व०=कर्म।

लिम्पन्ति=√लिप् (तुदा० उभ० सक०=लीपना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=लीपते हैं। लिपायमान करते हैं।

न=(अव्यय) न। नहीं।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरी।

कर्म-फले=(नपुं०) कर्मणां फले (षष्ठी तत्पु०) सप्त० ए० व०=कर्मों के फल में।

स्पृहा=(स्त्री०)√स्पृह् (चुरा० उभ० सक०=इच्छा करना)+अ+टाप्=स्पृहा+प्र० ए० व०=इच्छा (है)। अभिलाषा (है)। तृष्णा (है)। स्पृहा (है)।

इति=(अव्यय) ऐसा। इस प्रकार।
माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझको।
यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।
अभिजानाति=अभि√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=तत्त्व से जानता है। आत्मरूप से जानता है।
कर्मभिः=(नपुं०) कर्मन्+तृती० ब० व०=कर्मों से। कर्मों के द्वारा।
न=(अव्यय) न। नहीं।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।
बध्यते=√बध् (भ्वा० आत्म० सक०=बँधना, बाँधना)+(कर्मवाच्य) लट्, प्र० पु०, ए० व०=बाँधा जाता है। बँधता है। बंधायमान होता है।

अर्थ—मेरी कर्मों के फल में इच्छा नहीं है। न मुझ को कर्म लिपायमान करते हैं, इस प्रकार मुझको जो तत्त्व से जानता है, वह कर्मों से नहीं बाँधा जाता है॥ १४॥

व्याख्या—यद्यपि निःसन्देह संसार के सम्पूर्ण कर्म प्रभु की प्रेरणा से ही होते हैं और भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, परन्तु उनमें अहंकार का अभाव है। इसलिए ये सब कर्म देहादि की उत्पत्ति के कारण बन कर प्रभु को लिप्त नहीं करते और उन कर्मों के फल में भी भगवान् की लालसा वा तृष्णा नहीं होती। वास्तव में भगवान् के बिना दूसरे और किसी का तो अस्तित्व ही नहीं है। जो कुछ भी अधः, ऊर्ध्व और ब्रह्माण्ड के मध्य में दृश्य तथा अदृश्य रूप में स्थित है वा भूतकाल में हो चुका है या वर्तमान काल में विद्यमान हो रहा है तथा भविष्यत् काल में होने वाला है, उस सबके कर्ता, धर्ता और हर्ता केवल परमात्मा ही हैं। चाहे वे इन कर्मों को ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में ही प्रकट होकर करते हैं। जैसा कि गुरु नानकदेव जी ने 'जपजीसाहिब' में कहा है—

एका माई, जुगत बिआई, तिन चेले परवाण।
इक संसारी, इक भण्डारी, इकु लायदी बाण॥

[**अर्थ**—वह निराकार, निर्विकार, निरञ्जन, अनादि, अजन्मा, काल-रहित, काल का भी काल, परमात्मा माता की भाँति युक्तिपूर्वक तीन पुत्रों को जन्म देता है। उनमें से एक संसारी अर्थात् संसार की रचना करने वाला ब्रह्मा है। दूसरा भण्डारी अर्थात् जगत् का भरण, पोषण और रक्षण करने वाला विष्णु है और तीसरा शिव है जिसका स्वभाव प्रलय-काल में जगत् को लय या नाश करने का है।

यद्यपि किसी राज्य के सब कार्य छोटे-मोटे पदाधिकारी और कर्मचारी ही करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु वास्तव में उनके करने वाला उस राज्य का प्रधान या राजा ही होता है जिसकी प्रेरणा, आज्ञा और इच्छा से वे सारे कार्य किए जाते हैं। इसलिए संसार के सब कर्मों को वास्तव में करने वाला परमेश्वर ही है यद्यपि वे सब कर्म प्रकृति द्वारा, देवताओं द्वारा, पुरुषों द्वारा, नाना प्रकार के जीवजन्तुओं द्वारा तथा बिजली, जल, पवन, धूप और अग्नि आदि द्वारा होते हुए दिखाई दे रहे हैं। मूर्ख मनुष्य अहंकार से युक्त होकर दूसरों में बड़ा बनने के लिए स्वयं अपने-आपको कर्मों का कर्ता मान लेता है; और अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन करने के लिए उसे दूसरों पर प्रकट करने लगता है। परन्तु परमात्मा के लिए तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और सारा जगत् खेल के सदृश है और उनमें विचरण करने वाले जीव-जन्तु खिलौनों या काठ की पुतलियों के समान हैं। तब वह अपनी इस कृति का प्रदर्शन किसको दिखाने के लिए करे ? और अहंकार करके किसको बड़ा बनकर दिखाये जबकि उसके बिना दूसरा तो कोई है ही नहीं ? या तो वह स्वयं आप है या उसकी यह संसार-रूप रचना है। रचना तो केवल उसके बायें हाथ का खेल है जिससे उसमें तो परमात्मा की समता या बराबरी की सामर्थ्य या शक्ति ही नहीं है। यदि कभी किसी सिरफिरे कंस या रावण आदि ने ऐसी भूल की भी है तो तत्काल मुंह की खायी है। वह परमेश्वर तो अपनी सारी रचना से पूर्णतया अवगत है जिससे उसमें कर्तापन का सर्वथा अभाव है। वह निरहंकार है। निर्मम है। निरासक्त है। निःस्पृह है। उसे कर्मों के करने में भी कोई दिलचस्पी नहीं है। तो फिर उस परमात्मा को कर्म कैसे बाँध सकते हैं ? जो कोई भी कर्म-फलों से मुक्त होता है उसका कभी जन्म नहीं होता। जन्म न होने से मरण का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

जब हम दोनों हथेलियों को जोर से परस्पर रगड़ते हैं तो उनमें ताप की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जस्त, कार्बन, नौसादर और ताँबे आदि को युक्तिपूर्वक मिलाने से विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है। जब दिया-सिलाई को डिबिया के पार्श्व से रगड़ा जाता है तो तत्काल अग्नि उत्पन्न हो जाती है तथा दीपक-लैम्पादि के जलाने से प्रकाश की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार भक्त जन जब अपने इष्टदेव परमात्मा में तल्लीन और ध्यान-मग्न हो जाते हैं तो परमात्मा भी मनुष्य-देह-धारी होकर सामने प्रकट हो जाता है। अवतार के जन्म धारण करने का यही रहस्य है। परमात्मा अन्य बच्चों की तरह किसी के शुक्र-रज से उत्पन्न नहीं होता, न ही जननी के गर्भ में आता है,

केवल ऐसा होता हुआ भासमान या प्रतीत अवश्य होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि—हे अर्जुन ! मुझ को कर्म लिपायमान नहीं करते। क्योंकि मुझ को उनके फल की कोई लालसा या तृष्णा नहीं है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालक को उसकी माया कभी मोहित नहीं कर सकती, इसी प्रकार मुझे कर्म लिपायमान नहीं कर सकते। जो पुरुष इस प्रकार तत्त्व से जान लेता है और स्वयं भी इसके अनुसार आचरण करता है—अर्थात् कर्म करता हुआ भी अकर्ता बना रहता है, अपने द्वारा किये जा रहे कर्मों में किसी फल की इच्छा नहीं करता है, न उनमें आसक्त होता है, बल्कि सम्पूर्ण कर्म लोक-संग्रह तथा उपकारार्थ करता है उसको भी वे कर्म कभी लिपायमान या बन्धायमान नहीं करते। इससे उसका जन्म-मरण का बन्धन टूट जाता है और फिर वह परमात्मा के स्वरूप में मिलकर तद्रूप हो जाता है ।। १४ ।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।। १५ ।।

एवम्+ज्ञात्वा कृतम्+कर्म पूर्वैः+अपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्म+एव तस्मात्+त्वम्+पूर्वैः पूर्वतरम्+कृतम् ।।

एवम्=(अव्यय)√इ+वमु (बा०)=इस प्रकार।

ज्ञात्वा=√ज्ञा (क्र्यादि० पर० सक०=जानना)+क्त्वा=जानकर।

कृतम्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+क्त=कृत+(नपुं०) प्र० ए० व०=किया गया है।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म।

पूर्वैः=(वि०) पूर्व+(पुं०) तृती० ब० व०=पहले हो चुकों द्वारा। पूर्वकाल में हुओं द्वारा।

अपि=(अव्यय) भी।

मुमुक्षुभिः=(वि०)√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छोड़ना)+सन्+उ= मुमुक्षु+(पुं०) तृती० ब० व०=मुमुक्षुओं द्वारा। मुमुक्षु पुरुषों से। मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा वाले पुरुषों द्वारा। संसार में आवागमन से छूटने की इच्छा करने वाले पुरुषों द्वारा।

कुरु=√कृ+लोट्०, म० पु० ए० व०=(तू) कर।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।

एव=(अव्यय) ही।

तस्मात्=(अव्यय)=इसलिये ।
त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू ।
पूर्वैः=पहले हो चुके पुरुषों द्वारा । पूर्वजों द्वारा ।
पूर्व-तरम्=पूर्व+तर=पूर्वतर+(नपुं०) प्र० ए० व०=बहुत पूर्व कालों से । सदा से । (आज कल के समय से नहीं) । बहुत पुराने समय से ।
कृतम्=√कृ+क्त=कृत+(वि०) नपुं०, द्विती० ए० व०=किये हुए को ॥

अर्थ—इस प्रकार जानकर पूर्वकाल में हुए मुमुक्षुओं (मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले पुरुषों) द्वारा भी कर्म किया गया है । इसलिए तू (भी) उन पहले हो चुके (मुमुक्षु) पुरुषों द्वारा बहुत पूर्व काल से किये हुए कर्म को (उनकी तरह ही) कर ॥ १५ ॥

व्याख्या—अर्जुन की उत्कट इच्छा थी कि मैं युद्धादि कर्म को त्यागकर संन्यास ग्रहण करूँ । वह मुमुक्षु बन चुका था—अर्थात् वह जन्म-मरण रूप संसार के बन्धन से मुक्त होकर परमानन्द-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करना चाहता था, उसको इस लोक और परलोक के भोगों से विरक्ति हो चुकी थी—उसके युद्ध न करने के निश्चय को सुनकर भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! सबसे पहले तू मेरी ओर देख । मैं इस सारी सृष्टि की रचना करता हूँ, फिर भी मैं कर्म से लिप्त नहीं होता हूँ, न मुझे कर्म के फल की ही कोई इच्छा या दिलचस्पी है । न मुझे कर्म के करने में किसी प्रकार का अहंकार या अभिमान है, इससे मैं सदैव जन्म-मरण के बन्धन से विमुक्त हूँ । और भी, जिन्होंने कर्म-सम्बन्धी मेरे इस रहस्य को समझ कर पूरी तरह से आचरण किया है वे भी कर्मबन्धन से छूटकर विमुक्त हो गए हैं । मेरे इस ज्ञान को जानकर सत्य-युग में मनु, इक्ष्वाकु आदि, त्रेता में जनकादि और द्वापर में ययाति और यदु आदि अनेक राजा और क्षत्रिय लोग मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं । उन्होंने "न मैं वास्तव में कर्म का कर्ता हूँ", "न मैं कर्म-फल की इच्छा करता हूँ", "न मुझे कर्म बाँध सकते हैं"—इस प्रकार जान कर फल की इच्छा, आसक्ति और अहंकार से रहित होकर सदा कर्म किये हैं । तू भी उन पहले हो चुके मुमुक्षुओं के समान ही अपने क्षत्रिय-धर्म पर आचरण करता हुआ अकर्त्ता बन कर आसक्ति, ममता, फलेच्छा और अभिमान से रहित हुआ लोककल्याणार्थ ही सब कर्म कर । इस तरह कर्म करने का नाम कर्मों का त्याग है । कर्मों को स्वरूप से त्याग करके आलसी बन जाना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है । धरती, आकाश, पाताल, इधर, उधर दश दिशाओं में तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सब कोई काम करता हुआ ही दृष्टि-गोचर हो रहा है । सूर्य, चन्द्रमा, तथा सब नक्षत्र लोक-हितार्थ ममता, आसक्ति

फलेच्छा और अहंकार से रहित होकर निरन्तर भ्रमण कर रहे हैं। वन-देवता, वृक्ष, आतप, शीत और वात शीर्ष पर स्वयं सह कर संसार को निरन्तर फल, छाया, पुष्प, पत्र, छाल, रस और लकड़ी प्रदान कर रहे हैं। पौधे और वनस्पतियाँ अन्नादि देकर दूसरे सब जीवों का भरण-पोषण कर रही हैं। सब औषधियाँ रोगों को शान्त करने में तत्पर हैं। वायु श्वास-निःश्वास के रूप में प्राणियों के प्राणों की रक्षा करने में तत्पर है, और सब जीवों का रुधिर निरन्तर शुद्ध कर रहा है। जल सब को जीवन-दान करने में लगा हुआ है। पृथिवी माता बनकर सबको जन्म दे रही है और अन्नादि से प्राणियों का पालन-पोषण कर रही है तथा एक निमिष-मात्र समय के लिए भी निश्चल नहीं होकर, सदा भ्रमण करने में लगी हुई है। मेघमाला वर्षा बरसा कर सबको हरा-भरा करती रहती है, अग्नि भी दिन-रात संसार का उपकार कर रही है। पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि सभी अपने-अपने नियत कर्मों में लगे रहते हैं। हे अर्जुन ! तू भी इसी प्रकार अपने को कर्म का अकर्ता समझकर मेरे कहे हुए ढंग से पूर्व हो चुके मुमुक्षुओं की भाँति कर्म कर ! इसी में तेरा कल्याण है। इसी से तुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

किम्+कर्म किम्+अकर्म+इति कवयः+अपि+अत्र मोहिताः। तत्+ते कर्म प्रवक्ष्यामि यत्+ज्ञात्वा मोक्ष्यसे+अशुभात् ॥

किम्=(सर्व०) किम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या है ?

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म।

किम्=क्या है ?।

अकर्म=(नपुं०) न कर्म (नञ्०)। प्र० ए० व०। अकर्म।

इति=(अव्यय) ऐसे।

कवयः=(पुं०)√कव् (भ्वा० आत्म० सक०=सर्वज्ञ होना, महाचतुर होना)+इन्=कवि+प्र० ब० व०=पण्डित लोग। सर्वज्ञ लोग। बड़े बड़े बुद्धिमान् लोग। विचारवान् पुरुष। कवि लोग।

अपि=(अव्यय) भी।

अत्र=(अव्यय) यहाँ। इस विषय में।

मोहिताः=(वि०)√मुह् (दिवा० पर० सक०=मूर्च्छित होना। चकराना। मूर्ख बनना)+णिच्+क्त=मोहित+प्र० ब० व०=मोहं गताः। मोहित हुए हैं। बुद्धू बने हैं। नासमझ बन चुके हैं।

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्वितीं० ए० व०=उसको। वह।
ते=(सर्व) युष्मद्+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए। तुझको। तुझे।
कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को। कर्म और अकर्म को। कर्म के तत्त्व को। कर्म और अकर्म के तत्त्व को। [कर्म अकर्म च]।
प्रवक्ष्यामि=प्र√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+लृट्०, उ० पु० ए० व०=(मैं) कहूँगा। अच्छी तरह से कहूँगा।
यत्=(सर्व०) यत्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिसको। जिस कर्म-अकर्म के रहस्य को।
ज्ञात्वा=√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+क्त्वा=जानकर। [विदित्वा]।
मोक्ष्यसे=√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छूटना)+लृट्०, म० पु०, ए० व० =(तू) छूट जायेगा। मुक्त हो जायेगा।
अशुभात्=(वि०) न शुभात् (नञ्०) (नपुं०) पच० ए० व०=अशुभ से। जन्म-मरण के चक्र से। संसार-बन्धन से।

अर्थ—"कर्म क्या है ?", "अकर्म क्या है ?" इस विषय में कवि (या बड़े-बड़े विचारवान्) पुरुष भी मोहित (नासमझ या बुद्धू) बन चुके हैं। मैं तेरे लिए उस कर्म (और अकर्म के तत्त्व) को कहूँगा। जिसको जानकर (तू) अशुभ (संसार-बन्धन) से छूट जायेगा ॥ १६ ॥

व्याख्या—जीव चाहे अच्छे कुल में उत्पन्न हो और चाहे बुरे कुल में जन्म ले, उसको जन्म, मरण, व्याधि और जरा—ये चार कष्ट तो अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त चोर-डाकू या शत्रु से भय, प्यारों से वियोग, दु:खियों का त्रास, धन-धान्य-चिन्ता, शारीरिक श्रम, परतन्त्रता, प्रबल पापियों के डर से स्वधर्म का स्वेच्छापूर्वक परिपालन न कर सकना, आधिदैविक, आधि-भौतिक और आध्यात्मिक दु:ख तथा आधि-व्याधियाँ ऐसी हैं जो मनुष्य के तन-मन और मस्तिष्क को उत्पीड़ित करती रहती हैं। इस प्रकार के सब दु:खों और कष्टों को विचार कर योगिजन, कवि, पण्डित और विचारवान् लोग जन्म-मरण के चक्र-रूप संसार-बन्धन से मुक्त होने का उपाय करते हैं। इसी जन्म-मरण के चक्र या संसार-बन्धन को भगवान् ने 'अशुभ' कहा है। परन्तु इस अशुभ से छुटकारा तभी होता है जब शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का बन्धन टूट जाता है। यह बात सब लोग भली भाँति जानते हैं कि जो कोई भला-बुरा जैसा कर्म करता है, उसका फल भोगने के लिए उसको जन्म-मरण के चक्र में आना ही पड़ता है। इसी से बहुत-से लोग कहते हैं कि

तब तो किसी भी प्रकार का कर्म न करना चाहिए, ताकि उसका फल भोगने के लिए जन्म-मरण का झगड़ा ही न रहे। परन्तु इस विषय में भगवान् ने स्वयं कहा है कि—इस संसार में कोई भी ऐसा जीव नहीं है जो एक क्षण भर भी बिना कर्म किये रह सके (देखिये गीता, ३।५)। प्रत्येक जीव सदैव कोई न कोई कर्म करता ही रहता है। सोया हुआ जीव भी साँस लेने का कर्म करता है। नाना प्रकार के स्वप्न देखता है। जागता हुआ जीव तो मन, वचन और शरीर का प्रयोग सदैव कर्मों में करता ही रहता है। खाना-पीना, चलना-फिरना और हाथ-पाँव हिलाना आदि सब-कुछ करता है। तब फिर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कर्म-अकर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है जिसे जान कर मनुष्य इस अशुभ कर्म-बन्धन से मुक्त हो सके? और फिर उसको संसार के जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण न करना पड़े। परन्तु इस कर्म-अकर्म को जानने के विषय में तो ऐसे महाकवि, पण्डित, विद्वान्, विचारशील लेखक और महाचतुर लोग भी प्रायः असमर्थ हो चुके हैं जिन्होंने पूर्व-काल में बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं, और जिनके फलस्वरूप संसार में अनेक मत-मतान्तर बन चुके हैं एवं जिनके कर्तव्य कर्मों में आकाश-पाताल का अन्तर है तथा परस्पर विरोध है। कुछ तो देवी-देवताओं को जीवों के रक्त की बलि देना कर्म समझते हैं, परन्तु दूसरों की दृष्टि में यह घोर पाप-कर्म है। एक तो शास्त्र-विहित और परोपकार के कर्म से भी रहित रहना चाहते हैं, परन्तु अन्य मुमुक्षु लोग निरासक्त, निर्मम, निरहंकार तथा फलेच्छा से रहित होकर कर्म करना ही 'अकर्म' समझते हैं। कुछ लोग केवल देहादि की चेष्टा का नाम कर्म कहते हैं और उसे न करके चुपचाप बैठे रहने का नाम अकर्म बताते हैं। परन्तु वास्तव में कर्म और अकर्म का विषय बड़ा गहन और अति दुर्बोध्य है जो समय-समय पर इन विचारशील पुरुषों को भी चक्र में डालता रहता है, जैसाकि लड़ने या न लड़ने के विषय में इस कर्म-अकर्म ने अर्जुन-सरीखे ज्ञानी को भी चक्र में डाल रखा है। वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञ-कर्मों का विधान है। शास्त्रों में अनेक पुरश्चरणों की विधियाँ लिखी हैं। सबको पढ़-सुनकर पुरुष की बुद्धि भ्रमित होकर चक्र में फँस जाती है और वह कर्म तथा अकर्म का निश्चय करने में असमर्थ हो जाती है। इसलिए भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि मैं तेरे लिए कर्म और अकर्म का रहस्य कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से मुक्त हो जायेगा तथा परम पद को प्राप्त होकर मुझ परमात्मा में मिल जायेगा। यह कहकर भगवान् ने (गीता, श्लोक १८ से श्लोक ३२ तक) अर्जुन को कर्म एवं अकर्म का स्वरूप बतलाकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया है॥ १६

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मणः+हि+अपि बोद्धव्यम्+बोद्धव्यम्+च विकर्मणः । अकर्मणः+च बोद्धव्यम्+गहना कर्मणः+गतिः ॥

कर्मणः=(नपुं०) कर्मन्+षष्ठी० ए० व०=कर्म का (स्वरूप या तत्त्व) । शास्त्र-विहित कर्म का ।

हि=(अव्यय) क्योंकि । निःसन्देह ।

अपि=(अव्यय) भी ।

बोद्धव्यम्=√बुध् (भ्वा०, दिवा० उभ० सक०)+तव्यत्=बोद्धव्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=जानना चाहिए । जानने योग्य है ।

बोद्धव्यम्=जानना चाहिए । जानने योग्य है ।

च=(अव्यय) और ।

विकर्मणः=वि√कृ+मनिन्=विकर्मन्+षष्ठी, ए० व०=विकर्म का । निषिद्ध कर्म का (स्वरूप या तत्त्व) ।

अकर्मणः=(नपुं०) न कर्मणः (नञ्०) । अकर्मन्+षष्ठी० ए० व०=अकर्म का (तत्त्व या स्वरूप) ।

च=(अव्यय) और ।

बोद्धव्यम्=जानना चाहिए । जानने योग्य है ।

गहना=(वि०)√गह्+ल्यु+आ=गहना (स्त्री०)+प्र० ए० व०=अगम्या । क्लिष्टता से समझने योग्य । दुरधिगम्या । समझने में कठिन । गहन है ।

कर्मणः=(नपुं०) कर्मन्+षष्ठी० ए० व०=कर्म की ।

गतिः=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+प्र० ए० व०=चाल । ज्ञान । गति ।

अर्थ—कर्म (का स्वरूप) जानने योग्य है । और विकर्म (निषिद्ध कर्म) का स्वरूप जानने योग्य है तथा अकर्म का स्वरूप भी जानने योग्य है, क्योंकि (निःसन्देह तीनों प्रकार के) कर्मों की गति गहन (बहुत दुर्बोध्य) है ॥ १७ ॥

व्याख्या—'सृष्टि' शब्द स्त्रीलिङ्ग है, जो 'सृज्' धातु से बना है । इस का अर्थ 'रचना करना' होता है जो कर्म का ही दूसरा नाम है । इसलिए कोई मनुष्य जब तक सृष्टि में है तब तक कर्म से नहीं छूट सकता है । भगवान् ने भी कहा है—

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥"

(गीता, ३।५)

अर्थात्—"कोई प्राणी क्षण-भर भी बिना कर्म किये कभी नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के (तीनों) गुणों द्वारा विवश किया हुआ सम्पूर्ण प्राणि-समुदाय कर्म को करता है।" कहा भी है—

"न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥"

(गीता, १८।११)

अर्थात्—"कर्मों का सर्वथा त्याग करने के लिए कोई भी देहधारी समर्थ नहीं है। जो पुरुष कर्मफल का त्याग करता है, वही (कर्म-)त्यागी है ऐसा कहा जाता है।"

संसार में यह कर्म चार प्रकार का देखा जाता है—

१—कर्म, २—विकर्म, ३—अकर्म और ४—कर्मातीतता। जो कर्म किसी फल की इच्छा से किया जाता है, अथवा जिसके करने में ममता का पुट हो, किंवा जो अभिमान से किया जाय, वह कर्म मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में फँसाने वाला होता है। यहाँ उसी का नाम 'कर्म' है।

यद्यपि किसी भी कर्म का न करना 'अकर्म' कहलाता है। परन्तु सृष्टि में बिना कर्म किये कोई भी रह नहीं सकता। इसलिए यहाँ अकर्म का उपर्युक्त अर्थ नहीं लिया जा सकता। यहाँ तो अकर्म का अभिप्राय है—कर्म करते हुए भी उसमें आसक्त न होना, उसमें किसी प्रकार की ममता न रखना, फलेच्छा से रहित होना तथा निरभिमान होकर कर्म करना।

ऐसा कर्म मनुष्य के लिए जन्म-मरण रूप बन्धन का कारण नहीं होता, इसलिए उसी का नाम 'अकर्म' है। क्योंकि इस अकर्म-अवस्था में केवल इन्द्रियाँ ही कर्म करती हैं। मन उस कर्म में न अनुराग करता है और न किसी प्रकार की दिलचस्पी रखता है। इस प्रकार जो मन, कर्म करती हुई इन्द्रियों का साथी और कर्म का भागी नहीं बनता, वह शुद्ध मन कहलाता है। क्योंकि वह कामना, संकल्प, आसक्ति और अहंकार से रहित हो जाता है। परन्तु अशुद्ध मन में ये चारों दुर्गुण सदा भरे रहते हैं जो अकर्म को कर्म में बदल देते हैं। जब कर्म कर रही नौकर-रूप इन्द्रियों की मन-रूपी राजा सहायता करने या हाथ बँटाने लगता है तो वह अशुद्ध और मलिन हो जाता है।

कहते हैं कि एक राजा साहब किसी महात्मा के सेवक बन गए। उन्होंने महात्माजी को अपनी राज-सभा में आने के लिए आमन्त्रित किया। तब महात्माजी ने किसी उपयुक्त समय पर वहाँ जाना स्वीकार कर लिया। एक

दिन उस राजा की प्रेमिका, एक वाराङ्गना, राज-सभा में आयी हुई थी। उस समय वहाँ पर कोई सभासद् विद्यमान नहीं था। तभी राजा को दूर से महात्माजी आते हुए दिखाई दिए। राजा ने भृत्यों को उस वाराङ्गना की पालकी को जल्दी से उठा ले जाने की आज्ञा दी। परन्तु उतावली में वह डोली कहारों के कन्धों से खिसककर, जब एक ओर को झुककर गिरने लगी, तो राजासाहब अपने राजापन को भूल गए और गद्दी से उठकर डोली को सहारा देकर उसे गिरने से बचाने लगे। इसी अवस्था में महात्माजी वहाँ पहुँच गए और राजासाहब को झिड़क कर बोले—हे राजन्! आपके इस कर्म से तो कायर कुत्ते ही उत्पन्न होंगे। इस आचरण (कर्म) से शूरवीर, धर्मात्मा क्षत्रिय योद्धाओं की उत्पत्ति कभी सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार मन जब अशुद्ध होकर इन्द्रियों को उनके कर्मों में सहयोग देने लगता है, तो मोक्ष की प्राप्ति के स्थान पर जन्म-मरण का बन्धन प्राप्त हो जाता है। (मैत्र्यु० ६।३४)

अमृतबिन्दु में भी लिखा है—

"मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥"

[**अर्थ**—ठीक ही मन दो तरह का कहा गया है—एक तो शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। अशुद्ध 'मन' काम और संकल्प से युक्त होता है। परन्तु शुद्ध मन काम और संकल्प से रहित होता है। इसलिए मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण होता है। क्योंकि विषयासक्त मन (जन्म-मरण रूपी) बन्धन के लिए होता है और विषयों से रहित मन मोक्ष या मुक्ति के लिए कहा गया है।]

इससे सिद्ध है कि कर्म और अकर्म का सम्बन्ध वास्तव में मन से है। जो कर्म किया जाने पर भी हमें किसी झगड़े-बखेड़े में बाँधता नहीं है, वही 'अकर्म' कहलाता है।

इस सम्बन्ध में, तीसरी श्रेणी में 'विकर्म' आता है। साधारणतः झूठ बोलना, कपट करना, व्यभिचार, चोरी, हिंसा, ठगी-बगी इत्यादि पाप-कर्मों का नाम 'विकर्म' है। परन्तु यहाँ पर बीमारी, आलस्य, ऊँघ, मद्य, भाँग और चरसादि मादक द्रव्यों के प्रभाव से इन्द्रियों और मन का कर्म करने से रहित हो जाना 'विकर्म' है। अकर्म और विकर्म दोनों में बहुत अंतर है क्योंकि अकर्म-

अवस्था में इन्द्रियाँ तो काम करती रहती हैं, परन्तु मन उनका सहयोगी नहीं बनता। किन्तु 'विकर्म' में इन्द्रियाँ और मन दोनों क्रियाहीन होते हैं, इसलिए अकर्म तो मोक्ष की ओर ले जाने वाला होता है और 'विकर्म' अधमाधम योनियों में भ्रमण कराने वाला होता है।

कर्म की चौथी एक और अवस्था भी होती है जिसका इस श्लोक में वर्णन नहीं किया गया है। यह चौथी अवस्था तो इस सृष्टि से निकलकर परमात्मा में पूर्णतया लीन होने के समय की होती है। उसका नाम है—"कर्मातीत अवस्था।" यह अवस्था मुमुक्षु को उस समय प्राप्त होती है, जब वह निष्काम और अकर्ता-भाव से कर्म करते-करते योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में निश्चल स्थित हो जाता है; तब उसकी इन्द्रियों के सब कर्म स्वतः ही बन्द हो जाते हैं। कर्मातीत पुरुष के विषय में यह श्रुति प्रसिद्ध है—"ब्रह्मविद् श्रुतिमूर्ध्नि"; अर्थात्—ब्रह्म-वेत्ता श्रुति से भी ऊपर उठकर चलता है और श्रुति का स्राव उससे होता है।

'विकर्म' और 'कर्मातीत' दोनों अवस्थाएँ देखने में तो समान दिखाई देती हैं, परन्तु वास्तव में ये दोनों समान नहीं होतीं। क्योंकि विकर्म में तो मन और शरीर की सब क्रियाएँ रोग, आलस्य, निद्रा, अज्ञान या किसी मादक द्रव्य के सेवन से मन्द पड़ जाती हैं, परन्तु कर्मातीत-अवस्था में इन-जैसा कोई भी कारण उन क्रियाओं के शान्त हो जाने का नहीं होता। उस अवस्था में तो आत्म-साक्षात्कार से स्थिरता होती है क्योंकि मुमुक्षु का सम्बन्ध बाह्य सृष्टि से कट जाता है। सृष्टि के न रहने से कर्म का भी अभाव हो जाता है। जो लोग यह कहते हैं कि साधु या संन्यासी को सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर देना चाहिए, उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि ऐसा करना न तो ठीक ही है, न सम्भव ही। क्योंकि कर्मातीतावस्था से पूर्व कर्मों का त्याग किसी भी व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं है। कारण यह है कि ऐसा या तो विकर्मावस्था में हो सकता है, अथवा मिथ्याचार या ढोंग रचकर किया जा सकता है, जो किसी प्रकार भी ठीक नहीं है।

यद्यपि हमने कर्म, विकर्म और अकर्म इन तीनों की व्याख्या अपनी समझ के अनुसार यहाँ ठीक और उचित ही की है। परन्तु भगवान् ने इस श्लोक में कर्म की गति को गहन कहा है, अर्थात् 'उसको समझना बहुत कठिन है'—ऐसा कहा है। वास्तव में कर्म का विषय बहुत गम्भीर, टेढ़ा और दुर्विज्ञेय है। जैसाकि श्रीमद्भागवतपुराण में कहा है—

"आविर्होत्र उवाच—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥

(स्कन्ध ११, अ० ३, श्लोक ४३)

अर्थ—आविर्होत्र ने कहा—कर्म, अकर्म और विकर्म, ये तीनों वाद वेद में कहे गये हैं। इनका सम्बन्ध लौकिक शास्त्रों से नहीं है। और वेद की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है इसलिए इनकी व्याख्या करने में ज्ञानी पुरुष भी धोखा खा जाते हैं। इससे मेरे-जैसे अल्पज्ञ पुरुषों के विषय में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्मणि=अकर्म यः पश्येत्+अकर्मणि च कर्म यः। सः+बुद्धिमान्+मनुष्येषु सः+युक्तः कृत्स्न-कर्म-कृत् ॥

कर्मणि=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ए० व०=कर्म में। 'कर्म' क्रियते इति व्यापारमात्रं, तस्मिन् कर्मणि=जो कुछ किया जाय, उस चेष्टामात्र का नाम 'कर्म' है। उस कर्म में। अहंकार-रहित कर्म में। अपने शरीर और इन्द्रियों द्वारा किये जा रहे कर्म में (आत्मा द्वारा उस कर्म के न होने को)।

अकर्म=(नपुं०) न कर्म (नञ्०)। अकर्मन्+द्विती० ए० व०=अकर्म को। कर्म के अभाव को। (आत्मा द्वारा) कर्म के न होने को।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (ज्ञानी पुरुष)।

पश्येत्=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+विधिलिङ्, प्र० पु० ए० व०=देखे।

अकर्मणि=(नपुं०) न कर्मणि (नञ्०)। अकर्मन्+सप्त० ए० व०=अकर्म में। अज्ञानियों के कर्म-त्याग में। [अकर्ता आत्मा में, 'मैं कर्ता हूँ', 'मेरा यह कर्म है', 'मुझे इसका फल भोगना है' इस प्रकार के कर्म को]। कर्म के अभाव में।

च=(अव्यय) और।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को। अहंकारपूर्वक किये हुए कर्मत्याग-रूप कर्म को।
[अहंकारपूर्वक किया हुआ कर्म-त्याग भी वास्तव में 'कर्म' ही है।]

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

बुद्धिमान्=(वि०) बुध्+क्तिन्=बुद्धि+मतुप्=बुद्धिमत्+(पुं०) प्र० ए० व०=बुद्धिमान्। समझदार। मेधावी। चतुर। प्रतिभाशाली।

मनुष्येषु=(पुं०) मनुष्य+सप्त० ब० व०=मनुष्यों में।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।
युक्तः=(वि०)√युज्+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=(भगवान् के ध्यान में) जुड़ा हुआ। मिला हुआ। ईश्वर के स्वरूप में एकाग्रचित्त हुआ। योगी।
कृत्स्न—कर्म-कृत्=(वि०) कृत्स्नानि कर्माणि करोति यः सः (बहुव्रीहि)=सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला। (√कृत्+क्स्न=कृत्स्न=सम्पूर्ण। सारे।)

अर्थ—जो पुरुष (आत्मा द्वारा किये जा रहे समझे जाने वाले) कर्म में अकर्म को (अर्थात् वास्तव में आत्मा द्वारा कर्म के न किये जाने को) और जो (वही पुरुष) अकर्म में (अर्थात् अज्ञानियों द्वारा किये हुए अहंकारपूर्वक कर्म-त्याग में) कर्म को देखे (देखता है), वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है। युक्त (योगी—परमात्मा में लीन होकर तद्रूप बना हुआ) है और (ईश्वर से अभेद हो जाने के कारण) सम्पूर्ण कर्म को करने वाला है ॥ १८ ॥

व्याख्या—[इस श्लोक का अर्थ सब टीकाकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से करने का प्रयास किया है। वास्तव में यह श्लोक बहुत दुर्बोध्य और क्लिष्ट है। भगवान् का ठीक आशय तो स्वयं भगवान् ही जानते हैं। परन्तु हमें जो-जो अर्थ उपयुक्त और ठीक जँचे हैं, उन सबके सार को हमने इस व्याख्या में दर्शाने का भरसक प्रयास किया है। अष्टावक्र-गीता में लिखा है—

"निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥"

(अष्टा०, १८।६१)

अर्थ—मूर्खों की निवृत्ति—अर्थात् हठ या मोह से कर्म से विमुखता या कर्म-त्याग—वास्तव में उनकी कर्म में प्रवृत्ति ही होती है। परन्तु बुद्धिमान् धीर पुरुष की प्रवृत्ति भी निष्काम कर्म अथवा कर्म-त्याग का फल देने वाली होती है।

गीता के इस श्लोक में भी भगवान् ने कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष कर्म में अकर्म को देखता है अर्थात् अपनी इन्द्रियों और शरीर द्वारा होते हुए कर्मों में न किसी प्रकार के रस का अनुभव करता है, न उन कर्मों में किसी तरह की मोह-माया अथवा ममता ही रखता है, न उनके पूरी तरह से सम्पन्न हो जाने पर उसे किसी प्रकार का अभिमान या अहंकार ही होता है, न उसे उन कर्मों के करने के बाद किसी प्रकार के फल की इच्छा होती है, वास्तव में वे सारे कर्म उसके द्वारा

लोकोपकारार्थ स्वतः ही सम्पन्न होते रहते हैं। वह पुरुष इन इन्द्रियों द्वारा किये जा रहे कर्मों का कर्ता अपने-आप को कभी नहीं देखता है, और न वह उनके पूरा हो जाने पर हर्षित होता है और न उसे उन कर्मों के अधूरा रह जाने से किसी प्रकार का शोक होता है। क्योंकि देह-इन्द्रियादि से होने वाले कर्मों को वह आत्मा में अध्यारोपित करके यह नहीं समझता कि 'मैं कर्ता हूँ,' 'मेरा यह कर्म है', 'मुझे इसका फल भोगना है'। वास्तव में आत्मा में कर्मों के अभाव को देखना ही 'कर्म में अकर्म को देखना' है। तथा आप करता हुआ भी मैं नहीं करता हूँ" (और बेशक ईश्वर करता हुआ दिखाई नहीं देता तो भी) "ईश्वर ही करता है"—इस प्रकार भली भाँति समझ लेना ही 'कर्म में अकर्म" को और 'अकर्म में कर्म' को देखना है।

'मैं चुप होकर बैठता हूँ, इससे मैं परिश्रम-रहित और कर्म-रहित होकर सुखी हो जाऊँगा।"—इस प्रकार देह और इन्द्रियों के व्यापार की उपरमता का तथा उससे होने वाले सुखीपन का आत्मा में अध्यारोप करके "मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, चुपचाप सुख से बैठा हूँ"—इस प्रकार लोग मानते हैं। लोगों के इस विपरीत ज्ञान को हटाने के लिए ही "कर्मणि अकर्म यः पश्येत्" ऐसा वचन भगवान् ने यहाँ कहा है। इसका आशय यह है कि जो पुरुष "मैं कुछ न करता हुआ भी चुपचाप सुखपूर्वक बैठा हूँ"—इस अहंकार का सम्बन्ध होने से इस 'अकर्म' को कर्म करके देखता है, उसका ऐसा देखना ही 'यथार्थ रूप में देखना' है।

बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष जब अपने शरीर को ही अपना नहीं समझता है तो वह देह और उससे संयुक्त इन्द्रियों के द्वारा हो रहे कर्मों का कर्ता अपने को कैसे मान सकता है? उसे तो देह-इन्द्रियों द्वारा हो रहे सम्पूर्ण कर्म इन्द्रियों के स्वामी भगवान् हृषीकेश द्वारा ही होते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार जो पुरुष अपनी देह द्वारा हो रहे कर्म को अपनी आत्मा के अकर्म-रूप में देखता है और ईश्वर के अकर्म में भी कर्म को देखता है—यद्यपि ईश्वर कहीं भी देह-धारी बनकर काम करता हुआ दिखाई नहीं देता, तो भी गुप्त रूप में सब जगह जो पुरुष उसी को सारे कर्म करता हुआ देखता है—वह भी अकर्म में कर्म को ही देखता है। वह ज्ञानी पुरुष सूर्य के द्वारा प्रकाश और गर्मी का विकीर्ण होना उसी अकर्ता अनन्त भगवान् द्वारा होता हुआ देखता है; उसी को चन्द्रमा के द्वारा चाँदनी फैलाते हुए देखता है; मेघ के रूप में उसी को गर्जता और जल-धारा बरसाता हुआ अवलोकन करता है। वह उसी अकर्ता को नक्षत्रों के रूप में भ्रमण करता हुआ निहारता है एवं माता-पिता के रूप में पुत्रों को उत्पन्न करके उनका भरण-पोषण करता हुआ देखता है। अन्तिम बात यह

कि अपने-आप को भी उसी अकर्ता के स्वरूप में कर्म करता हुआ देखता है। यहाँ अनुभव करना या मन से मान लेना अभिप्रेत नहीं है। यहाँ तो इन चर्म-चक्षुओं से उस अकर्ता के अकर्म को कर्म-रूप में देखने से तात्पर्य है। अर्थात् मनुष्यों में वह बुद्धिमान् पुरुष उस अकर्ता परमेश्वर का अकर्म सदा कर्म-रूप में ही देखता है। भगवान् और उसके बीच से माया और द्वैत का पर्दा लुप्त या नष्ट हो जाता है। उस समय बुद्धि उसके अधीन होती है तथा उसका मन और इन्द्रियाँ उसके परम तत्त्व को अपने रूप में देखने में कोई विघ्न नहीं डालती हैं। क्योंकि उस समय वह परमात्मा से युक्त होता है। भगवान् का तद्रूप हो जाने से वह सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता स्वयं बन जाता है। यही वह उच्च पद है जिसको प्राप्त करके फिर उसके लिए और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

दर्पण में दिखाई देने वाले प्रतिबिम्ब को देखकर ज्ञानी उसे प्रतिबिम्ब ही समझता है, न कि स्वयं अपना आप। इसी प्रकार रेल पर चढ़े हुए पुरुष को बाहर के वृक्ष पीछे की ओर भागते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु ज्ञानी तो रेल को ही दौड़ती हुई जानता है। धरती पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है, वह चौबीस घण्टों में अपना एक चक्र पूरा करती है, इससे अज्ञानी सूर्य को पूर्व से उदय होकर पश्चिम की ओर जाकर अस्त होता हुआ समझता है। परन्तु विज्ञानी वास्तविकता को जानता है, जबकि अज्ञानी, मूर्ख या अबोध बालक के समान, उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में ज्ञानी से विपरीत बात जानता है। इसीसे भगवान् ने कहा है कि जो पुरुष कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, युक्त है और सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः काम-संकल्प-वर्जिताः । ज्ञान+अग्नि-दग्ध-कर्माणम् +तम्+आहुः पण्डितम्+बुधाः ॥

यस्य=(सर्व०) यद्+(पुं०) षष्ठी, ब० व०=जिसके।

सर्वे=(सर्व०) सर्व+(पुं०) प्र० ब० व०=सारे।

समारम्भाः=(पुं०) कर्माणि समारभ्यन्ते इति समारम्भाः=जिसका आरम्भ किया जाता है उसका नाम समारम्भ है। सम्+आ√रभ् (भ्वा०

आत्म० सक०=आरम्भ करना)+घञ्, मुम्=समारम्भ+प्र० ब० व०=कार्य। काम। उद्योग।

काम-संकल्प-वर्जिताः=(वि०) १. कामैः तत्कारणैः च सङ्कल्पैः वर्जिताः=कामना से और कामना के कारण-रूप संकल्प से रहित हैं। २. काम्यते इति कामः फलं तत्सङ्कल्पेन वर्जिताः=जो चाहा जाता है, उसका नाम 'काम' है, और उसके फल का संकल्प, इन दोनों से रहित (कर्मों वाला)। ३. कामः="फल-तृष्णा, संकल्पोऽहं करोमि" इति कर्तृत्वाभिमानस्ताभ्यां वर्जिताः=काम (फल की अभिलाषा) और संकल्प ('यह कर्म मैं करता हूँ' ऐसा कर्तृत्व-अभिमान) इन दोनों से रहित (कर्मों वाला)। (पुं०) प्र० ब० व०।

ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम्=(वि०, पुं०, द्वितीया ए० व०)। ज्ञानं तद् एव अग्निः, तेन ज्ञानाग्निना दग्धानि (शुभाशुभलक्षणानि) कर्माणि यस्य (बहुव्रीहि) तम्=(कर्म में अकर्म, और अकर्म में कर्म-दर्शन रूप) ज्ञान-रूपी अग्नि से (शुभाशुभ) दग्ध हुए सम्पूर्ण कर्मों वाले पुरुष को।

तम्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको। आहुः=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना। बोलना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहते हैं।

पण्डितम्=(वि०) पण्डा (=सत्-असत् का विवेक करने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि)+इतच्=पण्डित+द्विती० ए० व०=पण्डित। बुद्धिमान्। सत्-असत् का विवेक करने वाला।

बुधाः=(पुं०)√बुध् (भ्वा० दिवा० उभ० सक०=जानना)+क=बुध+प्र० ब० व०=बुद्धिमान् लोग। ज्ञानी लोग। ब्रह्मवेत्ता पुरुष।

अर्थ—जिसके सारे कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं, उस [कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म-दर्शन रूप] ज्ञान-रूपी अग्नि द्वारा (शुभाशुभ या पुण्य-पाप) दग्ध हुए सम्पूर्ण कर्मों वाले पुरुष को बुधजन (ज्ञानी या ब्रह्मवेत्ता लोग) पण्डित (या बुद्धिमान्) कहते हैं॥ १९॥

व्याख्या—पूर्व श्लोक के अनुसार जो पुरुष कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है, उसके सम्पूर्ण कर्म कामना और संकल्प से रहित हो जाते हैं। क्योंकि उसने यह बात तो अच्छी तरह से समझ और देख ही ली है कि वास्तव में तो किसी भी कर्म का कर्ता मैं नहीं हूँ, यद्यपि लोग मुझे कर्ता-रूप में देख रहे हैं। वह पहले स्वयं भी ज्ञानहीन अवस्था में अपने-आप को ही कर्मों के कर्ता रूप में देखा करता था। परन्तु अब उसे यह ज्ञान हो गया है कि कोई भी प्रतिबिम्ब असल वस्तु नहीं होती। रेल में चढ़े ज्ञानी के

लिए रेल ही दौड़ती है; सड़क के दोनों ओर लगे हुए वृक्ष नहीं दौड़ते। इसी प्रकार सूर्य स्वयं चलकर उदय और अस्त नहीं होता; पृथिवी ही चौबीस घण्टों में उस सूर्य के सामने घूमकर अपना एक चक्र पूरा करती है। "वास्तव में ये सब कार्य ईश्वर द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। मैं तो किसी भी कर्म को नहीं करता हूँ।" तीर धनुष से निकलता हुआ दिखाई देता है परन्तु वास्तव में उसको चलाने वाला कोई वीर धन्वी योद्धा ही होता है। इसी प्रकार गोली बन्दूक की नली से निकलती हुई दिखाई देती है, परन्तु उसको चलाने वाला तो बन्दूकची पुरुष ही होता है। जब सारे कर्म ईश्वर के द्वारा ही होते हैं तो ज्ञानी को कामना करने की कौन सी आवश्यकता रह जाती है? जो कुछ होना है वह तो अवश्य ही होना है। जो नहीं होना है वह होना ही नहीं है। ऐसी अवस्था में ज्ञानी के हृदय में किसी प्रकार के संकल्प की उत्पत्ति होना भी असंभव है। जब कामना और संकल्प का अन्त हो जाता है, तो कर्मों के कर्तापन से भी मुक्ति मिल जाती है। और फिर शुभाशुभ कर्मों के बीज उगते और जन्मते नहीं हैं। ये कर्म ज्ञानाग्नि में भूने गए दानों के समान हो जाते हैं। इन शुभाशुभ जले हुए कर्म-रूपी बीजों के उगने का तो फिर कोई कारण ही शेष नहीं रहता। इस प्रकार जब ईश्वर-कृपा से वास्तविक तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो वह प्रचण्ड अग्नि में डाले हुए ईंधन की भाँति उन सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है। तब कर्मों से मुक्त हुए उस पुरुष को ब्रह्मवेत्ता लोग 'पण्डित' या 'बुद्धिमान्' पुरुष कहने लगते हैं।

यद्यपि उसके द्वारा कर्म तो होते ही रहते हैं, परन्तु उनमें उसकी कोई कामना नहीं होती, न उनके करने के लिए किसी प्रकार का संकल्प ही उत्पन्न होता है, न उनसे होने वाले किसी फल की इच्छा होती है, और न कर्मों के कर्तृत्व का अभिमान ही होता है। वह पण्डित तो केवल कर्म के लिए ही कर्म करता है, जिससे उसकी इच्छा के बिना भी लोकसंग्रह और लोकोपकार होता है। इससे उसके वे कर्म अकर्म-रूप ही होते हैं। बिना निज-प्रयोजन या बिना स्वार्थ के उसके सब कर्म केवल चेष्टा-मात्र ही होते हैं।

मानव-शरीर को श्रुति ने मोक्ष का द्वार कहा है। इसलिए मोक्ष-प्राप्ति की साधना के लिए जीवन या देह की रक्षा करना परमावश्यक है। काम का अर्थ स्वार्थ और विषयों के भोगों की कामना है; जो संकल्प केवल इसी प्रयोजन की प्राप्ति के निमित्त हों, वे काम-संकल्प कहलाते हैं इनसे भिन्न दूसरों के भले के लिए जो संकल्प होते हैं, वे निष्काम और मंगल-संकल्प होते हैं। इन्हींका दूसरा नाम शिव-संकल्प भी है। काम-संकल्प हमें बन्धन में डालने वाले होते हैं और शिव-संकल्प मोक्ष के साधक होते हैं। सम्पूर्ण

कर्म, धर्म की रक्षा, लोकोपकार, लोकसंग्रह (ब्रह्मानन्द या मोक्ष) की प्राप्ति को लक्ष्य करके ही किये जाने चाहिएँ। इससे फिर ये कर्म करने वाले के लिए बन्धन नहीं बनते। कठ-उपनिषद् में कहा है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥"
(कठ०, ३।१४)

अर्थ—जब वे सम्पूर्ण कामनाएँ, जोकि इसके हृदय में आश्रय करके स्थित रहती हैं, छूट जाती हैं, उस समय यह मर्त्य (मरणधर्मा मनुष्य) अमृत (अमर) हो जाता है और इसी शरीर से ब्रह्मभाव को पा लेता है।

कुछ-एक टीकाकारों ने अपनी व्याख्याओं में निम्नलिखित भावों को भी व्यक्त किया है—

मन, बुद्धि, चित् और अहंकार, ये चार अन्तःकरण की मुख्य वृत्तियाँ हैं। इनमें से मन संकल्प-विकल्प करता है। बुद्धि सत्-असत् का निर्णय या विवेक करती है। चित्त चिन्तन करता है और अहंकार दर्प या अभिमान करता है।

अन्तःकरण की इन वृत्तियों के ये कर्म जागृत और स्वप्न-अवस्था में जीवन-पर्यन्त बन्द नहीं होते। केवल सुषुप्ति-काल और समाधि-काल में ही बन्द होते हैं। फिर ये चारों वृत्तियाँ ही दशों इन्द्रियों के रूप में शरीर के सारे व्यापार करती हैं। अन्तःकरण देह से तब तक पृथक् नहीं होता, जब तक इसके पूर्व प्रारब्ध भोग समाप्त नहीं होते।

प्रारब्ध भोगों के विद्यमान रहने पर अन्तःकरण अपनी उपर्युक्त चारों वृत्तियों द्वारा मनुष्य के जीवन-पर्यन्त संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष, मोह-शोक और कर्तापन आदि की भावना करता रहता है। ये सब कर्म उन चारों वृत्तियों के स्वभाव या धर्म ही हैं, इसलिए आसानी से नष्ट नहीं होते।

जब पूर्व भाग्य के अनुसार ये वृत्तियाँ अन्तःकरण में विद्यमान होती हैं और आत्मा का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ता है, तो अपने स्वरूप में अचल, कूटस्थ और निर्विकार आत्मा भी अपने-आपको उस प्रतिबिम्ब के रूप में ही मानने लगती है—अथवा वह अपना स्वरूप अन्तःकरण में ही आरोपित करने लगती है और अन्तःकरण की वृत्तियों के स्वभाव को भी अपना ही मान लेती है। यही उसकी भ्रान्ति और अज्ञान है। इस भ्रान्ति के दूर होने का नाम ही ज्ञान है। जब तक आत्मा को अपने स्वरूप का बोध नहीं होता, तब तक यह भ्रान्ति भी दूर नहीं होती। इसी कारण आत्मा अन्तःकरण के साथ जन्म लेकर दुःख-सुख भोगती रहती है। परन्तु जब यह सारे संकल्पों और कर्मों को केवल इन्द्रियों और अन्तःकरण के व्यापार ही जान लेता है, तो फिर अपने-आपको

अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी और असंगात्मा भान करता है। उस समय यह कर्म में ही अकर्म को देखने लगता है तथा पहले जो कर्म अपने द्वारा होता हुआ प्रतीत होता था, उसे इन्द्रियों और अन्तःकरण के द्वारा होता हुआ देखता है। इसी को 'अकर्म में कर्म देखना' कहते हैं। ऐसा होने से उस आत्मा का सम्बन्ध कर्मों से छूट जाता है। इससे वह पण्डित, विचारवान् आत्मा-वेत्ता कहलाता है। क्योंकि उसके सारे कर्म ज्ञान-रूपी अग्नि से दग्ध हो जाते हैं और बुद्धिमान् लोग उसको अपनी श्रेणी में प्रविष्ट हुआ मान लेते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

त्यक्त्वा कर्म-फल+आसङ्गम्+नित्य-तृप्तः+निर्+आश्रयः। कर्मणि +अभिप्रवृत्तः+अपि न+एव किञ्चित्+करोति सः ॥

त्यक्त्वा=√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=त्यागना)+क्त्वा=त्याग कर।

कर्म-फल+आसङ्गम्=(पुं०) कर्मसु अभिमानं फलासङ्गं च=कर्मों में अभिमान और फलासक्ति को। कर्मणां फलम् आसङ्गं च। कर्मों के फल और संग (कर्तृत्व-अभिमान) को।
[आसङ्गम्=(पुं०) आ√सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०=चिपकना)+घञ्=आसङ्ग+द्विती० ए० व०=अनुराग को। आसक्ति को।]

नित्य तृप्तः=(वि०) नित्यं तृप्तः (सुप्सुपा)=सदा के लिए तृप्त। (१) विषय-कामना से रहित। जिसकी भोग-वासनाएँ, सब इन्द्रियों के भोगों से विरत हो चुकी हैं। (२) परमानन्द परमात्मा में नित्य-तृप्त या सन्तुष्ट रहने वाला।

निर्+आश्रयः=(वि०) निर् आ√श्रि (भ्वा० उभ० सक०=आश्रय लेना) +अच्=निराश्रय+(पुं०) प्र० ए० व०=आश्रय से रहित।
१—कर्म के हेतु रूप ठिकाने, फल या अति तुच्छ कामनाओं के आश्रयों से रहित।
२—सांसारिक आश्रय से रहित।

कर्मणि=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ए० व०=कर्म में।

अभिप्रवृत्तः=(वि०) अभि—प्र√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=लगना। वर्तना। विद्यमान होना)+क्त=अभिप्रवृत्त+(पुं०) प्र० ए० व०= प्रवृत्त हुआ। भली भाँति वर्तता हुआ।

अपि=(अव्यय) भी।

न=(अव्यय) न। नहीं।

एव=(अव्यय) ही । भी ।
किञ्चित्=(अव्यय) किम्+चित्=कुछ ।
करोति=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= करता है ।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ।

अर्थ—कर्मों में अभिमान और फलासक्ति को [अर्थात् कर्मों के फल और संग—कर्तृत्व-अभिमान को] त्याग कर, जो सदा तृप्त (विषय-कामना से रहित अथवा परमानन्द परमात्मा में नित्य-तृप्त या सन्तुष्ट) और निराश्रय (कर्म-फल या सांसारिक तुच्छ आश्रयों से रहित) है, वह कर्मों को भली-भाँति करता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता है ॥ २० ॥

व्याख्या—वह सब कर्म परोपकार और लोक-संग्रह के निमित्त ही करता है और उन कर्मों में उसकी थोड़ी-सी भी आसक्ति नहीं होती, और न ही उन कर्मों के फल से उसका कोई प्रयोजन होता है । न उनके करने में उसे किसी प्रकार की ममता या रुचि होती है तथा उनके न करने या असफल होने से उसके मन में किसी प्रकार का खेद या मलिनता भी नहीं होती, न उसे कर्मों में कर्तृत्व का अभिमान होता है ।

जिस प्रकार भोजन कर चुकने के अनन्तर फिर कुछ भी खाने की रुचि शेष नहीं रहती, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियों की विषय-वासनाएँ और भोग-रुचियाँ शान्त हो चुकी हैं, वह पुरुष नित्य-तृप्त हो जाता है । अथवा, जो पुरुष परमानन्द परमात्मा की प्राप्ति से भली-भाँति तृप्त और सन्तुष्ट हो चुका है, जिसे अब और कुछ भी पाने की भूख शेष नहीं रही है तथा जो जन्म-मरण के बन्धन-रूप सब प्रकार के भले-बुरे कर्मों के आश्रय से रहित हो चुका है, तथा संसार के सब आश्रय जिसकी दृष्टि में तुच्छ और हीन हो चुके हैं, वह पुरुष कर्मों को करता हुआ भी वास्तव में अकर्ता ही है—अर्थात्, वह कुछ भी नहीं करता है । क्योंकि कर्मों में उसकी आसक्ति, ममता, फल की इच्छा तथा कर्तापन का अभिमान आदि कुछ भी नहीं रहा है । इस कारण से वे कर्म उसको जन्म-मरण के चक्र में डालने के लिए असमर्थ होते हैं । वह तो बाहर से ही कर्म करता हुआ दिखाई देता है । वास्तव में तो वह अकर्ता और अभोक्ता ही होता है । महाभारत में लिखा है—

"सर्व-संस्कार-निर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रिय-ग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ॥"

(महा०, १४।१९।१३)

अर्थ—"जो सम्पूर्ण संस्कारों अर्थात् संकल्प-विकल्पों से निर्मुक्त, द्वन्द्वों (झगड़ों-बखेड़ों) से रहित, परिग्रह (प्राप्ति-स्वीकृति आदि लोभ) से हीन और तप से इन्द्रियसमुदाय को वश में किए हुए है वह मनुष्य जीवन्मुक्त ही है।"

इस श्लोक में निराशय का भाव यह भी है कि कई लोग मन को एकाग्र करने के लिए अफीम, मद्य, गाँजा, भाँग, पोस्त, जैश आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। वे एक प्रकार से उनके आश्रित हो जाते हैं तथा उनके बिना जीवित नहीं रह सकते अथवा उनका सेवन किए बिना महाकष्ट अनुभव करते हैं और कई मुमुक्षु जीवन-यात्रा के लिए किसी अन्य व्यक्ति का आश्रय लेते हैं। परन्तु ये उपरोक्त दोनों बातें मनुष्य के अकर्ता, अभोक्ता बनने में बाधक होती हैं। इसलिए मोक्ष-प्राप्ति के लिए निराश्रय होना भी परमावश्यक है। जीवन-यात्रा तो प्रभु की इच्छा से भी पूरी होती रहती है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

निर्+आशीः+यत-चित्त+आत्मा त्यक्त-सर्व-परिग्रहः । शारीरम्+केवलम्+कर्म कुर्वन्+न+आप्नोति किल्बिषम् ॥

निर्+आशीः=(वि०) निर्गता आशिषो यस्मात् स निराशीः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। सम्पूर्ण आशाओं से रहित हुआ।

यत-चित्त+आत्मा=(वि०) चित्तम् [=अन्तःकरणम्] आत्मा [=बाह्यः कार्यकरणसंघातः] तौ उभौ अपि यतौ [=संयतौ] येन (बहुव्री०) स यतचित्तात्मा। (पुं०) प्र० ए० व०। जिसने चित्त (=अन्तःकरण) को और आत्मा [=बाह्य कार्य-करण के संघात रूप-शरीर] को, अर्थात् इन दोनों को अच्छी तरह से अपने वश में कर लिया है उसका नाम "यतचित्तात्मा" है। वश में किए हुए अन्तःकरण और शरीर वाला।

त्यक्त-सर्व-परिग्रहः=(वि०) त्यक्तः सर्वः परिग्रहो येन स त्यक्तसर्वपरिग्रहः। (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। जिसने सारे परिग्रहों [=भोगों की सामग्री] का सर्वथा त्याग कर दिया है, वह 'सर्वत्यक्त-परिग्रह' है॥ सम्पूर्ण भोग-सामग्रियों को त्यागने वाला।

शारीरम्=(नपुं०) शरीर+(तस्य इदम्) अण्=शारीर+द्विती० ए० व० =शरीर सम्बन्धी को। दैहिक को। कायिक को। शरीर-स्थिति-मात्र के लिए (कर्म को)।

केवलम्=(वि०) (नपुं०) केवल+द्विती० ए० व०=केवल को। एक मात्र को।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।

कुर्वन्=(वि०)√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+शतृ=कुर्वत्+(पुं०) प्र० ए० व०=करता हुआ।

न=(अव्यय) न। नहीं।

आप्नोति=√आप् (स्वा० पर० सक०=प्राप्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

किल्बिषम्=√किल् (तुदा० पर० अक०=सफेद होना)+टिषच्, बुक्= किल्बिष+(नपुं०) द्विती० ए० व०=पाप को।

अर्थ—सम्पूर्ण आशाओं से रहित हुआ, वश में किए अन्तःकरण और शरीर वाला, तथा सारी भोग-सामग्रियों को त्यागने वाला (पुरुष) केवल शरीर-स्थिति-सम्बन्धी मात्र कर्म को करता हुआ (भी) पाप को प्राप्त नहीं होता है ॥ २१ ॥

व्याख्या—जिस ज्ञानी पुरुष को किसी भी प्राप्त या अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा नहीं रही है, उसके मन में किसी समय भी यह संकल्प उत्पन्न नहीं होता है कि अमुक वस्तु या भोजन मेरे खाने के लिए प्राप्त होगा, अमुक पेय पीने को मिलेगा, अमुक वस्त्र मुझे धारण करने को प्राप्त होगा, इतना धन, पर्याप्त धरती, सुन्दर भवन, सुन्दर कार, स्त्री-पुत्रादि मुझे प्राप्त होंगे। इस की बजाए उसके मन में सब प्रकार से सन्तोष और शान्ति है। अर्थात् वह यथा-लाभ सन्तुष्ट है। शरीर और इन्द्रियां पूर्णतया उसके वश-वर्ती हैं। किसी भी इन्द्रिय का विषय उस पर काठी डाले हुए नहीं है। जो लोग साधु बन कर भी भांग, चरस, तम्बाकू, मद्य, मांस आदि का सेवन करते हैं वे उन भोगों के किंकर हैं और इस परम-पवित्र श्रेणी को दूषित और निंदित करने वाले हैं। जिसका मन बुद्धि के अधीन है और बुद्धि आत्मा के अधीन है और जो अपनी सब आवश्यकताओं को केवल जीवन-निर्वाह मात्र तक सीमित किए हुए है, तथा हर किसी से कोई ऐसी वस्तु लेना स्वीकार नहीं करता जिसके बिना भी जीवित रहा जा सकता है अथवा जो आगामी समय में काम में लाने के लिए संग्रह करने के योग्य है। ऐसे त्यागी पुरुष के पास परिग्रह (भोग सामग्रियों) की सम्भाल के लिए कोई स्थान या प्रबन्ध नहीं होता है। वह तो केवल शरीर सम्बन्धी कर्मों—खाना, पीना, शौच, स्नान, सोना, जागना, समाधि लगाना, ईश्वर-चिन्तन करना, चलना, फिरना, बैठना, बोलना इत्यादि को करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि इनको वह इन्द्रियों के स्वाभाविक कर्म समझता

है। उसके ज्ञान-चक्षु तो शरीर और इन्द्रियों में रम रहे परमात्मा को ही देखते हैं। जो इस शरीर और इन्द्रियों द्वारा आप ही खाता-पीता है, आप ही स्नानादि सब क्रियाएं करता है, आप ही शरीर के भीतर शक्ति के रूप में विद्यमान है, जब शरीर सम्बन्धी कोई भी कर्म उसका अपना नहीं है तो वह उस पाप को कैसे प्राप्त हो सकता है जिसका फल पुनर्जन्म और नरक की यातनाएं भोगना होता है ? बहुत से नाम मात्र के ज्ञानी ऐसे भी देखे जाते हैं जो बातें तो ब्रह्मज्ञान की करते हैं परन्तु पैसे-पैसे पर मरते और घृणित कर्म करते हैं। जब किसी कार्य में विघ्न-बाधा या हानि उपस्थित होती है तो सारा दोष परमेश्वर पर आरोपित कर देते हैं। जब कोई कार्य ठीक हो जाता है तो उसके श्रेय का भागी अपने आपको समझने लगते हैं। ऐसे लोग परमार्थ-पथ से भ्रष्ट, अल्प-बुद्धि और स्वार्थी होते हैं। ये लोग अपने शरीर, इन्द्रियों और मन को वश करने वाले नहीं होते हैं। इस श्लोक में इस प्रकार के लोगों के द्वारा पाप को न प्राप्त होने का वर्णन नहीं है अपितु उन सच्चे ज्ञानियों का वर्णन है जो स्वार्थ, आसक्ति, ममता और अभिमान से सर्वथा रहित हो चुके हैं और जो परिग्रह (सम्पूर्ण भोग सामग्रियों) का त्याग करने वाले केवल जीवन-रक्षा, परोपकार, और जगत् को मुक्ति-मार्ग दर्शाने के लिए कर्म करते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

'कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥'

(गी० ५।११॥)

अर्थ—"योगी लोग शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियों द्वारा भी आसक्ति को छोड़ कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं॥'

इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि केवल शरीर-निर्वाह मात्र और आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करने वाले निराशी, यतचित्तात्मा और त्यक्त-सर्व-परिग्रह पाप को प्राप्त नहीं होते हैं॥ २१ ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः+द्वन्द्व+अतीतः+विमत्सरः। समः सिद्धौ+असिद्धौ च कृत्वा+अपि न निबध्यते॥

[यदृच्छा=(स्त्री०) यत्√ऋच्छ् (तुदा० पर० अक० सक०=जाना)+अ+आ (टाप्)=यदृच्छा। अपने आप।

लाभ=(पुं०)√लभ्+घञ्=लाभ। प्राप्ति। सन्तुष्टः=(वि०) सम्

√तुष् (दिवा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+क्त=सन्तुष्ट+(पुं०) प्र० ए० व०=सन्तुष्ट हुआ। सन्तुष्ट रहने वाला।]

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः=(वि०) यदृच्छया लाभेन सन्तुष्टः (बहुव्री०)। बिना मांगे अपने आप मिले हुए पदार्थ से सन्तुष्ट (रहने वाला)।

द्वन्द्व+अतीतः=(वि०) शीतोष्णादिभिः हन्यमानः अपि अविषण्णचित्तो द्वन्द्वातीतः=शीत-उष्ण, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से सताए जाने पर चित्त में विषाद से रहित हुआ। द्वन्द्वों से अतीत हुआ।

[द्वन्द्व=(नपुं०) द्वौ द्वौ सह-अभिव्यक्तौ, 'द्वि' शब्दस्य द्वित्वं, पूर्व-पदस्य अम्भावः, उत्तर-पदस्य नपुंसकत्वं निपातनात्। जोड़ी। जोड़ा। दो परस्पर विरुद्ध वस्तुओं या भावों की जोड़ी। जैसे हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, राग-द्वेष इत्यादि]।

[अतीतः=(वि०) अति√इण् (अदा० पर० सक०=जाना)+क्त=अतीत+(पुं०) प्र० ए० व०=पार गया हुआ। रहित हुआ।]

विमत्सरः=(वि०) विगतो मत्सरो यस्मात् सः (प्रा० बहुव्री०)=मत्सर अर्थात् ईर्षा (ईर्ष्या) से रहित। (पुं०) प्र० ए० व०। निर्वैर बुद्धि वाला।

समः सिद्धौ-असिद्धौ च=(वि०) तुल्यो (यदृच्छालाभालाभस्य) सिद्धौ असिद्धौ च=अपने आप प्राप्त हुए लाभ-अलाभ की सिद्धि और असिद्धि में। सिद्धि और असिद्धि में समभाव रहने वाला। समदर्शी।

[समः=(वि०) √सम् (चुरा० उभ० अक०)+अच्=सम+(पुं०) प्र० ए० व०=सम भाव हुआ। सम रहने वाला।

सिद्धौ=(स्त्री०)√सिध् (दिवा० पर० अक०=सिद्ध होना)+क्तिन् =सिद्धि+सप्त० ए० व०=सिद्धि में, सफलता में। असिद्धौ=(स्त्री०) न सिद्धौ (नञ्०) असिद्धि में। असफलता में।

च=(अव्यय) और।

कृत्वा=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+क्त्वा=करके।

अपि=(अव्यय) भी।

न=(अव्यय) न। नहीं।

निबध्यते=नि√बन्ध् (भ्वा० आत्म० सक०=बाँधना)+(कर्म०) लट्० प्र० पु०, ए० व०=बाँधा जाता है। बँधायमान होता है॥

अर्थ—बिना इच्छा ही (अपने आप) प्राप्त हुए पदार्थों में सन्तुष्ट रहने वाला, (सुख-दुःख, हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, राग-द्वेष आदि) द्वन्द्वों से रहित हुआ, ईर्षा से रहित और सिद्धि-असिद्धि (दोनों) में सम-भाव रहने वाला (कर्म-योगी पुरुष कर्मों को) करके भी (उनसे) बन्धायमान नहीं होता है॥ २२॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! यति यथालाभ सन्तुष्ट रहता है अर्थात् फलेच्छा से रहित होकर कर्मों को करता हुआ उनके फल स्वरूप जो कुछ प्राप्त करता है उस पर सन्तोष कर लेता है, उस प्राप्ति में कोई त्रुटि या न्यूनता नहीं समझता है अथवा उससे अधिक पाने की अभिलाषा भी नहीं करता है तथा थोड़ी प्राप्ति से खिन्न या दुःखी भी नहीं होता है और जो कुछ भी उसे प्राप्त होता है उसे परमेश्वरप्रदत्त समझकर सन्तुष्ट और तृप्त रहता है। इसी प्रकार न उसे शीत का दुःख होता है न उष्ण से परिताप होता है। न सुख की चाह होती है न दुःख की परवाह होती है। न राग से काम है न द्वेष से लगाव है। न किसी बात से हर्ष होता है न किसी घटना से शोक होता है। न सर्दी सताती है न गर्मी जलाती है। इसी प्रकार उसे संसार के शेष किसी द्वन्द्व से भी कोई सरोकार नहीं है। वह मत्सर-रहित है। अर्थात दूसरों की उन्नति, प्रगति और उत्कृष्टता को देखकर जल-भुन कर कोयला नहीं होता। तथा अपने को उनसे उत्कृष्ट समझने की भूल भी नहीं करता है। न किसी से वैर करता है और न किसी से द्वेष रखता है। सदा समदर्शी बना रहता है। चाहे सफलता हो चाहे विफलता मिले, दोनों अवस्थाओं में समभाव बना रहता है। सिद्धि, असिद्धि दोनों में प्रभु की इच्छा को देखता है। एक पल भी बेकार नहीं रहता। निरन्तर कर्म करता है। परन्तु ऐसा महापुरुष कभी कर्म-बन्धन में नहीं बँधता। अर्थात् पाप-पुण्य या उनके फल को प्राप्त नहीं होता। जिससे सदा के लिए पुनर्जन्म के झञ्झट से छूट जाता है ॥

यति या योगी की यदृच्छा लाभ में सन्तुष्टि की भावना परिपक्व हो जाने से उसको आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। परन्तु इससे यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिए कि आदमी आलसी बन कर जड़ बना हुआ आँखें बन्द किए हुए एक ही जगह मृतवत् पड़ा रहे अथवा जान बूझ कर पुरुषार्थ-हीन हो जाए। अथवा उल्लू की भान्ति आँखें घुमा-घुमा कर चारों ओर घूर घूर कर देखता रहे तथा निष्क्रिय होकर अपना स्वास्थ्य और चेतना दोनों खो बैठे। गीता के इस श्लोक से मिलता-जुलता एक श्लोक महाभारत में इस प्रकार है—

"न कस्यचित्स्पृहयते न च जानाति कञ्चन।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥" (महा० १४।१९।५॥)

अर्थ—'जो भगवान् से भिन्न कुछ नहीं चाहता और न किसी को जानता है जो सब प्रकार के द्वन्द्वों से रहित है, वीत-राग और संग-रहित है वह सर्वथा सदा मुक्त ही है।" ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। २३ ।।

गत संगस्य मुक्तस्य ज्ञान+अवस्थित-चेतसः । यज्ञाय+आचरतः कर्म समग्रम्+प्रविलीयते ।

गत-संगस्य=(वि०) सर्वतो निवृत्तासक्तेः=सब ओर से दूर हुई आसक्ति वाले का ।

√गम्+क्त=गत=दूर हुए । दूर हुई ।

√सञ्ज्+घञ्=संग (पुं०)+षष्ठी० ए० व०=आसक्ति वाले का ।

मुक्तस्य=(वि०)√मुच्+क्त=मुक्त+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=मुक्त पुरुष का । पुण्य-पाप रूप बन्धन से छूटे हुए पुरुष का ।

ज्ञान+अवस्थित-चेतसः=(वि०) ज्ञाने एव अवस्थितं चेतो यस्य सः (बहुव्री०) तस्य=ज्ञान में स्थित हुए चित्त वाले का ।

√ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान (नपुं०) । परम तत्त्व की सच्ची जानकारी ।

अव√स्था+क्त=अवस्थित (वि०) ठहरे हुए । टिके हुए । स्थित हुए ।

√चित्+असुन्=चेतस्+षष्ठी० ए० व० ।

यज्ञाय=(पुं०)√यज्+नङ्=यज्ञ+चतु० ए० व०=यज्ञ के लिए ।

आचरतः=(वि०) आ√चर्+शतृ=आचरत्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०= आचरण करते हुए का ।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म । समग्रम्=(वि०) सम+ग्रह्+ड=समग्र+(नपुं०) प्र० ए० व०=सम्पूर्ण । सारा । समूचा । ['अग्र' शब्द फल का वाचक है । उसके सहित कर्म को समग्र (सम्+अग्र=सहित अग्र) कर्म कहते हैं ।]

प्रविलीयते=प्र—वि√ली (दिवा० आत्म० अक०=विलीन होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=अच्छी तरह नष्ट हो जाता है । भली भान्ति विलीन हो जाता है ।

अर्थ—(सब ओर से) दूर हुई आसक्ति वाले, (पुण्य-पापरूप बन्धन, देहाभिमान तथा ममता से) मुक्त हुए, ज्ञान में स्थित हुए चित्त वाले और यज्ञ के लिए (कर्म का) आचरण करते हुए पुरुष का फल सहित कर्म (समूह) भली भान्ति (विलीन) नष्ट हो जाता है ।। २३ ।।

व्याख्या—जो पुरुष कर्मों को करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता, और न उनके फलों की प्राप्ति की इच्छा करता है, तथा न उनके भोगों की ही कोई लालसा रखता है जिसे न किसी प्रकार की आशा है, न कोई स्पृहा है, जो देह के अभिमान और सब प्रकार की ममता से मुक्त हो चुका

हैं, जिसका मन सिद्धि-असिद्धि को एक समान समझने लगा है, लोक-परलोक के भोगों और सुखों की तृष्णा से रहित हो चुका है, जिसके अन्तः-करण से कर्तापन और भोक्तापन लुप्त हो चुके हैं तथा जिसका चित्त सर्वथा ब्रह्म-ज्ञान में स्थित हो चुका है। तात्पर्य यह कि जो दशों दिशाओं में सब जगह केवल एक परमेश्वर को ही देखता है, अपने तथा सबके भीतर बाहर उसकी विद्यमानता को अनुभव करता है, उसी परमात्मा को कर्ता और भोक्ता के रूप में देखता है, अग्नि के तेज में, सूर्य की धूप में, चन्द्रमा की चन्द्रिका में, तारों की ज्योति में तथा विश्व के सौन्दर्य में उसी परम ब्रह्म परमेश्वर या आत्मस्वरूप के दर्शन करता है उस यति या योगी के सब कर्म यज्ञ के निमित्त होते हैं। अग्नि में आहुति डालते समय अन्त में "इदं न मम" अर्थात् 'यह मेरा नहीं है', इस वाक्य का उच्चारण किया जाता है। इससे यज्ञ में स्वार्थ त्याग रूप निर्ममत्व का जो जो तत्त्व है, वही यज्ञ में प्रधान भाग है। इस रीति से 'न मम' कह कर, अर्थात् ममता युक्त बुद्धि छोड़ कर, ब्रह्मार्पण पूर्वक जीवन के सारे कार्य करना भी एक बड़े यज्ञ का रूप होते हैं। इस यज्ञ से देवाधिदेव परमेश्वर अथवा ब्रह्म का यजन हुआ करता है॥ दूर हुई आसक्ति वाला ब्रह्म ज्ञानी पुरुष अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थिति के अनुसार अपने द्वारा कर्मों को करता है और उसके सब कर्म ममता, आसक्ति और फलेच्छा से सर्वथा रहित होते हैं तथा वे सब कर्म परोपकारार्थ, लोकसंग्रहार्थ और ईश्वरार्पण-निमित्त ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि उन कर्मों में उसका अपना न कोई प्रयोजन होता है और न कोई स्वार्थ होता है। उसकी समग्र कामनाएँ और राग-द्वेष ज्ञानाग्नि में दग्ध हो चुके होते हैं। वह तो कुन्दन की भान्ति शुद्ध-आत्मा हो कर चमक उठता है। वह हीरे की भान्ति-अनमोल बन जाता है। इन उपरोक्त विशेषताओं से युक्त महात्मा के सम्पूर्ण कर्म विनाश हो जाते हैं जिससे फिर उसका पुनर्जन्म कभी नहीं होता। उसके कर्म स्वर्ग या नरक के देने वाले न होकर मोक्ष-प्रद हो जाते हैं॥ २३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

ब्रह्म+अर्पणम्+ब्रह्म हविः+ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्म+एव तेन गन्तव्यम्+ब्रह्म-कर्म-समाधिना॥

ब्रह्म=(नपुं०) √बृह्+मनिन्=ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=ब्रह्म। परमात्मा। अर्पणम्=(नपुं०) अर्प्यते अनेन तद् 'अर्पणम्'। येन करणेन ब्रह्मविद् हविः

अग्नौ अर्पयति तद् 'अर्पणम्'। ब्रह्म-वेत्ता पुरुष जिस 'स्रुक्' या 'स्रुव' आदि करण या साधन द्वारा यज्ञ की अग्नि में हवि अर्पण करता है। उसका नाम 'अर्पणम्' है। प्र० ए० व०।

√ऋ (भ्वा०, जुहो०, स्वा०, पर० सक०=फेंकना। रखना। सौंपना) +णिच्+ल्युट्, पुक् च=अर्पण करने का साधन॥

[स्रुच् या स्रुक् (स्त्री०) पलाश या खदिर के काष्ठ का बना हुआ वह पात्र जिससे घृतादि की आहुति दी जाती है।

स्रुव (पुं०) लकड़ी का बना हुआ ब्रह्मा का हाथ, जिससे अग्नि में घी की आहुति दी जाती है।]

ब्रह्म=(नपुं०) प्र० ए० व०=ब्रह्म। परमात्मा।

हविः=(नपुं०) √हु+इसुन्=हविस्+प्र० ए० व०=हवन करने योग्य द्रव्य। घृतादि हवन सामग्री।

ब्रह्माग्नौ=(पुं०) ब्रह्म एव अग्निः तस्मिन् (कर्मधारय स०)। सप्त० ए० व०। ब्रह्म ही अग्नि है, उसमें। ब्रह्म रूप अग्नि में॥

ब्रह्मणा=(नपुं०) ब्रह्मन्+तृती० ए० व०=ब्रह्म के द्वारा। ब्रह्म रूप कर्ता के द्वारा।

हुतम्=(वि०) √हु+क्त=हुत+(नपुं) प्र० ए० व०=हवन किया हुआ। हवन किया गया है।

ब्रह्म=(नपुं०) प्र० ए० व०=ब्रह्म। परमात्मा।

एव=(अव्यय) ही। ही (है)।

तेन=(सर्व०)तद्+(पुं) तृती० ए० व०। उस पुरुष के द्वारा।

गन्तव्यम्=√गम्+तव्य=गन्तव्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=प्राप्त किए जाने योग्य है। प्राप्त होने योग्य है। प्राप्त होगा।

ब्रह्म-कर्म-समाधिना=(पुं०) ब्रह्म एव कर्म (कर्मधा०)=ब्रह्मकर्म, तस्मिन् समाधिः यस्य (बहुव्री०) सः=ब्रह्मकर्म-समाधिः तेन=ब्रह्म में स्थित हुए पुरुष द्वारा। ब्रह्म रूप कर्म में समाधि लगाए हुए पुरुष द्वारा। तृती० ए० व०॥

अर्थ—(यज्ञ कर्म में) अर्पण (स्रुक्, स्रुव आदि अग्नि में घी आदि डालने का साधन) ब्रह्म है। हवि (घृतादि हवन सामग्री) ब्रह्म है। ब्रह्म रूप अग्नि में (हवन करने वाले) ब्रह्म द्वारा (ही) हवन किया गया है। [और वह उसके द्वारा की गई हवन क्रिया भी ब्रह्म ही है]। उस ब्रह्म-रूप कर्म में ब्रह्म में स्थित हुए पुरुष द्वारा ब्रह्म को ही प्राप्त होना योग्य है॥२४॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! वेद मन्त्रों द्वारा हवन करने से

स्वर्ग के देवता प्रसन्न हो जाते हैं। "इन्द्राय स्वाहा" कह कह कर आहुति अर्पण करने से इन्द्र देवता की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं रहता। यही हाल दूसरे देवताओं का है, जिससे ये प्रसन्न हुए देवता लोग इसी जन्म में सुख-शान्ति, पुत्र-कलत्र, धन-धान्य, धरती-धाम, वाहन-वस्त्र और भोग-ऐश्वर्य आदि के अन्य सुख-साधन भी प्रदान करते हैं। और मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग की प्राप्ति कराते हैं। स्वर्ग में अनन्त काल सुख भोगने के अनन्तर जब पुरुष के पुण्य-कर्म क्षीण हो जाते हैं तो शेष बचे हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए पृथिवी पर वापस लौट कर जन्म लेना पड़ता है। परन्तु भगवान् ने इस श्लोक में ऐसी एक विधि बतला दी है जिससे हवन करने वाले को स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह बात कई बार पहले बतलाई जा चुकी है कि सृष्टि के सभी पदार्थों और जीवों में सदैव परब्रह्म परमेश्वर परिपूर्ण और व्यापक है। इसलिए इच्छा रहित सूक्ष्म-बुद्धि से अपना कर्म करते हुए उस छिपे हुए ब्रह्म को ढूंढ लेना चाहिए। अज्ञान का अन्धेरा रात्रि के अन्धकार के समान है जिसमें पड़ी हुई रस्सी की तरह इस संसार में सर्व व्यापक ब्रह्म भी सर्पादि नाना प्रकार के जीवों और छड़ी आदि नाना प्रकार के पदार्थों के रूप में भासमान होता है। यदि ज्ञान रूपी टार्च का प्रकाश डाल कर उसे देखा जाए तो वे भासमान जीव और पदार्थ पता नहीं कहाँ चले जाते हैं। इन सब के स्थान पर केवल एक ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होने लगता है। इसलिये प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक काल में सर्व-व्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना चाहिए। ऐसा कर सकना कोई कठिन काम नहीं है। केवल श्रद्धा और विश्वास के साथ सच्ची लग्न होनी चाहिए। धन्ने जट्ट, नामदेव, छींवे, कबीर जुलाहे, रविदास चमार, वाल्मीकि बटमार, सरमद, फरीद, बुल्हेशाह आदि अनेक ब्रह्मज्ञानी महात्मा लोग अपनी ब्रह्म-बुद्धि से ब्रह्म के साक्षात्कार को प्राप्त हो चुके हैं और इस ब्रह्म-बुद्धि से समर्थ रामदास, श्री ज्ञानदेव, महात्मा तुकाराम, चैतन्य महाप्रभु, गुरु नानक देव, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ आदि महापुरुष मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं। किसी ने यह ठीक ही कहा है—

"हर को भजे सो हर का होय। जात-पात नहीं पूछे कोय॥"

जब सब जीवों और सब वस्तुओं में केवल एक ब्रह्म ही रम रहा है तो फिर वही मन्दिरों की मूर्तियों में विराजमान है। वही मक्के में रहता है। वही तीर्थों में निवास करता है। उसी का प्रकाश मत-मतान्तरों की धर्म-पुस्तकों में है। फिर व्यर्थ का झगड़ा करके अपनी अज्ञानता का प्रमाण क्यों देते हो?

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी धारणा के अनुसार उस परमेश्वर की पूजा करने दो। प्रत्येक को अपनी मन पसन्द भाषा पढ़ने और बोलने दो। क्योंकि उसका परम पूज्य पिता परमेश्वर तो अपने पुत्र की तोतली भाषा से ही प्रसन्न होगा, तुम्हारे द्वारा ठोंसी हुई भाषा से नहीं। ये सब भाषाएं भी ब्रह्म-रूप हैं। इन भाषाओं पर अपने धर्मों के लेबल चिपकाना भी एक भ्रान्त बात है। यदि किसी को उसके मार्ग से उद्भ्रान्त कर दिया जाए तो वह किसी मार्ग पर भी न चल सकेगा क्योंकि "कौआ चला हंस की चाल भूल गया अपनी भी चाल" वाली लोकोक्ति उस पर लागू हो जाएगी।

जब यह बात हम अच्छी तरह से समझ लेते हैं कि बिना 'ब्रह्म' के संसार में और कुछ है ही नहीं तो साईं बुल्हे शाह के शब्दों में इस प्रकार पुकार उठते हैं—

"अर्वा अनासर महल बनाया। बड़ बैठा बिच आपे।।
आपे कुड़ियां, आपे मुण्डे। आपे बन गया मापे।।
आपे मरदा, आपे ज्यूंदा। आपे करदा सियापे।।
बुल्हआ देख कुद्रत तूँ रब दी। ओह आपे आप समझापे।।"

अर्थात्—'सब से पहले वह ब्रह्म पाँच तत्त्वों से शरीरों की रचना करता है जो वास्तव में उसके बिना और कुछ भी नहीं होते। फिर वह उन सबमें प्रविष्ट हो जाता है। उसके घर में जो लड़के लड़कियां उत्पन्न होते हैं वे सब भी वह स्वयं आप ही होता है। उन सब सन्तानों के माता पिता के रूप में भी वह स्वयं आप ही होता है। वह स्वयं ही अपने जीने का नाटक रचता है और स्वयं ही अपने मरने का ड्रामा किया करता है और फिर आप ही शोक करता है। बुल्हेशाह स्वयं अपने को सम्बोधित करके कहता है कि तू उस ब्रह्म की आश्चर्य-जनक कारीगरी को देख कि जो फिर ज्ञानी बन कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।।'

इससे भली भान्ति प्रकट होता है कि उस ब्रह्म के बिना वास्तव में संसार में और कुछ भी नहीं है। जब किसी मनुष्य का ऐसा दृष्टिकोण हो जाता है तो वह सब जीवों, सब वस्तुओं और सब क्रियाओं को केवल एक ब्रह्म के रूप में ही देखता है। जब वह हवन करता है तो हवन सम्बन्धी मन्त्र उसे ब्रह्म ही भासमान होते हैं। उनका सस्वर पढ़ा जाना भी उसके लिए ब्रह्म का शब्दायमान होना है। हवन कुण्ड उस ब्रह्म का मुख दिखाई देता है। जिस स्रुक् या स्रुव आदि करण के द्वारा आहुति अग्नि में अर्पित की जाती है उसके स्थान पर भी उसे ब्रह्म ही नज़र आता है। क्योंकि वह अपर्ण-साधन तो सीप में चाँदी के अभाव की भान्ति है। अर्थात् सीप में जो चाँदी नज़र आती है वह वास्तव

में सीप ही होती है। इस प्रकार जो स्रुक् या स्रुव आदि प्रतीत होते हैं वे वास्तव में ब्रह्म ही हैं। इसी प्रकार जो घी आदि की आहुति दी जाती है वह भी ब्रह्म ही होती है। और वह घी आदि सामग्री भी ब्रह्म ही होती है जिसके द्वारा हवन किया जाता है। इस प्रकार हवन कुण्ड की अग्नि को भी ब्रह्म ही जानना चाहिए। और जिस यजमान द्वारा हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही होता है। उसका पुरोहित भी साक्षात् ब्रह्म है। उसके द्वारा की गई हवन-क्रिया तो ब्रह्म है ही। जो पुरुष हवन रूप ब्रह्म कर्म में समाधिस्थ होकर दत्त-चित्त हुआ है। उसके द्वारा अवश्य ही ब्रह्म-प्राप्ति की जाएगी। क्योंकि उस हवन के द्वारा प्राप्त करने योग्य जो फल है वह भी ब्रह्म है। इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है।

इसी प्रकार लोक-संग्रह करना चाहने वाले पुरुष द्वारा किए हुए कर्म भी ब्रह्म-बुद्धि से होने के कारण अर्थात् फल उत्पन्न करने की शक्ति से रहित कर दिए जाने के कारण वास्तव में अकर्म ही होते हैं। जिसकी समझ में यह बात भली-भाँति बैठ जाती है कि "यह सब ब्रह्म ही है" उस पुरुष के लिए सब कर्मों का अभाव हो जाता है। अथर्ववेद के निम्नलिखित ये दो मन्त्र भी इसी भाव को प्रकट करते हैं—

"ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरगामिता।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मण्यन्तर्हितं हविः॥"

अर्थ—ब्रह्म होता है। ब्रह्म ही यज्ञ है। ब्रह्म से ही स्वर्ग-लोक की प्राप्ति होती है। अध्वर्यु ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है तथा हवि ब्रह्म में लीन होती है॥

"ब्रह्म स्रुवो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः।
समिताय स्वाहा॥"

अर्थ—घी डालने वाला स्रुव ब्रह्म है। ब्रह्म द्वारा वेदी गाड़ी गई है। ब्रह्म ही यज्ञ का तत्त्व है। तथा हवि बनाने वाले जो ऋत्विज हैं, वे भी ब्रह्म हैं। सबके सदृश रूप ब्रह्म के लिए स्वाहा॥

इस प्रकार सबको ब्रह्म रूप मे देखने वाला स्वयं भी ब्रह्म होता है। क्योंकि "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है।

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥"
"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो० ३।१४।१।)

अर्थात् निश्चय पूर्वक यह सारा संसार ही ब्रह्म है॥ सदा इस मन्त्र का अभ्यास करना चाहिए। इससे ब्रह्म कर्म में स्थिति होती है॥ २४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दैवम्+एव+अपरे यज्ञम्+योगिनः पर्युपासते । ब्रह्म-अग्नौ+अपरे यज्ञम्+यज्ञेन+एव+उपजुह्वति ॥

दैवम्=(वि०) देव+अण्=दैव+(पुं०) द्विती० ए० व०=देवता सम्बन्धी को ।

देवा इज्यन्ते येन यज्ञेन असौ दैवो यज्ञः, तम् एव=जिस यज्ञ के द्वारा देवों का पूजन किया जाता है वह देवसम्बन्धी यज्ञ है उसको ।

एव=(अव्यय) ही ।

अपरे=(सर्व०)=अपर+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे । ब्रह्म-वेत्ता लोग । योगी लोग ।

यज्ञम्=(पुं०) यज्ञ+द्विती० ए० व०=यज्ञ को ।

योगिनः=(वि०) योगिन्+प्र० ब० व०=योगी लोग ।

पर्युपासते=परि—उप√आस् (अदा० आत्म० सक० अक०)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=अच्छी तरह से करते हैं ।

ब्रह्म+अग्नौ=(पुं०) ब्रह्म एव अग्निः तस्मिन् (कर्मधारय०) । अग्नि+सप्त० ए० व०=ब्रह्म रूप अग्नि में ।

अपरे=(सर्व०) अपर+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे ।=ज्ञानी लोग ।

यज्ञम्=(पुं०) यज्ञ+द्विती० ए० व०=यज्ञ को । यज्ञेन=(पुं०) यज्ञ+तृती० ए० व०=यज्ञ के द्वारा ।

उपजुह्वति=उप√हु (जुहो० पर० सक०=होम करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=हवन करते हैं । [परब्रह्म परमात्मा में ज्ञान द्वारा एकीभाव से स्थित होना ही ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करना है] ॥

अर्थ—कई दूसरे योगी लोग देवताओं सम्बन्धी यज्ञ को ही अच्छी तरह से उपासते हैं । और अन्य कई योगी जन (या ज्ञानी लोग) ब्रह्म रूप अग्नि में यज्ञ को यज्ञ के द्वारा ही हवन करते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या—'योगिन' शब्द का अर्थ है "जुड़ा हुआ" । जो पुरुष ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अभिमान को त्याग कर निष्काम कर्म करता हुआ परमात्मा में मिलने के लिए प्रयत्नशील है उस साधक का नाम योगी (या योगिन्) है । तथा उस कर्म करने के ढंग को भगवान् ने यज्ञ नाम से वर्णन किया है । और यह यज्ञ कर्म भी योगी लोग कई प्रकार से करते हैं जिनका वर्णन भगवान् ने यहाँ श्लोक २४ से ३० तक किया है । पहली प्रकार के योगी लोग ब्रह्म को ब्रह्म में हवन करते हैं । दूसरे योगी (कर्म करने वाले)

देव-यज्ञ का ही अनुष्ठान किया करते हैं। जिस यज्ञ के द्वारा देवों का पूजन किया जाता है वह दैवयज्ञ या देवसम्बन्धी यज्ञ होता है। इस प्रकार ये लोग वेदों में वर्णित इन्द्रादि देवताओं को प्रसन्न और सन्तुष्ट करने के लिए वेद-मन्त्रों द्वारा नित्य दैवयज्ञ किया करते हैं। उनकी किसी देवता या यज्ञ से प्राप्त होने वाले फल में किसी प्रकार की ममता तो होती ही नहीं। न आसक्ति होती है। न अभिमान होता है। न वे इन यज्ञों द्वारा स्वर्ग-सुख या इस संसार में ऐश्वर्य भोगने की इच्छा करते हैं। वे तो वेदी में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूजा उनकी तीनों शक्तियों सहित किया करते हैं। ॐकार, गणेश, सर्वग्रह, मातृ-समूह, योगिनी-समूह, सर्पराज और इन्द्र, वरुण, वायु, अग्नि इत्यादि सबकी पूजा-अर्चा किया करते हैं। इन्द्रादि सब देवताओं के निमित्त अग्नि देवता में घृतादि पवित्र वस्तुओं द्वारा आहुतियाँ देकर यजन करते हैं। चूंकि इस प्रकार के यज्ञ में उनकी अपनी कोई ममता, आसक्ति, अहंकृति या फलेच्छा तो होती ही नहीं है इसलिये इस यज्ञ के करने से उनके अन्तःकरण की विशेष शुद्धि और पवित्रता हो जाती है। सुगन्धित-हव्य द्रव्यों के हवन से वायु-मण्डल शुद्ध हो जाता है। दूषित गैसें नष्ट हो जाती हैं जिससे प्राणियों के सांस लेने के लिए प्राण-वायु बल-वर्धक और निरामय हो जाती है। हवन से प्रसन्न हुए देवता वर्षा बरसाते हैं। और इन योगियों को दैव-यज्ञ करते देखकर जन-साधारण के मन में भी धर्म-कर्म और हवन-यज्ञ करने की रुचि उत्पन्न होती है जिससे संसार में धर्म की वृद्धि होती है और लोगों को पाप-कर्मों में अरुचि हो जाती है। इस प्रकार इस लोक और परलोक में शान्ति और सुख अपने-आप प्राप्त होते हैं और संसार में विद्या, ज्ञान, विज्ञान, कला-कौशल और कृषि आदि की प्रगति होती है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और अन्य सब देवताओं को योगी लोग ईश्वर की शक्तियाँ समझकर पूजते हैं। जैसे कोई शिष्य गुरु की अन्तरात्मा दिखाई न देने पर भी पहले उसके चरणों पर शीश रखता है, फिर उसके घुटनों को छूता है, फिर हाथों पर सिर झुकाता है। परन्तु वास्तव में यह गुरु के अन्तरात्मा की ही पूजा होती है इस प्रकार ये दूसरी प्रकार के योगी भी दैव यज्ञ द्वारा परब्रह्म परमेश्वर की ही पूजा किया करते हैं। यद्यपि निराकार होने से परमेश्वर तो उन्हें नजर नहीं आता परन्तु देवता रूप ईश्वरीय शक्तियाँ मूर्तिमान हैं। इसलिये मण्डप में उनका आवाहन करके पूजन-अर्चन शुद्ध ब्रह्म-भावना से किया जाता है। इस प्रकार वास्तव रूप में वह निराकार परमेश्वर की ही पूजा होती है। इस प्रकार की पूजा में साधक की स्वर्ग-प्राप्ति या किसी और फल-प्राप्ति की इच्छा नहीं होती, उसका लक्ष्य तो केवल परमात्मा में पूर्णतया मिल जाना ही होता है। इसलिए देवता लोग इस साधन

में बाधक न होकर साधक बन जाते हैं। परन्तु जो पुरुष हवन यज्ञादि किसी शुभ कर्म द्वारा इन देवताओं को प्रसन्न और सन्तुष्ट नहीं करता, उसको ये देवता लोग टट्टू की भाँति अपना वाहन बना लेते हैं और अपना आनन्द लेने के लिए भोगों के रसों और विषय-वासनाओं में फंसाए रखते हैं। सूर्य नेत्रों में स्थित होकर सुन्दर रूपों को देखकर आनन्द लेता है। इन्द्र, जननेन्द्रिय और त्वचा में निवास करके विषयों को भोगने लगता है। कामदेव मन में उत्पन्न होकर कामनाओं का जाल विस्तारित करता है और उनकी पूर्ति के लिए योजनाएं बनाता रहता है। आकाश कानों द्वारा सुन्दर और सुरीले शब्दों के श्रवण से अपना विषय पूरा करता है। पवन नाक द्वारा सुगन्धि-सुख से तृप्ति प्राप्त करता है। वरुण जिह्वा द्वारा रस ग्रहण करता है। इसी प्रकार उँचास कोटि देवता लोग इस शरीर पर लदे रहते हैं। जो इस शरीर का प्रयोग अपने-अपने भोग, लाभ और सुख के लिए करते हैं। किराए के टट्टू की भाँति अपना-अपना भार तो सब लादते हैं। परन्तु उसके भोजन और आराम की तो किसी को भी चिन्ता नहीं होती। वह बेचारा रूड़ी, ढेर और गन्दे-मन्दे स्थानों पर चर कर अपनी उदर-पूर्ति का प्रयत्न करता है।

इसी प्रकार हवन, यज्ञ और दानादि द्वारा न पूजे गए ये देवता लोग प्राणियों के लिए मोक्ष के साधन न होकर जन्म-मरण के चक्र में फँसाने का कारण बन जाते हैं। इसलिए कुछ योगी पूजा, अर्चा, हवन, यज्ञ, याग, दान, पुण्य आदि कर्म करके दैव-यज्ञ करते हैं। जिनमें पूजे गये देवताओं को वे ईश्वर-शरीर के अव्यय या रूप ही समझते हैं उनको परमात्मा से भिन्न मानकर उनकी पूजा नहीं करते हैं। तथा उनकी पूजा अर्चा इत्यादि करते समय मन में किसी प्रकार के फल की भी तो कोई इच्छा नहीं करते। आसक्ति, ममता और अभिमान का त्याग तो पहले से ही होता है। यदि कोई शंका करे कि "वेदों में तो सकाम यज्ञों का वर्णन है और मन्त्रों द्वारा इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं। इससे यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति ही हो सकती है। और इस लोक में जीवन के सुख और भोग भी प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

आपके द्वारा कही गई यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक आहुति डालते समय प्रत्येक मन्त्र के अन्त में "इदन्न मम" (अर्थात् यह मेरे लिए नहीं है) कहना होता है। दूसरे यहाँ यह वर्णन योगी द्वारा किए जाने वाले यज्ञ का है जिसे न ममता होती है, न आसक्ति होती है, न फल की इच्छा होती है और न इस कर्म सम्बन्धी अभिमान होता है। यदि उसमें ये चारों दोष अभी तक घुसे हुए हैं तो वह यज्ञ करने वाला योगी नहीं है, कोई और ही है।

फिर यदि वेद मन्त्रों द्वारा सुख और शान्ति के लिए प्रार्थना की भी जाती है तो योगी के अन्तःकरण में तो ऐसी किसी प्रार्थना से कोई प्रयोजन नहीं होता क्योंकि वह तो जल में उगे हुए कमल की तरह सब प्रकार से सदा अलेप रहता है।

यदि कहो कि वेद का वह भाग छोड़ कर मन्त्र पढ़ना चाहिए जिसमें देवता से किसी प्रकार की याचना या माँग की गई है तो भी ठीक और उचित नहीं है। क्योंकि वेद मन्त्र तो ईश्वर-कृत माने जाते हैं। उनको खण्डित करके पढ़ना, अशुद्ध पढ़ना माना जाएगा। इसलिए मन्त्रों द्वारा यद्यपि मंगल-प्राप्ति की याचनाएँ की जाती हैं परन्तु यज्ञ करने वाले योगी लोग इस ओर थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया करते हैं। वे तो दूसरे कर्मों की भान्ति यज्ञ कर्म भी निष्काम भाव से अकर्ता, अभोक्ता बन कर ही किया करते हैं जिससे उन्हें ये कर्म बन्धन न होकर, मोक्ष दिलाने वाले बन जाते हैं। ये योगी लोग जो कुछ यज्ञ द्वारा देवताओं को अर्पण करते हैं वह सब कुछ ब्रह्म की ही भेंट हो जाता है।

यथा—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥

अर्थात्—जैसे आकाश से गिरा हुआ (वर्षा का) जल (नदी नालों में गिरता है। परन्तु फिर वह बह कर) समुद्र में चला जाता है। वैसे ही सब देवताओं के लिए किया हुआ नमस्कार (अथवा दिया हुआ पदार्थ) भगवान् विष्णु को पहुँच जाता है।

एक और प्रकार के योगी लोग ब्रह्म रूप अग्नि में हवन करते हैं। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति० ३०।२।१) अर्थात् 'ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनन्त स्वरूप है।' अथवा "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह० उ० ३।६।२८) अर्थात् 'विज्ञान और आनन्द ही ब्रह्म है।' किंवा "यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः।" (बृ० उ० ३।४।१) अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष या प्रत्यक्ष है, वह ब्रह्म है। जो सर्वान्तर आत्मा है, वह ब्रह्म है। इत्यादि वचनों से श्रुति में जिसका वर्णन किया गया है वह इस श्लोक में 'ब्रह्म' शब्द से कहा गया है। यह ब्रह्म ही अग्नि रूप है। आत्मा का नाम यज्ञ है। इसलिये ये अन्य प्रकार के ज्ञानी या योगी लोग ब्रह्म रूप अग्नि में यज्ञ (=मन-बुद्धि रूप आत्मा) को यज्ञ (=ज्ञानरूप मन्त्रों) द्वारा होम करते हैं। जब मनुष्य का हृदय होम, यज्ञ, दान, पुण्य आदि शुभ कर्मों द्वारा शुद्ध हो जाता है, तो उसमें शुद्ध और पवित्र ज्ञान उत्पन्न हो जात

है और ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है। जो "आदित्य-वर्णं तमसः परस्तात्।" अर्थात् 'अनेक सूर्यों की तरह चमकीला और सब प्रकार के अन्धकारों से परे है।' तथा सब कर्मों का दाहक होने से वह ब्रह्म अग्नि के समान है। इस ब्रह्म रूप अग्नि में मन और बुद्धि का बार-बार विधि पूर्वक हवन किया जाता है। भाव यह है कि ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने से आत्मा और परमात्मा के अभेद और एक-रूप होने का अनुभव हो जाता है। तो इन्द्रियों रूपी भेड़ बकरियों में रहने वाले आत्मा को जब अपने सिंह या ब्रह्म होने का पता चल जाता है तो वह उसी तरह अपने मूल स्थान ब्रह्म की ओर चल देता है जिस प्रकार सिंह का बच्चा भेड़-बकरियों के स्वामियों का साथ छोड़कर जंगल की राह लेता है। मन और बुद्धि जो इन्द्रियों रूपी बकरियों के छोटे-बड़े दो स्वामी हैं उन दोनों के हवन करने या बलिदान देने से फिर वे भस्म होकर यहीं रह जाते हैं। इन्द्रियों के सार रूप और सब प्रकार के कर्म भी इस ब्रह्म रूप अग्नि में दग्ध हो जाते हैं ज्ञान की प्राप्ति जो प्रायः गुरु-उपदेश से होती है वही वे वेद-मन्त्र हैं जिनको पढ़कर इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शुभाशुभ कर्म रूपी घृत, तिल, चन्दन, अगरु, चीनी और मेवों को मिलाकर बनाई गई हवन सामग्री से आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार हवन करके ये दूसरी प्रकार के योगी परमात्मा में मेल रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं॥ २५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

श्रोत्र=आदीनि+इन्द्रियाणि+अन्ये संयम+अग्निषु जुह्वति। शब्द+आदीन्+विषयान्+अन्ये+इन्द्रिय+अग्निषु जुह्वति॥

श्रोत्र+आदीनि=(नपुं०) द्विती० ब० व०=श्रोत्र आदियों को। [√श्रु (स्वा० पर० सक० अक०)+ष्ट्रन्=श्रोत्र=कान।]

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्रिय+द्विती० ब० व०=इन्द्रियों को।

अन्ये=(सर्व०) अन्य+(पुं०) प्र० ब० व०=अन्य (योगी जन)। दूसरे योगी लोग।

संयम+अग्निषु=(पुं०) संयमा एव अग्नयः तेषु। संयम रूप अग्नियो में। सप्त० ब० व०। निग्रह रूप अग्नियों में। [प्रत्येक इन्द्रिय का संयम अलग-अलग होता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ 'अग्नि' शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है।]

जुह्वति=√हु+लट्० प्र० पु०, ब० व०=हवन किया करते हैं। इन्द्रियों को विषयों से रोक कर अपने वश में कर लेते हैं।

शब्द+आदीन्=(पुं०) शब्दः आदिः येषां तान् (विषयान्)। [बहुव्री०]। शब्द आदियों को। द्विती० ब० व०।

विषयान्=(पुं०) विषिण्वन्ति स्वात्मकतया विषयिणं सबध्नन्ति, वि√सि (स्वा० क्र्या० उभ० सक०=बाँधना। जाल में फँसाना) +अच्, षत्व =विषय+द्विती० ब० व०। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत होने वाले पदार्थों को। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को तथा इनसे सम्बन्धित लौकिक आनन्दों और वासनाओं को।

अन्ये=(सर्व०) अन्य+(पुं०) प्र० ब० व०=और दूसरे योगी लोग।

इन्द्रिय+अग्निषु=(पुं०) इन्द्रियाणि एव अग्नयः तेषु। सप्त० ब० व०= इन्द्रियों रूपी अग्नियों में।

जुह्वति=√हु+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=होमते हैं। शास्त्र-सम्मत विषयों के ग्रहण करने को ही होम मानते हैं। राग-द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करते हुए भी उन विषयों को भस्म करते हैं॥

अर्थ—(कुछ) दूसरे (योगी जन) श्रोत्र-आदि (दश) इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में होमते हैं। और कुछ अन्य योगी लोग शब्द आदि विषयों को इन्द्रियों रूप अग्नियों में होमते हैं॥ २६॥

व्याख्या—इन्द्रियां शरीर के उन अवयवों का नाम हैं जिनके द्वारा जीव को बाहरी विषयों का ज्ञान होता है। ये इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं। १—कर्मेन्द्रियां—हाथ, पाँव, वाक्, पायु और उपस्थ। २—ज्ञानेन्द्रियां—श्रोत्र, चक्षु, नासिका, जिह्वा और त्वचा। मन और बुद्धि अन्तर्-इन्द्रियां कहलाती हैं। शेष सब बाह्य-इन्द्रियां होती हैं।

कुछ योगी ऐसे हैं जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह से वश किया हुआ है। वे लोग इन्द्रियों के द्वारा कोई ऐसा कर्म सम्पन्न होने नहीं देते जो उनके मोक्ष-मार्ग में बाधा डालने वाला हो अथवा परमेश्वर से मेल होने को रोकता हो और जन्म-मरण के चक्र में फँसाने वाला हो। ऐसे साधक-योगी इन्द्रियों द्वारा सदा शुभ कर्म ही करते और कराते हैं। उनके हाथ सदैव परोपकार-रत रहते हैं, दान करते हैं, हवन करते हैं, प्रभु-पूजा और ईश्वर-अर्चन करते हैं। उनके पाँव सदा शुभ-स्थानों की ओर ही चलते हैं। मुख सात्त्विक भोजन करता है। पायु और उपस्थ केवल मल-मूत्र ही त्याग करते हैं तथा उस मल-मूत्र को हाथ मिट्टी से ढाँप देते हैं। ताकि वायु दूषित होकर प्राणियों के लिए हानि-कारक न बने। उनके श्रोत्र सदा हरियश ही श्रवण करते हैं। चक्षु सब ओर परमात्मा का स्वरूप ही देखते हैं। नासिका सदा शुद्ध प्राण-वायु

को शरीर के भीतर ले जाती और दूषित वायु को बाहर निकालती रहती है। फूलों की सुगन्धि को ईश्वर-शरीर की सुगन्धि मान कर ही सूँघती है। जिह्वा सदा हरि-गुणों का ही गान करती है तथा गोविन्द-गोबिन्द नाम रटती है। सच्ची, कोमल और मधुर वाणी ही बोलती है। त्वचा केवल हरि-शरीर और कृष्ण-चरणों के स्पर्श से ही सुख का अनुभव करती है। मन सदा शिव-संकल्प ही रहता है। जिस प्रकार अग्नि में होम की गई आहुति भस्म होकर सौरभ फैलाती है और उस सौरभ से देवता लोग तृप्त होते हैं, वायु की शुद्धि होती है, वर्षा के वर्षण रूप में प्राणि-मात्र का कल्याण होता है, इसी प्रकार संयमों की अग्नियों में इन्द्रियाँ भी भस्म हुई आहुतियों की तरह अपनी आकृति और शक्ति को बदल कर शुद्ध और शान्त हो जाती हैं और देवताओं तथा प्राणियों को प्रसन्न तथा सन्तुष्ट करने वाली बन जाती हैं। जैसे अग्नि में द्रव्यों का हवन करने वाला मनुष्य शुद्धान्तःकरण होकर अन्त में परमात्मा में मिल जाता है इसी प्रकार इन्द्रियों को संयमों की अग्नियों में होम करने वाला प्राणी भी शुद्धान्तःकरण होकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियों को वश करने वाला ही इन्द्रियों को संयम की अग्नियों में होम करने वाला माना जाता है॥

कुछ अन्य योगी ऐसे हैं जो विषयों को इन्द्रियों की अग्नियों में होम करते हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच विषय ज्ञानेन्द्रियों के हैं तथा शारीरिक कर्म गमन, भक्षण, विषय वासनादि ये सब विषय कर्मेन्द्रियों के हैं, जो योगी इन विषयों को इन दसों इन्द्रियों में ही जला कर भस्म कर देता है वह विषयों को इन्द्रियों की अग्नियों में होम करने वाला है। उसके हाथ कभी चोरी नहीं करते। किसी को लाठी नहीं मारते। बलात्कार नहीं करते क्योंकि ये बुरे कर्म करने वाला विषय हाथों की अग्नि में हवन किया जा चुका है। इसी प्रकार पाँव मद्य-मांस की दुकान अथवा किसी वेश्या के घर चल कर नहीं जाते; मुख अभक्ष्य वस्तु को ग्रहण नहीं करता। गुह्य और उपस्थ के विषय भी इन इन्द्रियों में भस्मीभूत हो जाने के कारण मन में विकार उत्पन्न नहीं करते। इसी प्रकार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय भस्म हो जाने से ये इन्द्रियां विकार-हीन होकर बन्धन में डालने का कारण नहीं बन सकती है, जिससे मन की शुद्धि होकर वह बुद्धि के अधीन हो जाता है। फिर बुद्धि आत्मा के अधीन हो जाती है। तब आत्मा विषयों और सूक्ष्म इन्द्रियों के भस्म या शक्ति हीन हो जाने पर मन और बुद्धि का संग त्याग देता है और शुद्ध होकर अपने असली स्वरूप परमात्मा में मिलकर एक रूप हो जाती है॥

इन्द्रियों की स्वतन्त्रता और उच्छृङ्खलता को मिटा देने का नाम ही उनको संयमों की अग्नियों में होम करना है। इस प्रकार उनमें अपने आपको विच-

लित करने की शक्ति नहीं रहती। इन्द्रियों को केवल अनुचित देखने, सुनने, खाने, और पीने आदि से रोकना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उनके द्वारा भोगे जाने वाले विषयों का मन से चिन्तन रोकना भी परमावश्यक है। इस प्रकार सब इन्द्रियों को मन के वशीभूत कर देना ही संयम कहलाता है जिससे इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्त होने की शक्ति नष्ट हो जाती है। सब इन्द्रियाँ अपने उचित कर्म तो करती रहें परन्तु उन कर्मों से मन में कोई विकार उत्पन्न न हो। यही इन्द्रिय-रूपी अग्नियों में विषयों का हवन करना होता है।

"त्रयमेकत्र संयमः" योग-शास्त्र के इस सूत्र से 'धारणा', 'ध्यान', और 'समाधि'—तीनों के एकत्रित करने का नाम "संयम" है। यहाँ हृदयकमल आदि स्थानों में चिर-काल पर्यन्त जो मन का स्थापन करना है उसका नाम "धारणा" है। तथा एक स्थान में धारणा किया हुआ जो चित्त है उस चित्त का उत्तरोत्तर विजातीय वृत्तियों से किए हुए व्यवधान सहित जो भगवदाकार सजातीय वृत्तियों का प्रवाह है, उसका नाम "ध्यान" है और उस चित्त का विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित, केवल उस भगवदाकार सजातीय वृत्तियों का जो प्रवाह है उसका नाम "समाधि" है। इस समाधि के निरन्तर प्रयोग से परमात्मा का साक्षात्कार होने लगता है। इन्द्रियों और उनके विषयों को परमात्मा के साक्षात्कार के लिए ही हवन किया जाता है। अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों की सिद्धि के लिए श्रोत्रादिक को अपने-अपने विषयों से प्रत्याहरण (पीछे हटाना-संयमन) किया जाता है। फिर अपने-अपने विषयों से निग्रह को प्राप्त हुई वे इन्द्रियाँ चित्त रूप ही हो जाती हैं। इसी को योग-शास्त्र में प्रत्याहार नाम से कथन किया गया है। इस प्रत्याहार के अनन्तर विक्षेप का अभाव हो जाने से, वह चित्त, धारणा, ध्यान और समाधि को सम्पादन करता है। ये प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि चारों योग के अंग कहे जाते हैं। इस कारण से समाधि अवस्था में सर्व इन्द्रियजन्य वृत्तियों के निरोध को भगवान् ने यज्ञ रूप करके वर्णन किया है। कई योगी लोग इन्द्रियों को शास्त्रोक्त विषयों में लगाते हैं जिससे वे इन्द्रियों के विषय तो भोगते हैं परन्तु मन पर उन विषयों का थोड़ा सा भी प्रभाव नहीं होने देते जिससे इन्द्रियां विषयों के वश नहीं होतीं। तथा ये सब विषय इन्द्रियों में ही भस्म हो जाते हैं।।

इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए श्री नारायण स्वामी जी कितना अच्छा लिखते हैं—

"साधारणतः इन्द्रियों का झुकाव विषयों की ओर ही होता है जिससे ये दो काम ही देती हैं। एक यह कि इनके द्वारा ब्रह्माण्ड जाना जाए, और

दूसरा यह कि नित्य प्रति विषयों के परिचय वा भोग से मन को सुख पहुँचाएँ। संसार में बहुधा दूसरा काम ही इन्द्रियों से लिया जाता है जो अन्त में बड़ी बुराइयों का कारण होता है। इस काम से इन्द्रियां चित्त को विषयों का दास बना देती हैं और आत्मोन्नति की जड़ काट देती हैं। परन्तु जो पहला काम (इन्द्रियों द्वारा विषयों के तत्त्व जानने का) है, उससे चित्त संकल्प वा विचार शक्ति द्वारा ब्रह्माण्ड के नए नए नमूने उत्पन्न कर लेता है जिससे विषयों का यथार्थ ज्ञान होने से न चित्त उन विषयों का दास होने पाता है और न उसका कुछ फिर कर्तव्य ही बाकी रहता है।

यह ध्यान जिससे इन्द्रियों का और इन्द्रियों द्वारा विषयों का तत्त्व जाना जाए, संयम कहलाता है। इस संयम का यह परिणाम होता है कि इन्द्रियां विषयों के रस बढ़ाने का काम करने के योग्य नहीं रहतीं। यही उनकी (सांसारिक) शक्ति का संयम की अग्नि में होम है॥

विषयों का तत्त्व यह है कि इनके संयोग से इन्द्रियों की अग्नि की तृप्ति और उसके सुख की तृप्ति होती है। यदि यह समझ लिया जाए कि ये शब्द-स्पर्शादि विषय इन्द्रियों के लिए सुख के द्वार हैं तो इस समझ से ये विषय इन्द्रियों को दास बना लेते हैं और इन्द्रियां अपना ठीक काम करने के योग्य नहीं रहतीं॥

परन्तु इस समझ को दूर करके जब विषय-वासना के प्रचार को रोका जाए, तो इन्द्रियां विषयों की दास नहीं होतीं और फिर स्वाभाविक नियम से तत्त्वज्ञान की ओर ही झुकती हैं। इस रीति से विषय भोगते हुए भी इन्द्रियों का विषयों के वश में न आना मानो इन्द्रियों की अग्नि में विषयों का होम होना है। इस विधि से इन्द्रियों की शक्ति आत्म-ज्ञान में सहायता देने के लिए तो बढ़ती है पर विषयों की गुलामी से छुड़ाती है"॥ २६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

सर्वाणि+इन्द्रिय-कर्माणि प्राण-कर्माणि च+अपरे। आत्म-संयम-योग+अग्नौ जुह्वति ज्ञान-दीपिते॥

सर्वाणि=(सर्व०) सर्व+(नपुं०) द्विती० ब० व०=सम्पूर्ण। सारे।

इन्द्रिय-कर्माणि=(नपुं०) इन्द्रियाणां कर्माणि (षष्ठी० तत्पु०) इन्द्रियों के कर्मों को। इन्द्रियों की चेष्टाओं को। [कर्मन्+द्विती० ब० व०= कर्मों को।]

प्राण-कर्माणि=(नपुं०) प्राणानां कर्माणि (षष्ठी तत्पु०) द्वितीο ब० व० ।
प्राणों के कर्मों को । प्राणों के व्यापारों को ।
[शरीर के भीतर रहने वाले वायु का नाम 'प्राण' है । उसके 'संकुचित होने' और 'फैलने' आदि कर्मों को ।]

च=(अव्यय) और ।

अपरे=(सर्व०) अपर+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे योगी जन । दूसरे साधक लोग ।

आत्म-संयम-योग+अग्नौ=(पुं०) आत्मनि संयमः=आत्म-संयमः, स एव योगाग्निः तस्मिन्=आत्म-विषयक संयम का नाम आत्म-संयम है । वह यहां योग-अग्नि है, उसमें । सप्त० ए० व० । परमात्मा में स्थिति रूप योग अग्नि में । (घृतादि चिकनी वस्तुओं से प्रज्वलित हुई अग्नि की भान्ति—विवेक-विज्ञान से उज्ज्वलता को प्राप्त हुई—धारणा-ध्यान-समाधि रूप उस आत्म-संयम योग-अग्नि में) । परमात्मा के मिलाप की अग्नि में ।। (कर्मधारय०) ।

जुह्वति=√हु+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=होमते हैं । हवन करते हैं ।
(परमात्मा के बिना अन्य किसी का भी चिन्तन न करना ही आत्मसंयम योग अग्नि में सब का हवन करना होता है ।)

ज्ञान-दीपिते=(वि०) ज्ञानेन दीपिते । (तृती० तत्पु०) ।√दीप्+णिच+क्त =दीपित+(पुं०) सप्त० ए० व०=ज्ञान द्वारा प्रकाशित की हुई में । विवेक-विज्ञान से उज्ज्वलता को प्राप्त हुई में ।

अर्थ—अन्य कई योगी-जन इन्द्रियों के सम्पूर्ण कर्मों और प्राणों के समस्त व्यापारों को ज्ञान द्वारा जलाई हुई आत्म-संयम-योग-अग्नि में हवन करते हैं ।।२७।।

व्याख्या—प्रत्येक वाणी की तीन अवस्थाएं होती हैं : १—जागृति । २—स्वप्न और ३—सुषुप्ति । प्रत्येक प्राणी जागृत अवस्था में इस दृश्य संसार में विचरता है और अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों मन और बुद्धि द्वारा कार्य करता है । परन्तु स्वप्नावस्था में बाह्य-इन्द्रियां सो जाती हैं इसलिए उस समय कोई काम नहीं करती हैं । उस समय जीवन रक्षा के लिए अपने आप सांस लेना और हृदय-गति का अजस्र चलना ही होता है । हाँ, मन जागृत रह कर अपनी कल्पना-शक्ति से नवीन जगत् की रचना करता है जिसमें देश, नगर, भवन, महल, बाग़-बाग़ीचे, नदी-नाले, सागर, महासागर, पुत्र, कलत्र आदि सब कुछ दृश्य जगत् की भान्ति होता है तथा स्वप्न देखता हुआ प्राणी जागृत-अवस्था की तरह ही सुख-दुःख, हर्ष-शोक, आनन्द और वेदना आदि का अनुभव करता है ।।

तीसरी अवस्था सुषुप्ति में प्राणी का मन भी अन्य इन्द्रियों के साथ ही सो जाता है और जीव-आनन्द-कोष में चला जाता है। तब उसे दुःख-सुख आदि का कोई ज्ञान नहीं रहता है। आत्मा उस समय भी जागता रहता है जो गाढ-निद्रा-सुख की साक्षी देता है ॥

जब प्राणी किसी चोट आदि के लगने, अत्यधिक शोक के होने अथवा किसी मादक पदार्थ के सेवन से बेहोश हो जाता है तब उसकी वह बेहोशी या अचेतन-अवस्था भी सुषुप्ति जैसी ही होती है। इससे मिलती जुलती एक अवस्था और भी है, जिसका नाम समाधि है। समाधि अवस्था में विवेक-विज्ञान की जागृति रहती है, जो सुषुप्ति में बिल्कुल नहीं होती। सुषुप्ति या बेहोशी में जो शून्यता होती है, वह समाधि में नहीं होती। स्वप्न में मन अपनी कल्पना से एक नवीन सृष्टि रचता है। परन्तु समाधि में केवल परमात्मा का साक्षात्कार होता है। शेष सृष्टि का पता ही नहीं चलता, कि किधर विलीन हो गई है। जब समाधि भंग होती है तो स्वप्न भंग होने के सदृश ही संसार की स्थिति का ज्ञान होता है ॥ इस श्लोक में "आत्म-संयम-योग" इसी समाधि का वाचक है। इस समाधि को यज्ञ का रूप देने के लिए इसके साथ 'अग्नि' शब्द का समास किया गया है ॥

मूर्च्छा-काल, मृत्यु और केवल हठ-योग की समाधि में भी मनुष्य की इन्द्रियों और प्राणों के व्यापार बन्द हो जाते हैं और आत्मानुभवी पुरुष की समाधि अवस्था में भी ऐसा ही होता है। इसलिए बाहर से तो ये दोनों अवस्थाएं एक जैसी ही दिखाई देती हैं परन्तु भीतर से एक जैसी नहीं होतीं। क्योंकि आत्मानुभवी पुरुष की इन्द्रियों के व्यापार तो केवल आत्म-साक्षात्कार के समय बन्द होते हैं तथा ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं। इसलिए इस अग्नि को ज्ञान द्वारा जलाई गई कहा गया है ॥

समाधि दो प्रकार की होती है, १—लयपूर्वक। २—बाधपूर्वक। चूँकि कारण से कार्य अभिन्न होता है, इसलिए पंचीकृत पंच-भूतों का कार्य जो व्यष्टि रूप है वह समष्टि रूप विराट का कार्य होने से उस विराट रूप कारण से भिन्न नहीं है ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच भूत कहे जाते हैं। पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच गुण होते हैं। जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस—चार गुण होते हैं। तेज में शब्द, स्पर्श और रूप—तीन गुण होते हैं। वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण होते हैं और आकाश में केवल एक गुण शब्द ही होता है। प्राचीनों के मत में आकाश वायु का कारण है। वायु तेज का कारण है। तेज जल का कारण है और जल पृथिवी का कारण

है। यदि आकाश न हो तो वायु के रहने को कोई स्थान न मिले। वायु के बिना अग्नि नहीं रह सकती। अग्नि के बिना जल की उत्पत्ति नहीं होती। यदि जल का पृथिवी पर अभाव हो जाए तो पृथिवी अलग अलग परमाणुओं के रूप में बदल कर लुप्त हो जाए, इसलिए कहा गया है कि कारण से कार्य अलग नहीं होता। आकाश का कारण "बहु स्याम्" परमेश्वर का यह संकल्प रूप अहंकार है जो परमेश्वर से भिन्न नहीं है। इस संकल्प रूप अहंकार का कारण माया ईक्षण रूप महत्तत्त्व है और यह ईक्षण रूप महत्तत्त्व भी माया का परिणाम है। माया रूप कारण भी जड़ रूप होने से ब्रह्म रूप चैतन्य में अध्यस्त है। इससे उस चैतन्य ब्रह्म से वह माया रूप कार्य भिन्न नहीं है। इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करके कार्य कारण रूप सारे प्रपंच के विद्यमान होने पर भी जो चैतन्य ब्रह्ममात्र विषयक समाधि है उसको लय-पूर्वक समाधि कहते हैं। इस समाधि में अधिकारी पुरुष को "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों का ज्ञान नहीं होता। इसलिए कार्य सहित अविद्या का नाश नहीं होता। चूंकि इससे संसार रूप कार्य की उत्पत्ति होती है इससे यह लयपूर्वक समाधि सुषुप्ति की भाँति सबीज समाधि ही है। जब अविद्या के नाश होने पर ब्रह्म-साक्षात्कार होता है तब यह निर्बीज बाध-पूर्वक समाधि होती है॥

इन्द्रियां अन्तर् और बाह्य भेद से दो प्रकार की होती हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं। तथा वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु ये पाँच कर्मेन्द्रियां हैं। ये दस बाह्येन्द्रियां कहलाती हैं। तथा मन और बुद्धि अन्तर्-इन्द्रियां मानी जाती हैं। शब्द का सुनना श्रोत्रे-न्द्रिय का कर्म है। स्पर्श का ज्ञान त्वक्-इन्द्रिय से होता है। रूप को देखना चक्षु-इन्द्रिय का कर्म है। रस का ग्रहण रसना-इन्द्रिय करती है। गन्ध का ग्रहण घ्राण-इन्द्रिय करती है। वचन का उच्चारण वाक् इन्द्रिय द्वारा होता है। वस्तु का ग्रहण पाणि-इन्द्रिय का कर्म है। गमनागमन पाद-इन्द्रिय द्वारा होता है। विषयानन्द उपस्थ इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है। मल का त्याग पायु-इन्द्रिय करती है। संकल्प-विकल्प करना मन के काम हैं और निश्चय करना बुद्धि का कर्म है। इसी प्रकार प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये पाँच प्रकार के प्राण हैं। बहिर्गमन प्राण का कर्म है। अधोगमन अपान का कर्म है। हस्तपादादि अंगों का आकुंचन, प्रसारण आदि व्यान का कर्म है। भोजन किए हुए अन्न-जल का समान करना समान का कर्म है और वायु का उर्ध्वगमन उदान का कर्म है।

इस प्रकार दस इन्द्रियों, पाँच प्राणों तथा मन और बुद्धि इन सप्तदश तत्त्वों का समुदाय लिङ्गशरीर होता है। वह सूक्ष्म शरीर भी यहां सूक्ष्म भूतों

का समष्टि रूप हिरण्य-गर्भ ही विवक्षित है। इसी बात को समझाने के लिए भगवान् ने इन इन्द्रियों के कर्मों और प्राणों के कर्मों का "सर्वाणि" विशेषण दिया है। इस प्रकार के सप्तदश तत्त्व रूप लिङ्ग शरीर को दूसरे कई साधक लोग आत्म-संयम-योग-अग्नि में होम करते हैं। वहाँ आत्मा का विषय करने वाला जो धारणा और ध्यान संप्रज्ञात समाधि रूप संयम है उस संयम के परिपाक होने से सिद्ध हुआ जो निरोध समाधि योग है उसका नाम आत्म-संयम योग है। वही अग्नि रूप है जो ज्ञान से प्रदीपित है। अर्थात् जो ब्रह्मात्म ऐक्य साक्षात्कार है उससे अविद्या का नाश हो जाने पर वह ज्ञान प्रचण्ड रूप से उज्ज्वलित होता है। इसी ज्ञान से प्रदीपित आत्म-संयम-योग-अग्नि रूप बाध पूर्वक समाधि में दूसरे कई योगी पुरुष समष्टि शरीर को होम करते हैं जिससे शुद्ध स्वर्ण-वत् देदीप्यमान आत्मा अपने मूल उद्गम परमात्मा में विलीन होकर एकरूपता को प्राप्त हो जाती है। सारांश यह है कि जो ध्यान-योगी-पुरुष आत्म-साक्षात्कार के यत्न में लगे हुए हैं वे पहले इन दस इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटा कर मन द्वारा दमन करते हैं। फिर मन को बाह्य विषयों के चिन्तन में लगाते हैं, जिससे मन शुद्ध और शान्ति-युक्त हो जाता है। फिर चित्त-वृत्ति अपने स्वरूप के ध्यान में एकाग्र और आरूढ होने लग जाती है। तब फिर इन्द्रियां रुक जाती हैं। परन्तु ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों बने रहते हैं और पांचों प्राण अपना अपना काम करते हैं। इस अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब चित्त इतना निरोधावस्था को प्राप्त हो जाता है कि ध्याता, ध्यान और ध्येय का अन्तर भी मिट जाता है और पाँचों के व्यवहार भी मन्द पड़ जाते हैं तो फिर आत्म-साक्षात्कार रूप ज्ञानाग्नि प्रचण्ड हो जाती है जिसमें इन्द्रियों और प्राणों से कर्म भस्म हो जाते हैं। इस अवस्था को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था वाले योगी को अनुभव होने लगता है कि मैं अजन्मा, अविनाशी, अकर्ता, अभोक्ता और साक्षी हूं। और वह न केवल इन्द्रियों को प्रत्युत प्राणों के भी व्यापारों को बन्द करके पूरी समाधि लगा कर केवल आत्मानन्द में ही मग्न रहता है। इस श्लोक में भगवान् ने योगी की इसी अवस्था का वर्णन किया है ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

द्रव्य-यज्ञाः+तपस्+यज्ञाः+योग-यज्ञाः+तथा+अपरे। स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः+च यतयः संशित-व्रताः ॥

द्रव्य-यज्ञाः=(पुं०) तीर्थेषु द्रव्य-विनियोगं यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति ये ते द्रव्ययज्ञाः

=जो यज्ञ-बुद्धि से तीर्थादि में द्रव्य लगाते हैं। उनका नाम "द्रव्ययज्ञाः" या द्रव्य सम्बन्धी यज्ञ करने वाले है। [बहुव्री०] हवन-सामग्रियों से होम करने वाले। अथवा शास्त्र-विधि के अनुसार द्रव्य को धर्मार्थ कर्मों में लगाने वाले। जैसा कि स्मृति में कहा है—

"वापी-कूप-तडागादि देवतायतनानि च।
अन्न-प्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते ।।
शरणागत-संत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्।
बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ।।"

[अर्थ—बावड़ी, कूप, तालाब, देवताओं के मन्दिर बनाना, भूखों को अन्न देना, लोगों की सुख-सुविधा के लिए धर्म-शालाएँ बनवाना और बाग़-बग़ीचे लगाना इत्यादि सारे कर्म पूर्त्त (परोपकारार्थ) कार्य कहलाते हैं। शरण में आए हुए प्राणियों की रक्षा करना, किसी भी भूत-प्राणी की हिंसा न करना, तथा वेदी के बाहर और भीतर जो दान दिया जाता है इत्यादि सम्पूर्ण कर्म 'दत्त' नाम से कहे जाते हैं।]
'पूर्त्त' और 'दत्त' दोनों प्रकार के कर्म द्रव्य-यज्ञ कहलाते हैं। इसलिये अर्थ हुआ—पूर्त और दत्त कर्म रूपी द्रव्य-यज्ञ के करने वाले यति लोग। अथवा—ईश्वर अर्पण बुद्धि से लोक-सेवा में द्रव्य लगाने वाले। (प्र० ब० व०)।
(√द्रु+यत्√द्रव्य। पदार्थ, धन, धान्य, रुपया, पैसा, हीरे, मोती इत्यादि सब कुछ]

तपस्+यज्ञाः=(पुं०) ये तपस्विनः ते तपोयज्ञाः=जो तपस्वी हैं वे ही तपरूप यज्ञ करने वाले हैं। उनको ही 'तपोयज्ञाः' कहते हैं। [बहुव्री०, प्र० ब० व०] व्रत, उपवास, धर्म के कारण कष्ट सहना, मौन धारण कारण, आतप, अग्नि, वर्षा, वायु और शीत जन्य कष्टों को सहना, अन्न और वस्त्रों का त्याग, जीवन-रक्षा के लिए केवल कन्द-मूल, फल-फूल आदि भक्षण करना। वनवास, पशु-पक्षियों की संगति। स्त्री-पुरुषों का संग-त्याग, एकान्त-सेवन, नदी-नदों और पर्वतों का भ्रमण इत्यादि कर्म तप माने जाते हैं। इनका आचरण करना ही तप-यज्ञ करना है। तप-यज्ञों को करने वाले।

योग-यज्ञाः=(पुं०) प्राणायाम-प्रत्याहारादिलक्षणो योगो यज्ञो येषां ते (बहुव्रीहि० प्र० ब० व०)। प्राणायाम-प्रत्याहार रूप योग ही जिनका यज्ञ है वे योग रूप यज्ञ करने वाले हैं। अष्टांग-योग रूप यज्ञों को करने वाले।

चित्त की चंचलता का निग्रह करके चित्त को परमात्मा में जोड़ने वाले।

अष्टाङ्ग योग—

"यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार - धारणा- ध्यान - समाधयोऽष्टा-वङ्गानि ॥ [पा० योग० २।२९]"

[अर्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं।] इनमें से पहले पाँच 'बहिरङ्ग' हैं और पिछले तीन 'अन्तरङ्ग' हैं। इस अन्तरङ्ग-समुदाय को 'संयम' कहते हैं यथा—"त्रयमेकत्र संयमः।" [यो० ३।४]

१—अहिंसा, २—सत्य, ३—अस्तेय (=किसी प्रकार भी किसी के स्वत्व को न छीनना), ४—ब्रह्मचर्य (=मन, वाणी और शरीर से सम्पूर्ण अवस्थाओं में सदा सर्वदा सब प्रकार के मैथुनों का परित्याग करना) और ५—परिग्रह (=शरीर निर्वाह के अतिरिक्त भोग्य-सामग्री का कभी संग्रह न करना)—इन पांचों का नाम 'यम' है। यथा योगशास्त्रे—

"अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ॥ २।३ ॥"

१—शौच (=सब प्रकार से भीतर-बाहर की शुद्धि), २—सन्तोष (=प्रिय, अप्रिय, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ आदि की प्राप्ति में सदा सर्वदा सन्तुष्ट रहना), ३—तप, ४—स्वाध्याय और ५—ईश्वर-प्रणिधान, (=ईश्वर की अनन्य भक्ति)—इन पांचों का नाम 'नियम' है। यथा—

"शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः ॥ योग० २।३२॥"

आसन—"स्थिरसुखमासनम्" (योग० २।४६) सुख-पूर्वक स्थिरता से बैठने का नाम आसन है।

सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन और स्वस्तिकासन आदि अनेक सुख पूर्वक स्थिरता से बैठने के ढंग हैं। इन सब में मेरुदण्ड (रीढ की हड्डी), मस्तक और गर्दन को सीधा और तन कर रखा जाता है और दृष्टि भृकुटी के मध्य भाग में रखने का प्रयत्न किया जाता है॥

प्राणायाम—"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गति-विच्छेदः प्राणायामः" (योग० २।४९)। आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति को रोकने का नाम 'प्राणायाम' है।

१—सांस को भीतर ले जाना, २—सांस को भीतर रोकना, ३—सांस को धीरे-धीरे बाहर निकालना और फिर बाहर ही रोके रखना, प्राणायाम में ये तीनों क्रियाएं की जाती हैं। इनके नाम क्रमशः पूरक, कुम्भक और रेचक हैं॥

प्रत्याहार—"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:" (योग० २।५४) अपने-अपने विषयों के संयोग से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के से रूप में अवस्थित हो जाना "प्रत्याहार" है।

धारणा—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।" (योग० ३।१)

चित्त को किसी एक देश विशेष (ईश्वरादि) में बाँध देने या स्थिर रखने का नाम "धारणा" है ॥

ध्यान—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (योग० ३।२) उस ध्येय वस्तु (परमेश्वर) में चित्त-वृत्ति की अविच्छिन्न रूप से एकतानता का नाम 'ध्यान' है ॥

समाधि—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:।" (यो० ३।३) ॥ वह ध्यान ही समाधि हो जाता है जिसमें केवल ध्येय स्वरूप (परमेश्वर) का ही भान होता है और अपने स्वरूप का अभाव-सा रहता है ॥

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्। वैसे ही।

अपरे=(वि० सर्व०) अपर+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे कई। और कई।

स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञा:=(पुं०, प्र० ब० व०)। स्वाध्यायो (=यथाविधि ऋगाद्यभ्यास:) यज्ञो येषां ते। (बहुव्री०)। यथाविधि ऋग्वेद आदि का अभ्यास रूप 'स्वाध्याय यज्ञ करने वाले।' ज्ञानं (=शास्त्रार्थपरिज्ञानं) यज्ञो येषां ते=ज्ञानयज्ञा: (बहुव्री० प्र० ब० व०)। शास्त्रों का अर्थ जानना रूप ज्ञान यज्ञ वाले। स्वाध्याय-यज्ञ करने वाले और ज्ञान-यज्ञ करने वाले।

च=(अव्यय) और।

यतय:=(पुं०) यतते चेष्टते मोक्षार्थम्=यति+प्र० ब० व०=यत्न करने वाले। यत्नशील पुरुष।

संशित-व्रता:=(पुं०, प्र० ब० व०) सम्यक् शितानि (=तनूकृतानि—तीक्ष्णीकृतानि) व्रतानि येषां ते=संशित-व्रता:। व्रतों के नियम भलीभाँति तीक्ष्ण किए हुए। सूक्ष्म बुद्धि द्वारा व्रत धारण करने वाले। अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त। तीक्ष्ण व्रत धारण करने वाले (बहुव्री०)॥

अर्थ—वैसे ही कई और तीक्ष्ण व्रत धारण करने वाले यत्न-शील पुरुष द्रव्य-यज्ञ करने वाले हैं। या तप-यज्ञ करने वाले हैं। या योग-यज्ञ करने वाले हैं। अथवा स्वाध्याय यज्ञ करने वाले हैं। किंवा ज्ञान यज्ञ करने वाले हैं ॥२८॥

व्याख्या—"इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा", √यज्+नङ्। अर्थात् 'यज्ञ' शब्द √यज् धातु से बना है, जिसका अर्थ अग्नि में घृतादि की आहुति डालना होता है जिसके द्वारा देवताओं को तृप्त करना, प्रसन्न करना या बढ़ाना होता है। परन्तु गीता में जिन अनेक यज्ञों का वर्णन है उनमें यज्ञ

शब्द के अर्थ को बहुत विस्तार और व्यापकता दी गई है। अर्थात् जो कर्म भी ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अभिमान त्याग कर लोक-हित, आत्म-शुद्धि या मोक्ष-प्राप्ति के लिए किया जाता है वह यज्ञ है चाहे उसमें अग्नि न जलाई गई हो अथवा मन्त्र पढ़ कर आहुतियां न दी गई हों। जैसा कि इसी श्लोक में धन-धान्य, वस्त्र, भूमि इत्यादि कोई भी वस्तु लोगों के परोपकार के लिए दान देना, बावली, कूप, तालाब, मन्दिर, सराय, स्कूल, वाचनालय, चिकित्सालय, सदावर्त, बाग़-बाग़ीचे इत्यादि स्थापित करवा देना—ये सब कुछ द्रव्य-यज्ञ के नाम से कहा है और इन धर्मार्थ कर्मों के करने वालों को तीक्ष्ण व्रत धारी प्रयत्न शील (=यति) पुरुष कहा गया है। इस द्रव्य यज्ञ में परोपकार रूपी अग्नि में जीव रूप देवताओं की प्रसन्नता और तृप्ति के लिए द्रव्य या धन की आहुति दी जाती है। इसी प्रकार तपस्या करना भी एक प्रकार का यज्ञ है जिसमें आत्म-शुद्धि और प्रभु-प्राप्ति के लिए धूप, अग्नि, वायु, वर्षा और शीत आदि के कष्टों को प्रसन्नता पूर्वक शान्त-चित्त होकर सहन किया जाता है। वस्त्र-भोजनादि जीवन की आवश्यकताओं को इतना कम या स्वल्प कर दिया जाता है कि उनका प्रयोग केवल नाम मात्र ही रह जाता है। इस तप यज्ञ में तप रूपी अग्नि में अपनी आवश्यकताओं और सुख की आहुति दी जाती है।

कुछ लोग योग-यज्ञ करते हैं जिसके द्वारा फल की इच्छा को त्याग कर समत्व-बुद्धि से युक्त होकर कर्म का अनुष्ठान किया जाता है अथवा अष्टाङ्ग योग करने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन अङ्गों को धारण किया जाता है।

कई लोग स्वाध्याय यज्ञ करते हैं अर्थात् निरन्तर वेद-शास्त्रों का अध्ययन करते हैं और पठन-पाठन में परिश्रम करते हुए अपना जीवन व्यतीत करके अन्त में मोक्ष के भागी बन जाते हैं अथवा राम-नाम का जप करते हैं और प्रभु के गुण गाकर उनका कीर्तन करते हैं॥

कुछ यति लोग ज्ञान-यज्ञ करते हैं अर्थात् निरन्तर ज्ञान ध्यान में लगे रहते हैं। लोगों में गीतादि ग्रन्थों का प्रचार करते हैं। स्वयं उस पर आचरण करते हैं और लोगों को ज्ञान मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते हैं। अथवा निरन्तर विज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धानों में लगे हुए हैं जिनके शिव-संकल्प और शुभ प्रयास से धरती उत्तरोत्तर स्वर्ग का रूप धारण करती चली जा रही है॥

ये सब उक्त-यज्ञ-कर्ता-लोग वास्तव में अत्यन्त तीक्ष्ण और कठोर व्रतों को धारण करने वाले होते हैं॥ २८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपाने जुह्वति प्राणम्+प्राणे+अपानम्+तथा+अपरे । प्राण+अपान-गती रुद्ध्वा प्राणायाम-परायणाः ॥

अपाने=(पुं०) सप्तमी ए० व०=अपान में। [अपान उस शक्ति या वायु का नाम है जो शरीर के भीतर से निरावश्यक और अनुपयोगी वस्तुओं को बाहर निकाल देती है। अपनयति=अधो नयति मूत्रादिकम् इति—अप-√नी+ड अथवा अपानिति=अधो गच्छति इति अप√अन्+अच् =अपान। शरीर के निचले भाग में रहने वाला वायु।] कार्बन डाई ओक्साइड में।

जुह्वति=√हु (जुहो० पर० सक०=हवन करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =होम करते हैं। हवन करते हैं।

प्राणम्=(पुं०) प्राणिति जीवितबहुकालम्, प्र√अन्+अच् अथवा प्राणिति अनेन, प्र√अन्+घञ्=प्राण+द्विती० ए० व० प्राण वायु को। आक्सीजन को ।

प्राणे=(पुं०) प्राण+सप्त० ए० व०=प्राण में। आक्सीजन युक्त वायु में।

अपानम्=(पुं०) अपान+द्विती० ए० व०=अपान को । कार्बन डाई ओक्साइड को।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण। तद्+थाल्=वैसे ही। और।

अपरे=(वि० सर्व०) अपर+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे कई। अन्य यति जन।

प्राण-अपान-गती=(स्त्री०) प्राणापानयोः गती (द्विती० द्वि० व०)=प्राण और अपान की दोनों गतियों को।

रुद्ध्वा=√रुध्+क्त्वा=रोक कर।

प्राणायाम-परायणाः=(वि०) प्राणायामे परायणाः (स० तत्पु०)। प्र० ब० व०। प्राणायाम करने में लगे हुए (यति लोग) ॥

[तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गति-विच्छेदः प्राणायामः। (यो० २।४९) अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास गतियों को रोकने का नाम प्राणायाम है।]

प्राणायाम उस अभ्यास का नाम है जिससे प्राण शक्ति पर नियन्त्रण किया जाता है। अर्थात् उस शक्ति को प्राणायाम के अभ्यास से साधक अपने वश में कर लेता है और प्राण उस शक्ति का नाम है जो फेफड़ों में काम करती है और बाहर की वायु को डायाफ्राम द्वारा भीतर

खींचती है। प्राण+आयाम=प्राणों को नियन्त्रण करना। पर+अयन
=परायण=अनुरक्त। लीन। लगा हुआ।।

अर्थ—और दूसरे कई यति जन प्राणायाम करने में लगे हुए, प्राण-अपान दोनों की गतियों को (शरीर के भीतर बाहर) रोक कर प्राण (वायु की आक्सीजन) को अपान (शरीर में उत्पन्न हुई कार्बन डाई ओक्साइड) में हवन करते हैं और प्राण (बाहर की आक्सीजन मिली वायु) में अपान (कार्बन डाई ओक्साइड) को होम करते हैं ।। २६ ।।

व्याख्या—संसार में दो प्रकार के प्राणी पाए जाते हैं, १—मनुष्य, पशु, पक्षी, जीव, जन्तु, कीटाणु, जीवाणु इत्यादि। ये सब धरती के भीतर-बाहर, जल, स्थल तथा वायु में निवास करते हैं। अपनी भीतरी शक्ति से एक स्थान से दूसरे स्थान तक चल फिर सकते हैं। इनमें से अधिकतर मुंह से किसी न किसी प्रकार का शब्द भी उच्चारण कर सकते हैं। प्रायः ये सब प्राणी माता के गर्भ से झिल्ली में लिपटे हुए शिशु अथवा अण्डे के रूप में बाहर निकलते हैं। कुछ अमीबा, पैरामीशियम आदि जीव कोशिका-विभाजन-क्रिया द्वारा भी जन्म धारण करते हैं।

२—ये दूसरी प्रकार के जीव या प्राण-धारी पेड़, पौधे, लता, जड़ी बूटियां आदि धरती से उत्पन्न होते हैं। इनमें से आकाश बेल आदि धरती से उत्पन्न होते हैं। इनमें से आकाशबेल आदि कुछ पौधे ऐसे भी हैं जो दूसरे वृक्षों या पौधों की देह को ही अपने जन्म या जीवन का आधार बनाते हैं। ये सब प्रकार के बेल वृक्षादि रूपी जीवधारी चलने, फिरने और बोलने में असमर्थ होते हैं और अपना सारा जीवन एक स्थान पर स्थिर रह कर ही व्यतीत कर देते हैं। परन्तु सब प्रकार के जीवधारी मनुष्यों, पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं, कीटाणुओं, जीवाणुओं, पेड़-पौधों, बेल-बूटों, और सब प्रकार की वनस्पतियों में एक बात समान रूप से व्यापक पाई जाती है। वह यह कि सब प्राणी साँस लेते हैं। सांस के साथ जो हवा शरीर के भीतर ले जाते हैं, उसमें से आक्सीजन अर्थात् प्राण-वायु अपने रक्त को शुद्ध करने और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शरीर के भीतर रख लेते हैं। और सांस को बाहर निकालते समय अपान वायु या कार्बनडाई ओक्साइड बाहर निकाल देते हैं। कई लोग इस भ्रम में फँसे हुए हैं कि केवल चलने फिरने वाले जीव ही ऐसा करते हैं अर्थात् साँस लेते और छोड़ते हैं और पेड़ पौधे आदि पृथिवी में उगे हुए देह-धारी जीव कार्बन डाईओक्साइड सूंघ कर ही अपना रुधिर या रस शुद्ध करते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। क्योंकि यदि ये पेड़-पौधे अपनी नासिकाओं के द्वारा आक्सीजन अपने शरीर के भीतर न ले जाएँ तो तत्काल

ही उनकी मृत्यु हो जाए। उनके नाक हमारी नाक जैसे नहीं होते हैं। वे तो एक प्रकार के सूक्ष्म छिद्र होने हैं जो उनके हरे पत्तों में और शरीर के शेष भागों के भीतर होते हैं। हाँ ये पेड़ या पौधे एक प्रकार की फैक्टरी या कारखाने के रूप में अवश्य हैं जिनके हरे पत्ते दिन के समय प्रकाश-संश्लेषण करते हैं अर्थात् हवा से कार्बन डाईओक्साइड को ग्रहण करके उसे आक्सीजन और कार्बन इन दो भागों में विभाजित करते या फाड़ देते हैं। आक्सीजन तो वायु में मिला देते हैं और कार्बन के साथ सूर्य की ऊर्जा और पृथिवी में से जड़ों की ओर से आए हुए खनिज पदार्थ और पानी को मिला देते हैं जिससे शक्कर निशास्ते और तेल आदियों की उत्पत्ति होती है जिनके द्वारा उन पेड़ पौधों के शरीर पालित पोषित होते हैं तथा उनमें फूल-फल और अन्नों के कोष (खोशे) उत्पन्न होते हैं। पेड़ पौधे यह सारा काम केवल दिन के समय ही करते हैं और रात को हमारी तरह ही सोते और आराम करते हैं। तथा आक्सीजन सूंघ कर कार्बन डाई ओक्साइड बाहर निकालते रहते हैं। जो साधारण वायु की अपेक्षा भारी होती है और वृक्षों के तले बिखर कर बढ़ती रहती है। इसलिए जो मनुष्य रात्रि के समय घने वृक्षों के तले सोते हैं उन्हें पर्याप्त मात्रा में आक्सीजन के प्राप्त न होने से उनकी मृत्यु हो जाने का भय होता है॥

इस बात को भली-भान्ति समझ लेने के अनन्तर अब शरीर के भीतर आक्सीजन के द्वारा होने वाले कार्य को समझना भी परमावश्यक है ताकि प्राणायाम-क्रिया और उसके लाभ को अच्छी तरह से समझा जा सके।

प्रत्येक प्राणी के प्राणों का आधार-स्थान हृदय है जिसके दो कक्ष होते हैं। प्रत्येक कक्ष दो विभागों में विभक्त होता है जो एक दूसरे के नीचे ऊपर जुड़े हुए होते हैं, जिनके मध्य में बल्व लगे रहते हैं जो रक्त-प्रवाह को केवल एक ही ओर जाने देते हैं। पलटकर वापस लौटने नहीं देते। प्राणी का सम्पूर्ण शरीर सूई की नोक के आकार की अनेक असंख्य जीवित कोशिकाओं के जुड़ने से बना हुआ होता है। प्रत्येक कोशिका को जीवित रहने के लिए आक्सीजन या प्राणवायु का भोजन निरन्तर मिलते रहना आवश्यक है। ऐसा न होने से शरीर क्षति-ग्रस्त होकर काल-कवल या मृत्यु-ग्रास बन जाता है। प्रत्येक कोशिका में प्राण-वायु पहुँचाने का काम लाल लहू करता है जो हृदय के बाएँ कक्ष से मोटी नाली द्वारा गमन करता है। यह नाली शाखा दर शाखा विभाजित होती चली जाती है। अन्त में सूक्ष्म बालों से भी बारीक नालियों का रूप धारण कर लेती है। वहाँ तक लहू के पहुँचते-पहुँचते उसकी सारी प्राण वायु समाप्त हो जाती है जिससे खून का रंग श्याम हो जाता है और फिर वह आगे बढ़कर हृदय की ओर आ रही नालियों में प्रविष्ट होकर हृदय के दाहने

कक्ष में प्रविष्ट हो जाता है। उस समय उसका रंग काला, नीला या जामनी होता है। यह अशुद्ध खून एक दोमुहीं नाली द्वारा दोनों फेफड़ों में चला जाता है। वहाँ पर साँस द्वारा भीतर आई हुई प्राण-वायु से मिलकर फिर चमकीले लाल लहू के रूप में परिवर्तित हो जाता है और फिर चार नालियों द्वारा हृदय के बाएँ कक्ष में चला जाता है। जब तक हृदय की धड़कन बनी रहती है तब तक निरन्तर यह क्रिया होती रहती है। फेफड़े डायाफ्राम झिल्ली की सहायता से प्राण वायु को भीतर खींचते रहते हैं और अपान वायु को बाहर निकालते रहते हैं जिससे प्राणी जीवित रहता है। परन्तु जब किसी कारण से हृदय-गति रुक जाती है तो श्वास-प्रश्वास भी बन्द हो जाते हैं और प्राणी की मृत्यु हो जाती है ॥

इस श्वास-प्रश्वास पर नियन्त्रण करने की क्रिया का नाम ही प्राणायाम है जो योग का चौथा अंग माना जाता है जिसके पूर्ण अभ्यास के द्वारा आयु सैंकड़ों साल दीर्घ की जा सकती है और इस अवस्था में समाधिस्थ होकर आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है।

प्राण उस शक्ति का नाम है जो हृदय और फेफड़ों में काम करती है। इन दोनों स्थानों से इसका संचार सारे शरीर में होता है जिससे प्रत्येक कोशिका या सैल जीवित रहता है। हृदय के मर जाने पर सारे शरीर की कोशिकाओं के भीतर से प्राण निकल जाते हैं और फिर देह सड़कर मूल पाँच तत्त्वों में बदलने लगती है।

अपान वायु का मूल स्थान पायु के भीतर की छः फुट नाली है जिसमें मल भरा रहता है। यदि इसकी गति भोजन-संस्थान में किसी कारण से किसी काल में नीचे से ऊपर की ओर होने लगे तो यह उस प्राणी की मृत्यु का साधन बन जाती है। इसलिए इस अपान शक्ति अर्थात् मलों को शरीर से बाहर निकालने वाली शक्ति का बहाव या प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर ही रहना चाहिए। केवल फेफड़ों में ही यह कार्बन डाईओक्साइड को नासिका या मुख में भेजकर ऊपर की ओर निष्कासित करती है। छत्तरी न्याय से अपान वायु का स्थान और गति वास्तव में अधः ही होती है ॥ श्रुति में कहा है—"पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः।" (प्रश्न उ० ३।५) अर्थात् यह प्राण स्वयं तो मुख और नासिका द्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है तथा पायु और उपस्थ में अपान को स्थापित करता है। उस (अपान) का काम मल-मूत्र को शरीर से बाहर निकाल देना है। रज, वीर्य और गर्भ को बाहर करना भी इसी का काम है। शरीर के मध्य भाग आमाशय और नाभि आदि में यह प्राण समान नाम के प्राण को स्थिर रखता है ॥

व्यान शक्ति सारे शरीर में व्यापक रहती है। जैसा कि कहा भी है— "व्यानिति सर्वशरीरं व्याप्नोति।" यह शक्ति धनुष खींचने, भार उठाने, दम खींचने, श्वास छोड़ने तथा जोर के काम करते समय व्यक्त होती है।

उदान का निवास स्थान कण्ठ है। मरण काल में निकल जाने वाले वायु को उदान कहते हैं और सब कोशिकाओं में एक सा अन्न-रस पहुँचाने वाली शक्ति या वायु को समान कहते हैं।

बाहर की वायु का मुख-नासिका द्वारा शरीर के भीतर प्रवेश करना 'श्वास' कहलाता है। और फेफड़ों की दूषित वायु का बाहर निकालना 'प्रश्वास' कहलाता है। जब कोई मनुष्य साधारण रूप में होता है तो एक मिनट में पन्द्रह से अठारह तक श्वास प्रश्वास लेने की क्रिया करता है। परन्तु प्राणायाम करने वाले योगी लोग अपने अभ्यास के बल से कई मिनटों तक एक बार ही यह श्वास प्रश्वास क्रिया करते हैं। लाखों करोड़ों में से कोई एक योगी ऐसे भी सुने जाते हैं जो सप्ताहों, महीनों और वर्षों बिना श्वास प्रश्वास क्रिया के भी जीवित रहते हैं।

प्राणायाम करने वाले साधक प्राण-वायु को धीरे-धीरे नासिका के द्वारा फेफड़ों के भीतर भरते जाते हैं। उस समय उनका शरीर, मेरुदण्ड, ग्रीवा और शीश ऊपर की ओर सीधे और तने हुए होते हैं। दोनों भौंहों के मध्य-बिन्दु पर जमी हुई दृष्टि परमात्मा का साक्षात्कार करने की प्रतीक्षा करती है। इस प्रकार सांस के फेफड़ों के भीतर भरने को "पूरक" प्राणायाम कहते हैं। इसी का भाव प्राण को अपान में होम करना है।

फिर उस वायु को चिर काल तक फेफड़ों और शरीर के भीतर रोकने का प्रयत्न किया जाता है। इस क्रिया को 'अन्तर्-कुम्भक' कहा जाता है। इसके अनन्तर फेफड़ों में रोकी हुई वायु को धीरे-धीरे नासिका द्वारा बाहर निकाला जाता है। इस क्रिया का नाम 'रेचक' प्राणायाम है। इसी को प्राण में अपान का होम करना कहा गया है। इसके बाद चिर काल तक वायु को नासिका से बाहर ही रोका जाता है। इस क्रिया को 'बाह्य-कुंभक' कहते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण प्राणायाम १—पूरक, २—अन्तर्-कुंभक, ३—रेचक और ४—बाह्य-कुंभक नाम से चार प्रकार का होता है।

इस प्रकार बार-बार प्राणायाम करने से फेफड़ों की थैलियाँ खुल कर विशाल हो जाती हैं। उनकी सम्पूर्ण मल धुल जाती है जिससे रुधिर अधिक मात्रा में शुद्ध होने लगता है। अधिक आक्सीजन के प्रवेश से सब प्रकार के रोगाणु नष्ट हो जाते हैं। क्षय आदि किसी रोग का भय नहीं रहता। फेफड़ों के दीर्घाकार हो जाने से आमाशय पर उनका दबाव पड़ने लगता है। जिससे

पाचन-शक्ति या जठराग्नि तेजतर हो जाती है। बुढ़ापा जल्दी नहीं आता। चिर-काल तक स्वास्थ्य बना रहता है। समाधि में ध्यान स्थिर होकर चित्त ब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम करने से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। इससे भगवान् ने प्राणायाम की क्रिया को यज्ञ का रूप देने के लिए "जुह्वति" क्रिया का प्रयोग किया है। पहले अपान को यज्ञ की अग्नि कहा है और प्राण को आहुति के रूप में वर्णित किया है। साधक 'होता' माना गया है। जिस प्रकार आहुति देने से अग्नि और बढ़ती है तथा वायु शुद्ध होती है और देवता लोग सन्तुष्ट और सन्तृप्त होते हैं उसी प्रकार प्राण-वायु के फेफड़ों में धीरे-धीरे भरने और रोकने से अधिक मात्रा में रुधिर शुद्ध होता है। क्षुधा-ज्वाला अधिक धधकती और बढ़ती है। तथा कोशिका-पुंज रूपी देवता लोग सन्तुष्ट, संतृप्त और पोषित होते हैं। रेचक में अपान को आहुति, प्राण को अग्नि और वनस्पतियों को देवता रूप में माना गया है। ये सब वनस्पतियाँ साँस द्वारा शरीर से बाहर निकली हुई अपान वायु (कार्बन डाई ऑक्साइड) को पाकर पालित, पोषित, संतृप्त और सन्तुष्ट होती हैं। इस प्राणायाम क्रिया से योग-समाधि लगाकर भगवत्प्राप्ति होती है और कर्म-बन्धन से मुक्ति मिलती है। इसलिए यहाँ प्राणायाम को यज्ञ रूप करके वर्णन किया गया है॥ २९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

अपरे नियत+आहाराः प्राणान्+प्राणेषु जुह्वति। सर्वे+अपि+एते यज्ञ-विदः+यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः॥

अपरे=(वि० सर्व०) अपर+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे। दूसरे कई। अन्य कितने ही।

नियत+आहाराः=(वि०) नियतः (=परिमितः) आहारो येषां ते (बहुव्री०) =नियमित आहार करने वाले (यति लोग)। परिमित भोजन करने वाले। (पुं०) प्र०, ब० व०।
[नि √यम्+क्त=नियत। निश्चित। नियमित। नपा तुला।
आ √हृ+घञ्=आहार (पुं०)=भोजन।]

प्राणान्=(पुं०) प्राण+द्वितीo ब० व०=प्राणों को।

प्राणेषु=(पुं०) प्राण+सप्त० ब० व०=प्राणों में।

जुह्वति=√हु+लट्० प्र० पु०, ब० व०=हवन करते हैं। होमते हैं।

सर्वे=(सर्व०) सर्व+(पुं०) प्र० ब० व०=सारे। सब। अपि=(अव्यय) भी। ही।

एते=(सर्व०) एतद्+(पुं०) प्र० ब० व०=ये। यज्ञ-विदः=(वि०) यज्ञ-वित्+(पुं०) प्र० ब० व०=यज्ञों को जानने वाले। यज्ञों के ठीक रहस्यों को समझने वाले।

यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः=(वि०) यज्ञैः (यथोक्तैः) क्षपितो (नाशितः) कल्मषो येषां ते, (बहुव्री०)। यज्ञों द्वारा नाश किए हुए पाप वाले। (√क्षप् चुरा० उभ० सक=फेंकना)+क्त। कल्मष+(पुं०) प्र० ब० व०॥

अर्थ—दूसरे कितने ही निश्चित मात्रा में आहार करने वाले प्राणों को प्राणों में होमते हैं। (इस प्रकार) ये सब लोग यज्ञों (के तत्त्व) को जानने वाले हैं, और यज्ञों द्वारा नष्ट किए हुए पाप वाले हैं॥ ३०॥

व्याख्या—इस प्रकरण में भगवान् के द्वारा द्वादश यज्ञों का वर्णन किया गया है और उनके करने वालों को यज्ञ के वास्तविक तत्त्व के ज्ञाता और यज्ञों द्वारा नष्ट किए हुए पापों वाले कहा है। यद्यपि यज्ञ का अर्थ होता है, "अग्नि कुण्ड में वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए देवताओं अथवा ब्रह्म के निमित्त घृतादि हव्य पदार्थों की आहुतियां देना" परन्तु भगवान् ने ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकार से रहित होकर प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से किए गए १—दैव-यज्ञ। २—ब्रह्म-यज्ञ। ३—इन्द्रिय-संयम-यज्ञ। ४—विषय-संयम-यज्ञ। ५—आत्म-संयम-यज्ञ। ६—द्रव्य-यज्ञ। ७—तप-यज्ञ। ८—योग-यज्ञ। ९—स्वाध्याय-यज्ञ। १०—ज्ञान-यज्ञ। ११—प्राणायाम-यज्ञ और १२—नियताहार-यज्ञ, के करने वालों को वेदोक्त-यज्ञ करने वाला माना है। अर्थात् हवन करना, सदा ब्रह्म में लीन रहना, इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करना, विषय-वासनाओं पर काबू पाना, आत्मा अर्थात् मन और बुद्धि को वश में करना, भूखों-नंगों को अन्न-वस्त्र प्रदान करना, देवालय-विश्रामगृह-वाचनालय खोलना, कूप-नलकूप-बावड़ी और सरोवर बनवाना, बाग-बागीचे लगवाना, इसी प्रकार के और भी जनता-हितार्थ कार्य करना, तपस्या करना, पाठ-पूजा करना, नाम जपना, अतिथि-सेवा, पंच-महायज्ञ, योग-समाधि लगाने का अभ्यास करना, प्राणायाम करना, और केवल प्राण-धारण मात्र नियमित और सीमित सात्त्विक भोजन करना इत्यादि सर्व कर्म यज्ञ रूप में वर्णन किए गए हैं। इन कर्मों के करने वाले यज्ञ के असली तत्त्व को जानने वाले होते हैं और उनके सम्पूर्ण पाप उनके कर्म रूपी यज्ञ की अग्नि में दग्ध हो जाते हैं जिससे इन यज्ञों के साधक लोग पापों के अभाव से शुद्ध अन्तःकरण हुए परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं॥

न अधिक भोजन करना ठीक है न इतना थोड़ा कि जिससे प्राण ही संकट में पड़ जाएं और जिससे फिर रुग्ण होकर कोई कर्म ही न किया जा सके। इसलिए इस श्लोक में "नियताहार:" शब्द विशेषण रूप में दिया गया है।

प्राणों को प्राणों में हवन करने का आशय यह है कि कुछ साधक प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाँचों प्राणों को उनके अपने अपने मूल स्थानों में रोकने का अभ्यास करते हैं। जैसे प्राण को उसके निवास स्थान फेफड़ों और हृदय में, अपान को पायु और उपस्थ में, समान को नाभि और और आमाशय में, उदान को कण्ठ और भृकुटि में, और व्यान को समस्त शरीर में रोकने का प्रयत्न किया जाता है। इस यज्ञ की अग्नि भी प्राण ही होते हैं और हवन-सामग्री भी प्राण ही होते हैं। इस यज्ञ के करने वाले मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् उनका शरीर-त्याग करना उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर हो जाता है। भीष्म-पितामह जी इसी योग यज्ञ के साधक थे। इस कारण से उन्होंने अपने प्राण उत्तरायण सूर्य होने पर त्याग किए थे। जो साधक अपने पाँचों प्राणों को अपने-अपने स्थानों में पूरी तरह से रोकने में समर्थ हो जाते हैं, फिर बिना शरीर भंग हुए उनके प्राण अपने आप कैसे निकल सकते हैं? वे तो उनकी इच्छा से ही शरीर का परित्याग करते हैं। उनकी प्राणों को त्यागने की इच्छा तभी होती है, जबकि उनकी साधना पूरी हो जाती है और उसके फल स्वरूप उनका परमात्मा में मेल होने का समय समीप आ जाता है। और फिर और जन्म धारण करके और साधना की आवश्यकता नहीं रहती।

जीवन में योगी पुरुष के रोग भी, योग द्वारा ही नष्ट हो जाते हैं। उसे किसी प्रकार की औषधि के सेवन करने की आवश्यकता ही नहीं होती। जैसे जब उसे कभी उदर-पीड़ा होती है, तो वह प्राण-वायु को आमाशय में भरता है। और शेष सब वायुओं को रोककर समान वायु को नाभि से उठाकर आमाशय में ले आता है। प्राण वायु अन्न-नली द्वारा आमाशय में पहुँचाई जाती है। ऐसा हो जाने से आमाशय में एक भक्खड़ उत्पन्न हो जाता है और भक्षण किए हुए भोजन में ज्वार-भाटा सा पैदा हो जाता है जिससे हिचकी और डकार आने लगते हैं। तब आमाशय पर पड़ा हुआ प्राण वायु का दबाव वहाँ पड़े हुए भोजन को पूरी शक्ति से भींचता है जिससे पक्वाशय का ढकना या वल्व खुल जाता है और वह पीड़ा देने वाला अन्न, पक्वाशय में पहुँच कर यकृत, तिली और कफाशय के रसों से मिलकर जीर्ण-शीर्ण होकर बारीक अन्तड़ियों में चला जाता है जिसका सूक्ष्म रस और सार

विल्सों द्वारा खून में मिल जाता है, और प्रत्येक कोशिका तक पहुँच कर उनका भोजन बन जाता है। आमाशय को लांघ कर प्राण-वायु फिर अपान वायु के रूप में परिवर्तित हो जाती है और सब दोषपूर्ण गैसों को साथ लेकर शब्द करती हुई पायु-मार्ग से बाहर निकल जाती है। यह क्रिया ठीक ढंग से एक दो बार करने पर पेट के सब रोग दूर हो जाते हैं। कई दिन करने पर रीह, जोड़ दर्द, खांसी और क्षय रोगादि सब दुःख दर्द काफ़ूर हो जाते हैं और रक्त शुद्ध और साफ हो जाता है। मैं तो इस क्रिया को ही प्राण को अपान में हवन करना समझता हूँ। मैंने जीवन के अन्तिम वर्षों में स्वयं इससे पर्याप्त लाभ प्राप्त किया है ॥

श्री नारायण स्वामी इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"प्राणों में प्राणों का हवन ऐसे होता है कि खाना जब कम खाया जाता है, अथवा व्रतादि जब रखे जाते हैं, तब आहार कम पहुँचने से प्राणों का वेग बहुत भड़कता है जो इन्द्रियों के बल को ही खाने लग जाता है जिससे प्राण (जठराग्नि या इन्द्रिय-बल) शिथिल पड़ जाते हैं। इस प्रकार प्राणों में प्राणों का हवन प्राणों का हवन कहा जाता है" ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

यज्ञ-शिष्ट+अमृत—भुजः+यान्ति ब्रह्म सनातनम् । न+अयम्+लोकः अस्ति+अयज्ञस्य कुतः+अन्यः कुरुसत्तम ! ॥

यज्ञ—शिष्ट+अमृत-भुजः=(वि०, पुं०, प्र० ब० व०) यज्ञानां शिष्टं=यज्ञ-शिष्टम् (षष्ठी० तत्पु०)। यज्ञ-शिष्टं च तद् अमृतं च=यज्ञशिष्टामृतं, तद् भुञ्जते=इति यज्ञशिष्टामृतभुजः। यज्ञ करने के बाद शेष बचे हुए पदार्थ या भोजन आदि का नाम "यज्ञ-शिष्ट" है। वही अमृत' है। उसके भोगने वाले को "यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भोजी" कहते हैं। [यज्ञों के परिणाम-स्वरूप ज्ञानामृत को भोगने वाले योगी जन—गीताप्रेस, गोरखपुर] (उपपद तत्पु०) [√शिष्+क्त=शिष्ट=बचा हुआ।√भुज्+क्विप्=भुज्+प्र० ए० व०=भुजः=खाने वाले।]

यान्ति=√या (अदा० पर० अक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०= जाते हैं। गच्छन्ति। प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+द्विती० ए० व०=ब्रह्म को। परब्रह्म परमात्मा को।
सनातनम्=(वि०) सदा+ट्युल्, तुट्, निपा० दस्य नः=सनातन+(नपुं०) द्विती० ए० व०=सनातन को। पुरातन को। चिरन्तन को। अनादि को।
न=(अव्यय) न। नहीं।
अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह। लोकः=(पुं०) √लोक्+घञ्=लोक+प्र० ए० व०=मनुष्य लोक। संसार। लोक।
अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=है।
अयज्ञस्य=(वि०, पुं०, षष्ठी० ए० व०)। यथोक्तानां यज्ञानाम् एकः अपि यज्ञो न यस्य तस्य (बहुव्री०)। उपर्युक्त यज्ञों में से एक भी यज्ञ न करने वाले का। यज्ञ रहित पुरुष का।
कुतः=(अव्यय) कहाँ?। कहाँ से?। कैसे (मिल सकता है)?।
अन्यः=(सर्व०) अन्य+(पुं०) प्र० ए० व०=(विशेष साधनों द्वारा प्राप्त होने वाला) अन्य लोक। विशिष्ट-साधन-साध्य दूसरा लोक।
कुरुसत्तम !=(पुं०) सम्बोधन ए० व०। हे कुरुश्रेष्ठ (अर्जुन)!। कुरूणां कुरुषु वा सत्तमः (ष० अथवा स० तत्पु०) कुरुसत्तमः। √अस्+शतृ, अकार-लोपः=सत् (श्रेष्ठ)+तम=सत्तम=सब से श्रेष्ठ। अत्यन्त श्रेष्ठ।

अर्थ—हे कुरु वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन। यज्ञ से बचे हुए अमृत (तुल्य भोजन या पदार्थ) को खाने (या बर्तने वाले) व्यक्ति सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। (उपर्युक्त यज्ञों में से एक भी) यज्ञ न करने वाले के लिए जब यह लोक ही (शान्तिप्रद) नहीं है तो फिर (विशिष्ट-साधन-साध्य) दूसरा (स्वर्ग) लोक कहाँ से प्राप्त हो सकता है ?॥ ३१ ॥

व्याख्या—यज्ञ, दान, पुण्य तथा परोपकार करने के बाद जो भोजन या धन-पदार्थ शेष रह जाता है वह भोजन तथा धन अमृत समान होता है जो दानी के इस लोक को सँवारता है और देह त्याग के बाद परमात्मा में उस के मेल का कारण होता है। क्योंकि इस अर्पण रूपी पुण्य कर्म से उसके मन पर श्रेष्ठ प्रभाव पड़ता है जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। वह अन्तःकरण की शुद्धि फिर आत्म-ज्ञान का कारण बन जाती है जिसके फल स्वरूप फिर आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर सनातन ब्रह्म में लीन हो जाता है। परन्तु जो पुरुष ऊपर कहे हुए यज्ञों में से किसी को भी नहीं करता, उसको इस लोक में भी सुख

शान्ति और मान की प्राप्ति नहीं होती, अपितु सब लोग कुकर्मी और कंजूस मक्खी चूस कह कर उसकी निन्दा करते हैं। परलोक के लिए तो उसने कोई शुभ कार्य किया ही नहीं होता, तो फिर स्वर्ग, परलोक या सुख मिलने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। अर्थात् जो पुरुष दूसरों की किसी प्रकार से भी कोई सहायता नहीं करता है, अपना कमाया हुआ केवल आप ही खाता है उसका हृदय संकीर्ण और अन्तःकरण तुच्छ होता है जिससे वह स्वार्थी बन जाता है। यहाँ यज्ञ शब्द का एक व्यापक अर्थ भी है जिसमें सामाजिक कल्याण का पर्याय से समावेश हुआ है। अपनी प्यारी कुछ बातों को छोड़े बिना न तो सब को एक सी सुख-सुविधाएँ मिल सकती हैं और न जगत् के व्यवहार ही भली भान्ति चल सकते हैं। क्योंकि जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के कुछ अंश का यज्ञ या परित्याग न करे, तब तक इस लोक के व्यवहार चल ही नहीं सकते। इससे सिद्ध होता है कि यज्ञ (या त्यागभावना) ही सारी समाज रचना का आधार है। इसलिए, लोक-कल्याण के लिए यज्ञ करने की भावना प्रत्येक व्यक्ति में होनी चाहिए। इससे आत्मकल्याण भी होता है। क्योंकि यज्ञ-कर्मों के करने के बाद अन्तःकरण में जो प्रसन्नता और उल्लास उत्पन्न होते हैं। वे अमृत-तुल्य-आत्मा को अमर करने वाले होते हैं॥

यदि यह कहो कि यज्ञ न करके केवल पापकर्म करने वाले पुरुष भी कारों पर चढ़े फिरते हैं, धन-धरती और बागों के स्वामी हैं, कारखानों और मिलों के मालक हैं, पुत्र कलत्र आदि सब सुखों से सम्पन्न हैं, फिर उनका यह लोक बिगड़ा हुआ कैसे माना जाए? इसका उत्तर यह है, कि पूर्व जन्मों के शुभ कर्मों का फल तो वे इस जन्म में भोग रहे हैं और इस जन्म में किए हुए पापों का फल वे अगले जन्मों में अधमाधम योनियों में उत्पन्न हो कर भोगेंगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसी कारण से भगवान् ने कहा है कि यज्ञ या परोपकार न करने वाले पुरुष के इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं॥ ३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

एवम्+बहु-विधाः+यज्ञाः+वितताः+ब्रह्मणः+मुखे । कर्म-जान्+विद्धि तान्+सर्वान्+एवम्+ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

एवम्=(अव्यय)=इस प्रकार।

बहु-विधाः=(वि०) बहुप्रकाराः=बहुत प्रकार के। (पुं०) प्र० ब० व०।

यज्ञाः=(पुं०) यज्ञ+प्र० ब० व०=यज्ञ । वितताः=(वि०) वि√तन् (तना० उभ० सक०=फैलना । फैलाना)+क्त=वितत+(पुं०) प्र० ब० व०=फैले हुए हैं । विस्तृत हैं । विस्तार पूर्वक कहे गए हैं । विस्तार किए गये हैं । विस्तार को प्राप्त हुए हैं ।

ब्रह्मणः=(नपुं०) ब्रह्मन्+षष्ठी० ए० व०=ब्रह्म के । वेद के । वेद की ।

मुखे=(नपुं०) मुख+सप्त० ए० व०=मुख में । वाणी में । [ओष्ठौ च दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा च तालु च । गलो गलादि सकलं सप्ताङ्गं मुखमुच्यते ।। भाव-प्रकाश]

कर्मजान्—(पुं०) कायिक-वाचिक-मानसिक-कर्मोद्भवान् । द्विती० ब० व० । कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं से उत्पन्न होने वालों को ।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्०, म० पु० ए० व० =(तू) जान ।

तान्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=उनको । सर्वान्=(सर्व०) सर्व+(पुं०) द्विती० ब० व०=सबको । एवम्=(अव्यय) इस प्रकार । ऐसे । इस तरह । ज्ञात्वा=√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+क्त्वा =जान कर ।

विमोक्ष्यसे=वि√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छोड़ना)+कर्म०, लृट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) छोड़ा हुआ हो जाएगा । तू विमुक्त हो जाएगा ।

अर्थ—इस प्रकार बहुत तरह के यज्ञ ब्रह्म के मुख में विस्तार को प्राप्त हुए हैं । तू इन सब यज्ञों को (कायिक, वाचिक और मानसिक) कर्मों से उत्पन्न होने वाले जान ले । ऐसा करने से तू विमुक्त हो जाएगा [अर्थात् ये सब कर्म मुझ आत्मा द्वारा सम्पादित नहीं हैं, मैं आत्मा तो निष्क्रिय और उदासीन हूँ इस प्रकार जान कर इस सम्यक् ज्ञान के प्रभाव से तू संसार-बन्धन से मुक्त हो जाएगा] ।। ३२ ।।

व्याख्या—भगवान् ने इस प्रसंग में जिन बारह प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है, उनमें से देव-यज्ञ और द्रव्य-यज्ञ आदि कुछ यज्ञ ऐसे हैं जो मानव-देह द्वारा सम्पन्न होते हैं । तथा जप-यज्ञ और स्वाध्याय जैसे कुछ यज्ञ वाणी द्वारा किए जाते हैं । इसी प्रकार ज्ञान-यज्ञ और ध्यान-यज्ञ इत्यादि मन द्वारा पूरे होते हैं । इसी प्रकार सम्पूर्ण यज्ञ कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों द्वारा ही किए जाते हैं । जो पुरुष इनको अपनी आत्मा द्वारा किए हुए समझता है वह कर्मों और उसके फल से बन्ध जाता है और जन्म-

मरण के चक्र में फँस जाता है परन्तु सब प्रकार के कर्मों के विषय में आत्मा को निष्क्रिय और उदासीन जानने वाला पुरुष इस सम्यक् ज्ञान के प्रभाव से संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन तू दृढ़ निश्चय कर ले कि सब यज्ञ शरीर, वाणी और मन से उत्पन्न हुए कर्मों द्वारा ही होते हैं और इन तीनों का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जानकर तू मुक्त हो जाएगा।

देखो, ज्योतिष्टोम आदि श्रौत यज्ञ अग्नि में आहुतियाँ डालकर किए जाते हैं जिससे उनका विस्तार होता है। अर्थात् वे यज्ञ राख होकर अग्नि-कुण्ड में समाप्त नहीं हो जाते, बल्कि आराधित देवताओं को प्राप्त होकर सांसारिक सुखों को देने वाले तथा स्वर्गादि की प्राप्ति कराने वाले होते हैं। परन्तु गीता के अनुसार यज्ञ करने से न तो सांसारिक सुखों की कामना की जाती है, न ही स्वर्गादि की याचना की जाती है। यहाँ तो सब प्रकार के यज्ञ करने का लक्ष्य केवल एक मात्र जन्म-मरण से रहित होकर मोक्ष-प्राप्ति और परमात्मा से मिल जाना ही है। शास्त्रों में कहा है कि देवताओं का मुख अग्नि है, इसलिये दैव-यज्ञ में आहुतियाँ देवताओं के अग्निरूपी मुख में डाली जाती हैं जिससे वे देवताओं को प्राप्त हो जाती हैं जिससे देवता लोग "होता" के लिए सांसारिक सुख और स्वर्गादि की प्राप्ति के साधन बन जाते हैं। परन्तु भगवान् ने ऐसे बहुत से यज्ञों का वर्णन किया है जिनमें न कोई हवन कुण्ड होता है, न अग्नि रूपी देवताओं का मुख होता है तथा न घृतादि हवन सामग्री होती है। तो फिर यज्ञ की आहुतियां किस मुख में डाली जाएँ जिससे वे विस्तार को प्राप्त हों? अर्थात् अपने फलस्वरूप जन्म-मरण से मुक्त करवाकर परमात्मा में मेल करवा दें। इसके लिए स्वयं भगवान् कहते हैं—"एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।" अर्थात् इस प्रकार बहुत तरह के यज्ञ ब्रह्म (परमात्मा) के मुख में (जाकर) विस्तार को प्राप्त हुए हैं, होते हैं और होंगे। कहने का भाव यह है कि वे सब प्रकार के यज्ञ ब्रह्मार्पण करने से ही जन्म-मरण से छुड़ाने वाले और मोक्ष के दिलाने वाले होते हैं। चाहे तुम अग्नि द्वारा यज्ञ करो, चाहे तुम दान या परोपकार रूप यज्ञ करो, चाहे वाणी द्वारा नाम जपो, चाहे ज्ञान यज्ञ करो परन्तु प्रत्येक यज्ञ में प्रत्येक आहुति ब्रह्म-मुख में ही डालो और किसी मुख में नहीं। तब तुम्हारा यज्ञ विस्तार को प्राप्त हो जाएगा। इस गूढ़ रहस्य को भली-भान्ति जान लो जिसके जान लेने से फिर तुम जन्म-मरण आदि सब प्रकार के झंझटों से विमुक्त हो जाओगे और अपने मूल स्वरूप ब्रह्म में मिल कर तद्रूप हो जाओगे॥

बहुत से टीकाकारों ने "वितता ब्रह्मणो मुखे" का अर्थ—"वेद में अनेक

प्रकार के यज्ञों का वर्णन है।" "बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गये हैं।" "बहुत प्रकार के यज्ञ ब्रह्म के मुख अर्थात् वेद में फैले हुए हैं।" "बहुत से यज्ञ ब्रह्म के मुख से प्रकट हुए हैं।" "बहुत से यज्ञ वेद के मुख में विस्तृत हैं।" इत्यादि वाक्यों द्वारा किया है। जिनका आशय है कि बहुत से यज्ञ मनुष्य के करने के लिए चारों वेदों में लिखे हुए हैं। ये सब ही अर्थ ठीक हैं परन्तु हमने तो वही अर्थ किया है जो भगवान् ने हमारे अन्तःकरण में सुझाया है॥ ३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

श्रेयान्+द्रव्यमयात्+यज्ञात् ज्ञान-यज्ञः परंतप! सर्वम्+कर्म+अखिलम्+पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते॥

श्रेयान्=(वि०) अतिशयेन प्रशस्यः। प्रशस्यतरः। प्रशस्य+ईयसुन्, 'श्र' आदेशः=श्रेयस्+(पुं०) प्र० ए० व०=श्रेयान्=श्रेष्ठ। उत्कृष्ट। बहुत बेहतर।
['तर' प्रत्यय के अतिरिक्त विशेषण वाची शब्द से "ईयसुन्" प्रत्यय लगा कर भी तुलनात्मक विशेषण शब्द बनाए जाते हैं। जैसे यहाँ 'प्रशस्य' के आदेश 'श्र' के साथ 'ईयसुन्' लगाकर 'श्रेयस्' विशेषण शब्द बना लिया गया है।]

द्रव्य-मयात्=(वि०) द्रव्य+मय (तद्धित प्रत्यय)=द्रव्यमय+(पुं०) पंच० ए० व०=द्रव्यमयात्=द्रव्यमय-(यज्ञ) से। सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले से। द्रव्यों द्वारा किए गए से। [√द्रु+यत्=द्रव्य=पदार्थ। सामग्री। धन-धान्य आदि।]

यज्ञात्=(पुं०) यज्ञ+पंच० ए० व०=यज्ञ से। ज्ञान-यज्ञः=(पुं०) प्र० ए० व०=ज्ञान रूप यज्ञ। परं-तप!=(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे परंतप (अर्जुन)! [परान्=शत्रून् तापयति=शत्रुओं को सन्ताप देने वाला।] हे श्रेष्ठ तप करने वाले अर्जुन!

सर्वम्=(सर्व०) सर्व+(नपुं०) प्र० ए० व०=सम्पूर्ण। सारा।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म (वर्ग)। कर्म (समूह)।

अखिलम्=(वि०) अखिल+(नपुं०) प्र० ए० व०=सम्पूर्ण। समूचा। पूरे का पूरा। यावन्मात्र।।

पार्थ!=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे पृथा-पुत्र (अर्जुन)!

ज्ञाने=(नपुं०) ज्ञान+सप्त० ए० व०=ज्ञान में। परिसमाप्यते=परि-सम्
√आप्+कर्म०, लट्० ए० व०=अच्छी तरह समाप्त होता है। अन्त-
र्भाव हो जाता है ॥

अर्थ—हे श्रेष्ठ तप करने वाले (अर्जुन)! द्रव्यमय यज्ञ से, ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ होता है। हे पार्थ! सारा यावन्मात्र कर्म-वर्ग ज्ञान में अच्छी तरह समाप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—भगवान् कृष्ण अर्जुन को स्मरण कराते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम तो परंतप हो अर्थात् मुझ नारायण के साथ नर रूप में तप करने वाले हो और तप करना भी एक यज्ञ है इसलिए तुम भी यज्ञ करने वाले हो। और फिर तुम उस पृथा के पुत्र हो, जिसने सेवा-यज्ञ द्वारा ऋषियों, देवताओं और भगवान् को प्रसन्न किया था। इन दोनों कारणों से तुम ज्ञान-यज्ञ की महिमा से भली-भान्ति अवगत हो और यह भी जानते हो कि अग्नि में घृतादि हवि का विधि पूर्वक वितरण करना, दान देना, धन व्यय करके परोपकारार्थ कूआँ, नलकूप, बावली, तालाब, देवमन्दिर और धर्मशाला आदि बनवाना तथा बलिवैश्वदेव आदि सम्पूर्ण शुभ-कर्म द्रव्य-यज्ञ के अन्तर्गत हैं। इन सब कर्मों का करना बहुत उत्तम और अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला है। परन्तु इतना होने पर भी ज्ञान यज्ञ इससे श्रेष्ठ होता है क्योंकि द्रव्यमय यज्ञ फल का आरम्भ करने वाला है परन्तु ज्ञान-यज्ञ जन्मादि फल देने वाला नहीं है। सम्पूर्ण कर्म मोक्ष-साधन-रूप-ज्ञान में इसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जिस प्रकार सब ओर से परिपूर्ण जलाशय में सब की तृप्ति हो जाती है अर्थात् उन सब यज्ञों का ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु लोक हित के लिए मैं यह कहता हूँ कि द्रव्यों द्वारा किए गए यज्ञ तभी श्रेष्ठ होते हैं, जब वे ज्ञान-मिश्रित होते हैं। क्योंकि ज्ञानहीन द्रव्य-यज्ञ के करने से सांसारिक सुखों और स्वर्गादि की प्राप्ति भले ही हो जाती है परन्तु मोक्ष की प्राप्ति बिना ज्ञान नहीं होती है। द्रव्य-मय-यज्ञ से चित्त की शुद्धि होती है फिर चित्त में ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है और तब फिर मोक्ष प्राप्त होता है। परन्तु ज्ञान-यज्ञ सीधा परमात्मा से मेल करा देता है। शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्म ज्ञान-यज्ञ द्वारा भस्म हो जाते हैं। इससे फिर पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती है। श्रुति में कहा है—

"ज्ञानादेव तु कैवल्यम्।" अर्थात् ज्ञान से ही कैवल्य-मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार महासागर में जाकर सब नदी-नद विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान-सागर में जाकर सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं। अर्थात् उनका शुभ या अशुभ किसी प्रकार का भी फल ज्ञानी कर्ता को नहीं मिलता

जिससे स्वतः ही जन्म-मरण का झगड़ा मिट जाता है। ज्ञान सब कर्मों को निर्बीज कर देता है जिससे फिर ये कर्म जन्मते नहीं हैं। इसलिए ज्ञान यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ होता है। इन यज्ञ करने वाले अधिकारी लोगों के सम्बन्ध में श्रुति में कहा है—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन इति। धर्मेण पापमपनुदति ॥"

[अर्थ—ये अधिकारी ब्राह्मण लोग वेदों के पढ़ने से तथा यज्ञ, दान और तप के द्वारा उस आत्मदेव को जानने की इच्छा करते हैं। और ये अधिकारी लोग धर्म के द्वारा पाप को दूर कर देते हैं]।

सब प्रकार के कर्मों का सबसे बड़ा फल परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसमें मेल पाना है। फिर उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता ॥

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री ज्ञानेश्वर जी लिखते हैं—

हे अर्जुन ! वेदों में जो बाह्य क्रिया-विधान स्थल यज्ञ बतलाए गए हैं उनका अपूर्व फल स्वर्ग-सुख ही है। उन यज्ञों में केवल जड़ द्रव्यों का हवन होता है। इसलिए जिस प्रकार सूर्य के सामने सब तारों का तेज फीका पड़ जाता है उसी प्रकार इस ज्ञान-यज्ञ के सामने ये सब जड़ यज्ञ फीके पड़ जाते हैं और तुच्छ ठहरते हैं। जो ज्ञान स्फूर्ति की आँखों में दिव्य अञ्जन के समान होता है, जिसके मिलने पर योगी-जन यह समझते हैं कि परमात्म-सुख का गुप्त-भण्डार मिल गया है और इसीलिए जिसे योगी-जन कभी अपने से दूर नहीं होने देते जो ज्ञान प्रचलित कर्मों का अन्तिम फल, निष्कर्मता की खान और छटपटाने वाले साधकों का पूर्ण साधन है, जिस ज्ञान के प्राप्त होने पर कर्मों के प्रति होने वाला अनुराग दुर्बल हो जाता है, तर्क अन्धा होकर बैठ जाता है, इन्द्रियों को विषय-सेवन की बात भूल जाती है जिससे मन का मनत्व ही नष्ट हो जाता है, वाणी की वाग्मिता का अन्त हो जाता है, जो ज्ञान, वैराग्य की कामना पूरी कर देता है तथा विवेक का समाधान करता है और अनायास ही आत्म-तत्त्व के साथ भेंट करा देता है ॥"

इस श्लोक पर तिलक महाराज का प्रवचन इस प्रकार है—

"गीता में 'ज्ञान-यज्ञ' शब्द दो बार आगे भी आया है (गी० ९।१५ और १८।७०)। हम जो द्रव्य-मय यज्ञ करते हैं, वह परमेश्वर की प्राप्ति के लिए किया करते हैं। परन्तु परमेश्वर की प्राप्ति उसके स्वरूप का ज्ञान हुए बिना नहीं होती। अत एव परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, उस ज्ञान के अनुसार आचरण करके परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के इस मार्ग या साधन को 'ज्ञान-यज्ञ' कहते हैं। यह यज्ञ मानस और बुद्धिसाध्य है, अतः द्रव्यमय

की अपेक्षा उसकी योग्यता (महानता) अधिक समझी जाती है। मोक्ष-शास्त्र में ज्ञान-यज्ञ का यह ज्ञान ही मुख्य है और इसी ज्ञान से सब कर्मों का क्षय हो जाता है। कुछ भी हो, गीता का यह स्थिर सिद्धान्त है कि अन्त में परमेश्वर का ज्ञान होना चाहिए, बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता तथापि "कर्म का पर्यवसान ज्ञान में होता है।" इस वचन का यह अर्थ नहीं कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों को छोड़ देना चाहिए। अपने लिए नहीं, तो लोक-संग्रह के निमित्त कर्तव्य समझ कर सभी कर्म करने ही चाहिएँ; और जबकि वे ज्ञान एवं समबुद्धि से किए जाते हैं तब उनके पाप-पुण्य की बाधा 'कर्ता' को नहीं होती (देखो आगे ३७वां श्लोक)। और वह ज्ञान-यज्ञ मोक्ष-प्रद होता है। अतः गीता का सब लोगों को यही उपदेश है, कि यज्ञ करो, किन्तु उन्हें ज्ञान-पूर्वक निष्काम बुद्धि से करो॥"

देशपिता गान्धी जी लिखते हैं—

"परोपकार-वृत्ति से दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञान-पूर्वक न दिया गया हो तो बहुत बार हानि करता है, यह किसने अनुभव नहीं किया है? अच्छी वृत्ति से होने वाले सब कर्म तभी शोभा देते हैं, जब उनके साथ ज्ञान का मेल हो। इसलिए कर्म मात्र की पूर्णाहुति तो ज्ञान में ही है॥" ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

तत्+विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्+ज्ञानिनः+तत्त्व-दर्शिनः॥

तत्=(सर्व० वि०) तत्+(नपुं०) द्वितीं० ए० व०=उस (ज्ञान) को।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व० =(तू) जान। [विजानीहि]।

[येन विधिना प्राप्यते इति आचार्यान् अभिगम्य=(वह ज्ञान) जिस विधि से प्राप्त होता है, (उसे जानने के लिए) आचार्यों के समीप जाकर।]

प्रणिपातेन=(पुं०) प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातः (=दीर्घ-नमस्कारः), तेन। प्र-नि√पत् (भ्वा० पर० अक०=गिरना)+भावे घञ्=प्रणिपात+तृती० ए० व०=दण्डवत् प्रणाम द्वारा। चरणों में शीश झुकाने से।

परिप्रश्नेन=(पुं०) कथं बन्धः? कथं मोक्षः? का विद्या? का अविद्या? इति परिप्रश्नेन शरीर का बन्धन कैसे हुआ?, मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी?, विद्या क्या है?, अविद्या क्या है? इस प्रकार निष्कपट भाव

से प्रश्न करने द्वारा। परि√प्रच्छ् (तुदा० पर० सक०=पूछना। प्रश्न करना)+भावे नङ्+तृती० ए० व०=बार बार प्रश्न करने से।

सेवया=(स्त्री०) गुरु-शुश्रूषया।√सेव् (भ्वा० उभ० सक०=सेवा करना) +भावे अङ्+टाप्=सेवा+तृती० ए० व०=सेवा से। (गुरु की यथा योग्य) सेवा करने से।

उपदेक्ष्यन्ति=उप√दिश् (तुदा० उभ० सक०=कहना। बतलाना)+लृट्० प्र० पु०, ब० व०=उपदेश करेंगे।

ते=(सर्व०) युष्मद्+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिये। तुझको। अथवा—(सर्व०) तद्+प्र० ब० व०=वे (ज्ञानी तत्त्व-दर्शी-लोग)।

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+द्विती० ए० व०=ज्ञान को। ज्ञानिनः=(वि०) पुं०। ज्ञान+इनि=ज्ञानिन्+प्र० ए० व०=ज्ञानी लोग। आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किए हुए लोग।

तत्त्व-दर्शिनः=(वि०) तत्त्व-दर्शन-शीलाः। तत्त्वदर्शिन्+(पुं०) प्र० ब० व० =तत्त्व को जानने वाले। यथार्थ तत्त्व को जानने वाले।

[ज्ञानवान् भी कोई-कोई ही यथार्थ तत्त्व को जानने वाले होते हैं, सब नहीं होते। इसलिए ज्ञानी के साथ तत्त्वदर्शी विशेषण लगाया है। यथार्थ तत्त्व को जानने वाले ही ज्ञान का उपदेश करने में समर्थ होते हैं] ॥

अर्थ—उस ज्ञान को (तू) नम्रता पूर्वक प्रणाम के द्वारा, (सरलता पूर्वक कपट छोड़कर, आचार्यों के समीप जाकर) प्रश्न करने से और उनकी सेवा करने से सीख। (इससे) परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले वे ज्ञानी लोग तेरे लिए (यथार्थ) ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

व्याख्या—यदि किसी सांसारिक गुण या विद्या को कोई व्यक्ति सीखना चाहे तो उसके लिये शास्त्रों और राजनीति में तीन ढंग कहे गए हैं—यथा—

'गुरु-शुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नैव कारणम् ॥"

अर्थात् गुरु की सेवा करने से विद्या प्राप्त होती है अथवा बहुत सा धन पास हो तो उसको व्यय करके विद्या सीखी जा सकती है कि वा अपनी विद्या दूसरे को सिखा दी जाए और उसके बदले में दूसरे की विद्या सीख ली जाए। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा और कोई ऐसा ढंग या साधन नहीं है, जिसके द्वारा दूसरे से विद्या सीखी जा सके। परन्तु जो लोग तत्त्व-दर्शी और ब्रह्म-ज्ञानी होते हैं उनको धन की कोई आवश्यकता ही नहीं होती; न वे

इस ब्रह्मविद्या के बिना और किसी विद्या को सीखने की आकांक्षा करते हैं। इसलिए ब्रह्म-ज्ञान को सीखने के लिए ये दोनों ढग निष्फल और नाकारा सिद्ध होते हैं। ले देकर केवल एक तीसरा ढंग ही रह जाता है जिसके द्वारा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए भगवान् ने इस श्लोक में कहा है। वह ढंग है 'गुरु की सेवा'। और उसकी विधि भगवान् इस प्रकार बतलाते हैं—सबसे पहले यह पता लगाया जाए कि जिस ज्ञानी आचार्य से मैं ज्ञान सीखना चाहता हूँ वह केवल कोरा ज्ञानी नामधारी ही है या विद्वान् होने के साथ ही तत्त्वदर्शी भी है। क्योंकि सारे ज्ञानवान् तत्त्व को जानने वाले नहीं होते हैं, यथार्थ तत्त्वदर्शी ही यथार्थ ज्ञान का उपदेश करने में समर्थ होते हैं। जब एक बार ठीक गुरु का चयन कर लिया जाए तो फिर उसको भगवान् तुल्य समझा जाए। कबीर ने सद्गुरु को भगवान् से भी प्रथम-पूज्य बतलाते हुए कहा है—

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े का के लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपनो गोबिन्द दिया मिलाय॥"

अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करा देने वाला गुरु गोविन्द से भी अधिक माननीय होता है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी तत्त्वदर्शी पुरुष को गुरु मान कर सभ्यता और अत्यन्त नम्रता से उसके समीप जाना चाहिए। और नम्रता पूर्वक प्रणाम करके उसके सामने फल-फूल, पताशे मिश्री आदि भेंट रखनी चाहिए। तब उनकी आज्ञा पाकर पृथिवी पर ही बैठ जाना चाहिए। जब वे प्रसन्न-वदन और अच्छी तरह सुनने के मूड में हों तो उनके पूछने पर, ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए, छल-कपट से रहित होकर सरलतापूर्वक प्रार्थना करनी चाहिए। हे अर्जुन! यदि वह तत्त्व-दर्शी ब्रह्म-ज्ञानी तेरे प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से प्रसन्न हो जाएगा तो वह महात्मा तुझे यथार्थ ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश देगा जिसके अनुसार अनुसरण और आचरण करके तू जन्म-मरण से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाएगा। ये ब्रह्मज्ञानी तत्त्वदर्शी लोग सर्वज्ञ और अत्यन्त दूरदर्शी होते हैं। ठीक ढंग से नम्रता पूर्वक दण्डवत् प्रणाम करने, निष्कपट सेवा करने तथा नम्रता और सरलता से प्रश्न करने से शिष्य के अन्तर्भाव को भली-भान्ति समझ लेते हैं। और फिर उस पर कृपा करते हुए ब्रह्मज्ञान का उपदेश रूपी अमृत बरसा देते हैं जिससे जिज्ञासु शिष्य का बेड़ा पार हो जाता है।

फिर भगवान् अर्जुन से कहते हैं—कि हे अर्जुन! मैंने परम-तत्त्व की बात बार बार तुझ से कही है। परन्तु तेरे हृदय में अभी तक सन्देह बना हुआ है। इसलिए इस परमपवित्र परमात्म-ज्ञान को समझने के लिए तुम तत्त्वदर्शी, ब्रह्मज्ञानी महात्माओं की सेवा के लिए उनकी शरण में जाओ।

इस बात को भली-भाँति समझ लो कि वे तत्त्वदर्शी ब्रह्मज्ञानी लोग तेरे प्रणिपात से, सेवा और सरलता से शिष्य रूप में प्रश्न पूछने से तुझे उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करेंगे जिसके द्वारा तू ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाएगा। श्रुति कहती है—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति।" (मुण्ड० १।३।१२)

[अर्थ—उस आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्म-ज्ञान को जानने के लिए अधिकारी जिज्ञासु पुरुष (कन्द-मूल, मिठाई, फल-फूल, एला, सुपारी, वस्त्र, रुपया) समिधा इत्यादि भेंट नम्रता पूर्वक हाथों पर रखकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ (तत्त्व-दर्शी ब्रह्मज्ञानी) गुरु के पास जाए।]

जिन पुरुषों को संशय, विपरीत-भावना से रहित आत्मा का साक्षात्कार हुआ है उनका नाम तत्त्वदर्शी है। सेवा से भाव यह है कि ज्ञानी के पास श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक रहकर उसकी आज्ञा का पालन किया जाए तथा उसके मानसिक भावों को समझ कर उसको सुख पहुँचाने का प्रयत्न किया जाए जिससे वह शिष्य पर प्रसन्न होकर वात्सल भाव को प्राप्त हो जाता है। जैसे वात्सल भाव से परिपूर्ण हृदय वाली माता के स्तनों में वत्स के लिए दूध उतर आता है इसी प्रकार प्रसन्न हुए गुरु का हृदय ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश योग्य वचनों से भर जाता है और शिष्य के उपकार के लिए वचनामृत की वर्षा होने लगती है ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

यत्+ज्ञात्वा न पुनः+मोहम्+एवम्+यास्यसि पाण्डव! येन भूतानि +अशेषेण द्रक्ष्यसि+आत्मनि+अथो मयि ॥

यत्=(सर्व०) यद्+द्विती० ए० व०=जिसको। यद् ज्ञानं तैः उपदिष्टम्। उनके द्वारा बतलाए हुए जिस ज्ञान को।

ज्ञात्वा=√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+क्त्वा=जानकर। अभिगम्य। प्राप्य।

न, पुनः=(अव्यय) न फिर। नहीं फिर। मोहम्=(पुं०) मोह+द्विती० ए० व०=मोह को। व्याकुलता को। घबराहट को।

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार।

[यथा इदानीं मोहगतः असि, पुनः एवं न=तू अब जिस प्रकार मोह को प्राप्त हुआ है फिर इस प्रकार नहीं]।

यास्यसि=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना। प्राप्त होना)+लृट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) प्राप्त होगा।

पाण्डव !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे पाण्डु के पुत्र (अर्जुन) !

[यद्यपि तू पाण्डव या पाण्डु का पुत्र कहलाता है परन्तु वास्तव में तो तू देव-लोक के अधिपति इन्द्र का पुत्र है अर्थात् देवता है जिससे तू कभी मोह-ग्रस्त नहीं हो सकता है। परन्तु केवल लोक दिखावे के लिए ही तू मोह को प्राप्त हुआ है ताकि गीता-ज्ञान के द्वारा संसार का कल्याण हो सके।]

येन=(सर्व०) यद्+(नपुं०) तृती० ए० व०=येन (ज्ञानेन)=जिन ज्ञान से।

[सर्वव्यापी परमात्म-रूप हुआ तू]

भूतानि=(नपुं०) भूत+द्विती० ब० व०=भूतों को। अशेषेण=(वि०, नञ् तत्पु०) पूर्णतया। पूरी तरह से। सम्पूर्ण। तृती० ए० व०।

द्रक्ष्यसि=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लृट्०, म० पु०, ए० व०= (तू) देखेगा।

आत्मनि=(पुं०) आत्मन्+सप्त० ए० व०=अपने में।

अथो=(अव्यय) उसके बाद। तदनन्तर। और।

मयि=(सर्व०) अस्मद्+ सप्त० ए० व०=मुझ में। मुझ पर-ब्रह्म में।

अर्थ—हे पाण्डुपुत्र (अर्जुन) ! [उनके द्वारा बतलाए हुए] जिस (ज्ञान) को जान कर तू इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा [जिस प्रकार अब तू मोह को प्राप्त हुआ है] और फिर जिस ज्ञान के द्वारा तू पूर्णतया सब भूतों को [अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों को] अपने में और मेरे में देखेगा। [अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा रूप हुआ जीवात्मा और ईश्वर की प्रसिद्ध एकता को प्रत्यक्ष अनुभव करेगा।। ३५ ।।

व्याख्या—हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! वास्तव में तुम इन्द्रपुत्र या देवता हो। अतः तुम्हारा यह मोह प्राप्त होना केवल दिखलावा मात्र है ताकि गीता-ज्ञान के द्वारा संसार का कल्याण हो सके।

जब तू तत्त्वदर्शी ब्रह्मज्ञानी पुरुषों से ब्रह्मज्ञान सीख कर उसको अपनी आत्मा में धारण कर लेगा तथा उसमें परिपक्व और दृढ़ निश्चय वाला हो कर सब ओर एक ही व्यापक परमात्मा को देखने लगेगा तो तेरा अपना और पराया कोई भी न रहेगा। न कोई शत्रु होगा, न कोई मित्र होगा। ताया, चाचा, पिता, पितामह, श्याला, भाई प्रभृति सभी साक सम्बन्धी और बान्धव केवल एक ब्रह्म के रूप में दृष्टिगोचर होंगे। तब पंचतत्त्व निर्मित शरीरों का

दृश्यमान रूप दृष्टि-अगोचर हो जायेगा। सब भूत केवल परमात्मा से ओत-प्रोत ही भासमान होंगे। उस समय ये सब सन्धि-विग्रह, सुलह-जंग आदि परमात्मा के खेल ही दृष्टि-गोचर होंगे। उस समय तू आत्मा और परमात्मा में अभिन्नता हो जाने के कारण ऐसा कहने लगेगा—

"गाह व गाह मैं बामे दुनिया का तमाशा देखता,
गाह व गाह मैं वहशियों की सी लगाता हूँ सदा।
बादशाह दुनिया के मोहरे हैं मेरी शतरंज के,
दिल-लगी की चाल हैं सब रंग सुलह जंग के॥"

तुम्हें दोनों द्वन्द्वी पक्षों में एक ही शक्ति कार्य करती हुई दिखाई देगी। फिर तुम्हें न कोई मरने वाला और न मारने वाला दिखाई देगा। यह तेरी देह भी तुझे अपने से भिन्न भासमान होगी जो केवल आत्मा का वाहन रूप होकर ही रह जाएगी। जैसे कोई व्यक्ति मोटर पर चढ़ कर उसे चलाता है उसी प्रकार यह देह भी आत्मा की मोटर मात्र ही होकर रह जाएगी जिसे वह ड्राइवर की तरह चलाता रहता है। इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त भूत-प्राणियों में आत्मा को तू इसी रूप में देखेगा। चूंकि आत्मा अनादि, अजन्मा, अखण्ड और एक-रस है। इससे तुझे तेरी अपनी आत्मा और अन्य सब भूतों की आत्मा एक ही दीखेगी। अर्थात् सर्व-व्यापक और अखण्ड एक ही आत्मा सब प्राणियों में खेलती हुई दिखाई देगी जो अकर्त्ता और अभोक्ता होने से परमात्मा कहलाती है। जब तेरी यह अवस्था हो जाएगी, तो फिर तू कभी इस प्रकार के मोह को प्राप्त हुआ दिखाई नहीं देगा जिस प्रकार मोह को प्राप्त हुआ इस समय दिखाई दिया है। यह धर्म-युद्ध का समय है। इसलिए सब भूतों की आत्मा और अपनी आत्मा को एक ही समझ कर इस खेल को सहर्ष खेल। इस प्रकार तू ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर अपनी आत्मा के रूप में सब भूतों की आत्मा को देखेगा। अर्थात् अपनी आत्मा और अन्य भूतों की आत्मा को उसी प्रकार एक ही समझ लेगा जिस प्रकार लाखों करोड़ों दर्पणों में एक ही सूर्य के प्रतिविम्ब अलग-अलग दिखाई देने पर भी वास्तव में वे एक ही सूर्य के होते हैं। इसी प्रकार एक ही परमात्मा के प्रतिबिम्ब आत्मा रूप में प्रत्येक भूत-प्राणी में व्यापक हो रहे हैं। अथवा जिस प्रकार एक ही वायु सर्वत्र व्यापक है केवल भेद इतना है कि वह जिस-जिस घट में बन्द है उसी उसी की वायु कहलाती है। इस बात को भली भाँति समझ कर अच्छी तरह अनुभव कर लेना ही पूर्णतया सब भूतों को अपने में देखना कहलाता है और सम्पूर्ण भूतों में पूर्णतया परमात्मा

का प्रतिबिम्ब आत्मा के रूप में जान लेना ही परमात्मा में सब भूतों को देखना है।

चूंकि भगवान् कृष्ण पूर्ण-ब्रह्म हैं इस लिए यहाँ उन्होंने 'मयि' पद अर्थात् 'मेरे में' का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है "मुझ परमात्मा में सब भूतों को देखता है"। जिस प्रकार रात्रि के समय सब जगह फैला हुआ अन्धकार सूर्य के उदय होने पर दूर हो जाता है उसी प्रकार परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सब प्रकार की मोहमाया और अज्ञानान्धकार दूर हो जाते हैं। जैसा कि श्रुति में कहा है—

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः ? कः शोकः ? एकत्वमनुपश्यतः ॥"

(ईश० उ० ७)

[अर्थ—जब तत्त्वज्ञान को भली भाँति जानते हुए पुरुष के लिए सारे भूत-प्राणी केवल अपना ही रूप हो जाते हैं तब उस एकदर्शी पुरुष को क्या मोह और कौनसा शोक हो सकता है ? अर्थात् उसके सब प्रकार के मोह और शोक दूर हो जाते हैं।] प्रकृति के संसर्ग को छोड़ कर सब भूत सम हैं जैसा कि "मुण्डक० ३।३" में कहा है—"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।" अर्थात् नाम, रूप से रहित आत्मा, परमात्मा की समता को प्राप्त होती है।

जिसे आत्मदर्शन हो जाता है वह अपने और दूसरे की आत्मा में भेद नहीं देखता है और सब ओर उसे परमात्मा ही सब आत्माओं में प्रतिबिम्बित हुआ दृष्टिगोचर होता है ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६॥

अपि चेत्+असि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप-कृत्+तमः। सर्वम्+ज्ञान-प्लवेन+एव वृजिनम्+सन्तरिष्यसि।

अपि=(अव्यय) पा+इण्, आकार लोप=भी। (नञ्०)। चेत्=(अव्यय) यदि।

असि=√अस् (अदा० पर० सक०=होना)+लट्० म० पु०, ए० व०=(तू) है।

पापेभ्यः=(पुं०) पापकृद्भ्यः। पापियों से। पाप करने वालों से। पंच० ब० व०।

सर्वेभ्यः=(सर्व०) वि०, सर्व+(पुं०) पंच०, ए० व०=सबसे।

पाप-कृत्+तमः=(पुं०) अतिशयेन पाप-कृत्। प्र० ए० व०=अधिक पाप करने वाला।

सर्वम्=(सर्व० वि०) सर्व+द्वितीο एο वο=सबको। सारे को।
ज्ञान-प्लवेन=(पुं० नपुं०) ज्ञानम् एव प्लवः तेन (कर्मधा०)=ज्ञान रूपी नाव या बेड़े से। तृती० एο वο। ज्ञान रूप पनडुब्बी द्वारा।
एव=(अव्यय) ही। निःसन्देह। भी। तो भी। वृजिनम्=(नपुं०)√वृज् (अदा० आत्म०, रुधा०, चुरा० पर० सक०=प्रायश्चित्त करना, त्यागना) +इनश्च, किस्व=वृजिन+द्विती० एο वο वृजिन को। पाप को। पाप रूप समुद्र को।
संतरिष्यसि=सम्√तॄ (भ्वा० पर० सक०=पार होना। तैर जाना)+ लृट्०, म० पु०, एο वο=तू भली-भाँति तैर जाएगा। अच्छी तरह पार उतर जाएगा॥ [श्री स्वामी शंकराचार्य जी लिखते हैं—"धर्मः अपि इह मुमुक्षोः पापम् उच्यते"—अर्थात् वास्तव में मुमुक्षु जन कोई पाप तो करता ही नहीं है केवल धर्म के कार्य ही करता है और वे धर्म के कार्य भी सुख भोगने के लिए जन्म का कारण बन जाते हैं जिससे धनी और सुखी लोग महा-पाप कर्मों में रत हो जाते हैं। इस मुमुक्षु के लिए यहाँ धर्म भी पाप ही कहा जाता है।]

अर्थ—यदि (तू अन्य) सब पापियों से भी अधिकतम पाप-कर्म करने वाला है तो भी तू इस ज्ञान रूप पनडुब्बी या बेड़े द्वारा सम्पूर्ण पाप (समूह रूप महासागर) को तैर कर पार हो जाएगा॥ ३६॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! वास्तव में तुम पापी नहीं हो, क्योंकि तुम मुझे सच्चिदानन्द घन परमात्मा कृष्ण के सखा हो और प्रिय भक्त हो। जो तुमने पहले अध्याय के श्लोक ३६ में कहा है कि "पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः" अर्थात् इन आततायियों को मार कर हमें पाप ही लगेगा।

पहले तो यह बात ही ठीक नहीं है क्योंकि—

"धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते" (गी० २।३६)

अर्थात् क्षत्रिय के लिये धर्म-युद्ध से बढ़ कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्म नहीं है। इसलिए इन आततायियों को युद्ध में मार कर तू अपने क्षत्रिय-धर्म का ही पालन करेगा। तुझे कोई पाप न लगेगा। हे निष्पाप! भला यदि तू पहले ही अपने आपको पापी समझता है क्योंकि तेरे द्वारा खाण्डव-वन जलाने से कई प्राणियों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे। लाक्षागृह को भी तुम लोगों ने स्वयं आग लगाई थी जिसमें विरोचन तथा भिक्षु स्त्री और उसके पाँच साथी जल मरे थे। निरपराध एकलव बेचारे के दायें हाथ का अंगूठा

भी तुमने ही कटवाया था। हे धनंजय ! राजसूय यज्ञ के लिए बहुत से राजाओं से युद्ध करके धन एकत्रित करने वाले भी तुम ही तो थे। यदि अपने इन कर्मों और इन जैसे अन्य कृत्यों के कारण तुम अपने को "सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृत्तमः।" मान रहे हो, तो भी चिन्ता न करो। क्योंकि तत्त्वदर्शी ब्रह्मज्ञानियों से सीखा हुआ ब्रह्मज्ञान उस नाव या पनडुब्बी के समान होता है जो घोर महानतम जलराशि में भी डूबती नहीं है। जब शत्रु भी उस पर आक्रमण करता है तो वह पानी में गोता लगाकर आगे बढ़ती रहती है। सारे पापों का समूह एक विशाल और गहरे महासागर के समान है। जिस प्रकार नेता जी पनडुब्बी में बैठकर जर्मनी से जापान में सुखपूर्वक पहुँच गए थे इसी प्रकार तू भी इस पाप-सागर को इस ज्ञान प्लव(=पनडुब्बी) द्वारा तैर कर इस मृत्यु लोक से ब्रह्म-लोक में पहुँच जायेगा। इंगलैण्ड, अमेरिका आदि में जानेवालों की तरह वहाँ तुम्हें कोई रोक टोक भी न सकेगा। क्योंकि सद्गुरु प्रदत्त ज्ञान रूपी पार-पत्र (बीजा, परवाना राहदारी, पास्पोर्ट या इंट्री) तेरी नाव के झण्डे पर लिखा हुआ होगा। क्योंकि शुभाशुभ सब कर्मों के बन्धन इस मृत्यु-लोक में ही, यहाँ से जाने से पहले ज्ञानाग्नि में दग्ध हो चुके होंगे। इसलिए तुम्हें सब प्रकार से निःशंक हो जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक श्रुति इस प्रकार है— "तरति शोकमात्मवित्" अर्थात् आत्म-वेत्ता या ज्ञानी-पुरुष सारे संसाररूप शोक या पाप-सागर को तैर जाता है ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

यथा+एधांसि समिद्धः+अग्निः+भस्मसात्+कुरुते+अर्जुन! ज्ञान+अग्निः+सर्वकर्माणि भस्मसात्+कुरुते तथा ॥

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=यथा। जैसे। जिस प्रकार।

एधांसि=(नपुं०)√इन्ध् (रुधा० आत्म० सक०=जलना)+असि=एधस्+द्विती० ब० व०=ईंधनों को। जलाने की लकड़ियों को। काष्ठ समूहों को।

समिद्धः=(वि०) सम् √इन्ध्+क्त (कर्तरि)=समिद्ध+(पुं०) प्र० ए० व० =अच्छी तरह जलती हुई। प्रदीप्त। प्रज्वलित। भली भाँति चमकती हुई।

अग्निः=(पुं०) अग्नि+प्र० ए० व०। अग्नि।

भस्मसात्=(अव्यय) भस्मन्+साति=भस्मसात्। सम्यक् भस्मीभूत। भस्म रूप। राख रूप। भस्ममय।

कुरुते=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लट्० आत्म० प्र० पु०, ए० व०
=कर देती है ।
अर्जुन !=(पुं०) (सम्बो० ए० व०=हे अर्जुन !
ज्ञान+अग्निः=(पुं०) कर्मधारय स० । ज्ञानम् एव अग्निः । प्र० ए० व० । ज्ञान रूप अग्नि ।
सर्व-कर्माणि=(नपुं) सर्वाणि कर्माणि । द्विती० ब० व० । सब कर्मों को । शुभ और अशुभ सब कर्मों को ।
भस्मसात्=(अव्यय) भस्मरूप । निर्बीज । नष्ट ।
कुरुते=√कृ+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कर देती है ।
तथा=(अव्यय) तद्+थाल् । वैसे ही । उसी प्रकार ।

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनों (जलाने की लकड़ियों) को भस्म-रूप कर देती है उसी प्रकार ज्ञान-रूप अग्नि समस्त (शुभाशुभ) कर्मों को भस्म (नष्ट या निर्बीज) कर देती है ॥३७॥

व्याख्या—जिस प्रकार रात्रि के घोर अन्धकार में सब प्राकृतिक पदार्थ, झाड़ झंकार, मिट्टी के तोदे, खण्डहर, वृक्षों के स्थाणु, और टीले आदि—देव, दनुज, भूत, प्रेत, पिशाच, चुड़ैल, सिंह, बाघ और चोर, डाल आदि बन कर दृष्टिगोचर होने लगते हैं, और प्राणी के भय का कारण बन जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य अज्ञानावस्था में अपने शरीर को ही सब कुछ मानने लगता है और उसको सदा अमर और स्थिर रखने के लिए सब प्रकार के पाप-पुण्य कर्म करता है तथा मोह-माया, अज्ञान, अभिमान आदि द्वन्द्वों में ग्रस्त रहता है जिससे जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ दुःख-सुख भोगता रहता है । मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों की तृप्ति और प्रसन्नता चाहता रहता है । आत्मा को इनसे अलग करने का कोई प्रयत्न नहीं करता ।

जब तक जड़-चेतन की एकता रूप हृदय ग्रन्थि बनी रहती है तब तक संचित और क्रियमाण कर्मों का नाश नहीं होता । प्रारब्ध-कर्म शरीर के नाश के साथ ही समाप्त होते हैं । परन्तु जब ज्ञान-रूप प्रचण्ड-अग्नि जल उठती है तो अज्ञान-रूप-अन्धकार और संचित कर्मों के देव-दनुज, भूत-प्रेत और सिंह-बाघादि उसमें गिरकर सूखे काष्ठ समूहवत् भस्म रूप हो जाते हैं अर्थात् विनष्ट, विलीन और निर्बीज हो जाते हैं । श्रुति में कहा है—

"भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥" (मु० उ० २।२।८)

[**अर्थ**—उस परावर अर्थात् ब्रह्मादिक देवताओं से भी अत्यन्त उत्कृष्ट परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर जड़-चेतन की एकता रूप हृदय-ग्रन्थि टूट

जाती है तथा संपूर्ण संशयों का नाश हो जाता है फिर जिसके फलस्वरूप (प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर) शेष सम्पूर्ण कर्म विनष्ट हो जाते हैं]।

यह बात भली-भान्ति समझ लेने योग्य है कि सब कर्म तीन श्रेणियों में विभक्त हैं—

१—**प्रारब्ध-कर्म**—जो पूर्व जन्म में अर्जित और संचित हुए थे और जिनके फलस्वरूप वर्तमान जन्म प्राप्त हुआ है उन प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति वर्तमान शरीर की समाप्ति के साथ ही होगी अन्यथा किसी भी तरह से या किसी भी काल में नहीं होगी।

२—**संचित-कर्म**—जो इस जन्म में अब तक एकत्रित किए जा चुके हैं। जैसे कृषक गेहूँ काटकर उसके दानों या बीजों को चिरकाल तक बोरियों में बन्द किये रखता है और वे बीज समय आने पर नमी, गर्मी, वायु और उचित परिस्थिति पाकर अंकुरित हो जाते हैं और बढ़कर पौधों का रूप धारण कर लेते हैं इसी प्रकार संचित कर्म भी समय पाकर जन्म का कारण बन जाते हैं और फिर प्रारब्ध कर्मों का रूप धारण कर लेते हैं।

३—**क्रियमाण-कर्म**—जो कर्म अब किए जा रहे हैं वे भविष्य में संचित कर्मों का रूप धारण कर लेंगे। वर्तमान समय में वे खेतों में बोई हुई कच्ची खेती के समान हैं। ज्ञान हो जाने पर प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर शेष सब कर्मों का नाश जीवन-काल में ही हो जाता है और प्रारब्ध कर्म मरणकाल में निःशेष हो जाते हैं। उस समय ये सब कर्म भुने हुए बीजों के समान बन जाते हैं जो फिर कभी अंकुरित नहीं हो सकते। यही बात श्री व्यास भगवान् ने ब्रह्मसूत्रों में कही है—"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-विनाशौ तद् व्यपदेशात्।" (ब्रह्म० ४।१।१३)

[**अर्थ**—"मैं ब्रह्म रूप हूँ" इस प्रकार के आत्मसाक्षात्कार के हो जाने पर इस ब्रह्मज्ञानी पुरुष के पूर्व-संचित पापों और कर्मों का अश्लेष और नाश हो जाता है और—"यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।" (छा० ४।१४।३)

[**अर्थ**—क्रियमाण कर्म ब्रह्म ज्ञानी को इस तरह स्पर्श नहीं करते जैसे जल में स्थित पद्मपत्र को जल स्पर्श नहीं करता]।

परन्तु प्रारब्ध कर्म तो बिना भोगे नाश नहीं होते, जैसा कि महर्षि व्यास ने ब्रह्मसूत्र ४।१।१९ में कहा है "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यन्ते।"

[**अर्थ**—संचित और क्रियमाण कर्मों के बिना प्रारब्ध कर्मों को भोग लेने से अर्थात् उनको समाप्त करके ज्ञानी पुरुष विदेह मुक्ति को प्राप्त होते हैं।]

श्रुति में कहा है—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।"

[अर्थ—उस ज्ञानी पुरुष को विदेहमोक्ष की प्राप्ति होने में उतने समय तक की ही देर है जब तक प्रारब्ध कर्मों को भोग कर यह शरीर समाप्त नहीं होता] ।

ज्ञानी के संचित कर्मों का नाश तो होता ही है यथा श्रुतिः—"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते ।"

(छां० ५।२४।३।।)

[अर्थ—जैसे इषीका अर्थात् सरकण्डे (पंजाबी काने) के सिर पर उगी हुई रूई अग्नि में डाली हुई (शीघ्र ही) जल जाती है, वैसे ही इस (ज्ञानी पुरुष) के सब पाप-कर्म भस्मसात् हो जाते हैं ।।]

महर्षि व्यास जी ब्रह्मसूत्र ४।१।१४ में कहते हैं—इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।"

[अर्थ—और (पाप कर्मों के अतिरिक्त) दूसरे अर्थात् पुण्य कर्म वैसे ही उस (ज्ञानी) को लिप्त नहीं करते तथा मरने पर मुक्ति मिल जाती है ।]

इसलिए हे अर्जुन ! तू भी ज्ञानाग्नि में सब कर्मों को भस्म होने दे और प्रारब्ध कर्मों का भोग करते हुए क्षत्रियधर्म का पालन करते हुए युद्ध करके मोक्ष को प्राप्त कर ।।३७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।

न हि ज्ञानेन सदृशम्+पवित्रम्+इह विद्यते । तत्+स्वयम्+योग-संसिद्धः कालेन+आत्मनि विन्दति ।।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

हि=(अव्यय) निःसन्देह । ही ।

ज्ञानेन=(नपुं०) ज्ञान+तृती० ए० व०=ज्ञान के [सदृश (तुल्य) के योग से ज्ञान में तृतीया विभक्ति हुई है]

सदृशम्=(वि० अव्यय) समानं दर्शनम् अस्य । समान√दृश्+घञ्, समानस्य सादेशः=सदृश+(नपुं०) ए० व०=सदृशम्=समान । तुल्य ।

पवित्रम्=(वि०)√पू (पवित्र करना)+इत्र=पवित्र+(नपुं०) प्र० ए० व० =पवित्र करने वाला । पावन करने वाला । शुद्ध करने वाला । निर्मल । पवित्र । शुद्ध ।

इह=(अव्यय) इस लोक में । यहाँ ।

विद्यते=√विद् (दिवा० आत्म०, अक०=होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =है ।

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको। उस (ज्ञान) को।
स्वयम्=(अव्यय) अपने पाप। स्वयम्।
योग-संसिद्धः=(वि०) योगेन (=कर्म-योगेन समाधि-योगेन वा) संसिद्धः= कर्म-योग या समाधि-योग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष। योग से पूर्णतया सिद्ध हुआ पुरुष।
कालेन=(पुं०) काल+तृती० ए० व०=बहुत समय बीतने पर। समय पाकर। बहुत काल द्वारा।
आत्मनि=(पुं०) आत्मन्+सप्त० ए० व०=अपनी आत्मा में। अपने में।
विन्दति√विद् (तुदा० उभ० सक०=पाना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०= पाता है। पा लेता है (अर्थात् साक्षात्कार किया करता है। अनुभव करता है।

अर्थ—इस लोक में ज्ञान के तुल्य शुद्ध या पवित्र करने वाला निःसन्देह (और कुछ भी) नहीं है। कर्म-योग या समाधि-योग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष स्वयं अपनी आत्मा में ही बहुत काल व्यतीत हो जाने से उस ज्ञान को पा लेता है (अर्थात् साक्षात्कार कर लेता है) ॥३८॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस संसार में इस ब्रह्मज्ञान समान मनुष्य को पापों से पवित्र करने वाला तथा जन्म-बन्धन से छुड़ाने वाला दूसरा और कोई उपाय नहीं है। इस आत्म-ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे उपासनादिक जितने भी उपाय हैं वे इतनी जल्दी अज्ञान के नाश करने वाले नहीं हैं। सब पाप-कर्मों का मूल कारण अज्ञान ही होता है जो बिना ज्ञान की प्राप्ति के किसी प्रकार भी दूर नहीं होता। और उसके दूर हुए बिना जीव का कल्याण नहीं होता। ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगी को चिरकाल तक पूर्वोक्त कर्म-योग या समाधि-योग का आचरण करके अन्तःकरण को शुद्ध करना परमावश्यक है जिससे समय पाकर मनुष्य को स्वयं आत्मा में ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। बिना अन्तःकरण की शुद्धि हुए आत्मज्ञान कदापि प्राप्त नहीं होता। यज्ञ करना, दान देना, तप, जप, सेवा, संयम, शम, दम, पूजा पाठ, तर्पण, अर्चन और तीर्थयात्रादि सब शुभ-कर्म अन्तःकरण की शुद्धि करने वाले होते हैं जिनको निष्काम भाव से करने के फलस्वरूप हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है जिससे साधक आत्मस्वरूप को भली भाँति जान लेता है और वह कर्मों के बन्धन से रहित हो जाता है। प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति हो जाने से तथा संचित और क्रियमाण कर्मों के ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाने से पुनर्जन्म का बन्धन टूट जाता है जिससे परमात्मा से मेल होकर परमपद की प्राप्ति हो जाती है। जो ब्रह्म सर्वव्यापक सर्व-शक्तिमान्, निराकार, निर्विकार है उसके

स्वरूप का साक्षात्कार करानेवाला तथा उसके स्वरूप में मेल करनेवाला एक-मात्र ब्रह्म-ज्ञान ही है। इसलिए ज्ञान से अधिक पवित्र करनेवाला और कोई दूसरा साधन संसार में नहीं है। क्योंकि यह ज्ञान

"पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्।
देवतानां च देवानां भूतानां योऽव्ययः पिता ॥'

को दर्शानेवाला है तथा कर्मों के फल की निवृत्ति कराकर परम-पद का दिलाने वाला है ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान्+लभते ज्ञानम्+तत्+परः संयत+इन्द्रियः ज्ञानम्+लब्ध्वा पराम्+शान्तिम्+अचिरेण+अधिगच्छति ॥

श्रद्धावान्=(वि०, पुं०) श्रत्√धा+अङ्+टाप्=श्रद्धा=(स्त्री०) एक प्रकार की मनोवृत्ति, जिसमें किसी पूज्य के लिए भक्ति पूर्वक विश्वास के साथ उच्च और पूज्य भाव उत्पन्न होता है। प्यार-पूर्वक विश्वास भावना। श्रद्धा+वत् (=श्रद्धा अस्य अस्मिन् वा अस्ति सः। बहुव्री०)=श्रद्धावत् +(पुं०) प्र०, ए० व०=श्रद्धावान्। श्रद्धावाला। श्रद्धालु।

लभते=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त करता है। पाता है।

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+द्विती० ए० व०=ज्ञान को।

तत्+परः=(वि०) तस्मिन् परः (तत्पु०) तद्+पर=तत्पर+(पुं०) प्र०, ए० व०=तत्पर हुआ। उस परमात्मा में परायण। तल्लीन हुआ। प्रयत्नशील।

[श्रद्धालुत्वे अपि भवति कश्चिद् मन्द-प्रस्थानः, अत आह, तत्परो गुरूपासनादौ अभियुक्तः ज्ञानलब्ध्युपाये—इति श्रीशंकराचार्यः। अर्थ—श्रद्धालु हो कर भी तो कोई मन्द प्रयत्नवाला हो सकता है, इसलिए कहा है कि तत्पर अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के गुरु-शुश्रूषादि उपायों में जो अच्छी प्रकार लगा हुआ हो]

संयत+इन्द्रियः=(वि०) संयतानि [विषयेभ्यो निर्वर्तितानि] इन्द्रियाणि यस्य सः (बहुव्री०)। सम् √यम्+क्त=संयत=बँधी हुई। जकड़ी हुई। वश में की हुई।

इन्द्रिय+(पुं०) प्र० ए० व०=इन्द्रियों वाला। जितेन्द्रिय। विषयों से निवृत्त की हुई इन्द्रियों वाला।

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+द्विती० ए० व०=ज्ञान को।
लब्ध्वा=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=पाना)+क्त्वा=पाकर।
पराम्=(वि०) परा+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=उच्चतरा को। सबसे बड़ी को। परम को।
शान्तिम्=(स्त्री०)√शम्+क्तिन्=शान्ति+द्विती० ए० व०=शान्ति को। स्थिरता को। सुख को। [मोक्ष रूप] परम शान्ति को।
अचिरेण=(नञ्-न चिर)। अचिर+तृती० ए० व०=शीघ्रता से। जल्दी से। तत्काल।
अधिगच्छति=अधि√गम् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लट् प्र० पु०, ए० व०=भली भाँति प्राप्त हो जाता है।

अर्थ—श्रद्धावान्, विषयों से निवृत्त की हुई इन्द्रियों वाला, तत्पर (=परमात्मा में लीन हुआ अथवा ज्ञान प्राप्ति के उपायों में उद्यत हुआ) पुरुष ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान को पाकर फिर वह तत्काल (मोक्ष रूप) परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ॥३९॥

व्याख्या—भक्त का परमात्मा में जो प्रत्यक्ष की भाँति विश्वास है, तथा उसमें परम पूज्यता और उत्तमता की भावना है, उसी का नाम श्रद्धा है। इस प्रकार की श्रद्धा वाला जो पुरुष है तथा वह सारे कर्म करता हुआ भी परमात्मा के ध्यान में तत्पर रहता है अथवा परमात्मा के ध्यान में तल्लीन रहता है किंवा ज्ञान-प्राप्ति के गुरु-सेवादि उपायों में अच्छी तरह लगा रहता है। तथा तीसरा गुण उसमें यह है कि वह जितेन्द्रिय है। अर्थात् अपनी सब इन्द्रियों को वश में किए हुए है। अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों को श्रवणादि विषयों से रोके हुए है। ऐसा कहने का भाव है कि उसकी इन इन्द्रियों के कार्य केवल सरल स्वाभाविक और जीवन-मात्र के लिए ही हो रहे हैं। उसमें रस या विषय वासनाओं का लेशमात्र भी नहीं है। न किसी प्रकार की आसक्ति है। ये तीनों गुण जिसमें हार्दिक और आभ्यन्तर हैं न कि केवल दंभ, पाखण्ड और लोक-वंचन के लिए झूठे और दिखावे के लिए हैं ऐसा वह अधिकारी पुरुष यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है और इस ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर तत्काल मोक्ष रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। उसके नेत्र देखते हैं तथा उसका अन्तःकरण अनुभव करता है कि उस परम शान्ति या मोक्ष का स्थान तो सब के भीतर बाहर ही व्यापक है। उसे पाने के लिए कहीं भी चल कर जाना नहीं पड़ता है। उसको सदा आभ्यन्तर नेत्र ही देखते हैं परन्तु उसके असली और मूल रूप को हमारे ये चर्म-चक्षु देखते नहीं हैं। क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है—

"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥"

(गीता १५।६)

अर्थात् वह परम-शान्ति-स्थान जो मेरा अविनाशी परमपद है और जिसको प्राप्त होकर फिर लोग लौट कर संसार में वापस नहीं आते, उसको ब्रह्माण्ड का कोई भी सूर्य तथा कोई भी चन्द्रमा प्रकाशित नहीं कर सकता है। न किसी प्रकार की अग्नि (चाहे वह बिजली की हो चाहे वह किसी अन्य प्रकार की गैस से उत्पन्न हुई हो) ही दृष्टि-गोचर कर सकती है। जिस प्रकार ऐक्स (x—कल्पित नाम) किरणें स्वयं तो दृष्टि-गोचर होती नहीं हैं परन्तु धातुओं के बिना दूसरे बहुत से पदार्थों से पार हो जाती हैं। उसी प्रकार उनसे भी अत्यन्त सूक्ष्मतम कुछ ऐसी ही किरणें परमपद से निकलती हैं जो स्वयं न दिखाई देने पर भी इतनी तीव्र, तीक्ष्ण और प्रबल हैं कि उनके लिए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसमें विद्यमान प्रत्येक भूतवस्तु पारदर्शी है। तथा वह महान् प्रबल शक्ति शून्य और विद्युत-तत्त्वों की भान्ति सदा सर्वत्र विद्यमान है और उसी के महान् तेज से सारा जगत् उद्भासित हो रहा है। इसी प्रकार की एक श्रुति कठ० २।२।१५ ॥ में है—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

[अर्थ—उस पूर्णब्रह्म परमात्मा (के परम पद) को न ही सारे ब्रह्माण्ड के सूर्यों का समूह प्रकाशित कर सकता है, न असंख्य चन्द्रमाओं का समूह प्रकाशित कर सकता है। न उस पर तारिका समूह ही प्रकाश डाल सकता है, न विद्युत् प्रकाश ही उसे प्रकाशित कर सकता है। तो फिर इस लौकिक अग्नि की तो बात ही क्या है ? ये सब अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाले सूर्यादि उसी (परमात्मा) के प्रकाशित होने के पीछे प्रकाशित होते हैं। तथा उसी ब्रह्म के प्रकाश से यह सब ब्रह्माण्ड परिवार प्रकाशित होता है]। उस परमात्मा में मिल जाना ही परम-शान्ति को पाना है। इस अवस्था का नाम मोक्ष है और वह मोक्ष यथार्थ ज्ञान के प्राप्त होने से तत्काल प्राप्त हो जाता है तथा ज्ञान की प्राप्ति श्रद्धा, संयतेन्द्रियता और तत्परता से होती है ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञः+च+अश्रद्दधानः+च संशय+आत्मा विनश्यति। न+अयम्+ लोकः+अस्ति न परः+न सुखम्+संशय+आत्मनः ॥

अज्ञः=(वि०) न ज्ञः (नञ् तत्पु०)। (पुं०) प्र० ए० व०। अनात्म-ज्ञः। आत्म-ज्ञान से रहित। भगवद्-विषय को न जानने वाला। ज्ञान-शून्य। अज्ञानी। मूर्ख।

च=(अव्यय) और। तथा।

अश्रद्दधानः=(वि०) न श्रद्दधानः (नञ्० तत्पु०)। [श्रत्—यह एक उपसर्ग है जो '√धा' धातु के साथ व्यवहृत होता है।]
श्रत् √धा (जुहो० उभ० सक०=रखना)+शानच्=श्रद्दधान+(पुं०) प्र० ए० व०=श्रद्दधानः=श्रद्धा रखने वाला। अश्रद्दधानः=श्रद्धा न रखने वाला। श्रद्धारहित। अश्रद्धालु।

च=(अव्यय) और तथा।

संशय+आत्मा=(पुं०) संशयाः आत्मनि यस्य सः (बहुव्री०)। संशयात्मन्+ प्र० ए० व०=संशय युक्त। मन में संशय रखने वाला। वहमी। भ्रम-युक्त। शक्की। सन्देहवान्। द्विविधायुक्त। द्वैधयुक्त।

विनश्यति=√वि√नश् (दिवा० पर० अक०=लुप्त होना। नष्ट होना)+ लट्०, प्र० पु०, ए० व०=अच्छी तरह नष्ट होता है। परमपद से भ्रष्ट होता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

लोकः=(पुं०) लोक+प्र० ए० व०=संसार। लोक।

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

परः=(पुं०) परः (लोकः)। प्र० ए० व०। परलोक। स्वर्गादि दूसरा लोक।

न=(अव्यय) न। नहीं।

सुखम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=सुख। शान्ति। आत्म-तुष्टि।

संशय+आत्मनः=(वि०, पुं०, षष्ठी० ए० व०)=संशयात्मा का। संशय करने वाले का।

अर्थ—आत्म-ज्ञान को न जानने वाला, श्रद्धा न रखने वाला और संशयात्मा (वहमी, ईश्वर के सम्बन्ध में किसी निश्चय पर न पहुँच सकने वाला) पुरुष, अच्छी तरह से नष्ट हो जाता है (अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट होकर नरक योनियों में भ्रमण करता है)। [यद्यपि अज्ञ और अश्रद्दधान भी नष्ट होता है तो भी

जैसा संशयात्मा नष्ट होता है वैसा नहीं क्योंकि संशयात्मा अधिक पापी होता है] संशयात्मा पुरुष का तो न यह लोक (सुधरता) है और न परलोक। तथा न (उसको कहीं) सुख है ॥४०॥

व्याख्या—किसी ने ठीक ही कहा है, कि एक तो करेला, दूसरे नीम चढ़ा।" अर्थात् करेला तो पहले ही कड़ुवा होता है यदि उसकी बेल नीम के वृक्ष पर चढ़ी हुई हो, तो फिर उसकी कड़ुवाहट का क्या कहना है? इस प्रकार की एक लोकोक्ति और है—"एक तो पगली, दूसरे ग्रीष्म-कालीन सूर्य की दोपहर की धूप, तीसरे श्मशानों की राह।" अर्थात् किसी स्त्री का मस्तिष्क तो पहले ही बिगड़ा हुआ था। दूसरे ग्रीष्मकालीन दोपहर की प्रखर और प्रचण्ड आतप थी। तीसरे वह श्मशानों के मध्य में घूम रही थी तो फिर उसके विनष्ट होने में कौन सी कसर बाकी थी। इस श्लोक का आशय भी कुछ इसी प्रकार का है। भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! जो पुरुष पहले ही 'अज्ञ' है, सत्य-असत्य, पाप-पुण्य तथा आत्म-अनात्म आदि से अनभिज्ञ है, आत्म-ज्ञान से रहित है, भगवद्-विषय को जानने वाला नहीं है, अज्ञानी है, अथवा ज्ञानियों की संगति से रहित होने के कारण मूर्ख बना हुआ है, भले बुरे की पहचान नहीं रखता, गुरु-भक्ति से रहित है, परमात्मा में श्रद्धा से हीन है, इन अवगुणों के होने पर फिर संशयात्मा भी है, अर्थात् किसी भी निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ है, वहम में जकड़ा हुआ है, सदा भ्रम में पड़ा रहता है, उसके मन का शक कभी दूर नहीं होता, सदा सन्देह-ग्रस्त रहता है, वह पूरी तरह से नाश हो जाता है। उसका बेड़ा सब तरह से ग़र्क़ हो जाता है। मरने के अनन्तर वह अधमाधम तिर्यक् योनियों में भ्रमण करने लगता है, जिससे वह महाकष्टों को भोगता है।

शास्त्रकारों ने 'अज्ञ' पुरुष को 'सुसाध्य' कहा है अर्थात् भाग्य के अच्छा हो जाने पर श्रद्धा होने से उसमें ज्ञान का उदय हो सकता है, जिससे उसे इस लोक और परलोक में सुख मिल सकता है क्योंकि श्रद्धा से वह धर्म-संचय कर सकता है।

श्रद्धा-रहित पुरुष को 'यत्न-साध्य' माना गया है। अर्थात् यदि कोई सद्गुरु ब्रह्म-वेत्ता महात्मा यत्न करे, तो श्रद्धा-रहित पुरुष में श्रद्धा का प्रादुर्भाव हो सकता है जिससे वह श्रद्धाहीन, श्रद्धावान् होकर ज्ञानी बन सकता है।

परन्तु संशयात्मा व्यक्ति तो 'असाध्य' होता है। न भाग्य ही उसकी सहायता करता है, न सद्गुरु ही उसके द्वैध-स्वभाव को बदल सकता है कि जिससे वह सन्मार्ग में प्रवृत्त हो सके। संशयात्मा पुरुष का तो यह लोक भी

अपना नहीं होता। अर्थात् उसको इस लोक में धर्म, अर्थ और काम भी सुख नहीं पहुँचाते हैं। क्योंकि वह तो सदा द्वैध में फँसा रहता है। सम्राट् औरंगजेब की तरह किसी पर भी भरोसा और विश्वास नहीं करता। उसे तो सदा जान के लाले पड़े रहते हैं। बेचैनी और परेशानी सदा घेरे रखती हैं। जीवन की इस कशमकश और उदासीनता में उसकी मृत्यु हो जाती है जिससे उसे स्वर्ग या परलोक की प्राप्ति भी नहीं होती। क्योंकि 'अन्त-मता, सोई गता' के अनुसार मरणकाल के दुःख-मय विचारों के अनुरूप कष्टमय जन्म ही मिलता है। इस प्रकार उस संशयात्मा को किसी काल में भी सुख नहीं मिलता है। फिर परम-सुख-मोक्ष की प्राप्ति तो कहाँ से हो सकती है ?। महाभारत में एक और स्थान पर इस बिषय को इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

"नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्ष-लक्षणम् ॥"

(महा० ३।२००।११२)

[अर्थ—बूढ़े ज्ञानियों ने कहा है, कि संशयात्मा पुरुष का न यह लोक है, न पर-लोक है। न उसको किसी काल में सुख प्राप्त होता है। केवल प्रत्यय (विश्वास) ही मोक्ष का लक्षण है। अर्थात् दृढ विश्वास होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।]

यह मानव-शरीर मोक्ष का कारण भी हो सकता है। नरक का कारण भी बन सकता है। ज्ञान-योग और कर्मयोग से परमात्मा की प्राप्ति होती है। दुष्कर्मों और अज्ञान से नरक में पतन होता है। श्रद्धा मनुष्य को भव-सागर पार करा देती है और संशय संसार-सागर में डुबो देता है। श्रद्धावान् की ऊर्ध्वगति होती है और संशयात्मा की अधोगति होती है। श्रद्धावान् ज्ञानी के लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। संशयात्मा के ये दोनों बिगड़ जाते हैं। श्रद्धावान् ज्ञानी सुख भोगता है और अमृत-पान करता है। संशयात्मा दुःख भोगता है और नरकगामी होता है। संशयात्मा पुरुष एक प्रकार का उजड़ा हुआ घर है। अथवा वह (ज्ञान रूप) प्राण से रहित शरीर के सदृश है।

कई संशयात्मा पुरुष कहा करते हैं—"—यह जगत् मीठा, अगला किसने डीठा" अर्थात् "आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक और पुनर्जन्म या मोक्ष आदि कुछ भी नहीं हैं। यदि इनमें से कोई होता तो किसी न किसी को अवश्य दिखाई देता। इससे इन सब को असत्य और लोगों द्वारा कही हुई एक बड़ी गप्प समझना चाहिए। सब प्रकार के पाप कर्म निःशंक होकर करने चाहिएँ। इन्द्रियों के विषयों के भोग भोगते हुए मोजें उड़ाओ।" इस प्रकार की धारणा रखने वाले पुरुष पक्के संशयात्मा होते हैं। जो प्रारब्ध पुण्य-कर्मों

को भोग कर इसी जन्म में दुःखों को भोगते हुए अन्त में हाथ मलते और पश्चात्ताप करते हैं। परन्तु "फिर पछताए क्या होत, जब चिड़ियां चुग गईं खेत।" इसलिए इसी दुःखपूर्ण अवस्था में पापों के अत्यन्त बोझल गट्ठर शीश पर धारण करके इस संसार से यमयातना के भयंकर मार्ग पर चल पड़ते हैं ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

योग-संन्यस्त-कर्माणम्+ज्ञान-संछिन्न-संशयम्। आत्म-वन्तम्+न कर्माणि निबध्नन्ति धनं-जय ! ॥

योग-संन्यस्त-कर्माणम्=(वि०) (परमार्थ-दर्शन-लक्षणेन) योगेन संन्यस्तानि कर्माणि येन तम् (बहुव्री०)। योग-संन्यस्त-कर्मन्+(पुं०) द्विती० ए० व०=परमार्थ ज्ञान रूप योग के द्वारा त्याग किए हुए (शुभाशुभ-पाप-पुण्य) कर्मों वाले को। अथवा—कर्म-योग-विधि से परमात्मा में सम्पूर्ण कर्म अर्पण करने वाले को। किंवा—समत्व बुद्धि रूप योग के द्वारा भगवान् के अर्पण किए हुए संपूर्ण कर्मों वाले को।
[समस्त कर्मों और उनके फल में ममता, आसक्ति, कामना और अभिमान को त्याग कर लोक-कल्याण तथा लोक-संग्रह के लिए कर्मों का करना, 'कर्म-योग' कहलाता है। सम्-नि√अस्+क्त=संन्यस्त=छोड़े हुए। अर्पण किए हुए।]

ज्ञान-संछिन्न-संशयम्=(वि०) ज्ञानेन (आत्मेश्वरैकत्व-दर्शन-लक्षणेन) संछिन्नः संशयो यस्य तम्। (पुं०) द्विती० ए० व०। आत्मा और ईश्वर की एकता दर्शन रूप ज्ञान द्वारा अच्छी तरह से नष्ट हुए संशय वाले को (बहुव्री०)। ज्ञान द्वारा नष्ट हुए सम्पूर्ण संशयों वाले को।
[सम्√छिद् (रुधा० पर० सक०=काटना। नष्ट करना। नाश होना)+क्त=संछिन्न=कटे हुए। नष्ट हुए।]

आत्म-वन्तम्=(वि०) आत्मन्+मतुप्=आत्मवत्+(पुं०) द्विती० ए० व० इन्द्रियों सहित अन्तःकरण वश किए हुए को। आत्मवान् को। आत्मबल से युक्त को। प्रमाद-रहित पुरुष को परमात्मपरायण पुरुष को। आत्मदर्शी को। आत्मानुभवी को।

न=(अव्यय) न। नहीं।

कर्माणि=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्म।

निबध्नन्ति=नि √बन्ध् (क्र्या० पर० सक०=बांधना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=बाँधते हैं।

धनं-जय !=(पुं०, सम्बो० ए० व०) हे धनंजय (अर्जुन) !

(धनं जयति (सम्पादयति), धन √जि+खच्+मुम्=धनंजय। अर्जुन का यह नाम उस समय हुआ जब उसने अनेकों राजाओं को जीत कर राजसूय यज्ञ के लिए बहुत-सा धन उपार्जन किया था।)

अर्थ—हे धनंजय (अर्जुन) ! कर्म-योग विधि से सम्पूर्ण कर्म परमात्मा में अर्पण करने वाले, ज्ञान द्वारा नष्ट हुए सम्पूर्ण संशयों वाले और आत्मवान् (आत्मदर्शी पुरुष) को (शुभाशुभ सम्पूर्ण) कर्म नहीं बांधते हैं ॥४१॥

व्याख्या—बहुत से राजाओं से युद्ध करके राजसूय यज्ञ के लिए धन एकत्रित करने वाले शूर वीर अर्जुन ! भला सोचो तो, तुम धनंजय क्यों कहलाते हो, युद्ध करके राजाओं से धन छीनने के कारण से ही न ? दूसरों से बरबस धन छीन लेना कैसा कर्म है ? पाप कर्म ! हां ठीक है। परन्तु तुमने तो उन क्षत्रिय राजाओं से धन छीना था जिन्होंने दूसरों से धन छीन कर एकत्रित किया हुआ था। विषय-लोलुप, मदान्ध, पापकर्मरत, कंजूस गरीबों का लहू चूसने वाले भूमिपतियों और पूंजी-पतियों से धरती और धन छीन कर यज्ञ-कर्म में लगा देना महापुण्य है अर्थात् दीन-दुखियों और योग्य पुरुषों में बाँट देना क्षत्रियों का परम धर्म है। फिर तुमने क्रूर, हिंसक, अत्याचारी डाकुओं के तुल्य जिन जागीरदारों, राजाओं और पापियों से धन छीना था उनके डाका नहीं मारा था, न स्त्रियों, बच्चों और दीनों पर अत्याचार किया था, न किसी का घर जलाया था और न किसी का धर्म नष्ट किया था। बल्कि उनको यज्ञ कर्म के लिए धन और धरती देने पर विवश कर दिया था और उनके साथ धर्मानुकूल ही व्यवहार किया था। इसी प्रकार इन आततायी पापी कौरवों से युद्ध करो और उनसे धन-धरती छीन कर यज्ञ-कर्म (प्रजा-पालन) में लगा दो। इस प्रकार यह युद्ध-कर्म तुम्हें बन्धायमान नहीं करेगा। अगले श्लोक में भगवान् ने युद्ध के लिए उठ खड़ा होने के लिए अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कहा है। अर्जुन युद्ध से मुख मोड़े हुए था, जिसके कारण से ही श्रीमद्भगवद्गीता का प्रादुर्भाव हुआ है। भगवान् कहते हैं कि हे धनंजय ! जिस पुरुष ने कर्म करते हुए कभी किसी फल की इच्छा नहीं की, न उस कर्म में किसी प्रकार की आसक्ति या ममता की है, न उसके करने में अभिमान है, तथा अपने सारे कर्म ईश्वरार्पण ही किए हैं, गुरुओं और वेद-शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त करके सब प्रकार के सन्देह और संशय मन से दूर कर दिए हैं, जो भगवान् के प्रति पूर्ण श्रद्धावान् है तथा अपनी इन्द्रियों और अन्तःकरण को पूर्णतया अपने

वशीभूत किए हुए है ऐसे पुरुष को शुभ या अशुभ किसी प्रकार के भी कर्म बाँधते नहीं हैं। अर्थात् उसके द्वारा किए हुए सम्पूर्ण कर्म भुने हुए दानों या बीजों के समान उगने और फल उत्पन्न करने के अयोग्य हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि वे कर्म देवतादि रूप इष्ट-शरीर का, पशु-पक्षी रूप अनिष्ट शरीर का तथा मनुष्यादि रूप मिश्रित शरीर का उत्पादन नहीं करते, जिससे अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। हे अर्जुन ! इस सारे कर्मरहस्य को भली भाँति समझकर तुम युद्ध करो, जिससे तुम भी बन्धायमान न होगे ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

तस्मात्+अज्ञान-संभूतम्+हृद्+स्थम्+ज्ञान+असिना+आत्मनः। छित्त्वा +एनम्+संशयम्+योगम्+आतिष्ठ+उत्तिष्ठ भारत ! ॥

तस्मात्=(अव्यय) इसलिए। इस कारण से।

अज्ञान-सम्भूतम्=(वि०) अज्ञानाद् (अविवेकात्) सम्भूतम् (जातम्)। (पंच० तत्पु०)। (पुं०) द्विती० ए० व०=अज्ञान (अविवेक) से उत्पन्न हुए को। (सम्√भू+क्त=सम्भूत)।

हृद्+स्थम्=(वि०) हृदि (बुद्धौ) स्थितम्। (सप्त० तत्पु०)। (पुं०) द्विती० ए० व०=हृदय में स्थित को। बुद्धि या अन्तःकरण में स्थित हुए को। (√स्था+क=स्थ। प्रायः समास में ही 'स्थ' का प्रयोग होता है।)

ज्ञान+असिना=(पुं०) (शोक-मोहादि-दोषहरं सम्यग् दर्शनं) ज्ञानं तद् एव असिः (खड्गः) तेन। तृती० ए० व०। शोक-मोह आदि दोषों का नाश करने वाला यथार्थ दर्शन रूप जो ज्ञान है वही असि या तलवार है उसके द्वारा। आत्मा-अनात्मा के ज्ञान की तलवार से। ज्ञान रूप खड्ग द्वारा।

आत्मनः=(पुं०) आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=अपने। (स्वस्य)। आत्मा के।

छित्त्वा=√छिद् (रुधा० पर० सक०=काटना। छेदन करना)+क्त्वा= काट कर। छेदन करके। नाश करके।

एनम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

संशयम्=(पुं०) सम्√शी+अच्=संशय+द्विती० ए० व०=संशय को। सन्देह को। शक को। वहम को।

योगम्=(पुं०) योग+द्विती० ए० व०=योग में।
समत्व-बुद्धि रूप योग में। पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के उपाय रूप कर्म-योग में।

आतिष्ठ=आ√स्था (भ्वा० पर० अक०=स्थित होना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=तू स्थित हो जा। स्थित हो।

उत्तिष्ठ=उत्√स्था+लोट्, म० पु०, ए० व०=(और युद्ध के लिए) उठ। उठ खड़ा हो।

भारत! (पुं० सम्बो० ए० व०)। भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत+अण्=हे भरतवंशज (अर्जुन)!
('भरत' सम्बोधन से यहां भगवान् का तात्पर्य यह है, कि हे अर्जुन! तुम उस भरत के वंशज हो जो राजर्षि और बहुत बड़े कर्मठ थे, वीर और उत्साही थे। अतः तुम्हें भी भरत की भान्ति वीरता, धीरता और गम्भीरता पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए युद्ध करने में जुट जाना चाहिए।)

अर्थ—इसलिए हे भरतवंशज (अर्जुन)! (तू) अज्ञान से उत्पन्न हुए, हृदय में स्थित इस अपने संशय को (शोक-मोह आदि दोषों का नाश करने वाले यथार्थ दर्शन रूप) ज्ञानरूपी तलवार से काट कर, (समत्व बुद्धि रूप) कर्म-योग में स्थित हो और (युद्ध करने के लिए) उठ खड़ा हो ॥४२॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तेरा जन्म उस राजर्षि भरत के वंश में हुआ है जो बहुत बड़ा कर्मठ, शूर वीर और उत्साही था। बालपन में सिंहों के संग खेला करता था। तुम्हें भी अपने वंश के गौरव के अनुरूप अपने पूर्वजों की भान्ति वीरता, धीरता और गम्भीरता के साथ युद्ध-यज्ञ का अनुष्ठान करके शत्रु कौरवों को तलवार के घाट उतारना चाहिए। सारा शत्रुसमुदाय इस समय तेरे सम्मुख विद्यमान और उपस्थित है जिसे तू अभी तक बन्धु-वर्ग समझ रहा है। ये लोग तो तेरे और तेरे पक्षपातियों के खून के प्यासे हो रहे हैं और शस्त्र उठाए तुम लोगों को मारने के लिए उद्यत हैं। तू अभी तक संशय-जाल में फंसा हुआ है। पहले तो तू युद्ध को उचित समझ कर लड़ने के लिए रण में उतरा था और मुझे रणभूमि के मध्य में रथ खड़ा करने के लिए कहा था। परन्तु अब तू दोनों पक्षों के योद्धाओं को देख कर बन्धु-बान्धवों के मोह रूपी कीचड़ में फँस गया है और युद्ध करने के सम्बन्ध में आना-कानी कर रहा है तथा किंकर्तव्यविमूढ होकर कह रहा है—"मैं गुरुओं का हनन कैसे करूँ? इस पाप की अपेक्षा तो भिक्षा मांग कर निर्वाह कर लेना अच्छा है।" कभी तू द्वैध भाव में फँसा हुआ यह कह रहा है, कि हमें तो यह भी ज्ञान नहीं है कि हम दोनों पक्षों में से किस की जीत होगी और किसकी हार होगी?" तेरी इन बातों से लगता है कि तेरे हृदय में संशय रूप शत्रु प्रवेश करके दुर्गपति बनकर स्थित हो गया है जिसकी उत्पत्ति तेरे इस अज्ञान से हुई है कि इन रिश्तेदारों को मारने से हमें पाप होगा। जब किसी महाबलवान् शत्रु को मारना होता है तो सब से पहले उसका नाम-धाम

ग्रौर सैन्य-बल जानना पड़ता है, फिर उसके पक्षपातियों ग्रौर शत्रुग्रों से जानकारी करनी होती है। सो मैंने तेरे इस महाशत्रु 'संशय' का नाम बतल दिया है। उसका हृदय रूप धाम भी जतला दिया है तथा उसका बल भी दर्शा दिया है। यह भी तुम्हें विदित ही है कि शत्रु का नाश करने के लिए योद्धा के पास ग्रमोघ शस्त्र होना चाहिए। सो मैंने ग्रति प्रखर ग्रौर ग्रत्यन्त तीक्ष्ण धार वाली ज्ञानरूपी तलवार (महाशक्ति) तेरे प्रति प्रदान कर दी है। तू इस खड्ग से पहले संशयरूपी शत्रु का शीश काट डाल। फिर समत्व-बुद्धि के द्वारा कर्मयोग में तत्पर हो जा ग्रौर इन कौरव रूप शत्रुग्रों को मारने के लिए डट जा। समत्व बुद्धि योग में लीन होने के कारण तुम्हें न कोई पाप लगेगा ग्रौर न तेरे येक र्म ही बन्धायमान होकर पुनर्जन्म के कारण बनेंगे। इस बात को भली भान्ति स्मरण रख, कि संशयात्मा को न इस लोक में सुख होता है न परलोक में ही शान्ति प्राप्त होती है। निश्चयात्मा ग्रौर ज्ञानवान् के सम्पूर्ण कर्म ज्ञानाग्नि में भस्मीभूत हो जाते हैं। इसलिए तू ग्रपने मन के समस्त सन्देहों को त्यागकर ज्ञानवान् बन ग्रौर कर्म-फल की कामना त्याग कर तथा सिद्धि ग्रौर ग्रसिद्धि में समभाव रह कर निरासक्त चित्त से ग्रपने कर्तव्य का पालन करता हुग्रा युद्ध कर॥

लोकमान्य तिलक जी कहते हैं—

"ज्ञान ग्रौर योग के समुच्चय से ही कर्म करने के विषय में ग्रर्जुन को उपदेश दिया गया है। इन दोनों का पृथक्-पृथक् उपयोग यह है कि निष्काम बुद्धि के द्वारा कर्म करने पर उनके बन्धन टूट जाते हैं ग्रौर वे मोक्ष के लिए प्रतिबन्धक नहीं होते, एवं ज्ञान से मन का सन्देह दूर होकर मोक्ष मिलता है। ग्रतः ग्रन्तिम उपदेश यह है कि ग्रकेले कर्म या ग्रकेले ज्ञान को स्वीकार न करो। किन्तु ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक कर्म-योग का ग्राश्रय करके युद्ध करो॥४२॥"

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् के गाए हुए ग्रर्थात् कहे हुए उपनिषदों में, ब्रह्मविद्या में, ग्रौर योगशास्त्रसम्बन्धित श्रीकृष्ण ग्रौर ग्रर्जुन के सम्वाद में ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग नाम वाला चौथा ग्रध्याय समाप्त॥

॥ शुभम् ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

संन्यासम्+कर्मणाम्+कृष्ण ! पुनर्+योगम्+च शंससि । यत्+श्रेयः+एतयोः+एकम्+तत्+मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

संन्यासम्=(पुं०) सम्-नि√अस्+घञ्=संन्यास+द्विती० ए० व०=संन्यास को। त्याग को। परित्याग को।

कर्मणाम्=(नपुं०) कर्मन्+षष्ठी० ब० व०=कर्मों के।

कृष्ण !=(वि०, पु०)√कृष् (तुदा० उभ०, भ्वा० पर० सक०=खींचना। आकर्षण करना। वशवर्ती करना)+नक्+अच्=कृष्ण। सम्बो० ए० व०। हे कृष्ण ! हे मोह लेने वाले भगवान् !। हे वशवर्ती करने वाले महाराज !

पुनर्=(अव्यय) फिर। दूसरी बार।

योगम्=(पुं०)√युज्+घञ्=योग+द्विती० ए० व०=योग को। निष्काम कर्मयोग को। शास्त्रोक्त निष्काम कर्म करने को।

च=(अव्यय) और।

शंससि=√शंस् (भ्वा० पर० सक०=प्रशंसा करना। सराहना)+लट्०, म० पु०, ए० व०=सराहते हो।

यत्=(सर्व०) यद् (अव्यय रूप) जो।

श्रेयः=(वि०) श्रेयस्+(नपुं०) प्र० ए० व०=श्रेयः। अतिशयेन प्रशस्यः, प्रशस्य+ईयसुन्, श्र आदेश=श्रेयस्। बेहतर उत्कृष्टतर। श्रेष्ठतर। कल्याणकारक। श्रेयस्कर।

एतयोः=(सर्व०) एतद्+(पुं०) सप्त० द्वि० व०=इन दोनों में।

एकम्=(संख्या-सर्व०) एक+(पुं०) द्विती० ए० व०=एक को।

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको ।

मे=(सर्व०) अस्मद्+चतु० ए० व०=मह्यम्, मे=मेरे लिए ।

ब्रूहि=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना) लोट्० पर०, म० पु०, ए० व० । तू कह । आप कहो ।

सुनिश्चितम्=(वि०) सु-निर्√चि (स्वा० उभ० सक० । चुरा० उभ० सक० =चयन करना)+क्त+द्विती० ए० व०=अच्छी तरह से निश्चित किए हुए को ।

अर्थ—अर्जुन बोला—हे (मोह लेने वाले) कृष्ण ! (आप कभी) कर्मों के संन्यास (परित्याग) को और फिर (कभी) कर्म-योग (शास्त्रोक्त निष्काम कर्मों के अनुष्ठान करने) को सराहते हो । इन दोनों में जो श्रेष्ठतर है; उस अच्छी तरह से निश्चय किए हुए एक को मेरे लिए आप कहिये [अर्थात् यह बतलाइए कि कर्मों का अनुष्ठान करना कल्याणकर है अथवा उनका सर्वथा परित्याग करना ?] ॥१॥

व्याख्या—भगवान् ने पूर्व अध्यायों में ब्रह्मलीन होने या मोक्ष प्राप्त करने के लिए दो मार्गों का उपदेश किया है । १—कर्म-योग मार्ग या निष्काम भाव से कर्म करना । २—संन्यास योग या कर्मों का परित्याग करना और यथा प्रसंग दोनों की प्रशंसा की है और अर्जुन को कर्मयोग का आचरण करने का ही आदेश दिया है । परन्तु अर्जुन के अन्तःकरण में संन्यास मार्ग पर चलने का संकल्प उत्पन्न हो चुका है । इसलिए वह अपने सारथी श्रीकृष्ण जी से सीधे और स्पष्ट शब्दों में तो यह नहीं कहता कि आप मुझे युद्ध करने की प्रेरणा न करें । अपितु उन्हें इस ओर लाना चाहता है कि वे उसके संन्यासी बनने का अनुमोदन कर दें । इस प्रयोजन के लिए अर्जुन ने कई बार भगवान् से कहा है कि आप कभी कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं और कभी सांख्य-योग या संन्यास की । इस प्रकार उलझाकर आप मुझे युद्ध रूपी घोर कर्म में फंसाना चाहते हैं जैसा कि तीसरे अध्याय के पहले दो श्लोकों में अर्जुन ने कहा है—"हे जनार्दन ! यदि आप कर्म से बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर मुझे क्यों इस (युद्धरूपी) घोर कर्म में लगाते हो । आप तो इन मिले-जुले वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित से कर रहे हैं । इसलिए इन दोनों मार्गों में से एक ही मार्ग निश्चय करके कहिए जिससे मैं उस पर चलकर कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ ।"

ऐसा कहने से अर्जुन का स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि मेरे लिए युद्ध आदि घोर कर्मों में प्रवृत्त होना ठीक नहीं है । इस प्रकार के समस्त कर्मों से मुझे

निवृत्त होना ही ठीक है। इसलिए आप मुझे संन्यास ग्रहण करने का ही उपदेश दीजिए।

चौथे अध्याय में जब भगवान् ने कहा कि

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतपः !
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥३४॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥३८॥

तब भगवान् का यह उपदेश सुनकर अर्जुन को आशा हो गई थी कि बस अब ज्ञान की प्राप्ति के लिए संन्यासी बन जाने की आज्ञा भगवान् द्वारा मुझे मिलने ही वाली है। परन्तु जब भगवान् ने कहा कि—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥

तो भगवान् के इस निर्देश या आर्डर के मिलते ही अर्जुन की संन्यास धारण करने की आशाओं पर ओस पड़ गई। आशाओं के कमल वन पर चौथे अध्याय का यह अन्तिम श्लोक हिमपात होकर गिरा जिससे वह थोड़ा घबराया और तिलमिला उठा और पांचवें अध्याय के श्लोक द्वारा वह बोला। हे कृष्ण ! आप तो यथा नाम तथा गुण के अनुसार सारे जगत् को मोहित करने वाले हैं। मैं भी इस समय आपकी विचित्र माया से मोहित सा हो रहा हूँ। हे सर्व-शक्तिमान् ! सर्वज्ञ ! सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर ! इसी प्रकार आप अपने रूप और माया से सबको आकर्षित और मोहित करते रहते हैं। आपने मोहिनी रूप धारण करके दैत्यों को मदिरा और देवताओं को अमृत पिला दिया था। हे विष्णु ! आपकी दुस्तर माया ने महर्षि नारद को मोहित करके भ्रमित किया था। तब आपने उसे वानराकृति प्रदान की थी। अब आप मेरे सम्मुख पहले कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं और फिर उससे श्रेष्ठ ज्ञान योग को बतलाते हैं। इस पर भी मुझे युद्ध करने का आदेश देते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है। मैं तो जल-भंवर में फँसे हुए के तुल्य हो गया हूँ। मुझ पर कृपा करो। कर्म-योग

और ज्ञान-योग इन दोनों में जो एक श्रेष्ठतर या कल्याणकर हो मुझे निश्चय-पूर्वक उसी का उपदेश कीजिए ताकि मैं उस पर आचरण करके परमात्मा में लीन हो जाने को प्राप्त हो सकूं और जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाऊँ ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

संन्यासः कर्म-योगः+च निःश्रेयस-करौ+उभौ । तयोः+तु कर्म-संन्यासात् +कर्म-योगः+विशिष्यते ॥

संन्यासः=(पुं०) सम्-नि√अस्+घञ्=संन्यास+प्र० ए० व०=[सम्=सम्यक् प्रकार से । न्यासः=त्याग] । सम्यक् प्रकार से त्याग । कर्मों का परित्याग । मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्ता-पन का त्याग । कर्मों का संन्यास ।

कर्म-योगः=(पुं०) प्र० ए० व० । कर्मों का अनुष्ठान करना । समत्व-बुद्धि से ईश्वर-निमित्त कर्मों का करना ।

च=(अव्यय) और ।

निःश्रेयस-करौ=(पुं०) प्र० द्वि० व० । (ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु होने से) कल्याण करने वाले । मुक्ति को देने वाले ।

उभौ=(सर्व० वि०) उभ+(पुं०) प्र० द्वि० व०=दोनों ।

तयोः=(सर्व०) तद्+(पुं०) सप्त० द्वि० व०=उन दोनों में ।

तु=(अव्यय) किन्तु । परन्तु ।

कर्म-संन्यासात्=(पुं०) पंच० ए० व० । कर्मों के संन्यास से । (ज्ञान रहित पुरुष के) कर्मों को छोड़ने से । कर्मों को छोड़ देने की अपेक्षा ।

कर्म-योगः=(पुं०) प्र० ए० व० । (साधन में सुगम होने से) निष्काम कर्म-योग । आसक्ति, ममता, फलेच्छा और अभिमान से रहित होकर परमेश्वरार्पण कर्मों का करना ।

विशिष्यते=वि√शिष् (रुधा० पर० सक०=विशेष होगा)+कर्म०, लट्० प्र० पु०, ए० व०=विशेष है । श्रेष्ठ है ।

अर्थ—श्रीभगवान् बोले—कर्म-योग और कर्म-संन्यास दोनों ही परम कल्याण करने वाले हैं (अर्थात् मुक्ति को देने वाले हैं) । परन्तु उन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्म-योग विशेष कहा गया है (अर्थात् श्रेष्ठ माना जाता है) ॥२॥

व्याख्या—अर्जुन का प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् बोले—हे अर्जुन ! मोक्ष प्राप्त करने के लिए ये दो ही बड़े मार्ग हैं (१) घर में रहते हुए ही अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करना, और सब कर्मों के करने में आसक्ति, ममता, फलेच्छा और अभिमान से रहित होना, तथा समस्त कर्म ईश्वरार्पण, लोकसंग्रहार्थ और लोक-हित के लिए करना, इस मार्ग का नाम 'कर्म-योग' है। (२) इस दूसरे मार्ग का नाम 'कर्म-संन्यास' या सांख्य-योग है। कर्म-संन्यासी ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर गृह को त्याग कर तथा सब प्रकार के कर्मों से निवृत्त होकर संसार से विरक्त हो जाता है और फिर किसी एकान्त स्थान या गुफा में बैठ कर तत्त्व-चिन्तन करता है। उसकी इस अवस्था का नाम कर्म संन्यास या सांख्य-योग अवस्था है। अर्जुन का अपना मन इस समय कर्म-संन्यास की ओर आकृष्ट हो रहा था। वह कर्म-योग से विमुख होकर अपने युद्ध रूप क्षत्रियधर्म का पालन करना नहीं चाहता था। परन्तु भगवान् उसे युद्ध-कर्म में प्रवृत्त करना चाहते थे। इसलिए इस अध्याय के पहले श्लोक द्वारा जब अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! कर्म-योग और कर्म-संन्यास में से कौनसा मार्ग अधिक अच्छा है ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु होने के कारण कर्म-योग और कर्म-संन्यास दोनों ही मोक्ष के दिलाने वाले हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। परन्तु तो भी कर्म-संन्यास से कर्म-योग बहुत श्रेष्ठ है। क्योंकि कर्म-योग ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के लिए स्पष्ट और सुगमतर है। ये सब कर्म साधक को भवसागर से पार करने के लिये नौका तुल्य बन जाते हैं। ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अभिमान से रहित होने के कारण तथा परमेश्वरार्पण होने से कर्ता को बन्धायमान नहीं करते। कर्मयोग से आत्म-चिन्तन भी होता है और धर्मकार्य भी होता है। कर्मयोगी कर्मों द्वारा अर्जित किए पदार्थों का भोग स्वयं भी भोगता है और दूसरों के भोगने के लिये उन्हें भी वितरण करता है। कर्मयोगी अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर ज्ञान प्राप्त कर लेता है। और मोक्ष की ओर पदार्पण करता हुआ अन्त में अनायास ही कर्मातीत हो जाता है जिससे उसे ज्ञान की प्राप्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

कर्म-योगी जब दान, पुण्य, हवन, यज्ञ, व्रत इत्यादि शुभ कर्म करता है तो उसे परमात्मा का चिन्तन स्वतः ही हो जाता है, जैसे स्नान करता हुआ मनुष्य अनायास ही प्रभु का चिन्तन और नाम-कीर्तन करता रहता है। जब कर्म-योगी बार-बार कर्म करता हुआ अपने को अकर्ता और अभोक्ता निश्चय पूर्वक मानने लगता है तो उसकी यह धारणा परिपक्व होकर उसे परमात्मा से मिलाने का कारण बन जाती है। कर्म-संन्यास में जो पतित होने

का भय होता है वह कर्म-योग में नहीं होता। कर्म-संन्यास का फल भी निष्काम कर्मों के कारण कर्म-योग को प्राप्त हो जाता है। संपूर्ण कर्मों का त्याग करना असम्भव भी है। शरीर और इन्द्रियां तो किसी काल में भी कर्मों को नितान्त छोड़ नहीं सकतीं। क्योंकि वास्तव में कर्मों का छोड़ना मन या चित्त की अवस्था पर निर्भर है। यह शरीर तो बाहर से चलता-फिरता, हिलता-जुलता, टट्टी पेशाब करता, खाता-पीता, श्वास-निश्वास क्रिया को करता इत्यादि अनेक प्रकार के कर्म करता ही रहता है। जो रोकने पर भी रुकने कठिन हैं। परन्तु यह अन्तःकरण या चित्त ही एक ऐसा पापी है जो महापापी काम के वशीभूत हुआ कर्मों में आसक्ति को न त्याग कर जन्म-बन्धन का कारण बन जाता है। इसलिए जो पुरुष कर्म करता हुआ भी मन से कर्मों की ममता को त्याग देता है वास्तव में तो वही कर्म-संन्यासी समझा जाना चाहिए। उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है। अन्य को नहीं। क्योंकि कायक और वाचक कर्म छोड़ कर उस समय तक कोई संन्यासी नहीं कहला सकता, जब तक उसके मन के संकल्प-विकल्प बन्द नहीं हो जाते, जो स्वप्नावस्था में भी अनाचेत होते ही रहते हैं। इनका स्वास्थ्य के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वास्थ्य के बिगड़ने के साथ कर्म-संन्यास का सारा खेल ही बिगड़ जाता है। कर्मयोग में स्वास्थ्य के बिगड़ने पर भी कोई विशेष हानि नहीं होती। अन्तःकरण की शुद्धि के बिना, अनधिकारी पुरुष के द्वारा धारण किया हुआ संन्यास नरकों में ले जाने का कारण बन जाया करता है। और इस मार्ग की बदनामी का हेतु भी बन जाता है। परन्तु सच्चे कर्मयोगी का अन्तःकरण कर्म-योग के द्वारा अपने आप ही शुद्ध हो जाता है तथा इस मार्ग की निन्दा का कारण कभी नहीं बनता।

सच्चा संन्यासी तो वही है जो नाना प्रकार से उपकारार्थ व्यवहार करता हुआ भी अन्तःकरण से सब कर्म और वासनाएं छोड़े हुए है। तथा सब प्रकार के भोगों और पदार्थों के उपलब्ध होते हुए भी उनमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रखता और सारे कर्म करता हुआ भी त्याग भावना से ओत-प्रोत है। वह अपने तुच्छ आनन्द, लौकिक सुख और कामना के लिए कोई कर्म नहीं करता। उसके द्वारा लगातार ऐसा किया जाने पर पहले अन्तःकरण के सारे व्यापार बन्द हो जाते हैं। फिर बाह्य कर्म निःशेष हो जाते हैं जिसके फल स्वरूप साधक कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होकर सच्चे पूर्ण संन्यास को प्राप्त हो जाता है। समत्व-बुद्धि और तत्त्व विवेक की वृद्धि हो जाने से निजानन्द प्राप्त हो जाता है जिससे फिर जल्दी ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है और जन्म बन्धन सदा के लिए टूट जाता है। इसलिए इन

दोनों मार्गों में कर्म छोड़ने के मार्ग की अपेक्षा निष्काम कर्म करने का मार्ग ही श्रेष्ठ है। साधनावस्था में ज्ञान-प्राप्ति के लिए किए जाने वाले निष्काम कर्मों को ज्ञानी पुरुष सिद्धावस्था में भी लोक-संग्रह के लिए अन्त काल तक प्रायः करते ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान् ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मयोग मार्ग को सुगम और श्रेष्ठ मार्ग बतलाया है ॥

परन्तु स्वामी शंकराचार्य जी को इस कथन में कुछ विलक्षणता सी प्रतीत हुई है। पाठक गणों की जानकारी के लिए हम उनके कथन का हिन्दी अनुवाद यहाँ दे रहे हैं—

"१—अज्ञानी द्वारा किए हुए संन्यास और कर्म-योग के विषय में ही यह बात कही गई है।

२—आत्मज्ञानी का मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो जाता है। अतः उसके द्वारा विपर्यय-ज्ञानमूलक कर्म-योग का होना ही असंभव है, क्योंकि जो जन्म आदि समस्त विकारों से रहित निष्क्रिय-आत्मा को अपना स्वरूप समझ लेता है, जिसने यथार्थ ज्ञान द्वारा मिथ्या ज्ञान को हटा दिया है, उस आत्म-ज्ञानी पुरुष के लिए निष्क्रिय आत्म-स्वरूप से स्थित हो जाना रूप सर्व कर्मों का संन्यास बतलाकर इस गीता-शास्त्र में जहाँ-तहाँ आत्मस्वरूप सम्बन्धी निरूपण के प्रकरण में यथार्थ ज्ञान, मिथ्या ज्ञान और उनके कार्य का परस्पर विरोध होने के कारण, उपर्युक्त संन्यास से विपरीत मिथ्या ज्ञान मूलक कर्तृत्व-अभिमानपूर्वक सक्रिय आत्मस्वरूप में स्थित होना रूप कर्म-योग अभाव का ही प्रतिपादन किया गया है। इसलिए जिसका मिथ्याज्ञान निवृत्त हो गया है ऐसे आत्म-ज्ञानी के लिए मिथ्या-ज्ञान-मूलक कर्म-योग सम्भव नहीं, यह कहना ठीक है।

३—इसलिए आत्म-वेत्ता पुरुष के लिए यथार्थ दर्शन से विरुद्ध तथा मिथ्या ज्ञान से होने वाला कर्मयोग स्वप्न में भी सम्भव नहीं माना जा सकता। इसलिए यहाँ अज्ञानी द्वारा किए हुए संन्यास से ही कर्मयोग को श्रेष्ठ या कल्याण कारक बतलाया गया है जो पहले कहे हुए आत्म-ज्ञानी के संन्यास से विलक्षण है ॥

४—'ज्ञान रहित केवल संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है' इस प्रकार भगवान् कर्मयोग की स्तुति (मात्र) करते हैं ॥"

राम-चरित-मानस में स्वामी तुलसीदास जी ने ज्ञान-मार्ग की दुर्गमता और क्लिष्टता का वर्णन अपने विशेष ढंग से इस प्रकार किया है—

सुनहु तात यह अकथ कहानी समुझत बनइ न जाइ बखानी।

ईस्वर अंस जीव अविनासी चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भयउ गोसाईं बँधउ कीर मरकट की नाईं।
जड़ चेतहि ग्रंथि परि गई जदपि मृषा छूटत कठिनई।
तव ते जीव भयउ संसारी छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी।
स्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई छूट न अधिक अधिक अरुझाई।
जीव हृदय तम मोह बिसेखी ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।
अस संयोग ईस जब करई तबहुँ कदाचित सो निरुअरई।
सात्विक स्रद्धा धेनु सुहाई जौं हरिकृपा हृदय बसि आई।
जप तप व्रत जम नियम अपारा जे स्रुति कह सुभ धर्म अचारा।
तेइ तृन हरित चरइ जब गाई भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।
नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा निर्मल मन अहीर निज दासा।
परम-धरम-मय पय दुहि भाई अवटि अनल अकाम बनाई।
तोष मरुत तब छमा जुडावई धृति सम जावन देइ जमावई।
मुदिता मथइ बिचार मथानी दम अधार रजु सत्य सुबानी।
तब मथि काढि लेइ नवनीता बिमल बिराग सुपरम पुनीता।

जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाई।
बुद्धि सिरावइ ज्ञान घृत, ममता मल जरि जाई॥
तब विज्ञान-रूपिनी बुद्धि, बिसद घृत पाई।
चित्त दिया भरि धरइ दृढ़, समता दियटि बनाई॥
तीन अवस्था तीनि गुण, तेहि कपास ते काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करइ सुगाढ़ि॥
एहि विधि लेसइ दीप, तेजरासि विज्ञान मय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥

सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा दीपसिखा अति परम प्रचण्डा।
आत्म अनुभव-सुख सुप्रकासा तब भव मूल भेद-भ्रम नासा।
प्रबल अविद्या कर परिवारा मोह आदि तम मिटइ अपारा।
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा उर-गृह बैठि ग्रंथि निरुवारा।
छोरन ग्रंथि पाव जौं कोई तो यह जीव कृतारथ होई।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया बिघन अनेक करइ तब माया।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई बुद्धिहिं लोभ देखावहिं आई।
कल बल छल करि जाइ समीपा अंचल बात बुझावहिं दीपा।
होइ बुद्धि जो परम सियाने तिन तन चितवन अनहित जाने।
जो तेहि बिघन बुद्धि नहि बाधी तौ बहोर सुर करहि उपाधी।

इंद्री द्वार झरोखा नाना तहँ तहँ सुर बैठे कर थाना।
आवत देखहिं विषय-बयारी ते हठि देहिं कपाट उघारी।
जब सो प्रभंजन उर-गृह जाई तबहिं दीप विज्ञान बुझाई।
ग्रंथिन छूटी मिटा सो प्रकासा बुद्धि विकल भइ विषय बतासा।
इंद्रिय सुरन्ह न ज्ञान सुहाई विषय-भोग पर प्रीति सदाई।
विषय-समीर बुद्धि कृत भोरी तेहि बिधि दीप को बार बहोरी।

तब फिर जीव बिबिध विधि पावइ संसृति क्लेस।
हरिमाया अतिदुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥
कहत कठिन समुझित कठिन साधन कठिन बिवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ज्ञान-पंथ कृपान कै धारा परत खगेस होइ नहिं बारा।
जौं निर्विघ्न पंथ निर्बहई सो कैवल्य परमपद लहई।
अतिदुर्लभ कैवल्य परमपद संत पुरान निगम आगम वद।
राम-भजन सोइ मुकुति गोसाईं अन इच्छित आवइ बरिआईं।

तात्पर्य यह है कि कर्म-संन्यास से कर्म-योग सुगम होने के कारण श्रेष्ठ है। भक्ति-मार्ग भी कर्म-योग का ही दूसरा नाम है जिसका अन्तिम परिणाम भी मोक्ष की प्राप्ति ही है ॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥३॥

ज्ञेयः सः+नित्य-संन्यासी यः+न द्वेष्टि न काङ्क्षति। निर्द्वन्द्वः+हि महाबाहो! सुखम्+बन्धात्+प्रमुच्यते ॥

ज्ञेयः=√ज्ञा (क्या० पर० सक०=जानना)+यत्=जानने योग्य। जानना चाहिए। ज्ञातव्य है। समझना चाहिए।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह (कर्मयोगी)।

नित्य-संन्यासी=(पुं०) नित्यं संन्यासः यस्य सः (बहुव्री०)। संन्यास+णिनि संन्यासिन्+प्र० ए० व०। सदा संन्यासी।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

न=(अव्यय) न। नहीं।

द्वेष्टि=√द्विष् (अदा० उभ० सक०=वैर करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =द्वेष करता है।
न=(अव्यय) न। नहीं।
काङ्क्षति=√काङ्क्ष् (भ्वा० उभ० सक०=इच्छा करना। चाहना)+लट्, प्र० पु०, ए० व०=आकाङ्क्षा करता है। इच्छा करता है।
निर्द्वन्द्वः=(वि०) द्वन्द्व-वर्जितः। (पुं०) प्र० ए० व०। राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ।
हि=(अव्यय) क्योंकि। ही।
महाबाहो!=(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे बड़ी भुजाओं वाले (अर्जुन)!। हे शक्तिशाली (अर्जुन)! हे राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित होने में समर्थ अर्जुन!।
सुखम्=(अव्यय) सुखपूर्वक। सुख से। अनायास।
बन्धात्=(पुं०)√बन्ध् (क्र्या० पर० सक०=बाँधना)+घञ्=बन्ध+पंच० ए० व०=संसार रूप बन्धन से।
प्र√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छोड़ना)+कर्मवाच्य, लट्०, प्र० पु०, ए० व० =छोड़ा जाता है॥

अर्थ—हे महाबाहो (राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित होने में समर्थ अर्जुन)! जो पुरुष न (किसी से) द्वेष करता है। और न (कोई) आकाङ्क्षा करता है। वह (निष्काम कर्मयोगी) सदा-संन्यासी ही समझना चाहिए। क्योंकि (सब प्रकार के) द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुख-पूर्वक (जन्म-मरण के) बन्धन से छूट जाता है ॥३॥

व्याख्या—भगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को 'महाबाहो' कह कर सम्बोधित किया है जिसका प्रकट अर्थ "हे लम्बी भुजाओं वाले अर्जुन!" है परन्तु व्यंग्यार्थ "हे शक्तिशाली, सामर्थ्य, या लम्बी पहुँच वाले अर्जुन!" है। अर्थात् तू तो पहले ही निर्द्वन्द्व, शत्रुओं से द्वेषरहित और आकांक्षाहीन है जिससे नित्यसंन्यासी है, अपने आपको इस समय केवल पहचान नहीं रहा है जो मुझ से संन्यासी बन जाने और भिक्षा मांग कर निर्वाह करने की बात कहता है। तू मुझ नारायण का अन्तरङ्ग सखा है। इसलिए सब प्रकार के द्वन्द्वों को पछाड़ने में पूरी तरह से समर्थ है। पाप-पुण्य भी तुझे स्पर्श नहीं कर सकते। इसलिए संसार-बन्धन से मुक्त होना तेरे लिए क्या बड़ी बात है? तुझे सम्बन्धियों के मोह से विमुक्त होना कौन सा कठिन काम है। राग-द्वेषादि तेरे मन में कैसे टिके रह सकते हैं?

इस बात को भली भांन्ति समझ लेना चाहिए कि जो पुरुष यह समझ कर कर्म त्याग देता है कि मैं संन्यासी हूँ और संन्यासी को कोई कर्म नहीं करना चाहिए ऐसा पुरुष कर्म-संन्यास का ठीक अर्थ न समझ कर कर्म-हीन होकर आलसी और रुग्ण हो जाता है। और कर्म करने में होने वाले श्रम और कष्ट से कन्नी-कतराता है। परन्तु असली 'कर्म-संन्यासी' वह पुरुष है जो इन्द्रियों द्वारा लोक-हित के कर्म करता हुआ भी अन्त:करण में न कोई राग रखता है, न किसी से द्वेष करता है, न किसी अन्य द्वन्द्व से पीडित या लिपायमान होता है। उसे किसी प्रकार की न इच्छा होती है और न किसी से कोई आकांक्षा होती है। वह न किसी प्रकार के फल की वासना करता है। उसे न प्रतिकूल पदार्थों से द्वेष होता है न अनुकूल पदार्थों से प्यार होता है। सब प्रकार के द्वन्द्वों में सदा समदृष्टि रहता है। वास्तव में ऐसा निष्काम कर्म-योगी ही नित्य-संन्यासी होता है और वह बिना चाहे भी अनायास ही कर्म-बन्धन से छूट जाता है। अज्ञान-मूलक शुभाशुभ कर्म और उनके फल ही बन्धन रूप होते हैं जो जन्म-मरण के चक्र में डालने का हेतु बनते हैं। इस जन्म मरण के चक्र से छूट कर परमात्मा के स्वरूप में मिल जाना ही बन्धन से छूटना है। जो द्वेष रहित, निर्द्वन्द्व और आकांक्षाहीन पुरुष के लिए सदा सहज-सुलभ है, क्योंकि वास्तव में इन उपरोक्त गुणों वाला पुरुष ही नित्य या सदा-संन्यासी होता है ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य-योगौ पृथक्+बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकम्+अपि+आस्थितः सम्यक्+उभयोः+विन्दते फलम् ॥

सांख्य-योगौ=(नपुं० पुं०) संख्या (सम्यक् ज्ञानम्) अस्ति इत्यर्थे अण्=सांख्य =जिसमें ठीक ज्ञान होता है। योग (पुं०)√युज्+घञ्=संयोग (ईश्वर से जुड़ने का ढंग)=कर्मयोग। सांख्यं च योगं च (इतरेतर द्वन्द्व०)। द्विती० द्वि० व०=सांख्ययोगौ=सांख्य (आत्मज्ञान या तत्त्व-विवेक को) और निष्काम कर्मयोग को।

पृथक्=(अव्यय) अलग-अलग। भिन्न-भिन्न। एक दूसरे से पृथक्। भिन्न-भिन्न विरुद्ध फल देने वाले।

बालाः=(पुं०)√बल्=अण्=बाल। √बाल्+अच्=बाल+प्र० ब० व० =बच्चे। बालक। मूर्ख लोग। बच्चों जैसी कच्ची बुद्धि वाले। अज्ञानी लोग।

प्रवदन्ति=प्र√वद् (भ्वा० पर० सक०=बोलना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व० =कहते हैं।

न=(अव्यय) न। नहीं। न कि।

पण्डिताः=(पुं०) पण्डा (सत्य असत्य का विवेक करने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि) जाता अस्य, पण्डा+इतच्=पण्डित+प्र० ब० व०=पण्डित लोग। चतुर पुरुष। ज्ञानी लोग।

एकम्=(सर्व०, वि०, संख्या वाचक) एक+(पुं०) द्विती० ए० व०=एक को। ('सांख्य और योग इन दोनों में से) एक में।

अपि=(अव्यय) भी।

आस्थितः=(वि०) आ√स्था+क्त=आस्थित+ (पुं०) प्र० ए० व० =स्थित हुआ। अनुष्ठान करता हुआ।

सम्यक्=(वि०) प्र० ए० व०=भली भान्ति। ठीक-ठीक। अच्छी तरह।

उभयोः=(सर्व०) उभ+(पुं) षष्ठी० द्वि० व०=दोनों के।

विन्दते=√विद् (तुदा० उभ० सक०=पाना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०= पाता है। पा लेता है।

फलम्=(नपुं०) फल+द्विती० ए० व०=फल को।

अर्थ—सांख्य (संन्यास) और कर्म योग को मूर्ख लोग अलग अलग (फल देने वाले) कहते हैं न कि पण्डित लोग। (इन दोनों में से) एक में भी सम्यक् स्थित हुआ (पुरुष) दोनों के फल (परमात्मा में मिल जाने को) पा लेता है ॥४॥

व्याख्या—भिन्न पुरुषों द्वारा अनुष्ठान करने योग्य परस्पर विरुद्ध कर्म-संन्यास और कर्म-योग के फल में भी विरोध या अन्तर होना चाहिए। दोनों का कल्याण रूप एक ही फल कहना कैसे ठीक हो सकता है? अर्जुन की इस शंका का अनुमान करते हुए भगवान् कहते हैं—

हे अर्जुन! संशय और विपरीत भाव से रहित जो यथार्थ ज्ञान या आत्म-साक्षात्कार करने वाली बुद्धि है उसका नाम संख्या है। उस बुद्धि को जो पा लेता है उसका नाम सांख्य-योगी है। जो आत्म-ज्ञान का अन्तरङ्ग साधन है इसी का नाम सांख्य है जिसे संन्यास भी कहते हैं। अथवा "संख्यायन्ते ज्ञातव्यविषया येन तत्सांख्यम्" अर्थात् जिससे जानने योग्य विषयों का वर्णन किया जाए, उसका नाम सांख्य है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह एक शास्त्र का नाम है। परन्तु यहाँ उससे तात्पर्य नहीं है।

जब मनुष्य का अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, तो उसे आत्म-साक्षात्कार होने लगता है जिससे उसका सम्बन्ध देह, गेह और संसार से टूटने लग जाता है और उसके सम्पूर्ण कर्म परमात्मा में अनवच्छिन्न ध्यान लग जाने से स्वयं अपने आप ही मन्द पड़ जाते हैं। तब उसका नाम सांख्य-योगी या संन्यासी होता है। वह मृत्यु के बाद जन्म-मरण से रहित होकर परमात्मा में मिल जाता है। कर्म-योगी पुरुष के अन्तःकरण की शुद्धि निष्काम कर्मों के करने से हो जाती है। इसलिए वह भी मृत्यु के उपरान्त परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार परमात्मा को प्राप्त करने वाले ये दोनों पथ एक ही मोक्ष-प्राप्ति पर जा मिलते हैं। इसलिए इन दोनों को एक ही कहा गया है। हाथी को देखने वाले पाँच अंधों की तरह जिन कच्ची बुद्धि वाले अल्प पुरुषों ने तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों मार्गों को भली भांति अध्ययन नहीं किया वे हाथी के अंगों में प्रत्येक को अपने अनुभव के अनुसार हाथी समझ रहे अन्धों के सदृश इन दोनों को अलग-अलग मानकर व्यर्थ का वाद विवाद करते हैं। परन्तु श्रेष्ठ बुद्धि वाले, शास्त्रों के ज्ञाता, चतुर ज्ञानी, बुद्धिमान् पण्डित लोग अन्तिम फल मोक्षप्राप्ति की दृष्टि से सांख्य और योग दोनों में कोई अन्तर या भेद नहीं समझते हैं और मोक्षप्राप्ति के हेतु शरीर, इन्द्रियों और उनके विषयों तथा मन को नियन्त्रित कर लेते हैं। फिर आसक्ति, ममता, फलेच्छा और अभिमान से रहित होकर ईश्वरार्पण कर्म करते हैं जिससे अन्तःकरण की शुद्धि होकर उनको नैष्कर्मता प्राप्त हो जाती है तथा अन्तःकरण के सारे संकल्पविकल्प बन्द होकर बाह्य और भीतरी कर्म क्षीण होकर मन्द पड़ जाते हैं। चित्त-वृत्तियों का पूर्णतया निरोध होकर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है जिससे परमात्मा के ध्यान में अजस्र रूप से वृत्ति जुड़ जाती है और फिर शरीर के त्याग के साथ ही आत्मा-परमात्मा की एकरूपता हो जाती है।

कर्म का त्याग ज्ञान की आकांक्षा के बिना भी हो सकता है और ज्ञान की आकांक्षा के सहित भी हो सकता है। जो कर्म ज्ञान की आकांक्षा से होता है वह सांख्य कहलाता है और दूसरे को केवल कर्म-संन्यास कहते हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि तत्त्व-वेत्ता सांख्य-योगी लोकोपकारार्थ या धर्मसंस्थापनार्थ कर्म अपनी अनन्त शक्ति और तीव्र वेग से करने लग जाता है। जैसाकि वेदव्यास ऋषि, भगवान् श्रीकृष्ण-चंद्र, राजा जनक और श्रीस्वामी शंकराचार्य आदि अनेक महान् तत्त्व-वेत्ता महाज्ञानी महात्माओं ने किए हैं। ऐसा करता हुआ वह सांख्य-योगी पुरुष कर्म-योगी की दशा और फल को स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जब कर्मयोगी समत्व बुद्धि से निरन्तर कर्म करता हुआ अपने चित्त की निश्चलावस्था को प्राप्त हो जाता है तब उसकी प्रभु-प्राप्ति की

इच्छा इतनी तीव्र हो जाती है कि वह संसार से उपराम होकर कर्म को त्याग कर एकान्तसेवी बन जाता है जिससे उसके बाह्य कर्म अपने आप ही बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मयोगी पुरुष भी सांख्ययोगी की दशा और कर्म को प्राप्त हो जाता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अभ्यास के बल से सांख्य योगी कर्मयोगी बन जाता है और कर्मयोगी सांख्ययोगी बन जाया करता है। इस प्रकार ये दोनों योग दो मुखों वाली एक ही मोक्ष मूर्त्ति के एक तुल्य दो मुख या दो अंग ही हैं। इसलिए इनमें से एक योग में ही पूर्ण स्थित हुआ पुरुष दोनों के सांझे फल को प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक में 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह तात्पर्य है कि भली-भाँति आचरण किए जाने पर सांख्य और योग ये दोनों साधन अपना फल देने में सर्वथा स्वतन्त्र और समर्थ हैं।

देशपिता गाँधीजी इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"ज्ञान-योगी लोक-संग्रह रूपी कर्मयोग का विशेष फल संकल्प-मात्र से प्राप्त करता है। कर्म-योगी अपनी आसक्ति के कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञान-योगी की शान्ति का अधिकारी अनायास बनता है॥" ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

यत्+सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्...तत्+योगैः+अपि गम्यते। एकम्+सांख्यम्+च योगम्+च यः पश्यति सः+पश्यति।

यत्=(सर्व०) यद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

सांख्यैः=(पुं०) सांख्य+तृती० ब० व०=सांख्य योगियों द्वारा। ज्ञानयोगियों द्वारा।

प्राप्यते=प्र √आप् (चुरा०, स्वा०, पर० सक०=प्राप्त करना, पाना)+कर्मवाच्य, लट्०, प्र० पु०, ए० व०=पाया जाता है। प्राप्त किया जाता है।

स्थानम्=(नपुं०) √स्था+ल्युट्=स्थान+प्र० ए० व०(=मोक्षपद नाम का) स्थान।

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=वही (स्थान)। वह मोक्षपद नामक स्थान।

योगैः=(पुं०) योग+तृती० ब० व० योगियों द्वारा। निष्काम कर्म-योगियों द्वारा।

अपि=(अव्यय) भी ।
गम्यते=गम्+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व० =पाया जाता है । प्राप्त किया जाता है ।
एकम्=(सर्व०, वि०, संख्या०) एक+(पुं०) द्विती० ए० व०=एक (रूप) ।
सांख्यम्=(नपुं०, पुं०) सांख्य+द्विती० ए० व०=सांख्य योग को । ज्ञान योग को ।
च=(अव्यय) और ।
योगम्=(पुं०) योग+द्विती० ए० व०=योग को । निष्काम कर्म योग को ।
च=(अव्यय) और ।
यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो ।
पश्यति=दृश्+लट्०, प्र० पु० ए० व०= देखता है ।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ।
पश्यति=देखता है । यथार्थ देखता है ॥

अर्थ—ज्ञान योगियों द्वारा जो (मोक्ष-पद नामक) स्थान प्राप्त किया जाता है; वह कर्मयोगियों द्वारा भी पा लिया जाता है । (इसलिए) जो पुरुष सांख्य (ज्ञान) योग और कर्म-योग को एक (रूप) देखता है, वह ही (यथार्थ) देखता है ॥५॥

व्याख्या—जो कर्म-संन्यासी, ज्ञान-निष्ठा से युक्त हैं और पूर्व जन्म के कर्मों से शुद्ध हुए अन्तःकरण वाले हैं उनको श्रवण, मनन और तत्त्व-चिन्तन द्वारा ज्ञान-प्राप्ति से मोक्ष-स्थान की प्राप्ति होती है जिसको पाकर मनुष्य का पुनरावर्तन नहीं होता है तथा जिसके तुल्य ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, गोलोक, स्वर्गलोक आदि कोई भी ऊर्ध्व या अधः लोक नहीं है । क्योंकि इन सब लोकों को प्राप्त हुआ पुरुष, पुण्य-कर्मों के फल-स्वरूप सुख को भोग कर पुनः जन्म-मरण के चक्र में आ फंसता है जैसाकि भगवान् ने स्वयं कहा है—

"आब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन !
मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते ॥" (गी० ८।१६)
तथा—
"प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥" (गीता ६।४१)

इससे प्रकट है कि इस श्लोक में कथित प्राप्य स्थान से तात्पर्य ब्रह्मलोक आदि स्थान नहीं हैं । इस स्थान शब्द का अर्थ तो केवल वह स्थान ही है—"ये प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" गी० ८।२१)

अथवा

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" (गी० १५।६)
अर्थात् जहाँ पहुँचकर मुझ ब्रह्म में जीव मिलकर एकरूप हो जाता है और जन्म लेने के लिए फिर कभी संसार में वापस लौटकर नहीं आता वही मेरा परम धाम है।

यद्यपि वह परम धाम स्थान प्राणों के भीतर ही स्थित है और अधिकारी पुरुष को नित्य ही प्राप्त है, तो भी अज्ञान के आवरण के कारण इस प्रकार से भासमान नहीं होता, जैसे कर्ण-स्थित कुण्डल अथवा कण्ठ में पहनी हुई विस्मृत कण्ठी की ओर मनुष्य का ध्यान नहीं जाता।

फल की इच्छा से रहित होकर, केवल भगवदर्पण बुद्धि से, ज्ञान-प्राप्ति का उपाय मानकर, शास्त्र-विहित नैमित्तिक कर्मों के करने का नाम "योग" है। जिसे 'कर्मयोग' भी कहा जाता है। वह निष्काम कर्मरूप योग जिस अधिकारी पुरुष में विद्यमान होता है वह पुरुष कर्मयोगी कहलाता है। ऐसे कर्मयोगी के अन्तःकरण की शुद्धि उसके निष्काम कर्मों द्वारा होकर उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उसी ज्ञान-निष्ठा के द्वारा फिर उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

सांख्य योग में भी ज्ञान की सिद्धि विना कर्म किए नहीं होती। चाहे वे कर्म पूर्व जन्म में ही किए गए हों। कर्मयोगी के कर्म भी ज्ञान पूर्वक करने से ही निष्कर्मता रूप सिद्धि को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार सांख्य और कर्मयोग परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हुए परम पद की प्राप्ति करा देते हैं।

जिस प्रकार भारत से अमेरिका जाने के लिए पूर्व की ओर भी जाना ठीक है और पश्चिम की ओर चल कर भी वहाँ पहुँचा जाता है इसी प्रकार भगवान् तक पहुंचने के लिए भी ये सांख्य और योग एक ही प्रकार के दो मार्ग हैं। जिस प्रकार अमेरिका में जाने के लिए समुद्री ज़हाज अथवा हवाई जहाज तो होना ही चाहिए उसी प्रकार सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्ग 'कर्म' से ही प्रशस्त होते हैं अर्थात् दोनों में पहले तो कर्म करने ही पड़ते हैं जिनका सम्बन्ध ज्ञान की पूर्ण-प्राप्ति हो जाने से अपने आप ही टूट जाता है। इससे इन दोनों की एकरूपता में तनिक सन्देह नहीं रहता। क्योंकि मोक्षरूपी जो वस्तु ज्ञान से प्राप्त होती है वही कर्म-मार्ग से प्राप्त होती है। अतएव दोनों मार्गों की स्वाभाविक एकता है। इसलिए जो अधिकारी पुरुष सांख्य और कर्मयोग को एकरूप में देखता है वह यथार्थ देखता है, वह ठीक देखता है, वह असलियत को समझता है और जो पुरुष इन दोनों को भिन्न देखता है वह भैंगा है अर्थात् उसकी दृष्टि दोष युक्त है। वह यथार्थदर्शी नहीं है।

जिन अधिकारी पुरुषों में अल्पायु में ही संन्यास-पूर्वक ज्ञान-निष्ठा दृष्टिगोचर

होती है उनके पूर्व-जन्म के कर्म अत्यन्त प्रबल होते हैं और वे लोग किसी कारण विशेष से पूर्व-जन्म में मोक्ष की प्राप्ति से वंचित रह गये होते हैं। क्योंकि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जो कारण कभी प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता, उसका अनुमान उससे प्रकट हुए कार्य से ही किया जाता है। जैसे नदी में गन्धले जल की बाढ़ को देखकर अनुमान किया जाता है कि भू-भाग से यह नदी बहती हुई चली आ रही है वहाँ पर वर्षा अधिक हुई है। अथवा यदि नदी का जल अत्यन्त शीतल और निर्मल है तो नदी के उद्गम स्थान के आसपास सूर्य के ताप से अधिक बर्फ के पिघलने का अनुमान किया जाता है वैसे ही जन्म-जन्य ज्ञानी के पूर्व-जन्म के शुभ कर्मों का अनुमान लगाया जाता हैं।

और जिन अधिकारी पुरुषों में अभी भगवदर्पित कर्म-निष्ठा ही दिखाई देती है और संन्यास सहित ज्ञान-निष्ठा उत्पन्न हुई भासमान नहीं होती है उन पुरुषों में उस कर्म-निष्ठा के विद्यमान होने से भविष्य में होने वाली संन्यास-पूर्वक-ज्ञान-निष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। जैसे मेघों की रचना विशेष (वर्षास्तरी बादलों तथा कपासी वर्षा बादलों) से होने वाली वर्षा का अनुमान किया जा सकता है उसी प्रकार उस भगवदर्पित कर्म-निष्ठा से भावी ज्ञान-निष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। इसलिए अज्ञानी मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि पहले अन्तःकरण की शुद्धि के लिए निष्काम भाव से कर्म करता रहे। तब फिर अन्तःकरण के निर्मल हो जाने पर ज्ञान की प्राप्ति हो जाएगी। फिर ज्ञान हो जाने पर ही सांख्य-निष्ठा को ग्रहण करे, अन्यथा नहीं।

इससे प्रकट होता है कि सांख्य-निष्ठा और कर्म-योग का चोली-दामन का सम्बन्ध है। जो पुरुष इस रहस्य को जान लेता है और पूरी तरह से आचरण करता है, वही ज्ञानी और वैरागी है। और वास्तविक तत्त्व को देखता है। इस श्लोक से मिलते हुए दो श्लोक अद्भुत गीता के ११वें अध्याय में इस प्रकार हैं—

"योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रजायते ।
योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित् ॥ ४३ ॥
यदेव योगिनो यान्ति सांख्यैस्तदभिगम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥ ४४ ॥

[अर्थ—योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग की उत्पत्ति होती है। योग और ज्ञान से युक्त पुरुष को कुछ भी न पाने योग (अर्थात् दुष्प्राप्य) नहीं है ॥

जिस मोक्ष को योगी लोग प्राप्त करते हैं, वही ज्ञानियों द्वारा प्राप्त किया जाता है। जो पुरुष ज्ञान और योग को एक रूप में देखता है वही ठीक तत्त्व को समझता है।] ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

संन्यासः+तु महाबाहो ! दुःखम्+आप्तुम्+अयोगतः । योग-युक्तः+मुनिः+ब्रह्म न-चिरेण+अधिगच्छति ॥

संन्यासः=(पुं०) संन्यास+प्र० ए० व०=शरीर, इन्द्रियों=और मन द्वारा सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग। पारमार्थिक संन्यास।

तु=(अव्यय) परन्तु। तो।

महाबाहो !=(पुं०, सम्बो०) महान्तौ बाहू यस्य सः महाबाहुः (बहुव्री०)। ए० व०। हे लम्बी भुजाओं वाले अर्जुन ! हे शीघ्र ही ब्रह्म को पा लेने में समर्थ अर्जुन ! (भाई और मित्र को भी 'बाहु' कहा जाता है इसलिए अर्थ हुआ) हे धर्मात्मा युधिष्ठिर के भाई अर्जुन ! अथवा हे मुझ परमेश्वर महाशक्ति शाली के मित्र अर्जुन !
["महाबाहो" कह कर भगवान् ने अर्जुन को ऐसे प्रोत्साहित किया है कि तेरे लिए कोई कार्य भी कठिन नहीं है]।

दुःखम्=(नपुं०) दुःख+प्र० ए० व०। दुःख (रूप) है। कठिन है। दुःख देने वाला है।

आप्तुम्=√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=पाना)+तुमुन्=प्राप्त करने के लिए। प्राप्त होना।

अयोगतः=योगात् विना। योग=तसिल् (पंच० के अर्थ में)=विना कर्मयोग से। कर्म योग के विना (नञ् तत्पु०)।

योग-युक्तः=(वि० पुं०) वैदिकेन कर्म-योगेन ईश्वर-समर्पित-रूपेण फलनिरपेक्षेण युक्तः। प्र० ए० व०। योग-युक्त। फल की इच्छा न करके ईश्वरार्पण के भाव से किए वेद में कहे हुए कर्मों से युक्त हुआ। निष्काम कर्म योगी।

मुनिः=(पुं०) मननाद् ईश्वरस्वरूपस्य मुनिः=ईश्वर के स्वरूप का मनन करने वाला—मुनि। ईश्वर, धर्म और सत्यासत्य प्रभृति सूक्ष्म-विषयों का विचार करने वाला व्यक्ति। भगवत् स्वरूप को मनन करने वाला। [मुनि+प्र० ए० व०=मुनिः]

ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+द्विती० ए० व०=ब्रह्म को। परब्रह्म परमात्मा को।
न-चिरेण=(नञ्०) अचिरेण। तृती० ए० व०। चिर या देर लगाए विना। शीघ्र ही, जल्दी ही। तुरन्त।
अधिगच्छति=अधि√गम्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

अर्थ—परन्तु हे महाबाहो! (निष्काम कर्म) योग के विना संन्यास प्राप्त करना कठिन है। (भगवत् स्वरूप को मनन करनेवाला) मुनि तो निष्काम कर्म योग में युक्त हुआ शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त होता है॥६॥

व्याख्या—हे महाबाहो! (अर्थात् हे मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ अर्जुन!) तेरे बाहु (भ्राता) धर्मात्मा युधिष्ठिर और शूरवीर योद्धा भीम बहुत महान् पुरुष हैं तथा तेरा बाहु (मित्र) स्वयं मैं कृष्ण भी महान् हूँ क्योंकि साक्षात् परमात्मा हूँ। यदि फिर तू व्याकुल है तो यह बड़े आश्चर्य की बात है। मैं सृष्टि की रचना करता हूँ और सब भूतों के रूप में कर्म भी करता हूँ। तो फिर तू कर्म छोड़ने का विचार क्यों कर रहा है? और संन्यासी बनना चाहता है। मैं तुझे बार-बार बता चुका हूँ कि निष्काम और आसक्ति रहित काम किए बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती और बिना अन्तःकरण की शुद्धि हुए संन्यास धारण करना व्यर्थ या मिथ्या है तथा केवल दंभमात्र होता हैं। यद्यपि परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले पूर्वकाल से ही कर्म-योग और संन्यास ये दो मार्ग चले आ रहे हैं और अन्त में एक ही फल प्राप्त कराने वाले होने से दोनों एक ही हैं, यद्यपि कर्मयोग बहुत सरल और सुगम मार्ग है और संन्यास मार्ग बहुत दुर्गम और कठिन है परन्तु मेरे द्वारा यह पूर्व कहा जा चुका है कि—

> न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
> न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता ३।४॥)

अर्थात् पुरुष कर्म न करने से नैष्कर्म्य या संन्यास को प्राप्त नहीं होता और न ज्ञान प्राप्त हुए बिना कर्मों को न करने से सिद्धि ही प्राप्त होती है।

कर्म-योग पृथिवी पर चलने वाला एक प्रशस्त राजमार्ग है और संन्यास आकाश में उड़ने वालों का एक ऐसा मार्ग है जिसका नभ में कोई निशान या रेखा नहीं है। दोनों ही मार्गों में श्रम अवश्य करना पड़ता है और रेल या विमान आदि साधन रूप कर्म करने की परम आवश्यकता होती है। परन्तु यात्रा की समाप्ति पर फिर नित्य-शान्ति प्राप्त हो जाने पर किसी कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि एक बार प्रभु-प्राप्त हो जाने पर फिर कहीं जाना आना शेष नहीं रहता।

वैसे भी जब शरीर निष्काम कर्म करने में लगा हुआ हो तब मन सावधान, शान्त, एकाग्र और कर्म रहित हो जाता है जो वास्तव में नैष्कर्म्य या संन्यास अवस्था होती है। परन्तु जब शरीर आलस्य, दु:ख, भय या अज्ञान के कारण अथवा हठ से कर्म करना बन्द कर देता है, तब इस कर्महीन अवस्था में मन चोरों और शरारती लोगों की भान्ति चारों ओर दौड़ने और भटकने लगता है जिससे अन्त में वह चंचल, दु:खी, क्षुभित और डांवांडोल होकर अनर्थकारी हो जाता है। इस उपरोक्त नियम को आंगल भाषा वालों ने इन अति सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

"When body is at work, the mind is at rest ; and when the body is at rest, (viz, without any work), the mind roams about and turns restless."

अन्त:करण की शुद्धि करने वाले जो शास्त्र विहित नित्य नैमित्तिक कर्म हैं, उनको न करके जो पुरुष केवल हठ से संन्यास धारण कर लेता है, वह कभी सुख को प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसका अन्त:करण शुद्ध नहीं होता। जैसे विना रज से, मांजे हुए पात्र में डाला हुआ दूध दोषयुक्त और अशुद्ध हो जाता है इसी प्रकार कर्मरूपी रेत से मांजे विना हृदय रूपी पात्र भी शुद्ध नहीं होता और उस दोष युक्त हृदय पात्र में डाला हुआ संन्यास रूपी दूध भी दोष पूर्ण हो जाता है। फिर इससे उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती जिसके अभाव से केवल दु:ख ही मिलता है जिससे वह कर्मनिष्ठा और ज्ञान-निष्ठा दोनों से भ्रष्ट हो जाता है और महान् संकट में पड़ जाता है। तथा जो पुरुष अन्त:करण को शुद्ध करने वाले निष्काम कर्म-योग से युक्त है वह शुद्ध अन्त:करण वाला होकर मननशील मुनि, संन्यास को प्राप्त हो जाता है और फिर सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि कर्मयोग और संन्यास मोक्ष के दो स्वतन्त्र साधन हैं तो भी सुगमता और कठिनता के विचार से कर्मयोग श्रेष्ठ है। यह ठीक है कि समस्त दृश्य-संसार स्वप्न के सदृश मिथ्या है। केवल एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। यह सारा प्रपंच माया से उसी ब्रह्म में आरोपित है। वस्तुत: ब्रह्म के विना दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं। परन्तु इस बात को भली भान्ति सम्यक् रूप में न जानता हुआ संन्यासी अशुद्ध अन्त:करण वाला और केवल नाम मात्र का ही संन्यासी होता है। इसलिए हे महाबाहो ! पहले विना निष्काम कर्म किए संन्यास की प्राप्ति कठिन होती है। परन्तु भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला मुनि कर्मयोगी और परिश्रमी होकर परब्रह्म परमेश्वर को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

योग-युक्तः+विशुद्ध+आत्मा विजित+आत्मा जित+इन्द्रियः। सर्व-भूत+आत्म—भूत+आत्मा कुर्वन्+अपि न लिप्यते ॥

योग-युक्तः=(वि०) योगेन युक्तः (तृती० तत्पु०)। (पुं०) प्र० ए० व०= योग से युक्त। निष्काम कर्म-योगी।

विशुद्ध-आत्मा=(वि०) विशेषेण शुद्धः आत्मा यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। विशुद्ध अन्तःकरण वाला। अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरण वाला। [वि√शुध्+क्त=विशुद्ध]।

विजित+आत्मा=(वि०) विजितः आत्मा शरीरं यस्य येन वा सः (बहुव्री०) =भली-भान्ति वश में किए हुए शरीर वाला। विजित-देहः (पुं०) प्र० ए० व०।

जित-इन्द्रियः=(वि०) पुं०, प्र० ए० व०। जीती हुई इन्द्रियों वाला। जितेन्द्रिय।

[√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+क्त=जित=जीती हुई।]
[पाँच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पाँव, वाणी, गुह्य और उपस्थ। पांच ज्ञानेन्द्रियां—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा।]

सर्व-भूत+आत्म-भूत+आत्मा (वि०)=सर्वेषां [ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्तानां] भूतानाम् आत्मभूतः आत्मा यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। सब भूतों में अपनी आत्मा को देखने वाला। जिसकी अन्तरात्मा ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों की आत्मा हो गई है ऐसा यथार्थज्ञानी। अथवा—सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मरूप परमात्मा में एकी-भाव से स्थित हुआ। सारे जीवों की आत्मा के साथ और परमात्मा के साथ अपनी आत्मा की अभिन्नता को देखने वाला।

[प्रभु को 'परमात्मा' इसलिए कहते हैं कि वह सब का आदि-कारण परमेश्वर है। इस ब्रह्माण्ड में व्यष्टि और समष्टि रूप से जितनी चेष्टाएँ हैं वे सब उसी के कारण से हैं। वह परमेश्वर जीव-शरीर धारी होकर जब अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है, तब आत्मा कहलाता है। जब यह आत्मा मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर की संगी हो जाती है तब अपने को शुभाशुभ कर्मों से बँधी हुई मानने लगती है और अपने साथियों के साथ मिलकर जन्म-मरण के चक्र में फँसी रहती है। ब्रह्म-

ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर फिर वह परमात्मा में मिलकर तद्रूप हो जाती है।]

कुर्वन्=(वि०)√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+शतृ=कुर्वत्+(पुं०) प्र० ए० व०=(कर्म) करता हुआ। (लोकसंग्रह के लिए कर्म) करता हुआ।

अपि=(अव्यय) भी।

न=(अव्यय) न। नहीं।

लिप्यते=√लिप् (तुदा० उभ० सक०=लीपना)+कर्मवाच्य, लट्०, प्र० पु०, ए० व०=लीपा जाता है। लिपायमान होता है। लिप्त होता है। बँधता है।

अर्थ—अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरण वाला, अच्छी तरह से वश में किए हुए शरीर वाला, जीती हुई इन्द्रियों वाला और समस्त भूतों के आत्म-भूत परमात्मा को अपनी आत्मा जानने वाला निष्काम-कर्म-योग से युक्त पुरुष कर्म करता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता (अर्थात् कर्मों से बँधता नहीं है) ॥७॥

व्याख्या—जो पुरुष समत्व-बुद्धि और आसक्ति रहित मन से कर्म करता है, तथा किसी प्रकार के फल की इच्छा न करता हुआ, उसको ईश्वरार्पण करता है वह योग-युक्त या कर्म-योगी कहलाता है। यदि उसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो गया है अर्थात् उसके अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण का लेशमात्र अंश भी शेष नहीं रहा है और उसने अपनी आत्मा अर्थात् शरीर को अच्छी तरह से अपने वश में कर लिया है तथा दशों इन्द्रियों को जीता हुआ है एवं इस बात को भली भान्ति अनुभव कर लिया है कि जो परमात्मा सर्व-व्यापक और सब जीवों में विद्यमान है, वही मेरे शरीर में व्यापक है और उसी की सत्ता से सारे कार्य किए जा रहे हैं, सब जीवों को सुखी, सन्तुष्ट और प्रसन्न करना परमात्मा को ही सुखी सन्तुष्ट और प्रसन्न करना है, तथा स्वयं अपने आपको सुखी, सन्तुष्ट और प्रसन्न करना है, सब प्रकार के जीवों को दुःखी करना परमात्मा को दुःखी करना है, अपने आपको दुःखी करना है—ऐसा अनुभव और दृढ़ निश्चय करने वाला कर्म-योगी पुरुष कर्म करता हुआ भी कर्म से बन्ध कर जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता है। यहाँ "अपि" शब्द कहने से भाव यह है कि सांख्य योगी द्वारा जो कर्म किए जाते हैं उनको वह अपने द्वारा किए हुए मानता ही नहीं है। उसके विचार में तो गुण

ही गुणों में वरतते हैं। वह तो इन सब गुणों में और उनके द्वारा किये जा रहे कर्मों में अपना कोई सम्बन्ध नहीं समझता है। इसलिए उसका तो कर्मों से लिप्त होने या बंधने का कोई प्रयोजन ही नहीं है।

परन्तु कर्म-योगी तो कर्मों को अपने द्वारा ही होते हुए समझता है। किन्तु वह इन कर्मों को करता हुआ भी उनसे लिपायमान नहीं होता है। इस श्लोक में 'विशुद्धात्मा', 'विजितात्मा' और 'जितेन्द्रिय' इन तीन पदों से भगवान् ने क्रम से 'मनोदण्ड' 'कायदण्ड' और 'वाग्दण्ड' से युक्त त्रिदण्डी का वर्णन भी किया है जैसा कि मनु ने कहा है—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते॥

अर्थात् वाग्दण्ड, मनोदण्ड और देहदण्ड ये तीन दण्ड जिस पुरुष के पास नियम-पूर्वक हैं, वह त्रिदण्डी (तीन डण्डों वाला संन्यासी) कहलाता है—

यहाँ वाक् शब्द समस्त बाह्य इन्द्रियों का उपलक्षक है। इस श्लोक का भावार्थ यह है—

"विशुद्धात्मा', 'विजित-देह', 'जितेन्द्रिय' और अपने भीतर-बाहर तथा अन्य सब में एक ही परमात्मा को अपनी आत्मा के रूप में अनुभव करने वाला कर्म-योगी कर्मों को करता हुआ भी कर्म-बन्धन में नहीं बंधता है॥

इस श्लोक पर श्रीज्ञानेश्वर जी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"जो लोग अपने मन को हटाकर माया और मोह से बिल्कुल अलग कर लेते हैं और गुरु के उपदेश से अपने मन का सारा मल धो डालते हैं और उसे आत्म-स्वरूप में भली भान्ति स्थापित कर देते हैं और जिस प्रकार नमक जब तक समुद्र में नहीं पड़ता, तब तक वह समुद्र से भिन्न और आकार के विचार से उसके सामने बहुत ही तुच्छ जान पड़ता है पर जब वह नमक समुद्र में मिलकर उसके साथ एक-जीव हो जाता है, तब वह भी समुद्र के समान ही विस्तृत और अनन्त हो जाता है। इसी प्रकार जिसका मन संकल्प विकल्प से बाहर निकलकर चैतन्य में मिलकर उसके साथ समरस हो जाता है वह पुरुष यद्यपि देखने में देशकाल की मर्यादा के विचार से अन्यान्य लोगों की तरह एक देश में स्थित जान पड़ता है तो भी वह अपने आत्म-स्वरूप से तीनों भुवनों को व्याप्त कर लेता है। अर्थात् ऐसे पुरुष के सम्बन्ध में "कर्त्ता" "कर्म" और इसी प्रकार की बातों का सहज में अन्त हो जाता है और चाहे वह सब प्रकार के कर्मों का आचरण भी क्यों न करता रहे, तब भी सदा अकर्ता ही रहता है। क्योंकि जब ऐसे पुरुष के अपने देह-भाव का भी स्मरण नहीं रह जाता तब उसमें कर्तृत्व भला किस प्रकार लग सकता है॥७॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

न+एव किञ्चित्+करोमि+इति युक्तः+मन्येत तत्त्ववित् । पश्यन्+शृण्वन्+स्पृशन्+जिघ्रन्+अश्नन्+गच्छन्+स्वपन्+श्वसन् ॥

प्रलपन्+विसृजन्+गृह्णन्+उन्मिषन्+निमिषन्+अपि । इन्द्रियाणि+इन्द्रिय+अर्थेषु वर्तन्ते+इति धारयन् ॥

न=(अव्यय) न । नहीं ।

एव=(अव्यय) ही । भी ।

किञ्चित्=(अव्यय) किम्+चित्=कुछ । थोड़ा ।

करोमि=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लट् उ० पु०, ए० व०=(मैं) करता हूँ ।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन् । ऐसा । इस प्रकार ।

युक्तः=(वि)√युज्+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व० । जुड़ा हुआ । कर्म-योग में युक्त । कर्म-योगी । ईश्वर-ध्यान में मग्न हुआ (सांख्य योगी) । समाहित हुआ ।

मन्येत √मन् (दिवा० आत्म० सक०=मानना)+विधिलिङ्० प्र० पु०, ए० व०=माने ।

तत्त्व-वित्=(वि०) आत्मनो याथात्म्यं तत्त्वं वेत्ति इति तत्त्ववित्=आत्मा के यथार्थ स्वरूप का नाम 'तत्त्व' है; उसको जानने वाला । परमार्थदर्शी । तत्त्व को जानने वाला ।

[√तन्+क्विप्, तुक्, पृषो० साधुः, तस्य भावः, तत्+त्व=तत्त्व=वास्तव दशा या परिस्थिति । आत्मा का यथार्थ स्वरूप । (नपुं०) ।

वित्=√विद् (जानना)+क्विप्=वित्+(पुं०) प्र० ए० व०=जानने वाला ।]

पश्यन्=(वि०)√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+शतृ=पश्यत्+(पुं०) प्र० ए० व०=पश्यन्=देखता हुआ ।

शृण्वन्=(वि०)√श्रु० (स्वा० पर० अक०=सुनना)+शतृ=शृण्वत्+(पुं०) प्र० ए० व०=सुनता हुआ ।

स्पृशन्=(वि०) √स्पृश् (तुदा० पर० सक०=छूना)+(पुं०), प्र० ए० व० =छूता हुआ।

जिघ्रन्=घ्रा (भ्वा० पर० सक०=सूंघना)+शतृ=जिघ्रत्+(पुं०) प्र० ए० व०=सूंघता हुआ।

अश्नन्=√अश् (क्रया० पर० सक०=खाना। भोजन करना)+शतृ०=अश्नत्+(पुं०) प्र० ए० व०=खाता हुआ। भोजन करता हुआ।

गच्छन्=गम्(भ्वा० पर० सक०=जाना। गमन करना)+शतृ०=गच्छत्+(पुं०) प्र० ए० व०=जाता हुआ। गमन करता हुआ। चलता हुआ।

स्वपन्=√स्वप् (अदा० पर० अक०=सोना)+शतृ+स्वपत्+(पुं०) प्र० ए० व०=सोता हुआ।

श्वसन्=√श्वस् (अदा० पर० अक०=श्वास या सांस लेना)+शतृ=श्वसत्+(पुं०) प्र० ए० व०=श्वास या सांस लेता हुआ।

प्रलपन्=प्र √लप् (भ्वा० पर० सक०=बोलना)+शतृ=प्रलपत्+(पुं०) प्र० ए० व०=बोलता हुआ।

विसृजन्=√विसृज् (तुदा० पर सक०=छोड़ना)+शतृ=विसृजत्+(पुं०) प्र० ए० व०=छोड़ता हुआ। त्यागता हुआ।

गृह्णन्=√ग्रह् (क्र्या० उभ० सक०=लेना। ग्रहण करना)+शतृ=गृह्णत्+(पुं०) प्र० ए० व० =लेता हुआ। ग्रहण करता हुआ।

उन्मिषन्=उत्√मिष् (तुदा० पर० सक०=आंख खोलना)+शतृ=उन्मिषत्+(पुं०) प्र० ए० व०=आंखें खोलता हुआ।

निमिषन्=निमिष् (तुदा० पर० सक०=आंख बन्द करना+शतृ=निमिषत्+(पुं०) प्र० ए० व०=आंखें बन्द करता हुआ।

अपि=(अव्यय) भी।

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्रिय+प्र० ब० व०=इन्द्रियाँ।

इन्द्रिय+अर्थेषु=(नपुं०) इन्द्रियाणाम् अर्थेषु (षष्ठी० तत्पु०)। सप्त० ब० व०। इन्द्रियों के अर्थों में। अपने-अपने विषयों में। [शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन विषयों में]

वर्तन्ते=√वृत्(भ्वा० आत्म० सक०=वर्तना, विद्यमान होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=वर्त रही हैं। बर्तती हैं।

इति=(अव्यय) ऐसा। इस प्रकार।

धारयन्=√धृ (भ्वा० उभ० सक०=धारण करना) +शतृ=धारयत्+(पुं०) प्र० ए० व०=धारण करता हुआ। समझता हुआ।

अर्थ—तत्त्व (आत्मा और परमात्मा के यथार्थ स्वरूप तथा सृष्टि की रचना करने वाले समस्त तत्त्वों) को जानने वाला सांख्य योगी (या महाविज्ञानी पुरुष), देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता या स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता या भोजन करता हुआ, चलता या गमन करता हुआ, सोता हुआ, सांस या श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता या त्याग करता हुआ, लेता या ग्रहण करता हुआ, आंखें खोलता हुआ, और आँखें बन्द करता हुआ भी "सब इन्द्रियां (श्रवणादि) अपने अपने विषयों में बर्त रही हैं [अर्थात् केवल इन्द्रियां ही अपना अपना काम कर रही हैं]" इस प्रकार धारणा करता हुआ (अर्थात् निश्चय पूर्वक मानता हुआ) मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।" ऐसा माने ॥८,९॥

व्याख्या—जो पुरुष युक्त है अर्थात् सदा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित रहता है तथा चित्त को निरुद्ध किये हुए है तथा सारे संसार को क्षण-भंगुर और स्वप्नवत् समझता है, केवल निर्गुण निराकार एक परमात्मा को ही सदा सर्वत्र, सर्व-व्यापक और विद्यमान साक्षात् देखता है, तत्त्वों को ठीक तरह से जानता और पहचानता है, महाविज्ञानियों की भाँति सृष्टि की रचना करने वाले शत-तत्त्वों से भली भान्ति पूरी तरह से परिचित है ऐसा सांख्य-योगी साधक, आँखों से देखता हुआ, कानों से सुनता हुआ, त्वचा द्वारा दृश्यमान और अदृश्यमान वस्तुओं को स्पर्श करता हुआ, सुगन्धि-दुर्गन्धि आदि को सूंघता हुआ, नाना प्रकार के सात्त्विक षट्-रस युक्त भोजनों को भक्षण करता हुआ, देवमन्दिरों, तीर्थों और शुभ स्थानों में गमन करता हुआ, स्वप्नावस्था और गूढ़-निद्रा में सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, मुख द्वारा बोलता हुआ, हाथों से किसी को कुछ देता हुआ, गुह्य तथा उपस्थ द्वारा मल-मूत्र त्यागता हुआ, हाथों द्वारा किसी से कुछ ग्रहण करता हुआ, नेत्र बन्द करता और खोलता हुआ भी सदा अपने अन्तःकरण में यह बात दृढ़ निश्चय पूर्वक धारण करे कि ये सब कर्म केवल शरीर और उसकी इन्द्रियां ही कर रही हैं, "मैं" तो इनमें से किञ्चिन्मात्र भी कोई कर्म नहीं करता हूँ। "मैं" कहने से यहाँ दृश्यमान शरीर से अभिप्राय नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय-समवाय होने से शरीर तो ये सारे कर्म करता ही है। परन्तु शरीर के भीतर गन्ने में रस की तरह अथवा तिल में तेल की भान्ति, किंवा शरीर में व्यापक वायु, जल, अग्नि, आकाश या ऊर्जा के सदृश जो आत्मा शरीर के कण कण या उसकी प्रत्येक कोशिका में व्याप्त और अलिप्त है उसका नाम "मैं" है। जो स्वयं देखना, सुनना या सूंघना आदि कोई क्रिया नहीं करता है क्योंकि ये सारे कार्य तो शरीर या उससे जुड़ी हुई इन्द्रियों के हैं जो मन और बुद्धि को अपने वश में करके आत्मा को कर्म का करने वाला मनवा

लेती हैं जिससे शरीर और इन्द्रियों द्वारा किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिये जीवात्मा को जन्म लेकर शरीर रूपी पिंजरे में फँसना पड़ता है। इससे इस श्लोक में भगवान् उपदेश देते हैं कि "तत्त्ववित् तथा युक्त पुरुष को मन, वाणी, और शरीर तथा इन्द्रियों द्वारा हो रहे कर्मों को आत्मा के माथे नहीं थोपना चाहिए"।

जिस प्रकार मोटर-सवार मोटर को त्याग कर हवाई जहाज पर सवार हो जाता है, अपनी मोटर को हवाई जहाज पर नहीं लादता इसी प्रकार ऊर्ध्व गमन करने वाला ब्रह्मपथगामी पुरुष शरीर और इन्द्रियों से बनी हुई कर्मों की मोटर को किसी प्रकार का लालच किए बिना सदा के लिए यहीं छोड़ जाता है।

यहाँ देखना, सुनना, छूना, सूंघना और भोजन करना ये क्रमशः नेत्र, श्रोत्र, त्वच, घ्राण और रसना इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की पाँच क्रियाएँ हैं इसी प्रकार 'गच्छन्' से पांव, 'गृह्णन्' से हाथ, 'प्रलपन' से वाणी, और 'विसृजन्' से पायु और उपस्थ इन पांच कर्मेन्द्रियों के व्यापार क्रमशः सूचित किए गए हैं। इन कर्मों में उपस्थ इन्द्रियों के विषयानन्द व्यापार का भी समावेश है। 'श्वसन्' पद जो प्राण का श्वास-निश्वास रूप व्यापार है, वह प्राण, समान, अपान, व्यान, और उदान इन पाँच प्राणों के व्यापार का भी उपलक्षक है। और 'उन्मिषन्' तथा 'निमिषन्' इन दो पदों द्वारा कहा गया जो आँखे खोलना तथा बन्द करना व्यापार है वह नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय इन प्राणों के पांचों व्यापारों का भी उपलक्षक है। 'नाग' शरीरस्थ वह वायु होती है जिसके द्वारा डकारें आती हैं। 'कूर्म' वह वायु होती है जिससे आँखें मन्द वेग से थरथराया करती हैं। 'कृकल' नाम वाली नेत्रों की एक विशेष क्रिया होती है। 'देवदत्त' जंभाई लाने वाली वायु का नाम है। 'धनंजय' आँखों और शरीर को पुष्ट करने वाला वायु होता है। इस प्रकार नाग आदि पाँचों क्रियाएँ आखों के खुलने और बन्द होने के पाँच प्रकार होते हैं। 'स्वप्न' बुद्धि का एक नींद रूप व्यापार है जो बुद्धि के साथ चित्त, मन अहंकारादि अन्तःकरण के व्यापारों का भी बोधक है। इस प्रकार वह तत्त्व-वेत्ता सांख्य-योगी, शरीर, इन्द्रियों, प्राण और अन्तःकरण की समस्त क्रियाओं को करता हुआ भी, आत्मा को अकर्ता ही समझे और इन सब क्रियाओं का सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियों के साथ ही जाने।

कर्म-योगी द्वारा तो उसके वर्ण, आश्रम, प्रकृति, प्रारब्ध, देश, काल और संगति के अनुसार शरीर-यात्रा और लोक-हितार्थ शास्त्रानुकूल चिकित्सा, सेवा, उपदेश, लिखना, पढ़ना, सुनना, विचार करना, समझना और सोचना

आदि सब क्रियाएँ होती ही रहती हैं। इस प्रकार तत्त्व वेत्ता, युक्त पुरुष इन सब व्यापारों को करता हुआ भी कर्म-बन्धन से बंधायमान नहीं होता।

जब कोई पुरुष स्वप्न देखता है, तो उसे सुन्दर भवन दिखाई देते हैं जिनमें वह प्रवेश करता है। उनमें सब सुख-सामग्री और उसकी कान्ता सुन्दर वस्त्र धारण किए विराजमान होती है जो अपने कोमल सुन्दर हाथों से उसको भी श्वेत-कोमल-कौशेय-वस्त्र धारण कराती है। सुस्वादु स्निग्ध षट्-रस-युक्त भोजन खिलाती है। वह उसके साथ रमण करता हुआ विषयानन्द का स्वर्गीय सुख भोगता है और उससे उत्पन्न सुन्दर शिशु का लालन-पालन करता है। उस सुन्दरी और उसके शिशु को कार में बिठला कर स्वयं भी कार पर आरूढ होता है और सुन्दर तथा पुण्य स्थानों की यात्रा करता है। इस प्रकार दर्श, स्पर्श, हर्ष, आनन्द मंगल आदि भोगते हुए की नींद से आंख खुल जाती है तो सारा स्वप्न-संसार मिथ्या हो जाता है। स्वप्न-काल में शरीर, इन्द्रिय, मन और प्राणों द्वारा जिन क्रियाओं के होने की प्रतीति होती थी वास्तव में उन सब क्रियाओं का होना मिथ्या व्यापार था। इसी प्रकार संसार में होने वाली सब क्रियाएँ मिथ्या हैं। आत्मा से इनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जब पुरुष इनको आत्मा के व्यापार मान लेता है तो कर्म-बन्धन से बंधा हुआ जन्म-मरण के चक्र में फँस जाता है। वास्तव में इस संसार में कुछ भी नहीं हो रहा है। यह सब माया का एक मिथ्या खेल है। प्रकृति नटी की लीला है। गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं। इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं। इन्द्रियां और उनके सारे विषय सत्त्वादि तीनों गुणों के विषय हैं और तीनों गुण प्रकृति के कार्य हैं। इसलिए आत्मा को इन सब से अलग समझ कर कर्मों के बन्धन से छुड़ाना चाहिए। योग-वासिष्ठ '३।९।५।।' में जीवन्मुक्त का लक्षण बताते हुए इस भाव को इस प्रकार दर्शाया गया है—

"बौधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत्।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ।।"

[**अर्थ**—जो सब व्यवहार करता हुआ यह समझता है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ और संसार में सोये हुए की भान्ति रहता है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है।]

देश-पिता महात्मा गाँधी जी इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए अपनी अनुभूति इस प्रकार प्रकट करते हैं—

'जब तक अभिमान है तब तक ऐसी अलिप्त स्थिति नहीं आती। अतः विषयासक्त मनुष्य यह कह कर छूट नहीं सकता कि 'विषयों को मैं नहीं

भोगता, इन्द्रियां अपना काम करती हैं।' ऐसा अनर्थ करने वाला न गीता को समझता है और न धर्म को जानता है। यह बात अगले ही श्लोक से स्पष्ट है।"

श्रीलोकमान्य तिलक महाराज लिखते हैं—

"कोई पुरुष ज्ञानी हो जाए, तो भी श्वासोच्छ्वास आदि इन्द्रियों के कर्म उसकी इन्द्रियां करती ही रहेंगी। और तो क्या, पल भर जीवित रहना भी कर्म ही है। फिर यह भेद कहां रह गया कि संन्यास मार्ग का ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ता है। पर अहंकार युक्त आसक्ति छूट जाने में वे ही कर्म बंधक नहीं होते, इस कारण आसक्ति का छोड़ना ही इसका मुख्य तत्त्व है।"

इस पर श्रीज्ञानेश्वर जी कहते हैं—

"कर्म-योगी यदि देह का परित्याग न भी करे, तो भी उस में निर्गुण और निराकार ब्रह्म के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाए तो वह भी दूसरे साधारण मनुष्यों की भान्ति शरीर धारण करके सब प्रकार के कर्म करता हुआ दिखाई देता है। दूसरों की भान्ति आंखों से देखता है, कानों से सुनता है। परन्तु वह इन कर्मों में आसक्त नहीं होता। उसे स्पर्श का भी ज्ञान होता है और बास या गन्ध का भी भान होता है। वह प्रसंगानुसार उपर्युक्त भाषण भी करता है। वह भोजन भी करता है। निषिद्ध वस्तुओं का परित्याग भी करता है और सोने के समय सुख से सोता भी है। वह अपनी इच्छानुसार चलता फिरता भी है। इस प्रकार वह सब तरह के कर्मों का समुचित आचरण करता रहता है। हे अर्जुन! अब मैं अधिक क्या कहूँ, वह श्वासोच्छ्वास और पलकों को उठाने और झपकाने की सब क्रियाएँ भी करता है, परन्तु कर्मयोगियों को प्राप्त होने वाले स्वानुभव के बल से वह फिर "अकर्ता" ही बना रहता है। क्योंकि जब तक वह माया की सेज पर सोया हुआ था तब तक तो वह स्वप्न के झूठे सुख के फेर में पड़ा हुआ था परन्तु अब ज्ञान सूर्य का उदय हो जाने के कारण वह जाग कर होश में आ चुका है।" ॥८,९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्मणि+आधाय कर्माणि सङ्गम्+त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न सः+पापेन+पद्म-पत्रम्+इव+अम्भसा।

ब्रह्मणि=(नपुं०)=ब्रह्मन्+सप्त० ए० व०=ब्रह्म में। परमात्मा में। ईश्वर में।

आधाय=आ√धा (जुहो० उभ० सक०=रखना)+ल्यप्=अर्पण करके।

कर्माणि=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ब० व०=कर्मों को।

सङ्गम्=(पुं०) सङ्ग+द्विती० ए० व०=सङ्ग को। आसक्ति को।

त्यक्त्वा=√त्यज् (भ्वा० पर० सक०=त्याग करना)+क्त्वा=त्याग कर। छोड़कर।

करोति=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लट्०, प्र०, पु०, ए० व०= करता है।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र०, ए० व०=जो। लिप्यते=√लिप् (तुदा० उभ० सक०=लीपना)+(कर्मवाच्य) लट्०, प्र० पु०, ए० व०=लीपा जाता है। लिप्त होता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

पापेन=(नपुं०) पाप+तृती० ए० व०=पाप से।

पद्म-पत्रम्=(नपुं०) षष्ठी० तत्पु०। द्विती० ए० व०।=पद्म-पत्र की। कमल के पत्र की।

इव=(अव्यय) सदृश। समान। तरह।

अम्भसा=(नपुं०) अम्भस्+तृती० ए० व०— जल द्वारा। जल से।

अर्थ—जो मनुष्य (अपने द्वारा किए जा रहे) कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को छोड़कर (उन कर्मों को) करता है वह (सरोवर में उगे हुए) कमल के पत्र के सदृश जल से न गीला होने की तरह पाप से लिप्त नहीं किया जाता है ॥१०॥

व्याख्या—हे अर्जुन! पूर्व श्लोकों में कहा गया सांख्य-योग साधन देहाभिमानियों द्वारा किया जाना अति कठिन होता है। क्योंकि सारे लोग तत्त्व-ज्ञानी नहीं होते। इसकी अपेक्षा कर्म-योग सुगम होता है। इसलिये कर्म योगी ईश्वर-भक्त में अपने द्वारा किये जा रहे सम्पूर्ण कर्मों में पूर्णतया यह भाव भरा रहना चाहिए कि स्वामी के लिए कर्म करने वाले नौकर की भान्ति मैं भी सारे काम परमात्मा के लिए ही करता हूँ। इसी का नाम अपने कर्मों को ईश्वरार्पण करना है। भक्त तो कर्मों को करता हुआ मोक्ष के फल की आसक्ति से भी रहित होता है।

हे अर्जुन! कमल का पौधा जल में उत्पन्न होता है, जल में ही पालित और पोषित होता है। परन्तु ज्यों ज्यों जल बढ़ता है त्यों त्यों कमल-बिस

अर्थात् कमल की नाल भी ऊँची ही होती जाती है और उसके पत्ते सदा जल पर छाये रहते हैं। जल में कभी डूबते नहीं हैं। बहुत चिकने होते हैं। इसलिए जल से भीगते या गीले भी नहीं होते। इसी प्रकार यह संसार भी एक बहुत बड़ा सरोवर है, जिसमें पापरूपी जल भरा हुआ है। दूसरे जीवों की भान्ति भगवान् का भक्त भी इस संसाररूपी सरोवर में कमलवत् ही उत्पन्न होता है, उन कर्मों द्वारा ही पालित-पोषित होता है, जो पाप और पुण्य दोनों का कारण होते हैं, दिन-रात सोते-जागते मनुष्यों द्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म होते रहते हैं। मनुष्य खेती करता है, व्यापार करता है। नाना प्रकार से श्रम करके जीविकोपार्जन करता है, पठन-पाठन में लगा रहता है। शिल्प का धंधा अपनाता है, ईश्वर की भक्ति करता है देव-पूजन, अर्चन करता है, माता-पिता और गुरु-जनों की सेवा करता है। यज्ञ, दान, तप, जप, स्नान, पान, इत्यादि अनेक कर्म करता है। परन्तु जो पुरुष इन सम्पूर्ण कर्मों को यह समझ कर करता है कि ये सब कर्म मेरे शरीर और सब अंगों में विराजमान परमात्मा के द्वारा ही किए जा रहे हैं, मैं तो कुछ भी करने के योग्य नहीं हूँ ऐसा समझ लेने से उसकी उन कर्मों में किंचिन्मात्र भी आसक्ति और फलेच्छा नहीं रहती। इसलिए वह पुरुष इन कर्मों से इसी प्रकार लिपायमान नहीं होता जिस प्रकार कमल पत्र पानी में रहकर भी गीला नहीं होता।

तीसरे अध्याय के श्लोक २८ में कहा गया है कि "गुण ही गुणों में वर्तते हैं" इस अध्याय के श्लोक ६ में आया है कि "सब इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में वर्त रही हैं"। तेरहवें अध्याय के श्लोक २६ में लिखा है कि "सम्पूर्ण कर्म प्रकृति द्वारा किए जाते हैं"। अध्याय १४ श्लोक ३ में भगवान् ने कहा है—"मम योनिर्महद्ब्रह्म" अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है। इस श्लोक में 'ब्रह्म' का अर्थ प्रकृति दर्शाया गया है। उपरोक्त इन चारों श्लोकों को दृष्टि-गोचर रखकर कई टीकाकारों ने इस श्लोक का निम्नलिखित अर्थ किया है—

"जो मनुष्य आसक्ति को त्याग करके कर्मों को प्रकृति के प्रति अर्पण करके करता है वह जल में कमल पत्र की तरह पाप से लिप्त नहीं होता है।'

यद्यपि यह अर्थ भी ठीक हो सकता है क्योंकि ईश्वर को 'अकर्ता' कहा जाता है। परन्तु इन्द्रियां और उनके समस्त विषय सत्त्वादि तीनों गुणों के कार्य हैं। और गुण प्रकृति के कार्य हैं। प्रकृति जड़ रूप है और परमात्मा की प्रेरणा के विना कुछ भी कर सकने में असमर्थ है। इससे सब कर्म वास्तव में परमात्मा की प्रेरणा से होते हैं। यद्यपि उन कर्मों को करती हुई प्रकृति

ही दिखाई देती है। इससे भी अधिक विशेष बात यह है कि परमात्मा को कर्म भेंट कर देना, प्रकृति को कर्म अर्पण करने की अपेक्षा अधिक लाभदायक व्यापार है। हाँ सांख्य-योगी यदि सब कर्म प्रकृति पर डाल दे तो और बात है। परन्तु कर्म-योगी को तो सब कर्म परमात्मा के अर्पण करना ही श्रेयस्कर है। इस धारणा से फिर कर्म के साथ कर्तृत्वादि संग छूट जाता है। जिससे आत्मा कमल-पत्र-वत् निर्लिप्त, निर्विकार, असंग और अचल ही रहती है और उस कर्म-योगी के अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है जो पहले ज्ञान-प्राप्ति और फिर मोक्ष का कारण बन जाती है ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कायेन मनसा बुद्धया केवलैः+इन्द्रियैः+अपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गम्+त्यक्त्वा+आत्म-शुद्धये।

कायेन=(पुं०) चीयतेऽन्नादिभिः (जो अन्नादि से बढ़ता है)√चि (चुरा०, स्वा० उभ० सक०=चयन करना)+घञ्=काय+तृती० ए० व०= शरीर से। देह द्वारा।

मनसा=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेन, √मन्+असुन्=मनस्+तृती० ए० व०=मन से।

बुद्धया=(स्त्री०)√बुध् (जानना)+क्तिन्=बुद्धि+तृती० ए० व०= बुद्धि से।

केवलैः=(वि०) केवल+(पुं०) तृती० ए० व०=केवलों द्वारा। एक मात्रों द्वारा। केवल (काया, मन, बुद्धि और इन्द्रियों) द्वारा।

[केवल शब्द का, काया, मन, बुद्धि और इन्द्रिय—इन सब के साथ सम्बन्ध है]

"मैं सब कर्म ईश्वर के लिए ही करता हूँ, अपने हेतु फल के लिए नहीं"। इस भाव से समत्व बुद्धि-रहित लोग केवल शरीरादि के द्वारा।

इन्द्रियैः=(नपुं०) इन्द्रिय+तृती० ए० व०=इन्द्रियों से।

अपि=(अव्यय) भी।

योगिनः=(पुं०) योगिन्+प्र०ब० व०=योगी लोग। निष्काम कर्म-योगी लोग।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।

कुर्वन्ति=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०= करते हैं।

संगम्=(पुं०)√सञ्ज्+घञ्=सङ्ग+द्विती० ए० व०=संग को। संसर्ग को। आसक्ति को।

त्यक्त्वा=√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=त्यागना)+क्त्वा=त्याग कर।

आत्म-शुद्धये=(स्त्री०) सत्त्व-शुद्धये=अन्तःकरण की शुद्धि के लिए।

अर्थ—कर्म-योगी लोग आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए (समत्व बुद्धि से रहित) केवल शरीर से, इन्द्रियों से, मन से तथा बुद्धि से भी कर्म करते हैं ॥११॥

व्याख्या—मोक्ष की इच्छा वाले कर्मयोगी लोग अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए, स्वर्गादि फलेच्छा का परित्याग करके, केवल शरीर द्वारा, केवल इन्द्रियों द्वारा, या केवल मन के द्वारा अथवा केवल बुद्धि के द्वारा अपने वर्णाश्रम के धर्मानुसार नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों को किया करते हैं। जब अहंकार-बुद्धि एवं फलाशा को छोड़ कर केवल कायिक, केवल वाचक अथवा केवल मानसिक, किंवा बौद्धिक कोई भी कर्म किया जाए तो कर्ता को उसका कोई दोष नहीं लगता। साधक लोग अपनी इन्द्रियों, शरीर, मन और बुद्धि को कभी बेकार नहीं रहने देते। इनमें से किसी न किसी के द्वारा सदा कर्म करते ही रहते हैं। परन्तु इनके सारे कर्म कर्तृत्वादिभाव से रहित, फलेच्छा से रहित, आसक्ति से रहित और अन्तःकरण की शुद्धि के लिए होते हैं। तथा वे कर्म परमात्मा को समर्पण कर दिए जाते हैं। किसी का भार उठाना, लोक-कल्याण-हित संकट सहना, तथा किसी को शरीर द्वारा सहारा देना, इत्यादि कायिक कर्म हैं। चलना, फिरना, लिखना, दौड़ना, लेना देना इत्यादि सारे कर्मेन्द्रियों के कर्म हैं। सुनना, सूंघना, पढ़ना, उपदेश करना इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों के कर्म हैं। परोपकारार्थ कल्पना करना मन का काम है। मन की कल्पना को सुचारु रूप देना और उसकी ठीक योजना बनाना बुद्धि का कार्य है। इस प्रकार इन चारों से सम्बन्ध रखने वाले और भी बहुत से कार्य हो सकते हैं। इन समस्त कार्यों को यथाकथित रीत्यनुसार संपन्न करके योगी लोग अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लेते हैं ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा
शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण
फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः कर्म-फलम्+त्यक्त्वा शान्तिम्+आप्नोति नैष्ठिकीम् । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः+निबध्यते ॥

युक्तः=(वि०)√युज् (जुड़ना, जोड़ना)+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व० =जुड़ा हुआ । ईश्वर में लीन निष्काम कर्मयोगी । "सब कर्म ईश्वर के लिए ही हैं, मेरे फल के लिए नहीं" इस प्रकार निश्चय करने वाले योगी ।

कर्म-फलम्=(नपुं०) कर्मणां फलम् । द्विती० ए० व०=कर्मों के फल को ।

त्यक्त्वा=√त्यज्+क्त्वा=त्याग कर ।

शान्तिम्=(स्त्री०)√शम्+क्तिन्=शान्ति+द्विती० ए० व०=शान्ति को । मोक्ष रूप परम शान्ति को ।

आप्नोति=√आप् (चुरा०, स्वा०, पर०, सक०=प्राप्त करना)+लट् प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त करता है । पाता है । प्राप्त हो जाता है ।

नैष्ठिकीम्=(वि०) निष्ठा+ठक्=नैष्ठिक । (स्त्री०) नैष्ठिकी+द्विती० ए० व०—अन्तिम को, निर्णीत को, निर्दिष्ट को, सर्वोच्च को, भगवत्-प्राप्ति रूप को । ज्ञान-निष्ठा में होने वाली को ।

अयुक्तः=(वि०) न युक्तः (असमाहितः) नञ्० । ईश्वर में न लीन हुआ । सकामी पुरुष । अयुक्त पुरुष । (पुं०) प्र० ए० व० ।

काम-कारेण=(वि०) कामस्य कारः=कामकारः, तेन कामकारेण (काम-प्रेरित तया इत्यर्थः) । काम के करण का नाम 'काम-कार' है । काम की प्रेरणा से । कामना के द्वारा । कामना करने वाला होने से । [(पुं०) तृती० ए० व०] ।

फले=(नपुं०) सप्त० ए० व०=फल में ।

सक्तः=(वि०)√सञ्ज्+क्त=सक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=आसक्त हुआ । फँसा हुआ ।

निबध्यते=नि√बन्ध् (भ्वा० आत्म० सक०=बन्धना) (कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व०=बंध जाता है । बंधता है ।

अर्थ—(कर्मों को परमेश्वरार्पण करने वाला, ईश्वरलीन, निष्काम) कर्म-योगी कर्मों के फल को त्याग कर निष्ठा (श्रद्धा, विश्वास, और प्रगाढ़ अनुराग) से उत्पन्न होने वाली (मोक्ष रूप) परम शान्ति को प्राप्त होता है । और अयुक्त (सकाम पुरुष) कामना करने वाला होने से फल में फँसा हुआ (जन्म-मरण के मूल कारण—कर्मों से) बँध जाता है ॥१२॥

व्याख्या—जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को करता हुआ इस निश्चय पर परिपक्व और सुदृढ हो चुका है कि "इदं परब्रह्म परमेश्वराय, इदं न मम" अर्थात् मेरा किया हुआ यह कर्म परमात्मा की प्रसन्नता के लिए है, मेरे फल के लिए नहीं है ऐसा कर्मयोगी पुरुष परमात्मा से युक्त है और कर्म फल का त्याग करने वाला है, क्योंकि वह पुरुष कर्मों के स्वर्गादि फलों की इच्छा का परित्याग करके उन कर्मों को अपने मूल उद्गम परमात्मा के चरण-कमलों में अर्पण कर देता है, न फल की इच्छा करता है न उन्हें अपने द्वारा किए हुए समझता है। परमात्मा द्वारा कराये जा रहे कर्मों को परमात्मा में अर्पण करता हुआ अपनी पूर्ण श्रद्धा, दृढ़ विश्वास और प्रगाढ अनुराग से उत्पन्न होने वाली मोक्ष रूप परम शान्ति को प्राप्त होता है। जो पुरुष अपने कर्मों को ईश्वरार्पण नहीं करता अर्थात् सब कर्म केवल अपने लिए ही करता है और उन कर्मों द्वारा इस संसार में शरीर और इन्द्रियों का सुख भोगना चाहता है और मरणोपरान्त स्वर्ग प्राप्ति की कामना करता है वह "अयुक्त" पुरुष है, उसके लिए सकाम कर्म मिलकर बहुत मजबूत रेशमी डोरी का रूप धारण कर लेते हैं। जिसमें उसकी फलेच्छा की सुदृढ गाँठें बनकर उस सकामी को मर्कट-वत् फल-भोग रूपी खूंटे से कस कर बाँध देती हैं जिस से परवश हुआ वह जीव जन्म-मरण का नाच नाचने के लिए विवश हो जाता है और फिर प्रकृति द्वारा रचित मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों रूपी कलन्दरों के इशारों पर नाचता हुआ कभी टोप शीश पर धारण करके ससुराल जाता है, कभी वहां से अपनी स्त्री को लाता है, कभी अहंकार रूपी बकरे की पीठ पर चढ़ता है, कभी सब से बड़े यम रूपी कलन्दर के डण्डे खाता है। इस प्रकार दासता की लोह-तुल्य शृंखलाओं में बँधा हुआ मर जाता है और पुनः कोई नवीन रूप (जन्म) धारण करके दुःख भोगता है। इसी प्रकार न कर्म रूपी ईटों का आवा (भट्ठा) समाप्त होता है और न यह प्राणी रूपी गधा उससे छुटकारा पाता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि "अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते" ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सर्व-कर्माणि मनसा संन्यस्य+आस्ते सुखम्+वशी। नव-द्वारे पुरे देही न +एव कुर्वन्+न कारयन्।

सर्व-कर्माणि=(नपुं०) सर्वाणि कर्माणि। द्वितीया० ब० व०=समस्त कर्मों को।

मनसा=(नपुं०) मनस्+तृती० ए० व०=मन से।

संन्यस्य=सम्-नि√अस् (दिवा० पर० सक०=फेंकना)+ल्यप्=त्यागकर।

आस्ते=√आस् (अदा० आत्म० अक० सक०=रहना। बैठना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=बैठता है। रहता है। स्थित होता है।

सुखम्=(नपुं०) द्विती० ए० व०=सुख से। आनन्द पूर्वक।

वशी=(वि०) वशिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=अपने को सब प्रकार से वश में रखने वाला। जितेन्द्रिय, अन्तःकरण को वश में रखने वाला सांख्य-योगी पुरुष।

नव-द्वारे=(नपुं०) नवानि द्वाराणि यस्मिन् (बहुव्री०)। सप्त० ए० व०= नौ द्वारों वाले में। [दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, और मुख उपरी भाग में, पायु और उपस्थ निचले भाग में।]

पुरे=(नपुं०) सप्त० ए० व०। शरीर रूप शहर में। महल में। घर में। [शरीरं पुरम् इव पुरम्=शरीर भी एक पुर की भान्ति पुर है जिसमें इन्द्रिय रूपी नौ द्वार हैं]।

देही=(वि०) देहिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=देहधारी। जीवात्मा।

न=(अव्यय) न। नहीं।

एव=(अव्यय) ही।

कुर्वन्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+शतृ=कुर्वत्+(पुं०) प्र० ए० व०=कुर्वन्=करता हुआ।

न=(अव्यय) न। नहीं।

कारयन्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+णिच्+शतृ=कारयत्+(पुं०) प्र० ए० व०=करवाता हुआ।

अर्थ—जितेन्द्रिय सांख्य योगी पुरुष, (मन से) न (कुछ) करता हुआ (और) न (कुछ) करवाता हुआ ही नव द्वारों वाले शरीर रूपी शहर में सब कर्मों को मन से त्याग कर (न कि शरीर और इन्द्रियों से—"इन्द्रियाँ के विषयों में बर्त रही हैं" ऐसा समझता हुआ) सुखपूर्वक (परमात्मा के स्वरूप में स्थित होकर) रहता है ॥१३॥

व्याख्या—यद्यपि जीवाणुओं से लेकर विशाल काय शरटक, हस्ती, गैंडा, जेबरा और जराफा आदि जीव समूह बहुकोशी तथा अमीबा, पैरामीशियम आदि एक कोशिका से निर्मित एवं उद्भिज्ज (वृक्ष, तृण, झाड़ी, वल्ली और लता रूप पांच प्रकार के स्थावर जीवन-धारी) सभी प्राणी शरीर धारण किए हुए हैं, इन सब शरीरों की उत्पत्ति लगभग एक ही नियम से होती

है। ये सब पहले पिता से प्राप्त बीज या वीर्य से उत्पन्न होते हैं फिर माता अथवा पृथिवी के गर्भ में बढ़ कर पूर्णाकृति को धारण करते हैं। ततः भोजन द्वारा बढ़ते फूलते और फलते हैं तथा पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। सब शरीरों पर अनेक छिद्र होते हैं, जिन्हें 'रोमकूप' या 'लोमछिद्र' कहते हैं।

मानव-शरीर एक शहर के समान है जिसके चारों ओर चमड़े की एक दीवार है। उसमें दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक मुख, पायु और उपस्थ ये नौ द्वार हैं जिनसे बाह्य-ज्ञान भीतर प्रवेश करते हैं तथा मलमूत्रादि कई प्रकार के रोग उत्पन्न करने वाले दूषित पदार्थ बाहर निकलते रहते हैं। इस शहर के त्वचा रूपी प्रकोटे या प्राचीर में जो असंख्य रोम-छिद्र हैं उनके मार्ग से भी स्वेद रूपी मल बाहर निकलता रहता है। उसमें उगा हुआ बाल इस कार्य में उसकी सहायता करता है।

इस शरीर रूप शहर में मस्तिष्क नाम का एक प्रधान उच्चाधिकारी सिर के भीतर उच्चासन पर विराजमान है जो सम्पूर्ण शरीर रूप शहर पर शासन करता है। उसको सब प्रकार की सूचनाएँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती हैं तथा कर्मेन्द्रियां उसकी आज्ञाओं का पालन करती हुई सब कार्य करती रहती हैं। सारे शरीर में बाल से भी बारीक तारों का एक जाल सा फैला हुआ होता है जिसका नाम तंत्रिका-तन्त्र है। इन तन्त्रिकाओं के द्वारा सूचनाएँ मस्तिष्क तक पहुँचती हैं और उन्हीं के द्वारा मस्तिष्क अपनी आज्ञाएँ प्रसारित करता है। मस्तिष्क रूपी प्रधान शासक की सहायता के लिए एक लघु-मस्तिष्क रूप मन्त्री या सचिव भी है। तथा गृह-विभाग का प्रबन्ध करने के लिए सुषुम्ना शीर्षक नाम की एक रानी है जो गृह-मन्त्री के रूप में काम करती है। हृदय, फेफड़े, रक्तवाहिनी नाड़ियां, श्वासोपश्वास-क्रिया-और आमाशय तथा उसके सहायक अंग सब सुषुम्ना शीर्षक के कण्ट्रोल में होते हैं। वही इन सब को ठीक रखने और मल को शरीर से बाहर निकलवाने का प्रबन्ध करती है। भोजन का पचना, पाँचों प्राणों का व्यवस्थित रूप में कार्य करना, बालों का बढ़ना, रोम-रोम और प्रत्येक कोशिका एवं नस नस में ताजा रुधिर पहुँचाना इत्यादि सम्पूर्ण क्रियाएँ निरन्तर स्वतः ही इसी सुषुम्ना रानी की देख-रेख में होती रहती हैं। मस्तिष्क के भीतर एक अमृत ग्रन्थि होती है, जिससे सारे शरीर के प्रत्येक अंग में अमृत-स्राव होता है, इसी के द्वारा सारा शरीर अतिसुन्दर, तेजोमय और हरा-भरा बना रहता है।

मन या अन्तःकरण का स्थान हृदय में है जो नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता रहता है। मन बहुत प्रकाशमान और दूरंगम है।

जैसा कि वेद भगवान् में लिखा है—"दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकम्" (यजु० ३४।१।।) अर्थात् मन बहुत दूर जाने वाला और प्रकाश करने वालों में सब से अधिक प्रकाशमान है। परन्तु ऐक्स (X) किरणों की भान्ति उस की किरणें भी इन चर्म-चक्षुओं द्वारा देखी नहीं जा सकती। मस्तिष्क के सार-रूप सूक्ष्म तत्त्व का नाम बुद्धि है। जो जीव को शुभ कर्मों में प्रेरित करती है। इसी नव-द्वारों वाले शरीर रूपी शहर में जीवात्मा का निवास है। उसका मुख्य निवास तो हृदय में माना जाता है जैसा कि भगवान् स्वयं कहते हैं— "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (गी० १८।६१)। अर्थात् हे अर्जुन ! इस शरीर रूपी शहर का स्वामी प्राणियों के हृदयों में निवास करता है। वैसे तो यह आत्म-तत्त्व शरीर के रोम रोम, नस नस और प्रत्येक कोशिका में सम रूप से वास करता है जो सदा अलिप्त, निर्विकार और एकरस है। वह स्वयं तो न कुछ करता है। न ही किसी से कुछ करवाता है। परन्तु अज्ञानी पुरुष असली बात से अनभिज्ञ होने के कारण देह को ही आत्म-स्वरूप समझता है। तथा शरीर, इन्द्रियों, अन्तःकरण और बुद्धि के द्वारा हो रहे कर्मों को आत्मा के द्वारा होते हुए मान लेता है, जिससे इन इन्द्रियों, शरीर और मन की सन्तुष्टि और तृप्ति के लिए अनेक प्रकार से विषयों का उपभोग करता है, और अपने कर्मों के फल स्वरूप स्वर्गादि लोकों की कामना करता है, जिसके फल स्वरूप कर्मों से बन्ध जाता है और उन कर्मों के फल को भोगने के लिए जन्म धारण करता है जिसके द्वारा नाना प्रकार के सुखों और दुःखों का अनुभव करता है। परन्तु जिस सांख्य-योगी पुरुष ने अपने अन्तःकरण या मन को वशीभूत किया हुआ है, सारी इन्द्रियों को जीत रखा है, अपने आपको शरीर और इन्द्रियों से अलग अनुभव कर लिया है तथा इस देह को आत्मा का नव द्वारों वाला घर समझ रखा है, एवं सब शुभाशुभ कर्मों की फलेच्छा को मन से त्याग दिया है ऐसा पुरुष वास्तव में न कुछ करता है, और न ही किसी से कुछ करवाता है। वह तो इस नव द्वारों वाले शरीररूपी घर में रहता हुआ भी परमात्मा के स्वरूप में अथवा आत्मस्वरूप में स्थिर होता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित रहता है और फिर देह के नष्ट हो जाने पर शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि और कर्म-बन्धन से मुक्त हो कर सर्व-व्यापक परमात्मा के स्वरूप में मिलकर परमपद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

आत्मा सब चेष्टाओं का आधार-भूत होता हुआ भी शारीरिक कर्मों का कर्ता, भोक्ता और प्रेरक नहीं माना जाता। क्योंकि आत्मा की स्वाभाविक चेष्टा तो केवल स्फुरण मात्र कहलाती है, कर्म नहीं। जैसे सूर्य जो प्रकाश का केन्द्र और तेज का पुंज है, वह स्वभाव से प्रकाश और गर्मी की किरणें विकिरण करता रहता है परन्तु सूर्य का यह स्वभाव, स्वयं सूर्य पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं डालता है। किन्तु सूर्य का यही स्वाभाविक तेज या प्रकाश जब वृक्षों, पौधों और लतादिकों के हरे पत्तों पर पड़ता है, तो पत्तों के पर्ण-हरिम या क्लोरोफिल में जाकर कार्बन से मिलकर शक्कर, निशास्तों, प्रोटीनों, जीवन तत्त्वों, रसों और नाना प्रकार के तेलों में परिवर्तित हो जाता है जिससे प्राणियों के शरीरों में ऊर्जा और विटामिनों की वृद्धि होती है। यद्यपि सूर्य का प्रभाव उसके-अपने सारे संसार और परिवार पर होता है परन्तु स्वयं सूर्य पर कुछ भी नहीं होता इसी प्रकार आत्मा स्वयं सूर्य-प्रकाश-स्वरूप और स्फुरणशील है। शरीर के सम्पूर्ण कार्य उसी की सत्ता से होते हैं। परन्तु उन कार्यों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। क्योंकि वह अलिप्त निराकार और इच्छाओं से रहित है। तो भी सम्पूर्ण कर्म उसकी ही सत्ता से सम्पन्न होते हैं। परन्तु जीवात्मा इन कर्मों से तब तक लिप्त और बन्धायमान नहीं होता जब तक ब्रह्म-ज्ञान रूपी सूर्य प्रकाशमान रहता है।

सूर्य की सत्ता से बीज उगता है, तो लोग यही कहते हैं कि बीज स्वयं उग रहा है परन्तु इस क्रिया को देख कर यह कोई नहीं कहता कि स्वयं सूर्य उग रहा है। इसी प्रकार जड़ इन्द्रियों के सभी कर्म आत्मा की सत्ता से होते हैं। तो उन्हें भी आत्मा द्वारा न होते हुए समझ कर, इन्द्रियों द्वारा ही होते हुए समझना चाहिए। इसी प्रकार जब जड़ चक्षु सूर्य के प्रकाश की सहायता से देखता है तो कोई यह नहीं कहता कि सूर्य देखता है। अथवा प्रकाश देखता है। सब यही समझते हैं कि आँख देखती है तो फिर कर्मों को भी आत्मा के माथे थोपना ठीक नहीं है। यह चेतना और स्फुरता तो आत्मा की स्वाभाविक चेष्टाएँ हैं। इसलिए इन्द्रियां, देह, मन या बुद्धि जब चेतनात्मा की सहायता से किसी प्रकार का कोई कर्म करते हैं तो उस कर्म का कर्ता भोक्ता आत्मा को ठहराना ठीक नहीं हो सकता। श्रुति में तो स्पष्ट ही कहा है—कि

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है, आत्मा नहीं।

"श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१८" में इस श्लोक से मिलता हुआ एक मन्त्र इस प्रकार है—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

[अर्थ—सम्पूर्ण स्थावर, जंगम जगत् को वश में करने वाला (स्वामी) यह हंस (अविद्या-जनित कार्य का हनन करने वाला—परमात्मा) देहाभिमानी होकर नव द्वारों वाले (शरीर) रूपी शहर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा किया करता है ।] ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

न कर्तृत्वम्+न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्म-फल संयोगम्+स्वभावः+तु प्रवर्तते ॥

न=(अव्यय) न । नहीं ।

कर्तृत्वम्=(भाववाचकसंज्ञा) √ कृ+तृच्=कर्तृ+त्व=कर्तृत्व+(पुं०) द्विती०, ए० व०=कर्तृत्व को । कर्तापन को । (तू यह काम कर) इस प्रकार लोगों के कर्तापन को ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

कर्माणि=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्मों को । (मनुष्य के इष्ट) कर्मों को ।

लोकस्य=(पुं०) लोक+षष्ठी० ए० व०=लोक के । संसार के । लोगों के । प्राणियों के ।

सृजति=√सृज् (तुदा० पर० सक०=रचना करना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=रचता है ।

प्रभुः=(पुं०) प्र√भू+डु=प्रभु+प्र० ए० व०=स्वामी । प्रभु । आत्मा । देह का मालक । देह का स्वामी (परमात्मा) ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

कर्म-फल-संयोगम्=कर्मणां फलानां संयोगम् (षष्ठी तत्पु०) (पुं० नपुं०) द्विती० ए० व०=कर्मों के फलों के संयोग को । कर्मों को करके अन्त उनका जो फल प्राप्त होता है उस फल मिलाने के काम को । अर्थात् कर्मों का फल दिलाने का काम भी परमात्मा या आत्मा नहीं करता ।

स्वभावः=(पुं०) स्व-भाव+प्र० ए० व०=स्वभाव या प्रकृति (त्रिगुणात्मि-

का माया) अविद्यास्वरूप वाला अपना स्वभाव। माता या प्रकृति।
तु=(अव्यय) किन्तु। ही। तो।
प्रवर्तते=प्र√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=वर्तना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=वर्तता है। (वही) सब कुछ कर रही है। गुण ही गुणों में वर्तते हैं।

अर्थ—आत्मा या परमात्मा (देहादि का स्वामी) प्राणियों के न कर्तापन को, न कर्मों को और न कर्मों के फल के संयोग को (वास्तव में या सीधा) रचता है। परन्तु (परमात्मा) के प्रकाश या सत्ता से जड़) प्रकृति (इन तीनों उक्त कार्यों में) वर्तती है। (अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण ही गुणों में वर्तते हैं) ॥१४॥

व्याख्या—सर्वव्यापक परमात्मा सूर्य की भान्ति सर्व-प्रकाशक है। परन्तु स्वयं किसी के भी कर्तापन या कर्मादिक व्यापार में प्रवृत्त नहीं होता। न लोगों के कर्मों के फल को प्राप्त कराने में कोई सहायता करता है। सब प्राणी प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत हुए अपने-अपने स्वभावानुसार कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि होता सब कुछ परमात्मा के प्रकाश या सत्ता से ही है, क्योंकि बिना विभुसत्ता के जड़ प्रकृति के द्वारा कुछ भी किया या कराया नहीं जा सकता परन्तु उन कर्मों का कोई प्रभाव उस प्रकाशमान परमात्मा पर नहीं पड़ता।

जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल स्व-प्रकृति-वश हुए खिल जाते हैं, कुमुद संकुचित हो जाते हैं। दोपहर-खिड़ी लहलहा उठती है, सूर्यमुखी के फूल सूर्य के साथ घूमने लगते हैं। पौधों के हरे पत्ते तेल, निशास्ता, शक्कर आदि वस्तुएँ बनाने लगते हैं और वायु में मिली हुई कार्बन डाई औक्साइड को फाड़ कर वायु को शुद्ध करना शुरू कर देते हैं, सारे संसार के जीवों के नेत्र खुल कर देखने लगते हैं, सम्पूर्ण जीव-लोक कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

परन्तु इन सब कर्मों को न तो सूर्य स्वयं करता है, न किसी से करवाता है और न ही किसी के करने या न करने का उत्तरदायी है। तथा न किसी के कर्मों की रचना करता है एवं न इन कर्मों के फल के संयोग को ही रचता है। इसी प्रकार अनेक आकाश-गंगाओं में अपने-अपने परिवारों समेत भ्रमण करने वाले असंख्य सूर्यों को प्रकाशमान करने वाला सर्व-व्यापक परमात्मा अपने स्व-स्वरूप के प्रकाश से प्रकाशमान किए हुए है और उसके परिवारों के भीतर वर्तमान सब प्राणियों में चैतन्य शक्ति भरता हुआ होने पर भी न किसी जीव के कर्तापन को उत्पन्न करता है न उनके कर्मों की रचना करता है तथा न किसी भी प्रकार के कर्मों के फल के संयोग को ही उत्पन्न करता है। वह तो सदा अकर्ता, अभोक्ता और साक्षी ही बना रहता है। सारे कर्म प्राणियों द्वारा उनके स्वभावानुसार प्रकृति से संपन्न होते हैं। यदि ये

आत्मा या परमात्मा द्वारा हुआ करते, तो सब मनुष्यों, पशुओं तथा अन्य जीवों में एक समान ही हुआ करते, भिन्न-भिन्न और विविध प्रकार से नहीं। क्योंकि परमात्मा से रहित तो कोई भी नहीं है और सब में आत्मा भी एक ही समान रूप से व्यापक है।

सदा यह बात देखने में आती है कि मनुष्य मनुष्य के सदृश और पशु पशु के समान ही चेष्टाएँ करता है। तथा एक ही वर्ग या समूह के प्राणियों की एक जैसी चेष्टाएँ होने पर भी उन चेष्टाओं में परस्पर महान् अन्तर होता है। क्योंकि प्रकृति के गुणों के कारण सबके स्वभाव अलग अलग होते हैं। कहा भी है—"भिन्नरुचिर्हि लोकः"। अर्थात् संसार में सब की रुचि या प्रकृति भिन्न होती है। इस रुचि या प्रकृति के अनुसार ही लोगों द्वारा कर्म किए जाते हैं। परमात्मा को इन कर्मों में हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। सब जीव अपने कर्मों का फल प्रकृति द्वारा ही प्राप्त करते हैं। संसार में कर्म-वश यदि श्रेष्ठ गुरु मिल जाए तो मनुष्य द्वारा सदा श्रेष्ठ कर्म ही किए जाते हैं। परन्तु ऐसा स्ववसर या चान्स अत्यन्त दुर्लभ होता है। जैसाकि किसी कवि ने कहा है—"अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः। अर्थात् कोई भी पुरुष स्वभाव से अयोग्य नहीं होता परन्तु उसकी योग्यता को चमकाने वाला गुरु मिलना बहुत कठिन होता है। जो भाग्यवश शुभ और पुण्य कर्मों के प्रताप या प्रभाव से ही प्राप्त होता है। कई लोग कहते हैं कि ईश्वर ही अपनी प्रेरणा द्वारा जीवों से कर्म करवाता है। इससे ईश्वर में कारयितृत्व है और उसी की प्रेरणा से जीवों में कर्तृत्व है। कहीं कहीं यह बात श्रुति और स्मृति में भी कही गई है जो किसी टेढ़े मार्ग से तो ठीक हो सकती है परन्तु सीधे मार्ग से नहीं। यथा श्रुतिः—

"एष ३ ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष ३ ह्येवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषते, इति।"

अर्थात् यह परमात्मा जिस मनुष्य को (स्वर्गादि) ऊपर के लोकों में ले जाना चाहता है, अपनी प्रेरणा द्वारा उससे पुण्य कर्म करवाता है और जिस पुरुष को (नरकादि) नीचे के लोकों में गिराना चाहता है उससे प्रेरणा करके पाप कर्म करवाता है। स्मृति—

अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वर-प्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

अर्थात् अज्ञानी जीव अपने सुख और दुःख दोनों के पाने में असमर्थ है। परन्तु ईश्वर से प्रेरित किया हुआ (अपने पुण्य और पाप के प्रभाव से) स्वर्ग या नरक को प्राप्त होता है।

श्री गुरु नानक देव जी भी कुछ ऐसा ही कहते हैं "करे करावे आपे आप। नानक नर के कछु नहीं हाथ।" अर्थात् जीवों के द्वारा जो भी कर्म किए जाते हैं उन सब को करने और करवाने वाला स्वयं परमात्मा ही है, जीव नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि सब कर्म ईश्वर ही करता या करवाता है। अर्थात् उसकी प्रेरणा से ही पुरुष सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता है। इसलिए इन शुभाशुभ कर्मों को करने वाला पुरुष और करवाने वाला परमात्मा दोनों पुण्य और पाप के भागी हो सकते हैं। परन्तु वास्तव में यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि परमात्मा तो असंख्य सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान है। उसमें यह गुण स्वतः और स्वाभाविक है। वह चैतन्य रूप है तथा संसार की सम्पूर्ण चेतनाओं और चेष्टाओं का आधार है। परन्तु उसकी इच्छा या वासना कोई भी नहीं है। उसकी विना इच्छा ही उसके प्रकाश या उसकी चेतन सत्ता से ब्रह्माण्ड में विचरने वाले ये सारे स्थावर, जंगम जीवों से युक्त लोक स्थित हैं। प्रायः वे सब कर्म-भूमियां हैं तथा उनमें रहने वाले जीव अपने अपने कर्मों के फल-स्वरूप जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए दुःख सुख रूपी भोग, भोग रहे हैं। परन्तु परमात्मा को उनके उन कर्मों से किसी प्रकार का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि वह तो किसी से कोई कर्म करवाता नहीं है। वह तो अकर्ता, अभोक्ता और सदा अलिप्त है। तथा चेतन-सत्ता उसका स्वाभाविक गुण है। उसमें यह सत्ता किसी संकल्प से नहीं उत्पन्न हुई है जिससे उसे पाप पुण्य लगे। परमात्मा तो सदा परमात्मा ही है। यह मनुष्य भी जब गुणातीत अवस्था को प्राप्त होकर ब्रह्म-ज्ञानी बन जाता है तो सब प्रकार के पाप पुण्य से रहित होकर परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

न+आदत्ते कस्यचित्+पापम्+न च+एव सुकृतम्+विभुः। अज्ञानेन +आवृतम्+ज्ञानम्+तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

न=(अव्यय) न। नहीं।

आदत्ते=आ√दा (जुहो० उभ० सक०)+लट्० आत्म०, प्र० पु०, ए० व०=लेता है।

[गृह्णाति]। ग्रहण करता है।

[√दा=देना। आदा=लेना।

लट्० परस्मैपद—

आददाति, आदत्तः, आददति। आददासि, आदत्थः, आदत्थ। आददामि, आदद्वः, आदद्मः।

लट्० आत्मनेपद०—

आदत्ते, आददाते, आददते। आदत्से, आददाथे, आदद्ध्वे। आददे, आदद्वहे, आदद्महे।]

कस्यचित्=(सर्व०) कम्+षष्ठी० ए० व० (पुं०)=कस्य+चित्=किसी के। किसी भक्त के भी।

पापम्=(नपुं०) पाति रक्षति अस्मात् आत्मानम्, √पा+प=पाप+द्विती० ए० व०=पाप को।

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही। भी।

सुकृतम्=(नपुं०) सु√कृ+क्त=सुकृत+द्विती० ए० व०=सुकृत को। पुण्य को। शुभ कर्म को। भक्तों के द्वारा अर्पण किए हुए सुकृत को।

[आदत्ते=लेता है। ग्रहण करता है।]

विभुः=(पुं०) वि√भू+डु=विभु+प्र० ए० व०=सर्वव्यापी परमात्मा।

अज्ञानेन=(नपुं०) न ज्ञानम् (नञ्०) अज्ञान+तृती० ए० व०=अज्ञान से। माया से। अविद्या से।

आवृतम्=(वि०) आ√वृ+क्त=आवृत+(नपुं०) प्र० ए० व०=ढका हुआ। ढका हुआ है।

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+प्र० ए० व०=विवेक विज्ञान। ज्ञान। जानकारी।

तेन=(सर्व०) तत्+(नपुं०) तृती० ए० व०=उसके द्वारा। इस कारण से।

मुह्यन्ति=√मुह् (दिवा० पर० अक०)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=मोहित होते हैं। मोह को प्राप्त हो रहे हैं। धोखा खा रहे हैं।

जन्तवः=(पुं०) जन्तु (√जन्+तुन्)+प्र० ब० व० =सब जीव। संसारी जीव। लोग।

अर्थ—विभु (सर्वव्यापी परमात्मा) किसी के (भक्त के भी) पाप को ग्रहण नहीं करता। और न ही (किसी के द्वारा अर्पण किए हुए) शुभ कर्म को (ग्रहण करता है)। [तो फिर भक्तों द्वारा पूजा आदि शुभ कर्म और यज्ञ, दान, होम आदि प्रभु के अर्पण क्यों किए जाते हैं? इसके उत्तर में भगवान्

कहते हैं।] (जीवों का) ज्ञान अविद्या या माया से ढका हुआ है, जिससे सब जीव (मैं 'करता हूँ', 'कराता हूँ', 'खाता हूँ', 'खिलाता हूँ' इत्यादि) मोह (धोखे) को प्राप्त हो रहे हैं ।।१५।।

व्याख्या—लोगों की साधारण बोल चाल में कहा जाता है, कि सारे संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार परमात्मा ही करता है अथवा ये सब कार्य वह अपनी माया या प्रकृति से करवाता है। इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने शरीर और इन्द्रियों को ही अपना स्वरूप मान कर कहता है कि मैंने अमुक कर्म किया है अथवा मैं यह कर्म दूसरों से करवाता हूँ। इत्यादि सब विचार या कथन अज्ञान से संबन्ध रखते हैं, वास्तविकता से नहीं। क्योंकि ऐसी सब बातें असलीयत को न जानने के कारण अथवा लोकव्यवहार से ही कही जाती हैं। क्योंकि जैसे सूर्य के प्रकाश की सहायता से संसार के सारे कार्य संपन्न होते हैं। तो भी सूर्य उनको स्वयं न करता है और न ही किसी से करवाता है। इसी प्रकार जड़ माया प्रकृति सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकाश या चेतन-सत्ता से प्रभावित या अनुप्राणित होकर तीन गुणों का रूप धारण कर लेती है और फिर ये तीनों गुण मूलप्रकृति के संग मिलकर जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि सारे कार्य करने और करवाने लगते हैं। इसीसे श्री गुरु नानक देव जी ने जपजी में कहा है—

"एका माई, जुगति विआई, तिनि चेले परवाणु।
इकु संसारी, इकु भण्डारी, इकु लाए दीबाणु।"

रात के घने अन्धकार में जब चर्मचक्षुओं से कुछ दिखाई नहीं देता तो हम लैम्प जला लेते हैं और उसके प्रकाश में शुभाशुभ सब प्रकार के कर्म करने लगते हैं। परन्तु उन कर्मों को करने या करवाने वाले तथा उनके फलों के भोक्ता स्वयं हम ही होते हैं। प्रकाशमान लैम्प का तो इन कर्मों को करने, करवाने या उनके फल से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कारण यह कि प्रकाश फैलाना तो उसका स्वाभाविक कर्म है। लोगों द्वारा किए या करवाए जा रहे कर्मों के करने या कराने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार सर्व व्यापक परमात्मा की चेतन सत्ता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसमें विचर रहे समूचे पिण्डों में व्यापक है जिससे बल पाकर प्रकृति ही सब कर्म करती और कराती है। मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियाँ प्रकृति के विकार हैं जिनकी रचना प्रकृति के तीन गुणों से होती है। सब कर्म इसी चतुर्वर्ग के द्वारा होते हैं। परमात्मा तो निर्लेप, अकर्ता, अभोक्ता और सर्व-व्यापक है। वह तो न किसी के पाप को ग्रहण करता है तथा न किसी के पुण्य को प्राप्त करता

है। जैसे वायु के संचार से सरोवर के सलिल के तल पर अनेक बुद्बुदे उत्पन्न हो जाते हैं और उन बुद्बुदों के भीतर बाहर एक ही वायु होती है इसी प्रकार जीवों के भीतर और बाहर एक ही सर्वव्यापी परमात्मा व्यापक है। भीतर के परमात्मा का नाम आत्मा रख लिया गया है। फिर जब आत्मा और परमात्मा एक ही परम-तत्त्व का नाम है तो आत्मा भी परमात्मा की भान्ति किसी प्रकार के पाप या पुण्य का भागी नहीं बन सकता। आत्मा या परमात्मा में जो कर्मों को करने या कराने वाले का भान या प्रतीति होती है यह तो अज्ञान या वास्तविकता को न जानने के कारण ही होती है। जब ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है तब ये संसारी जीव धोखा खा जाते हैं अथवा अज्ञानान्धकार में ठोकरें खाने लगते हैं। श्रुति में कहा है—

"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमिति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्, इति। उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति, इति। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति, इति।"

[अर्थ—जो पुरुष 'यह देवता भिन्न है, और मैं भिन्न हूँ' इस प्रकार देवता से अपने को भिन्न मान कर उस देवता का ध्यान करता है वह पुरुष देवता के स्वरूप को और अपने स्वरूप को यथार्थ रूप में नहीं जानता है जैसे घोड़ा या भैंस आदि मनुष्यों के पशु हैं, वैसे ही वह भी देवताओं का पशु है। इसी प्रकार जो पुरुष परमात्मा से अपना किंचित् मात्र भी भेद समझता है, उसको महान् भय की प्राप्ति होती है और जो पुरुष इस अद्वितीय ब्रह्म में अनेक भाव देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात् बार-बार जन्म को प्राप्त होता है]

इसलिए अपने शरीर के भीतर की आत्मा को परमात्मा का स्वरूप अनुभव करते हुए, कर्मों का अकर्ता, अभोक्ता, और साक्षी बन कर पाप और पुण्य दोनों से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान को ढकने वाले अज्ञान का पर्दा फाड़कर दूर फेंक देना चाहिए जिससे पुनः मोह को प्राप्त न हुआ जा सके और मोक्ष को पाकर परमात्मा से मेल पाया जा सके।

देश-पिता महात्मा गान्धी जी इन दो श्लोकों के सम्बन्ध में अपने अनुभव को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नहीं है। कर्म का नियम अटल और अनिवार्य है, और जो जैसा करता है उसको वैसा करना भी पड़ता है। इसी में ईश्वर की महान् दया और उसका न्याय विद्यमान है। शुद्ध न्याय में शुद्ध दया है। न्याय की विरोधी दया, दया नहीं है बल्कि क्रूरता है। पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है। अतः उसके लिए तो दया-क्षमा ही न्याय है। वह स्वयं

न्याय का निरन्तर पात्र बना हुआ क्षमा का याचक है। वह दूसरे का न्याय क्षमा से ही चुका सकता है। क्षमा के गुण का विकास करने पर ही अन्त में अकर्ता-योगी समतावान्-कर्म में कुशल बनता है। ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को नहीं ओढ़ता। अज्ञान द्वारा ज्ञान के ढक जाने से लोग मोह में फँसते हैं।"

लोकमान्य तिलक महाराज इस प्रकार लिखते हैं—

"इन दोनों श्लोकों का तत्त्व असल में सांख्यशास्त्र का है। वेदान्तियों के मत में आत्मा का अर्थ परमेश्वर है, अतः वेदान्ती लोग परमेश्वर के विषय में भी "आत्मा अकर्ता है" इस तत्त्व का उपयोग करते हैं। प्रकृति और पुरुष ऐसे दो मूल तत्त्व मान कर सांख्यमतवादी समग्र कर्तृत्व प्रकृति का मानते हैं और आत्मा को उदासीन कहते हैं। परन्तु वेदान्ती लोग इसके आगे बढ़कर यह मानते हैं कि इन दोनों का ही मूल एक निर्गुण परमेश्वर है और वह सांख्य वालों की आत्मा के समान उदासीन और अकर्ता है। एवं सारा कर्तृत्व माया अर्थात् प्रकृति का है। अज्ञान के कारण साधारण मनुष्य को ये बातें जान नहीं पड़तीं परन्तु कर्मयोगी कर्तृत्व और अकर्तृत्व का भेद जानता है, इस कारण वह कर्म करके भी अलिप्त ही रहता है।" ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

ज्ञानेन तु तत्+अज्ञानम्+येषाम्+नाशितम्+आत्मनः। तेषाम्+आदित्य-वत्+ज्ञानम्+प्रकाशयति तत्+परम् ॥

ज्ञानेन=(नपुं०) ज्ञान+तृती० ए० व०=ज्ञान के द्वारा। आत्म-ज्ञान के द्वारा। आत्मविषयक ज्ञान के द्वारा।

तु=(अव्यय) परन्तु।

तत्=(सर्व) तद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

अज्ञानम्=(नपुं०) न ज्ञानम् (नञ्०)। अज्ञान+प्र० ए० व०। अज्ञान। जीवों के अन्तःकरण का वह अज्ञान, जिससे ढके हुए जीव मोह को प्राप्त होते हैं।

येषाम्=(सर्व०) यद्+(पुं०) षष्ठी० ब० व० जिनका। जिन जीवों के।

नाशितम्=√नश् (दिवा० पर० अक०=नष्ट होना)+णिच्+क्त=नाशित +(नपुं०) प्र० ए० व०=नाश हो गया है।

आत्मनः=(पुं०) आत्मन्० षष्ठी० ए० व० १—अन्तःकरण का। २—आत्मा या परमात्मा के। [आत्मनः का सम्बन्ध यदि 'तदज्ञानम्' के साथ जोड़ा

जाए तो अर्थ होगा—आत्मा (अन्तःकरण) का वह अज्ञान। यदि आत्मनः का सम्बन्ध 'ज्ञानेन' के साथ जोड़ा जाए तो अर्थ होता है—आत्मा (या परमात्मा) के ज्ञान के द्वारा। दोनों अर्थ ठीक हैं]

तेषाम्=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=उनका। उन जीवों का

आदित्य-वत्=यथा आदित्यः समस्तं रूपजातम् अवभासयति तद्वत्=जैसे सूर्य समस्त रूप-भाव को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही। सूर्य के समान। सूर्य की तरह। ['वत्' तद्धित प्रत्यय है।]

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+प्र० ए० व०=(वह) ज्ञान।

प्रकाशयति=प्र√काश् (=चमकना)+णिच्, लट्० प्र० पु०, ए० व०= प्रकाशता है। प्रकाशित कर देता है। साक्षात्कार करा देता है। दूसरों के तथा अपने देखने योग्य बना देता है।

तत्-परम्=(पुं०) द्वितीο ए० व०। उस पर को। उस परम-परमार्थ तत्त्व को। उस परमात्मा को॥

पहला अर्थ—परन्तु जिन जीवों के अन्तःकरण का वह अज्ञान (जिससे ढके हुए जीव मोह को प्राप्त होते हैं) आत्म-विषयक ज्ञान के द्वारा नाश हो गया है उन जीवों का वह आत्मज्ञान सूर्य के समान, उस परम परमार्थ तत्त्व (परमात्मा) को प्रकाशित कर देता है (अर्थात् अपने तथा दूसरों के देखने के योग्य बना देता है) ॥१६॥

दूसरा अर्थ—परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मा (या परमात्मा) के ज्ञान के द्वारा नाश हो गया है उनका वह ज्ञान सूर्य की तरह उस परमात्मा को प्रकाशता है। (अर्थात् दूसरे अधिकारी पुरुषों को भी दिखा देता है और स्वयं भी उस परमात्मा को देख लेता है ॥१६॥

व्याख्या—इससे पूर्व श्लोक १५ में भगवान् ने कहा है कि 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।" अर्थात् अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, उससे ही लोग मोह को प्राप्त होते हैं। उस ज्ञान को ढकने वाले 'अज्ञान' का वर्णन इस श्लोक में 'तदज्ञानम्' पद द्वारा प्रकाशित या निर्दिष्ट किया गया है। वह आवरण-विक्षेप-रूप 'अज्ञान' विशेष शक्ति वाला है। अनादि है, अनिर्वचनीय है। सत्, असत् और सत्-असत् इन तीनों पक्षों से रहित है। सब प्रकार के अनर्थों का मूल कारण है। यह 'अज्ञान' स्वाश्रय अभिन्न विषयक है। अर्थात् जैसे अन्धकार जिस घर के आश्रित होता है उसी घर को आवृत करता है। उसी प्रकार यह अज्ञान भी जिस आत्मदेव के आश्रित रहता है, उसी आत्मदेव को आवृत करता है। जो कम्बल जिसके कन्धे पर धूप के समय होता है, वह शीतकाल में भी उसी पुरुष को ढकता है। इस अज्ञान को शास्त्रों में 'माया,'

'अविद्या,' 'प्रकृति,' 'प्रधान-अव्यक्त-शक्ति,' इत्यादि अनेक नामों द्वारा कथन किया गया है।

ऐसा प्रबल अज्ञान जिस अधिकारी पुरुष के आत्म-विषयक-ज्ञान से नाश हो गया है यह आत्म-विषयक-ज्ञान ब्रह्मवेत्ता गुरुजनों के उपदेश से प्राप्त होता है। तथा यह ज्ञान श्रवण, मनन और निदिध्यासन की परिपक्वता के द्वारा निर्मल हुए अन्त:करण की वृत्ति रूप है तथा यह ज्ञान शुद्ध सच्चिदानन्द घन, अखण्ड एक-रस परमात्मा से सम्बन्धित है। सीपी में चाँदी की भ्रान्ति जैसे ठीक बात को जानकर नष्ट हो जाती है इसी प्रकार यह आत्म-विषयक-ज्ञान आत्मा और परमात्मा की अभेदता को दर्शाने वाला है। ऐसे ज्ञान से जिन लोगों का अज्ञान नाश हो गया है और अज्ञान के नाश हो जाने से उन महापुरुषों का यह ज्ञान अपने प्रचण्ड प्रकाश से आत्मा या परमात्मा रूप परमतत्त्व-स्वरूप को इस प्रकार प्रकाशित कर रहा है जिस प्रकार सूर्य अन्धकार से ढके हुए पदार्थों का अन्धकार अपने प्रचण्ड प्रकाश से दूर करके उन्हें दृष्टिगोचर करा देता है अर्थात् उनके निज स्वरूप को भली भाँति दिखा देता है। जैसे वह सूर्य अन्धकार को दूर करने के लिए अन्य किसी सहायता की अपेक्षा नहीं करता है वैसे ही शुद्धसत्त्व का परिणाम स्वरूप होने के कारण व्यापक तथा प्रकाश रूप ब्रह्मज्ञान भी अपनी उत्पत्ति मात्र करके ही अज्ञान की निवृत्ति करता हुआ अद्वितीय परमात्म-तत्त्व को प्रकाशित करता है। फिर वह ब्रह्म का साक्षात्कार अज्ञान की निवृत्ति करने के लिए अन्य किसी सहायता की अपेक्षा नहीं करता।

'येषाम्' और 'तेषाम्' इन दो पदों के कथन से भगवान् ने यह भाव लक्षित किया है, कि चाहे, किसी जाति, वर्ण या आश्रम का पुरुष हो, वह इस ब्रह्मज्ञान से परमात्मा को प्रकाशित कर सकता है जैसा कि इस श्रुति द्वारा कहा गया है—

"तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्, इति॥"

[अर्थ—देवताओं में से जो जो देवता इस अद्वितीय ब्रह्म को "मैं ब्रह्म रूप हूँ" इस प्रकार अपना रूप करके जानता था, वह वह देवता अज्ञान की निवृत्ति होने से ब्रह्मरूप हो गया है। तथा ऋषियों में से जो जो ऋषि इस अद्वितीय ब्रह्म को अपना आत्मा रूप करके जानता था वह वह ऋषि अज्ञान की निवृत्ति होने से ब्रह्मरूप हो चुका है। तथा मनुष्यों में से जो जो मनुष्य इस अद्वितीय ब्रह्म को अपना आत्मा रूप करके जानता था वह वह मनुष्य भी अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्मरूप ही हो चुका है॥]

इस प्रकार श्रुतियों द्वारा मनुष्य मात्र के लिए आत्मज्ञान की प्राप्ति तथा आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष का पाना कहा गया है। भागवत पुराण का यह श्लोक भी इसी भाव को प्रकट करता है—"यद्येषोपरता दैवी माया वैशारदी मतिः। सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥" [भागवत १।३।३४] अर्थात् जब मोहनेवाली दैवी माया ब्रह्मविद्या द्वारा नष्ट हो जाती है तब जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है और परमशान्ति को पा लेता है ॥ सारांश यह है कि मनुष्य ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञान को नष्ट करके परमात्मा को पा लेता है ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तत्+बुद्धयः+तत्+आत्मानः+तत्+निष्ठाः+तत्+परायणाः।
गच्छन्ति+अ-पुनर्+आवृत्तिम्+ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः ॥

तत्+बुद्धयः=(वि०) तस्मिन् गता बुद्धिः येषां ते (बहुव्री०)। तद्बुद्धि+(पुं०) प्र० ब० व०। परमार्थ-तत्त्व में पहुँची हुई बुद्धि वाले। तद्रूप बुद्धि वाले। परमात्मा में लीन बुद्धि वाले।

तत्+आत्मानः=(वि०) तद् एव परं ब्रह्म आत्मा येषां ते (बहुव्री०)। तदात्मन्+(पुं०) प्र० ब० व०। परब्रह्म ही आत्मा वाले। तद्रूप मन वाले। उसी परमात्मा में एक रूप हुए मन या अन्तःकरण वाले।

तत्+निष्ठाः=(वि०) निष्ठा=अभिनिवेशः (दृढ आत्मभावना, तत्परता, अनुरक्ति) सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य ब्रह्मणि एव अवस्थानं येषां ते (बहुव्री०) सब कर्मों का संन्यास करके ब्रह्म में स्थित हुए। परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से स्थिति वाले। (पुं०) प्र० ब० व० ॥

तत्+परायणाः=(वि०) तत् एव परम् अयनं (परा गतिः) येषां भवति ते (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ब० व०। वह परब्रह्म ही जिनका परम अयन (=परम गति) है वे सब। केवल आत्मा में ही रत हो रहे। तत्परायण हुए लोग। वह परमात्मा ही जिनका उत्तम घर है। परमात्मा में रहने वाले।

गच्छन्ति=√गम् (भ्वा० पर० सक०=जाना) लट्० प्र० पु०, ब० व०= जाते हैं। प्राप्त होते हैं।

अ-पुनर्+आवृत्तिम्=(स्त्री०) अपुनर्देह-संबन्धम्। न पुनरावृत्तिम् (नञ्०)। द्विती० ए० व०। [आ√वृत्+क्तिन्=आवृत्ति=लौटने की क्रिया]। फिर जन्म लेने के लिए संसार में न लौटने को। परम गति को।

ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः=(वि०) ज्ञानेन निर्धूतं नाशितम् आत्मनः अज्ञानं येषां ते

(बहुव्री०)। यथोक्तेन ज्ञानेन निर्धूतो (=नाशित:) कल्मष: (पापादि-संसार-कारण-दोषा:) येषां ते (बहुव्री०)। ज्ञान के द्वारा पाप रहित हो चुके। (पुं०) प्र० ब० व०। ज्ञान के द्वारा भली-भान्ति धुले हुए पापों वाले। [निर् √धू (धोना, दूर करना)+क्त=निर्धूत। कल्मष= (नपुं) मैल कुचैल। पाप। गन्दगी]

अर्थ—परमात्मा में ही लीन बुद्धि वाले, परमात्मा में ही रम रहे मन या अन्त:करण वाले (अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मा के स्वरूप में देखने वाले), परमात्मा में ही प्रगाढ अनुराग या श्रद्धा वाले, रहने के लिए परमात्मा को ही सर्वोत्कृष्ट गृह बनाए हुए और ब्रह्मज्ञान द्वारा पापों को भली भान्ति दूर किए हुए ब्रह्मज्ञानी महात्मा लोग (इस संसार से मरकर) फिर न वापस लौटने के लिए (अमर होकर परम धाम को सदा के लिए) चले जाते हैं ॥१७॥

व्याख्या—ज्ञानरूपी सूर्य से जो परमात्मा प्रकाशित होता है तथा जो सच्चिदानन्द घन स्वरूप है, उस परमात्म-तत्त्व में ही बाहर के सब विषयों को त्याग कर विवेकादि साधनों की परिपक्वता से पर्यवसान को जिनके अन्त:करण की साक्षात्कार वृत्ति प्राप्त हो चुकी है वे पुरुष 'तद्बुद्धि' कहलाते हैं। ऐसे पुरुषों की बुद्धि में परमात्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष के सदृश निश्चय हो जाता है और उस निश्चय के अनुसार निदिध्यासन (लगातार बार-बार का ध्यान) करते करते बुद्धि की सत्ता पृथक् न रह कर वह परमात्मा से एकाकार हो जाती है। मन या अन्त:करण को सब ओर से हटा कर पहले बुद्धि को वश में किया जाता है और फिर बुद्धि सहित ही मन को परमात्मा में लीन कर दिया जाता है। तदनन्तर स्व-शरीर में रम रही आत्मा और सर्व-व्यापक परमात्मा में कोई भी भेदभाव शेष नहीं रहता। इस प्रकार यह परब्रह्म परमात्मा ही जिसकी आत्मा बन जाता है वह पुरुष 'तदात्म' कहलाता है। इस विशेषण का तात्पर्य देह में होने वाली आत्मत्व बुद्धि को दूर कर देना है। क्योंकि ज्ञानी लोग कभी अनात्म रूप देह में आत्माभिमान नहीं करते हैं। परमात्मा में अभिन्न भाव की स्थिति प्राप्त कर लेने वाले पुरुष का नाम 'तन्निष्ठ' है। मन और बुद्धि के परमात्मा में एकाकार हो जाने के अनन्तर योगी की दृष्टि से जब आत्मा और परमात्मा का भेद भाव मिट जाता है, तब ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी का अभाव होकर केवल एक परमात्मा ही रह जाता है। इसी का नाम 'तन्निष्ठा' है। अर्थात् विक्षेप की निवृत्ति होकर उस परमात्मा में जिन पुरुषों की स्थिति हो जाती है, वे पुरुष 'तन्निष्ठ' कहलाते हैं।

फिर जब मन, बुद्धि, प्राण और आत्मा आदि सारे परमात्मा में समा जाते हैं, अर्थात् परमात्मा-रूप ही हो जाते हैं तो मनुष्य 'तत्परायण' कहलाता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपना घरबार सब कुछ उजाड़ कर किसी और स्थान पर जाकर बस जाता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सब कुछ छोड़कर परमात्मा में लीन हो जाता है और 'जीवन्मुक्त' तथा 'विदेह' कहलाने लगता है। उस अवस्था को प्राप्त हुए ज्ञानी के सारे शुभाशुभ कर्म, राग-द्वेषादि अवगुण, तथा मल, विक्षेप और आवरण आदि सब प्रकार के कल्मषों या पापों का नाश हो जाता है जिससे वह ज्ञानी 'ज्ञान-निर्धूत-कल्मष' बन जाता है। और फिर जब उसके पार्थिव शरीर का निधन हो जाता है तो वह अपुनरावृत्ति को प्राप्त होकर ब्रह्मलीन हो जाता है। अर्थात् वह परमात्मा में मिलकर तद्रूप या एक रूप हो जाता है और फिर कभी उसका जन्म नहीं होता। सारांश यह है कि ब्रह्मज्ञान द्वारा जिन लोगों के पाप धुल गए हैं, वे ईश्वर का निरन्तर ध्यान करने वाले तन्मय हुए, उस परमात्मा में स्थिर रहने वाले उसी को सर्वस्व मानने वाले योगी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। श्रीयोगवासिष्ठ में कहा है—

"तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम्।
सा जीवन्मुक्तनिष्ठेति विदेहान्मुक्तिरेव या॥

(३।६।१०२॥)

[अर्थ—उस परमात्मा में ही जिनका चित्त है, उसमें ही जिनके प्राण हैं, जो परस्पर उस परमात्मा का ही विचार करते हैं, जो नित्य उसी का कथन करते हुए खुश होते हैं और उसी में रमण करते हैं॥१॥

उन ज्ञान में ही एक निष्ठा वालों और आत्म-ज्ञान विचार वालों की "वह निष्ठा" जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है जो अन्त में विदेह-मुक्तावस्था हो जाती है॥२॥ ॥१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि च+एव श्वपाके च पण्डिताः सम-दर्शिनः॥

विद्या-विनय-सम्पन्ने=(वि०) विद्या च विनयः च=विद्या-विनयौ ताभ्यां (विद्या-विनयाभ्यां) सम्पन्नः यः तस्मिन् (बहुव्री०)। (पुं०) सप्त० ए० व०। विद्या और विनय युक्त (ब्राह्मण) में। विद्वान् और विनीत में॥

[विद्या=आत्मनः बोधः । वदन्ति अनया√विद्+क्यप्—टाप्=विद्या । यथार्थ ज्ञान । आत्मज्ञान । वेद के अर्थ का सम्यक् ज्ञान रूप विद्या । अद्वितीय ब्रह्म को प्रतिपादन करने वाली ब्रह्मविद्या । आत्म-बोध । विनय=उपशम । उपरामता । नम्रता । व्यवहार में अधीनता का भाव । निरहंकारता । सम्√पद्+क्त=सम्पन्न=युक्त ।]

ब्राह्मणे=(पुं०) ब्राह्मण+सप्त० ए० व०=ब्राह्मण में ।

गवि=(पुं०, स्त्री०) गो (गाय या बैल)+सप्त० ए० व०=गाय या बैल में । गौ में ।

हस्तिने=(पुं०) हस्तः अस्ति अस्य, हस्त (सूंड)+इनि=हस्तिन्+सप्त० ए० व०=सूंड वाले में । हाथी में ।

[भद्र, मन्द्र, मृग और मिश्र नामक चार प्रकार के हाथी होते हैं ।]

शुनि=(पुं०) श्वन्+सप्त० ए० व०=कुत्ते में ।

च=(अव्यय) और ।

एव=(अव्यय) ही ।

श्व-पाके=(वि० पुं०) श्वानं पचति (कुत्ते या गीदड़ बिल्ले आदि मांस-भक्षी जीवों को पकाता और खाता है ।) श्वन्+पच्+कर्तरि घञ्=श्वपाक+सप्त० ए० व०=श्वपाक में । चाण्डाल में । कुत्ते, बिल्ले, लूमड़ और गीदड़ आदि को खाने वाले में ।

च=(अव्यय) और ।

पण्डिताः=(पुं०) पण्डा (=सत् असत् का विवेक या निर्णय करने वाली बुद्धि)+इतच्=पण्डित+प्र० ब० व० । पण्डित लोग । बुद्धिमान् लोग । ज्ञानी लोग । ब्रह्मवेत्ता विद्वान् पुरुष ।

सम-दर्शिनः=(वि०) समं (एकम्-अविक्रियं ब्रह्म) द्रष्टुं शीलं येषां ते (बहुव्री०) । (पुं०) प्र० ब० व०=सम, एक, निर्विकार ब्रह्म को देखना ही जिनका स्वभाव है, वे । (√सम्+√दृश्+णिनि=समदर्शिन्) । सबको एक निगाह से देखने वाले । सब में एक ही परब्रह्म को देखने वाले ।

['सम' का अर्थ परब्रह्म परमात्मा भी होता है ।]

अर्थ—पण्डित (या तत्त्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानी महात्मा) लोग विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और कुत्ते बिल्ले आदि का मांस खाने वाले (चण्डाल) में समदर्शी ही होते हैं ।।१८।।

व्याख्या—संसार के कुछ जीवों की प्रकृति सत्त्व-गुण प्रधान होती है, जैसे विद्या विनय सम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मण सत्त्वगुणी होता है। गौएं या गाय-बैल घास-फूस खाते हैं, अमृत तुल्य मीठा और पौष्टिक दूध देते हैं, खेतीबाड़ी के कामों में सहायता करते हैं, शील स्वभाव और निर्वैर होते हैं। इसीसे अच्छे स्वभाव वाले मनुष्य को लोग गाय के समान कहा करते हैं। यह पशु सत्त्वगुण और रजोगुण के मिश्रित स्वभाव वाला होता है। हाथी का स्वभाव रजोगुण से युक्त होता है। कुत्ते के स्वभाव में रजोगुण और तमोगुण दोनों का संमिश्रण होता है। जो लोग कुत्ते, लोमड़, गीदड़, गोधा, सिही, शिखी, बिल्ले, कछुए आदि तथा नर मांस खाने वाले, निर्दयी, निघृ णी, सर्वभक्षी और मद्यपान करने वाले हैं, चोरी चकारी तथा नर-हत्या करने वाले हैं, बलात्कार, बच्चे उठाना, डाके डालना, लूटमार करना आदि घृणित और क्रूर कर्म करते हैं वे सब लोग वर्णसंकर और चाण्डाल माने जाते हैं। उनका नाम ही श्वपाक है। इन लोगों की प्रवृत्ति प्रगाढ तमोगुणमयी होती है। इस प्रकृति विभाजन के अनुसार संसार के सारे जीव पांच श्रेणियों में विभक्त हैं। भगवान् ने उदाहरणार्थ प्रत्येक श्रेणी में से एक एक जीव का नाम लिया है। परन्तु उनका आशय संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के कहने से है। इसलिए श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो पुरुष तत्त्व ज्ञानी हैं, ब्रह्मवेत्ता हैं, विद्वान् हैं, महात्मा हैं, सिद्ध पुरुष हैं तथा परमात्मा को पहुँचे हुए हैं तथा जिनको अपनी देह और गेह से कुछ भी स्नेह नहीं है वे लोग सृष्टि के सम्पूर्ण जीवों में समदर्शी होते हैं। 'सम' नाम ब्रह्म का है। इसलिए समदर्शी कहने से भगवान् का भाव ब्रह्मदर्शी कहने से है। परमात्मा सब जीवों में सूर्य की भान्ति प्रतिबिम्बित हो रहा है। वे पण्डित या ब्रह्मज्ञानी लोग प्रत्येक जीव में भगवान् के प्रतिबिम्ब को समान रूप से देखते हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब गंगा के जल में, सरोवर के पानी में, मदिरा भरे प्याले में, और किसी स्थान पर एकत्रित हुए मूत्र में पड़ता है परन्तु वह प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिबिम्बित होने वाला सूर्य इन तरल वस्तुओं तथा इन के गुण-दोषों से किसी प्रकार भी लिप्त या दूषित नहीं होता इसी प्रकार जीव मात्र में प्रतिबिम्बित परमात्मा इन सब जीवों के गुण-दोषों से लिप्त या दूषित नहीं है। परमात्मा अस्ति, भाति प्रिय रूप है तथा यह संसार नाम और रूप दो गुणों से युक्त है। सिद्ध ब्रह्म-ज्ञानी लोग तो इस नाम और रूप में अस्ति, भाति और प्रिय रूप परमात्मा के ही दर्शन करते हैं। संसारी जीव दर्पण रूप हैं जिनमें परमात्मा प्रतिबिम्बित है। अलाउद्दीन खिलजीने दर्पण में पद्मिनी के प्रतिबिम्ब को देखकर ही साक्षात् पद्मिनी के दर्शन कर

लिए थे। इसी प्रकार प्रत्येक जीव को देखकर उसमें प्रतिबिम्बित परमात्मा को पण्डित देख लिया करते हैं।

श्रीज्ञानेश्वर जी इस प्रकार कहते हैं—

"फिर इस प्रकार भेद भाव कहाँ रह जाता है कि यह मच्छर है, यह हाथी है, यह चण्डाल है, यह ब्राह्मण है, यह पराया है, यह मेरा है, इत्यादि। सब प्रकार की धारणाओं और कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। यह गाय है, यह कुत्ता है, यह उत्तम है, यह नीच है ऐसा सर्व भेद-भाव मिट जाता है। क्योंकि जो जाग रहा हो, उसे स्वप्न कहाँ से दिखाई पड़ेगा। ये सब भेद दिखाई तो पड़ते हैं। परन्तु कब ? जब अहंभाव बाकी बचा रहता है। जब यह अहंभाव बिलकुल नष्ट हो जाता है, तब विषमता का कहीं पता भी नहीं रह जाता।

देशपिता महात्मा गांधी का अनुभव इस प्रकार है—

टिप्पणी—तात्पर्य, वे सबकी, उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। ब्राह्मण और चण्डाल के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह है कि ब्राह्मण को सांप काटने पर उसके घाव को जैसे ज्ञानी प्रेमभाव से चूसकर उसका विष दूर करने का प्रयत्न करेगा, वैसा ही बर्ताव चाण्डाल को भी सांप काटने पर करेगा ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इह+एव तैः+जितः सर्गः+येषाम्+साम्ये स्थितम् +मनः। निर्+दोषम्+हि समम्+ब्रह्म तस्मात्+ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

इह=(अव्यय) इदम्+ह, इ आदेश=यहाँ। इस स्थान में। इस लोक में। इस जन्म में। इस जीवितावस्था में।

एव=(अव्यय) ही।

तैः=(सर्व०) तद्+(पुं०) तृती० ब० व०=उनके द्वारा। उन (समदर्शी पण्डितों) के द्वारा।

जितः=√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+क्त=जित+(पुं०) प्र० ए० व०=जीता हुआ है। जीत लिया गया है।

सर्गः=(पुं०)√सृज् (दिवा० आत्म० सक०, तुदा० पर० सक०=रचना करना। सृष्टि रचना)+घञ्=सर्ग+प्र० ए० व०=(जन्म-मरण रूप) संसार।

येषाम्=(सर्व०) यद्+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=जिनका। जिन (पण्डितों) का।

साम्ये=(नपुं०) साम्य+सप्त० ए० व०=समता में। समभाव में। सब भूतों के अन्तर्गत ब्रह्मरूप समभाव में।

स्थितम्=√स्था (भ्वा० पर० अकं०=स्थित होना+)क्त=स्थित+(नपुं०) प्र० ए० व०=स्थित है। स्थित हो चुका है। निश्चल हो गया है।

मनः=(नपुं०) मनस्+प्र० ए० व०=अन्तःकरण। मन।

निर्+दोषम्=(वि०) निर्गतो दोषो यस्मात् सः (बहुव्री०)। दोष रहित। निर्दोष। [यद्यपि मूर्ख लोगों को दोष-युक्त चाण्डालादि में उसके दोषों के कारण आत्मा दोषयुक्त सी प्रतीत होती है तो भी वह आत्मा उनके दोषों से रहित ही है]

हि=(अव्यय) क्योंकि। ही।

समम्=(नपुं०) सम+प्र० ए० व०=सम (नाम वाला)। सम है।

ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=ब्रह्म। आत्मा। सच्चिदानन्दघन परमात्मा।

तस्मात्=(अव्यय, सर्व०) इसलिए। इससे।

ब्रह्मणि=(नपुं०) ब्रह्मन्+सप्त० ए० व०=ब्रह्म में। सच्चिदानन्दघन परमात्मा में।

ते=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वे। (वे समदर्शी पण्डित लोग)।

स्थिताः=√स्था+क्त=स्थित+प्र० ब० व०=स्थित हैं।

अर्थ—जिनका अन्तःकरण समता (सब भूतों के अन्तर्गत ब्रह्मरूप समभाव) में स्थित है उनके द्वारा इस जीवितावस्था में ही (जन्म-मरण रूप) संसार जीत लिया गया है क्योंकि निर्दोष ब्रह्म ही सम (नाम वाला) है, इसलिए वे (समदर्शी पण्डित ब्रह्मज्ञानी लोग) ब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) में ही स्थित हैं॥१९॥

व्याख्या—परस्पर विषम स्वभाव वाले भी सब भूतों में जो ब्रह्म अस्ति भाति और प्रिय रूप से निर्दोष और एक समान ही वर्तमान है, जिन विद्वान् ज्ञानी पुरुषों के शुद्ध अन्तःकरण ऐसे ब्रह्म के समभाव में निश्चल होकर स्थित हो गए हैं उन्होंने जीवितावस्था में ही इस संसार पर विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो चुके हैं। परब्रह्म परमेश्वर तो सब प्रकार के दोषों से रहित है। उसका न कभी जन्म और न कभी मरण होता है। उसमें न कभी बचपन, जवानी या बुढ़ापा आदि किसी प्रकार का विकार होता है। वह तो कूटस्थ, नित्य, अद्वितीय और एक-रस है। इन गुणों के कारण ही उसका नाम 'सम' है। और साम्य, समत्व, समता या समभाव यह उसका गुण है।

इसलिए जो ज्ञानी और पण्डित लोग उस समरूप पर-ब्रह्म के समता रूप गुण में शुद्ध मन द्वारा स्थित रहते हैं अर्थात् प्राणी मात्र को उसके रूप में देखते हैं और बिना किसी भेदभाव के सबके साथ एक समान प्यार या उपकार करते हैं, किसी को भी अपना या पराया नहीं समझते हैं ऐसे समदर्शी लोग जीवन-काल में ही ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं। अर्थात् उन्हें भीतर, बाहर, नीचे, ऊपर, दायें, बाएं, आगे, पीछे सब दिशाओं, सब स्थानों और सब अवस्थाओं में सदा सर्वदा परमात्मा का स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। वे अपने आपको सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित हुए देखते हैं। उनका मरना कोई नवीन बात नहीं होती। यद्यपि लोगों को वे शरीरधारी दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में वे देहातीत होते हैं। शरीर के नष्ट होते ही वे उसी परब्रह्म परमेश्वर में वहीं लीन हो जाते हैं, जिसमें वे जीवन-अवस्था में ही स्थित हो चुके हैं। उन्हें तिल या बाल भर भी कहीं चलकर जाना नहीं पड़ता। वे लोग तो जीते जी ही परमात्मा में अभेद रूप से स्थित हो चुके होते हैं। मरने पर भी वैसे ही स्थित रहते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि पांचभौतिक दृश्यमान शरीर छिन्न भिन्न होकर अपने मूल तत्त्वों में मिल जाता है। तथा बुद्धि, अन्तःकरण इन्द्रियों के सार और सूक्ष्म शरीर आदि सब मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं।

समदर्शी ब्रह्मवेत्ता तत्त्वज्ञानी पण्डित लोग सब भूतों में परमात्मा को उसी प्रकार देखते हैं, जिस प्रकार श्रीकृष्ण उपासक भक्त लोग सोने की मूर्ति में अपने इष्टदेव भगवान् कृष्ण को देखते हैं। परन्तु स्वर्ण-द्रष्टा पुरुष उस मूर्ति में केवल स्वर्ण को ही देखता है और मन्दिर से उसे चुराने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार ज्ञानी लोग जीवों को केवल मनुष्य, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल आदि के रूप में ही देखते हैं। इसी प्रकार द्रान्ती हथौड़ा धारी साम्यवादी नामधारी लोग सब मनुष्यों को केवल लूटकर, काटकर और पीट कर ही एक समान करना चाहते हैं। अकाली का अर्थ ब्रह्मज्ञानी होता है। इन नाम मात्र के ज्ञानी लोगों का जीवन भी केवल खड्गमात्र पर ही निर्भर है। उसी के बल पर ही ये लोग सबको डरा धमकाकर अपना उल्लू सिद्ध किया चाहते हैं। भावार्थ यह कि बिना अमल किए केवल नाम रख लेने से ही कोई पुरुष समद्रष्टा ब्रह्मज्ञानी की सर्वोच्च पदवी को प्राप्त नहीं कर सकता। झूठा दिखावा करने वाले कपटी लोग ब्रह्मज्ञान से इतने ही दूर हैं। जितने कि गधे के सिर से सींग दूर होते हैं। इसलिए विद्वान् पुरुष को सब प्रकार के मत-मतान्तरों और जत्थेबन्दियों से सदा सौ कोस दूर रहना चाहिए जिससे वह निर्लेप, असंग और समदर्शी बन सकता है तथा

जन्म-मरण से छुटकारा पाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इन कीचड़ों में फँसने से संसार को तो धोखा दिया जा सकता है परन्तु कल्याण का मार्ग प्राप्त नहीं होता।

लोकमान्य तिलक महाराज इस प्रकार कहते हैं—

"जिसने इस तत्त्व को जान लिया कि 'आत्मस्वरूपी परमेश्वर अकर्ता है और सारा खेल प्रकृति का है,' वह 'ब्रह्मसंस्थ' हो जाता है और उसी को मोक्ष मिलता है। 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छां० २।२३।१॥)। उक्त वर्णन उपनिषदों में है और इसी का अनुवाद ऊपर के श्लोक में किया गया है। ब्रह्मज्ञान हो चुकने पर यह अवस्था जीते जी प्राप्त हो जाती है। अतः इसे ही जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं। अध्यात्मविद्या की यही पराकाष्ठा है।" ॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

न प्रहृष्येत्+प्रियम्+प्राप्य न+उद्विजेत्+प्राप्य च+अप्रियम्। स्थिर-बुद्धिः+असंमूढः+ब्रह्मवित्+ब्रह्मणि स्थितः।

न=(अव्यय) न। नहीं।

प्रहृष्येत्=प्र √हृष् (भ्वा०, दिवा०, पर० अक०=प्रसन्न होना)+विधि० प्र० पु० ए० व०=प्रसन्न हो। हर्षित हो। (प्रहर्षं कुर्यात्)।

प्रियम्=(वि०) प्रिय+(नपुं०) द्वितीे० ए० व०=प्रिय (वस्तु) को। इष्ट वस्तु को।

प्राप्य=प्र√आप् (चुरा०, स्वा०, पर० सक०=प्राप्त करना)+ल्यप्==पाकर। (लब्ध्वा)।

न=(अव्यय) न। नहीं।

उद्विजेत्=उद्√विज् (तुदा० उभ० अक०=दुःखी होना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=उद्वेगवान् हो। उद्विग्न हो। दुःखी हो।

प्राप्य=प्र √आप्+ल्यप्=पाकर।

च=(अव्यय) और।

अप्रियम्=(वि०) न प्रियम् (नञ्)। अप्रिय+द्वितीे० ए० व०=अप्रिय (वस्तु) को। अनिष्ट वस्तु को।

स्थिर-बुद्धिः=(वि०)। (सर्वभूतेषु एकः समो निर्दोष आत्मा इति) स्थिरा (निर्विचिकित्सा) बुद्धिः यस्य सः (बहुव्री०)=(सब भूतों में आत्मा एक है, सम है और निर्दोष है, ऐसी संशय रहित) बुद्धि जिसकी स्थिर (टिकी हुई) हो चुकी है। टिकी हुई बुद्धि वाला। स्थिर हुई बुद्धि वाला। निश्चल बुद्धि वाला। (पुं०) प्र० ए० व०।

[√स्था+किरच्=स्थिर=दृढ़, अचल]

असंमूढः=(वि०) न संमूढः (नञ्०)। (पुं०) प्र० ए० व०। संमोह वर्जित। संशयरहित। भूलरहित। अज्ञान से शून्य।

[सम् √मुह्+क्त=संमूढ=संशययुक्त]

ब्रह्म-वित्=(वि०) ब्रह्म वेत्ति इति (उपपद तत्पु०)। ब्रह्मविद्+(पुं०) प्र० ए० व०=ब्रह्मवित्। ब्रह्म को जानने वाला। ब्रह्मवेत्ता। ब्रह्मज्ञानी।

ब्रह्मणि=(नपुं०) ब्रह्मन्+सप्त० ए० व०=ब्रह्म में। सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा में।

स्थितः=√स्था+क्त=स्थित+(पुं०) प्र० ए० व०=स्थित है। (एकीभाव से नित्य) स्थित है।

अर्थ—जो पुरुष प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न न हो और अप्रिय वस्तु को पाकर उद्विग्न (दुःखी) न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशय या अज्ञान से शून्य और ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा में (एकीभाव से नित्य) स्थित है ॥२०॥

व्याख्या—सर्वत्र अद्वितीय आत्मा या परमात्मा को देखने वाला विद्वान् पुरुष अपने से भिन्न किसी को देखता ही नहीं है। वह अपनी देह को अपनी नहीं समझता है। क्योंकि देह मात्र में आत्म-बुद्धि वाले पुरुष को ही प्रिय वस्तु की प्राप्ति हर्ष देने वाली होती है और अप्रिय वस्तु की प्राप्ति शोक और दुःख उत्पन्न करने वाली होती है, केवल उपाधि-रहित आत्मा के साक्षात् करने वाले पुरुषों को नहीं। कारण यह है कि उसके लिए वास्तव में प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति असम्भव होती है। संसार में अपने से भिन्न जाना हुआ पदार्थ ही हर्ष, विषाद का कारण होता है। जो पदार्थ अज्ञानी पुरुषों के मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर के अनुकूल होते हैं उनको वे प्रिय समझते हैं तथा उनमें उन अज्ञानी मूढ लोगों की आसक्ति होती है। इस लिए उनको उनकी प्राप्ति से प्रसन्नता और तृप्ति होती है परन्तु जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर के प्रतिकूल होते हैं उनकी बरबस प्राप्ति से अज्ञानी संमूढ पुरुष खिन्न, दुःखी उद्वेजित और व्याकुल हो जाते हैं क्योंकि वे पदार्थ उनके लिए सर्वथा अप्रिय और कष्टप्रद होते हैं। परन्तु स्थिरबुद्धि, तत्त्ववेत्ता और ब्रह्मज्ञानी लोग तो न प्रिय वस्तुओं को पाकर प्रसन्न होते हैं, न अप्रिय वस्तुओं को पाकर खिन्न होते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इस प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और हर्ष-शोक आदि का सम्बन्ध तो केवल मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर के साथ होता है। परन्तु इन चारों से मुख मोड़कर ब्रह्मवेत्ता समदर्शी बन जाते हैं। इसलिए वे लोग प्रिय वस्तु के पाने से प्रसन्न नहीं होते और अप्रिय वस्तु को पाकर

दुःखी नहीं होते। दूसरे अध्याय के श्लोक ५६ में भगवान् स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण पहले भी कह चुके हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

अर्थात् दुःखों में घबराहट रहित मन वाला, और सुखों में दूर हुई इच्छा वाला, राग, भय तथा क्रोध से रहित मुनि स्थिर-बुद्धि कहलाता है।

स्थिर बुद्धि पुरुष की बुद्धि सब प्रकार के संशयों से रहित होकर केवल एक परमात्मा में ही स्थिर हो जाती है। उसे सारा ब्रह्माण्ड उसी परमात्म-तत्त्व से भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार जो पुरुष सदा एकरस रहता है, किसी समय भी किसी कारण विशेष से विचलित नहीं होता है वही स्थिर-बुद्धि होता है। जो पुरुष किसी प्रकार की द्विविधा, संशय, भ्रम या मोह के कारण किसी काल में भी मूढ नहीं बनता है, सदा ज्ञानवान् बना रहता है "सब भूतों में आत्मा एक है, सम है, और निर्दोष है", ऐसी संशय रहित बुद्धि जिसकी स्थिर हो चुकी है और जो मोह-अज्ञान से रहित है उसे स्थिरबुद्धि असंमूढ कहा जाता है। जो पुरुष आत्मा, अनात्मा, परमात्मा आदि सब कुछ भली भान्ति जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता कहलाता है। इस प्रकार जो पुरुष हर्ष शोक से रहित, प्रिय और अप्रिय में सम, स्थिरबुद्धि, असंमूढ और ब्रह्मवेत्ता है, वह स्वप्न, सुषुप्ति और जागृति तीनों अवस्थाओं में ब्रह्म में स्थित रहता है। जीते जी ही उसका संबन्ध अपने शरीर से छूट जाता है। उसका तन कार (कर्म) में रत होता है और मन यार (ब्रह्म) में लीन होता है॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥२१॥

बाह्य-स्पर्शेषु + असक्त + आत्मा विन्दति + आत्मनि यत् + सुखम्।
सः + ब्रह्म-योग युक्त + आत्मा सुखम् + अक्षयम् + अश्नुते।

बाह्य-स्पर्शेषु = (पुं०) बाह्याः च स्पर्शाः च ते = बाह्यस्पर्शाः। [स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः = शब्दादयो विषयाः] तेषु विषयेषु। जिनका इन्द्रियों द्वारा स्पर्श अर्थात् ज्ञान प्राप्त किया जा सके वे 'स्पर्श' कहलाते हैं। इससे शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय 'स्पर्श' नाम होते हैं। ये सब आत्मा के भीतर नहीं हैं। इसलिए बाह्य हैं। बाहर के स्पर्शों (विषयों) में सांसारिक भोगों में। (सप्त० ब० व०)

असक्त-आत्मा = (वि०) न सक्त आत्मा (= अन्तःकरणं) यस्य सः। (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व० = आसक्ति रहित अन्तःकरण वाला।

विन्दति=√विद् (तुदा० उभ० सक०=पाना)+लट्० प्र० ए० व०=पाता है। प्राप्त होता है।
आत्मनि=(पुं०) आत्मन्+सप्त० ए० व०=आत्मा में। अन्तःकरण में। भीतर।
यत्=(सर्व०) यद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिसको।
सुखम्=(नपुं०) सुख+द्विती० ए० व०=सुख को।
सः=(सर्व०)तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।
ब्रह्म-योग-युक्त+आत्मा=(वि०) पुं०, प्र० ए० व०। ब्रह्मणि योगः (=समाधिः)=ब्रह्मयोगः तेन ब्रह्मयोगेन युक्तः=समाहितः—(तस्मिन् व्यापृतः) आत्मा (=अन्तःकरणं) यस्य सः=ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (बहुव्री०)। ब्रह्म में समाधि का नाम ब्रह्मयोग है। उस ब्रह्मयोग से युक्त अन्तःकरण वाला। परब्रह्म परमात्मा के ध्यान रूप योग में अभेद भाव से स्थित अन्तःकरण वाला।
सुखम्=(नपुं०) सुख+द्विती० ए० व०=सुख को।
अक्षयम्=(वि०,नपुं०) नास्ति क्षयो यस्य सः (बहुव्री०) ['सुखम्' का विशेषण]। द्विती० ए० व०=अक्षय को। नाश न होने वाले को। अविनाशी को। सदा बने रहने वाले को।
अश्नुते=√अश् (स्वा० आत्म० सक०। क्र्या० पर० सक०=अनुभव करना। पाना। खाना)+लट्० आत्म०, प्र० पु०, ए० व०=अनुभव करता है। प्राप्त होता है। पाता है।

अर्थ—(शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि, सांसारिक भोगों या) बाहर के विषयों में आसक्ति रहित अन्तःकरण वाला योगी पुरुष जिस सुख को आत्मा (अन्तकरण या अपने आप) में पा लेता है, वह योगी पुरुष (फिर उस सुख के द्वारा) परब्रह्म परमात्मा के ध्यान रूप योग में अभेद भाव से स्थित अन्तःकरण वाला हुआ, कभी न नाश होने वाले सुख(=मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

[इसलिए अपने आप में अक्षय सुख चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह क्षणिक बाह्य विषयों की प्रीति से इन्द्रियों को हटा ले] ॥२१॥

व्याख्या—जो पुरुष स्वस्थ शरीर वाला है, ठीक और अविकल मस्तिष्क वाला है, रूपवान् है, तेजप्रताप से युक्त है, स्वस्थ और सुडौल इन्द्रियों वाला है, उपरोक्त प्रकार के सब गुण और सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी बिना परमात्मा के और किसी रंग रूप को नहीं देखता है, सारी सृष्टि के रूप रंगों को परमात्मा का रूप-रंग ही समझता है, हरिकीर्तन में ही प्रसन्न रहता है।

महात्माओं के भक्ति तथा ज्ञानमय वचनों को ही प्रिय समझता है और किसी प्रकार का कर्णरस जो विषय-वासनाओं में धकेल कर संसार में फँसाने वाला हो, उसे रुचिकर नहीं है, गुरुचरणों का स्पर्श करता है, देव चरणों तथा महात्माओं के चरणों को छूकर ही प्रसन्न होता है, यदि किसी और को बरबस छूना ही पड़े, तो केवल विष्णु-पिण्ड जानकर ही छूता है, किसी विषय-वासना के वशीभूत होकर नहीं, यदि वह गृहस्थ या विवाहित है, तो भी परमात्मा का प्रसाद-रूप जानकर संयम से स्वधर्म का पालन करता है, स्त्री-संग के समय भी प्रभु-ध्यान से विचलित नहीं होता, उस समय भी गीता के चौदहवें अध्याय के तीसरे और चौथे श्लोक का मन में जप-जाप करता रहता है, जैसा रूखा-सूखा, शीतल-उष्ण यथा-समय-प्राप्त भोजन मिलता है, वह किसी प्रकार का रस लिए विना उसको अमृत जान कर खा लेता है और खाते समय गीता के पन्द्रहवें अध्याय के श्लोक १४ को मन में पढ़ता हुआ भगवान् को भोग लगाता रहता है, किसी विशेष भोजन की इच्छा या वासना नहीं करता है, इसी प्रकार गन्ध के सम्बन्ध में उसका बर्ताव होता है— वह साधक पुरुष किसी विशेष गन्ध को सूंघने की वासना नहीं करता है। केवल हवन, धूपादि जो भगवान् की आराधना के समय धुखाए जाते हैं उन में ही साधारण प्रसन्नता हो तो भले ही हो किन्तु वह और किसी विषय-विकारवर्धक गन्ध से कोई सरोकार नहीं रखता। श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य जो शब्दादि विषय हैं, वे सब अनात्म-वस्तु का धर्म होने के कारण बाह्य स्पर्श कहलाते हैं। निष्काम पुरुषों का चित्त इनमें आसक्त नहीं होता जिससे उनका अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल रहता है। क्योंकि तृष्णा की निवृत्ति हो जाने से अन्तःकरण में एक विशेष अलौकिक आनन्द का अनुभव होने लगता है। महाभारत के इस श्लोक में भी तृष्णा की निवृत्ति से होने वाले सुख का वर्णन किया गया है—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णा-क्षय-सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

[अर्थ—इस लोक में जो काम-जन्य सुख हैं और स्वर्गादि लोकों में जो महान् दिव्य सुख हैं वे सब तृष्णा की निवृत्ति हो जाने से प्राप्त होने वाले सुख के सोलहवें भाग के समान भी (आनन्द-प्रद) नहीं हैं]

वास्तव में बाह्य-इन्द्रियों के भागों में सुख का लेश-मात्र-अंश भी नहीं है। वह तो सुख का केवल आभास मात्र है, जो बिजली की चमक की भान्ति शीघ्र ही लुप्त या नष्ट-प्राय हो जाता है। ब्रह्म-सुख की भान्ति उसमें स्थिरता नहीं है। परन्तु जब ये बाह्य-विषय आनन्द-रहित प्रतीत होने लगते हैं, तो

साधक के अन्तःकरण के पटल खुल जाते हैं तथा अन्तःकरण में स्थिर-सुख का सूर्य प्रकाशमान हो जाता है, वैराग्य-सुख के बाद उपरति-सुख प्राप्त हो जाता है, फिर परमात्मा के ध्यान में अटल-स्थिति प्राप्त होने पर सबसे बढ़कर एक विशेष-सुख प्राप्त हो जाता है। यही परब्रह्म परमात्मा की समाधि रूप योग है। इसी का नाम ब्रह्मयोग है। इस ब्रह्मयोग में जिसका अन्तःकरण संलग्न है उसी पुरुष का नाम "ब्रह्म-योग-युक्तात्मा' है। ऐसा ब्रह्म-योग-युक्तात्मा पुरुष जन्म-मरण से रहित हुआ स्व-स्वरूप भूत नित्य सुख को प्राप्त होता है। तत्त्व-साक्षात्कार की प्राप्ति उस सुख के अनन्तर शीघ्र हो जाया करती है। क्योंकि यह सुख भी अविद्या से ढका हुआ होता है। इसलिए अविद्या का पर्दा या आवरण तो तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर ही दूर होता है। वास्तव में यह पर्दा उस शाश्वत सुख को न जानना ही है।

जब अन्तःकरण विषय-वासनाओं से रहित होकर शुद्ध, शान्त और निर्मल हो जाता है, तो साधक पुरुष जैसे चकोर कुमुद-दलों की थाली या पत्तल में चन्द्रमा की किरणों का उत्तम भोजन करता है, वैसे ही ब्रह्मयोग-युक्तात्मा होकर स्थायी सुख का उपभोग करता है। अथवा अन्तःकरण रूपी हृदय कमल में साधकरूपी हंस, ब्रह्मसुखरूपी सूर्य की किरणों के स्थायी सुख का अनुभव करता है।

श्रीनारायण स्वामी जी लिखते हैं—

"इस श्लोक से दोनों ही तात्पर्य सिद्ध होते हैं। प्रथम यह कि 'जिस सुख को विषयों में न फँसने वाला पुरुष अपने निर्मल और क्षोभ-रहित अन्तःकरण में पाता है वह यद्यपि अपने भीतर आत्मा से ही प्रकट होता है परन्तु प्रतिबिम्ब रूप होने से परिच्छिन्न और नाशवान् होता है; और जिस सुख को ब्रह्मवेत्ता अपने ब्रह्मध्यान में पूर्ण युक्त या लीन होने से भोगता है, वह बिम्ब रूप वा पारमार्थिक होने से अपरिच्छिन्न और नाश रहित होता है।'

और दूसरा यह कि 'जब पुरुष विषयों में न फँसने से अपने निर्मल और शान्त अन्तःकरण में सुख लाभ करने लग जाता है तब चित्त-वृत्ति अपने परम स्वरूप के ध्यान में भी ठीक युक्त होने लग जाती है, जिसके पूर्ण युक्त वा लवलीन होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है, और इससे यह नाश न होने वाले बिम्ब सुख को भोगता है।'

देश-पिता महात्मा गांधी का अनुभव इस श्लोक के सम्बन्ध में इस प्रकार है—

"टिप्पणी—अन्तर्मुख होने वाला ही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है; और वही परम आनन्द पाता है। विषयों से निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्म समाधि में रमण करना ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। वरन् एक ही वस्तु को देखने की दो दृष्टियां हैं—एक ही सिक्के की दो पीठें हैं ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

ये हि संस्पर्शजाः+भोगाः+दुःख-योनयः+एव ते। आदि+अन्त-वन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः।

ये=(सर्व) यद्+(पुं०) प्र० ब० व०=जो।
हि=(अव्यय) क्योंकि।
संस्पर्शजाः=(वि०, पुं०, प्र० ब० व०) विषयेन्द्रियसंस्पर्शेभ्यो जाताः= विषय और इन्द्रियों के संस्पर्श या सम्बन्ध से उत्पन्न हुए।
भोगाः=(पु०)√भुज् (रुधा० उभ० सक०=भोगना)+घञ्=भोग+प्र० ब० व०=सब भोग, हैं।
दुःख-योनयः=(पुं०, नपुं०) (अविद्या-कृतत्वाद् आध्यात्मिकादीनां) दुःखानां योनयः=अविद्या-जन्य होने से आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करने वाले हैं। प्र० ब० व०।
एव=(अव्यय) ही। ['एव' से यह भी प्रकट होता है, कि ये संस्पर्शज-भोग जैसे इस लोक में दुःख-प्रद हैं, वैसे ही परलोक में भी दुःखद हैं।
ते=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ब० व०=वे सब।
आदि-अन्त-वन्तः=(वि०, पुं०, प्र० ब० व०) विषयेन्द्रिय-संयोगः भोगानाम् आदिः=(विषयों और इन्द्रियों का संयोग होना भोगों का 'आदि' है)। विषयेन्द्रिय-वियोगः भोगानाम् अन्तः च=और (विषयों और इन्द्रियों का वियोग होना ही अन्त है)।
इसलिए जो आदि-अन्त वाले हैं वे केवल बीच के क्षण में ही प्रतीति वाले होने से 'अनित्य' हैं।
आदि, अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं।
[मतुप् प्रत्यय से पूर्व शब्द के अन्त में यदि 'अ' या 'आ' हो, तो 'म्' को 'व्' हो जाता है। जैसे यहां आदि-अन्त-मत्' के स्थान पर 'आदि-अन्त वत्' हुआ है]
कौन्तेय=(पुं०, सम्बो० ए० व०) कुन्त्या अपत्यम्=कौन्तेयः, कुन्ती+ढक्-एय। हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन) !

न=(अव्यय) न । नहीं ।
तेषु=(सर्व०) तद्+(पुं०) सप्त० ब० व०=उनमें । उन भोगों में ।
रमते=√रम् (भ्वा० आत्म० अक०=खेलना । रमण करना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=रमता है ।
बुध:=(पुं०) बुध+प्र० ए० व०=परमार्थ तत्त्व को जानने वाला विवेकशील बुद्धिमान् पुरुष ।

अर्थ—क्योंकि (इन्द्रियों और विषयों के) संयोग से उत्पन्न होने वाले (सब प्रकार के) जो भोग हैं, वे सब (अविद्या-जन्य होने से आध्यात्मिक आदि तीन प्रकार के) दुःखों के ही कारण हैं । तथा उत्पन्न होने वाले और नाश होने वाले हैं (इससे अनित्य और अस्थायी हैं) । इसलिए हे कुन्ती-पुत्र (अर्जुन) ! परमार्थ तत्त्व को जानने वाला विवेकशील बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता है ॥२२॥

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को जो 'कौन्तेय' कह कर सम्बोधित किया है, उसका विशेष अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन ! तू जिस कुन्ती माता का पुत्र है, वह अत्यन्त बुद्धिमती, विवेकवती और संस्पर्शज-भोगों से विरक्त रहने वाली है । संयम शीला है, वैराग्य-युक्ता है, भगवान् की भक्ति में सदा लीन रहने वाली है । क्योंकि माता के गुण पुत्र में भी विद्यमान होते हैं इसलिए इन सब गुणों का तुझ में होना स्वाभाविक है । इसलिए इन इन्द्रिय-जन्य विषयों की आसक्ति का तुझ में होना सम्भव नहीं है । परन्तु लोक-हित के निमित्त तेरे प्रति इस ज्ञान का कथन किया जाना परमावश्यक है ।

श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जीभ और नासिका के साथ क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जो विषयों के सम्बन्ध हैं, उनका नाम 'बाह्यस्पर्श अथवा संस्पर्श है तथा इससे उत्पन्न होने वाले जो भोग और सुख हैं, वे सब आध्यात्मिक आदि सब प्रकार के दुःखों और तापों को उत्पन्न करने-वाले हैं । जिस प्रकार हरिण व्याध की बांसुरी की मधुर तान पर मोहित होकर उसकी ओर बेसुध हुआ सा चला जाता है और मारा जाता है । तथा सर्प बांसुरी के स्वर को सुन कर फण फैलाए नाचने लगता है जिससे संपेरे द्वारा पकड़ कर पिटारी में बन्द कर लिया जाता है, एवं कुत्ता संस्पर्श रूप स्त्री-संभोग-सुख में पड़कर कुतिया से संलग्न होकर लोगों से लाठी डण्डों की मार खाता है तथा ईर्ष्यालु अन्य कुत्तों द्वारा काटा जाता है । हम समाचारपत्रों में उन बहुत से विषय-लोलुप लोगों के दुर्दशापूर्ण और निर्दयता से मारे जाने के समाचार पढ़ते रहते हैं जो मृग-तृष्णा-जल में भटकते हुए

परनारियों से रमण करते हुए निज-शीश कटवाते हैं और उनके शव बन्द बोरियों में पार्सल बने हुए रेल के डिब्बों में लावारस पड़े पाए जाते हैं या नदी-नालों के जल-प्रवाहों में बहाए हुए मिलते हैं अथवा गीध-कुत्तों द्वारा नोचे हुए खेतों में पड़े हुए मिलते हैं। आवारा और शरारती युवक तो नित्य प्रति सार्वजनिक स्थानों पर हीर-रांझे या ससी पुन्नू का पार्ट करते हुए चप्पलों की मार खाते हुए देखे जाते हैं। ये विषयासक्त युवक कभी-कभी तो टूटे हुए जूतों के हारों या जय-मालाओं से सुशोभित मुख काला किए हुए गधे की सवारी भी करते हैं। परन्तु उस समय उनका मुख प्रायः गधे की दुम की ओर ही होता है और इस अनोखे दूल्हा की शान बढ़ाने के लिए मसखरों की प्रचुर भीड़ या बरात तथा पुलिस के सिपाही भी संग होते हैं।

रूप का लोभी पतंगा अपनी अज्ञानता के वश हुआ परिणाम न सोचकर दीपक की प्रकाशमय शिखा को सुख का साधन समझता है और उसे प्राप्त करने के लिए बार-बार उड़-उड़ कर उस पर गिरता है जिससे पहले तो उसके पंख जल जाते हैं और फिर शरीर दग्ध हो जाता है तथा वह भूमि पर गिर कर भयानक ताप के दाह और जलन की वेदना से तड़पता हुआ प्राणों से वियुक्त हो जाता है। विषय-वासना की भूख, अकाल-पीडित, उस कई दिन के भूखे जन की भूख के सदृश होती है जो अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिए दूसरों द्वारा की हुई वमन को भी खा जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप फिर वह असाध्य रोगी बन कर मरता है। हमने बदचलन नारियों से संसर्ग करने वाले अनेक लोग शरीर के अंगों के गल जाने से कोढ़ी होकर मरते हुए देखे हैं।

मछली काँटे पर लगी हुई मांस या आटे की गोली को देख कर अपनी जिह्वा की वासना को तृप्त करने के लिए मुख में डाल लेती है, जिससे लोहे का तीक्ष्ण काँटा उसके गले में फँस जाता है और वह काँटे में लगी हुई डोरी के द्वारा जल से बाहर निकाल ली जाती है जिससे मृत्यु का ग्रास बन जाती है।

सुगन्धि का लोभी भ्रमर, खिले हुए कमल के कोष में बैठ कर, नासिका के सुगन्धि रूप विषय सुख से ऐसा मस्त होता है कि उठने का नाम ही नहीं लेता। सूर्य के अस्तंगत हो जाने पर, वह कमल, निज दलों के बन्द हो जाने से, भ्रमर के लिए काल-कोठरी का रूप धारण कर लेता है जिससे नासिका-विषय-सुख-लोलुप वह भ्रमर दीन-हीन हुआ प्रातःकाल होने तक दम घुट कर मर जाता है। यह तो उन बेचारे दीन-हीन पशु-पक्षियों का वर्णन हुआ

है जिनको केवल एक-एक विषय ही अधोगति को पहुँचा देता है। मनुष्य को तो पाँचों बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सब विषयों से छुटकारा पाना होता है।

अज्ञानी पुरुष भोगों को सुख के साधन समझकर उनमें आसक्त हो जाते हैं, तथा उन्हें भोगने का भरसक प्रयत्न करते हैं परन्तु परिणाम में महान् दुःखों को भोगते हैं। जैसे जैसे ही विषयों को भोगते जाते हैं वैसे-वैसे ही उनकी चाह और भूख अधिक बढ़ती जाती है। ठीक इसी प्रकार होता है, जैसे कोई अग्नि को शान्त करने के लिए उसमें पानी के स्थान पर सूखी लकड़ियाँ, घी, तेल अथवा मिट्टी का तेल डालता चला जाता है। ऐसा करने से विषयों की अग्नि और अधिक भड़क उठती है। 'सेवित विषय विवर्ध जिमि, नित नित नूतन मार।' तुलसीदास की यह सूक्ति इसी बात की पुष्टि करती है। जो पुरुष विषयों द्वारा सुख पाना चाहता है वह वैसा ही मूर्ख है जैसा मूर्ख वह पुरुष है, जो किसी प्रकार का मकान न बना कर केवल आकाश की नीली छत के द्वारा ही शीत, वायु, वर्षा और धूप से अपना त्राण या बचाव किया चाहता है। विषय-सुख उस मीठे विष के तुल्य होता है जो खाने में तो मीठा लगता है परन्तु परिणाम में मारने वाला होता है। विषय सुख को सुख कहना ही भूल है। जैसे पाप-ग्रह भौम को 'मंगल' कहना ठीक नहीं जँचता। विषय भोग में सुख समझने वाला व्यक्ति इसी प्रकार धोखा खाता है, जैसे कोई चूहा धूप से बचने के लिये साँप के फण की छाया में बैठकर सुखी नहीं हो सकता। इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले विषयों के सुख, लकड़ी के बुरादे से बने हुए उन लड्डुओं के ठीक समान होते हैं, जो देखने में मोतीचूर के लड्डुओं के तुल्य मालूम होते हैं परन्तु जो उन को खाता है, वह पछताता है। किन्तु देखने वाला मूर्ख और अज्ञानी उनको खाने के लिए तरसता या ललचाता है। विषयों में फँसे हुए लोग पीप में पड़े हुए कीड़ों के समान होते हैं अथवा कीचड़ में लथपथ भैंसों के तुल्य होते हैं। इन्द्रियों के ये विषय-भोग, बल, वीर्य आयु और मस्तिष्क का ह्रास करने वाले होते हैं, मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों का क्षय करते हैं, लोक में कलङ्क और परलोक में नरक का कारण बनते हैं। इन भोगों और सुखों के प्रारब्ध वश नष्ट हो जाने पर अज्ञानी पुरुष रोते, विलपाते, चीखते-चिल्लाते, पछताते और व्याकुल होते हैं। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि ये सब विषय-भोग दुःखों के ही उत्पन्न करने वाले होते हैं। केवल मनुष्य लोक के भोगों का परिणाम ही दुःखदायी नहीं होता, वरन् मनुष्य लोक से लेकर ब्रह्म-लोक पर्यन्त सब लोकों के भोगों का अन्तिम परिणाम भी

अच्छा नहीं होता। मृगवत् यह जीव विषयों के जाल में अधिक से अधिक उलझता जाता है। विष्णुपुराण में लिखा है—

"यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः॥

[अर्थ—यह जीव जितने सम्बन्ध मन के प्रिय करता है उतने ही शोक रूपी शंकु उसके हृदय में छिद्र करते हैं]।

इन्द्रियों से विषयों के संयोग का नाम 'आदि' है और इन्द्रियों से विषयों के वियोग का नाम 'अन्त' है। जिन विषयों में ये 'आदि' 'अन्त' दोनों विद्यमान हों उनको 'आद्यन्तवन्त' कहा गया है। स्वप्न पदार्थों की भान्ति वे सब भोग केवल मध्य काल में ही प्रतीत होते हैं जिससे वे सब भोग स्वप्न पदार्थों की भान्ति क्षणिक और मिथ्या रूप हैं। इस विषय में श्रीगौडपादाचार्य जी कहते हैं कि "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।" इति

[अर्थ—जो पदार्थ आदिकाल से पहले नहीं है और अन्तकाल के अनन्तर भी न हो, वह वास्तव में वर्तमान काल में भी नहीं होता।]

इससे ये सब भोग स्वप्न-सदृश हैं। इस विषय में योग-शास्त्र में ऐसे लिखा है—'परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति।

[अर्थ—भली प्रकार क्लेशादिकों का स्वरूप जिसने निश्चय कर लिया है, उस विवेकी पुरुष को इस लोक और परलोक के सब विषय सुख, दुःख रूप ही प्रतीत होते हैं।]।

दूसरे अध्याय के श्लोक १४ में भी भगवान ने इन्द्रियों के भोगों को शीत, उष्ण, सुख और दुःख के देनेवाले तथा अनित्य और आने-जाने वाले कहा है। इसलिए इनसे सुख पाने की आशा करना व्यर्थ है। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जिस सुख की प्रतीति होती है, वह तो बिजली की चमक की भान्ति अपनी आत्मा के आनन्द की झलक मात्र होती है जिसका परिणाम केवल दुःख ही होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष इन विषय भोगों में रमण नहीं करते। इन विषयों से छुटकारा पा लेने से ही पुरुष को परमानन्द की प्राप्ति होती है॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

शक्नोति+इह+एव यः सोढुम्+प्राक्+शरीर-विमोक्षणात्। काम-क्रोध+उद्भवम्+वेगम्+सः+युक्तः, सः+सुखी नरः।

शक्नोति=√शक् (स्वा० पर० अक०=समर्थ होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=समर्थ है।

इह=(अव्यय) यहां। इस लोक में। इसी जन्म में। यहां (जीवितावस्था में)।

एव=(अव्यय) ही।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो। जो मनुष्य।

सोढुम्=√सह्+तुमुन्=सहन करने के लिए।

प्राक्=(वि०) प्राच्+प्र० ए० व०=पहले।

शरीर-विमोक्षणात्=(नपुं०) शरीरस्य विमोक्षणात् (षष्ठी० तत्पु०)। [आ-मरणात्] शरीर के छोड़ने से। मरण पर्यन्त। पंच०, ए० व०।

काम-क्रोध+उद्भवम्=(वि०) कामश्च क्रोधश्च ताभ्याम् उद्भवतीति= काम और क्रोध से उत्पन्न हुए को। पुं० द्विती० ए० व०। [उद्√भू +अप्=उद्भव]

वेगम्=(पुं०) वेग+द्विती० ए० व०=वेग को। प्रवाह को। गति को।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

युक्तः=(वि० पुं०)√युज्+क्त=युक्त+प्र० ए० व०=योगी। युक्त। परमात्मा से जुड़ा हुआ या मिला हुआ। (है)।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

सुखी=(वि०) सुख+इनि=सुखिन्+प्र० ए० व० (पुं०)=सुखी। (है)।

नरः=(पुं०) नर+प्र० ए० व०=मनुष्य।

अर्थ—जो मनुष्य इसी जन्म में, शरीर-त्याग से पहले ही, काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने के लिए समर्थ होता है (अर्थात् काम-क्रोध को जीत लेता है) वह युक्त (योगी) है, वह सुखी पुरुष है ॥२३॥

व्याख्या—जो पुरुष प्रभु-प्राप्ति के लिए यत्न करता है, वह साधक कहलाता है, जो साधक अपने उक्त प्रयत्न में पूर्णकाम या सफल हो जाता है, वह सिद्ध पदवी को प्राप्त हो जाता है। यह साधक मानव-शरीर में ही बना जा सकता है क्योंकि देवता लोग इन्द्रादि तो भोगी और विलासी ही होते हैं। कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों तथा लता-वृक्षों में साधक बनने का गुण ही नहीं होता, क्योंकि इनमें परमात्मा को जान लेने की बुद्धि ही नहीं होती। कारण यह कि यह बुद्धि तो केवल गुरुओं या सन्तजनों के उपदेश

और सद्ग्रन्थों के अध्ययन से ही केवल मनुष्यों में उत्पन्न होती है। यद्यपि पशु-पक्षी और लता-वृक्षादि अनुकरण करते हैं, तोते राम नाम रटते हैं परन्तु वह उनकी केवल रट मात्र ही होती है। रीछ, बन्दर, सिंह, हाथी और कुत्ते आदि सिखाने से बहुत कुछ सीख जाते हैं। इस प्रकार पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में मनुष्य का अनुकरण करने के विषय में प्रायः बहुत से लोग बहुत सी बातें जानते हैं। यहां वृक्षों के अनुकरण करने के सम्बन्ध में एक घटना का वर्णन किया जाता है। एक बार देश-पिता महात्मा गांधी जी जगद्विख्यात महाविज्ञान वेत्ता श्री जगदीश चन्द्र वसु के पास उनकी प्रयोग-शाला देखने के लिए कलकत्ते में गए। वहां सायंकाल को महात्मा जी की प्रार्थना-सभा होने वाली थी तब श्री वसु ने कहा—महात्मा जी! यहां उगे हुए पेड़-पौधे भी आपकी इस प्रार्थना सभा में भाग लेंगे। यह कह कर उन्होंने सभा में बैठे हुए लोगों की पीठ के पीछे बहुत दूर जाकर कुछ वृक्षों से परे विद्युत्-प्रकाश की मशीन का बटन दबा दिया जिस से वृक्षों के पत्तों की छाया बैठे हुए लोगों के सामने बनी हुई सक्रीन या पर्दे पर पड़ने लगी। जब सब लोग हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने लगे, तब पीछे के वृक्षों के दो-दो पत्ते भी हाथों की हथेलियों की भान्ति परस्पर मिले हुए सक्रीन पर दिखाई देने लगे। प्रार्थना की समाप्ति पर जब-जब लोगों ने अपने अपने हाथ अलग अलग कर लिए, तो वृक्ष के सब पत्ते भी पूर्ववत् अलग अलग हो गये।

लेखक स्वयं भी जब प्रातः ऊँचे स्वर से गीता का गायन करता है तो उसका पालतू बिल्ला, मयूर और एक कौआ भी गायन के आदि से अन्त तक बैठे पाठ सुनते रहते हैं। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि पशु-पक्षी और वृक्षादि भी प्रार्थनाओं में भाग लेते और आनन्द अनुभव करते हैं परन्तु उनमें यह केवल अनुकरण मात्र तक ही सीमित है।

इस श्लोक के 'इह', 'एव', तथा 'नरः' ये तीन पद यह सिद्ध करते हैं कि भगवान् ने मनुष्यों को चेतावनी दी है कि मरण काल से पूर्व ही साधना द्वारा मनुष्य का शरीर ही शान्ति सुख और छुटकारे का साधन बन सकता है। अन्य कोई शरीर नहीं। इसी बात को 'केनोपनिषद्' में कहा गया है—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ॥' (२।५)

[अर्थ—यदि इस मानव-शरीर में ही परमात्मा को जान लिया जाए, तो ठीक है। यदि इसी मनुष्य देह में प्रभु को न जाना, तो बहुत बड़ी हानि होगी।]

जब पर्वतों पर भारी वर्षा बरसती है, तो नदी नालों में तीव्र वेग की बाढ़ आ जाती है जिससे जल का महान् वेग मार्ग के बड़े बड़े वृक्षों और मतवाले हाथियों को भी अपने साथ बहा ले जाता है। इसी प्रकार काम-क्रोध-लोभादि के बड़े वेग भी मानव-जीवन में आते ही रहते हैं जो जप-तप-संयमादि सबको अपने संग बहा ले जाते हैं।

काम में पुरुष को स्त्री की तथा स्त्री को पुरुष की कामना होती है। अथवा इन दोनों को पुत्र, धन, भवन, अन्न, वस्त्र, मोटर वाहन आदि अनेक सुख-सामग्री की कामना होती है। सच्ची बात तो यह है कि प्रत्यक्ष देखे तथा सुने हुए जितने भी आत्मा अर्थात् अन्तःकरण के अनुकूल विषय सुख के साधन हैं, उन सब के सौन्दर्यादि गुणों का बार बार चिन्तन करने से उनको प्राप्त करने की जो अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है उसी का नाम 'काम' है। धन की तृष्णा का नाम 'लोभ' होता है। यहां लोभ का समावेश भी 'काम' शब्द में समझना चाहिए, इसी प्रकार 'मोह' भी 'काम' का ही अंग है। इसलिए इस श्लोक में इन दोनों का वर्णन पृथक् नहीं हुआ है।

इसी प्रकार प्रत्यक्ष देखे हुए, अथवा श्रवण किए हुए किंवा स्मरण किए हुए जितने भी आत्मा के प्रतिकूल दुःख के साधन हैं, उनमें बार बार दोषों के चिन्तन करने से उत्पन्न हुआ जो प्रज्वलित रूप द्वेष है, उसका नाम 'क्रोध' या 'मन्यु' है। काम को 'राग' और क्रोध को 'द्वेष' भी कहते हैं। जिस प्रकार काम में लोभ और मोह का समावेश है, इसी प्रकार इस श्लोक में क्रोध के साथ अहंकार को भी समझ लेना चाहिए। वास्तव में विषय-वासना की अभिलाषा का नाम काम होता है, धन की तृष्णा लोभ होती है। शत्रु-नाश की वासना क्रोध कहलाती है। शत्रु नाश के निश्चय का नाम अहंकार है। बुद्धि का मत्त होना मोह होता है। काम और क्रोध के वेग अन्तःकरण की उत्तेजना के कारण होते हैं। ये काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार, मनुष्य के पाँच बड़े शत्रु हैं। जब उनमें से किसी एक की भी बाढ़ आई हुई होती है, तब जप, तप, संयम, विवेक, ज्ञान आदि सब इस बाढ़ में बह जाते हैं परन्तु इस विपत्ति में भी कोई अभ्यासी जीव रूपी दृढ मूल वृक्ष बहने से बचे रहते हैं। इसी प्रकार ये क्रोधादि मनुष्य के मन और बुद्धि को स्थिर नहीं रहने देते, परन्तु जो लोग अपनी साधना और अभ्यास द्वारा इसी मनुष्य-देह में इन पर काबू या नियन्त्रण कर लेते हैं, उनपर ये शत्रु अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते। इससे फिर मर कर मनुष्य ब्रह्म-लीन हो सकता है। इन शत्रुओं में से जब कोई साधक पर आक्रमण करता है, तो साधक प्रभु के ध्यान में दृढता से लीन होकर अपनी

रक्षा कर लेता है। यही साधक योग-युक्त कहलाता है और यही नर सुखी होता है।

देश पिता महात्मा गांधी जी कहते हैं—

"टिप्पणी—मरे हुए शरीर को जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दु:ख नहीं होता, वैसे जो जीवित रहते भी मृतवत् जड़ भरत की तरह देहातीत रह सकता है वह इस संसार में विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुख को जानता है।" ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

यः+अन्तः-सुखः+अन्तर्+आरामः+तथा+अन्तर्+ज्योतिः+एव यः। सः+योगी ब्रह्म-निर्वाणम्+ब्रह्म-भूतः+अधिगच्छति।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (पुरुष)।

अन्तःसुखः=(वि०) अन्तरात्मनि सुखं यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०=अन्तरात्मा में सुख वाला। भीतरी सुख वाला। अन्तःस्थित परम आनन्द स्वरूप परमात्मा में सुख अनुभव करने वाला।

अन्तर्+आरामः=(वि०) अन्तरेव आत्मनि आरामः (आक्रीडा) यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। खुशी या आनन्द से भरे हुए अन्तःकरण में खुशी से खिले हुए उपवन वाला। अन्तःस्थ परम आनन्द स्वरूप परमात्मा में सब प्रकार से रमण, क्रीडा या विचरण करने वाला।

[आ√रम्+घञ्=आराम (पुं०)=प्रसन्न होना। रमण करना। खेलना। विचरना। उपवन।]

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण। वैसे ही। और।

अन्तर्+ज्योतिः=(वि०) अन्तरात्मा एव ज्योतिः (=प्रकाशो) यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। अन्तरात्मा रूप ही ज्योति वाला। आत्मा में ही ज्ञान वाला। अपने भीतर परमात्मा का प्रकाश अनुभव करने वाला।

एव=(अव्यय) ही।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

योगी=(वि०, पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी। परमात्मा से जुड़ा हुआ। सांख्य योगी।

ब्रह्म-निर्वाणम्=(नपुं०) निर्गतं वानं (=गमनं) यस्मिन्, प्राप्यते ब्रह्मणि, तन्निर्वाणम्। ब्रह्मणि निर्वृतिं (मोक्षम्) इह जीवन् एव। द्विती० ए० व०=ब्रह्म-निर्वाण को। ब्रह्म में लीन होने रूप मोक्ष को। शान्त ब्रह्म को। ब्रह्म में विश्राम को। ब्रह्मस्वरूप प्राप्ति को। परमानन्द की प्राप्ति को।

ब्रह्म-भूतः=ब्रह्मभूतः सन्। जीवितावस्था में ही ब्रह्मरूप हुआ। सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव हुआ। ब्रह्मस्वरूप हुआ। (पुं०) प्र० ए० व०।

अधिगच्छति=अधि √गम् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

अर्थ—जो पुरुष अपने अन्तःस्थित परम आनन्द स्वरूप परमात्मा में सुख मानने वाला है, अन्तःस्थित परमात्मा में ही रमण करने वाला है और (सदा) अपने अन्तःकरण में ही प्रकाशमान परमात्मा रूपी ज्योति वाला है, वह योगी (जीवितावस्था में ही) ब्रह्म-स्वरूप हुआ परमानन्द की प्राप्ति स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२४॥

व्याख्या—यह सब कुछ ही परमात्मा है। यद्यपि यह दृश्यमान जगत् प्रकृति और उसके तीनों गुणों का खेल है, जब प्रकृति ही जड़वत् है तो उसके तीनों गुणों की भी यही अवस्था होनी चाहिए। कठ-पुतलियां जड़वत् होती हैं परन्तु वे रंगमंच या स्टेज पर नाचती और चलती फिरती दिखाई देती हैं। वास्तव में उनके नचवाने और चलाने वाला तो सूत्रधार ही होता है। इसी प्रकार चल-चित्र या सिनेमा की रीलें तो जड़ पदार्थ ही होती हैं। परन्तु सिनेमा का व्यवस्थापक जब उनको सिनेमा की मशीन में फिट करके प्रकाश के सामने से गुजारने लगता है, तो सक्रीन या पर्दे पर चलते फिरते, रोते, गाते, बोलते-चालते और प्रेमक्रीड़ादि कर्म करते हुए सजीव प्राणी दृष्टि गोचर होने लगते हैं। विशाल-भवन, बहती हुई नदियां, चलती हुई रेलें तथा मोटरें, उड़ते हुए हवाई जहाज, वर्षा बरसाते हुए बादल, हिमाच्छादित ऊँचे पर्वतों की चोटियाँ, सूर्य का सुनहरी थाल हाथ में लिए हुए आ रही उषा अप्सरा, नील-गगन के सरोवर में खिला हुआ चन्द्र रूप कुमुद, मोती जड़ी नीली साढ़ी पहने चन्द्रमुखी रात की रानी, दहाड़ते हुए सिंह, चिंघाड़ते हुए हाथी आदि सम्पूर्ण विश्व के दृश्य दृष्टि गोचर होने लगते हैं। जिस प्रकार सिनेमा का यह सारा प्रपंच मिथ्या होता है और उसको लोगों के सम्मुख करने वाला कोई पुरुष होता है, इसी प्रकार यह सब दृश्यमान संसार या सृष्टि-प्रपंच भी मिथ्या है और इसका मूल-कारण या

रचयिता केवल एक परमात्मा ही है जो सबके भीतर प्रतिबिम्बित होकर स्थित है। सुख का कारण है। 'ज्योतिषां ज्योतिरेकः' अर्थात् सब प्रकाशमानों में केवल वही एक प्रकाश है। सब प्राणियों में केवल वही एक प्राण है। सब जीवों में केवल वही एक जीवात्मा है। जो पुरुष इस रहस्य से भली भान्ति अवगत हो जाता है उसे फिर बाह्य इन्द्रियों के विषय भोगों से कोई सम्पर्क और अनुराग नहीं रहता क्योंकि उसे यह सब मिथ्या भान होने लगता है। मिथ्या वस्तुओं में विषय-वासना नहीं होती है। मन की विषयों में प्रवृत्ति तो तभी तक रहा करती है जब तक वे सच्चे और स्थाई प्रतीत होते हैं। परन्तु जब पुरुष तत्त्ववेत्ता हो जाता है तो फिर वह अन्तःस्थित परम आनन्द स्वरूप परमात्मा में ही सुख का अनुभव करने लगता है और उसी अन्तःस्थित परब्रह्म में सोते, जागते, खाते, पीते, चलते-फिरते इत्यादि प्रत्येक अवस्था में आठों पहर रमण करता रहता है। उसके अन्तःकरण में पुत्र-कलत्र, धन-धान्य, वाहन, भवन, आदि किसी भी बाह्यवस्तु या पदार्थ से कोई सरोकार नहीं होता। शरीर के भीतर-बाहर उसे एक ही ज्योति प्रकाशमान दिखाई देती है, जिसका नाम परमात्मा है।

ऐसा जो 'अन्तः सुख', 'अन्तराराम', और 'अन्तर्ज्योति' पुरुष होता है, उस को योगी अर्थात् परमात्मा से मिला हुआ पुरुष कहते हैं। वह पुरुष तो ब्रह्मस्वरूप ही होता है तथा ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हो जाता है। 'निर्गतं वानं गमनं यस्मिन् प्राप्ते ब्रह्मणि तन्निर्वाणम्।' अर्थात् जिसमें नाम, रूप क्रिया निवृत्त हो चुकी है, उस अवस्था का नाम निर्वाण होता है। नाम रूप क्रिया के निवृत्त हो जाने पर अर्थात् जन्म मरण से रहित हो जाने पर ब्रह्म में लीन हो जाने का नाम ब्रह्मनिर्वाण होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।६ के अन्त में कहा गया है—

'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।'

[अर्थ—जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है]।

सन्त शिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर जी कहते हैं—

'जो लोग इस आत्म-सुख से परिपूर्ण और आत्म-रूप हो जाते हैं उन्हें मैं सम-रसता या ब्रह्मैकरस के पुतले ही समझता हूँ। वे आनन्द की मूर्ति, सुख के अंकुर अथवा आत्म-बोध के विश्रामस्थल ही होते हैं। उन्हें विवेक की जन्मभूमि या ब्रह्मतत्त्व का केवल स्वरूप अथवा ब्रह्मविद्या के श्रृंगारित

अवयव समझना चाहिए। उन्हें सत्त्वगुण की सात्त्विकता अथवा चैतन्य की गति ही समझना चाहिए ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

लभन्ते ब्रह्म-निर्वाणम्+ऋषयः क्षीण-कल्मषाः। छिन्न-द्वैधाः+यत+आत्मानः सर्वभूत-हिते रताः।

लभन्ते=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=पाते हैं। प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म-निर्वाणम्=(नपुं०) द्वती० ए० व०=ब्रह्म निर्वाण को। नाम, रूप और क्रिया से रहित होकर ब्रह्म की प्राप्ति को। मोक्ष को। ब्रह्म में विश्राम को।

ऋषयः=(पुं०) ऋषि+प्र० ब० व०=ऋषि लोग।

[ऋषति गच्छति संसार-पारम् इति, √ऋष् (तुदा० पर० सक० अक० =जाना)+इन्, कित्=ऋषि। वेद-मन्त्र-द्रष्टा। अनुष्ठान करने योग्य कर्म को बतलाने और करवाने वाला। सूत्ररचयिता। गोत्र-प्रवर, प्रवर्तक। यथार्थ तत्त्व को भली भान्ति समझने वाला।

इस सम्बन्ध में श्री नारायण स्वामीजी की महत्त्वपूर्ण ज्ञान वर्धक टिप्पणी इस प्रकार है—

'ऋषि' त्रिकाल-दर्शी वा अनुभवी पुरुष को कहते हैं। देवता, असुर और साधारण मनुष्यों में ये नहीं गिने जाते। इनको मन्त्रद्रष्टा कहते हैं। जैसे—

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो वसिष्ठादयः'। यास्क मुनि के अनुसार ऋषि उसे कहते हैं जिसकी वाणी वेद हो या जिसके हृदय में वेद प्रकाशित हों, 'यस्य वाक्यं स ऋषिः'। इसलिए प्रत्येक सूक्त में देवता, छन्द और विनियोग के साथ ऋषि का भी वर्णन हुआ है।

योगी और ऋषि का इतना भेद है कि ऋषि जन्म से ही शुद्ध अन्तःकरण और विचारशील होता है, केवल अन्तर्ध्यान से ही उसे सब अनुभव हो जाता है, अन्तःकरण की शुद्धि तथा अनुभव के लिए उसे कर्म-योग की आवश्यकता नहीं; वह तो अपने भीतर ध्यान मात्र से सब कुछ देख सकता व अनुभव कर सकता है, जिससे वह मन्त्रद्रष्टा व अनुभवी कहलाता है। परन्तु योगी पुरुष जन्म से ही शुद्ध अन्तःकरण नहीं होता, वह तो कर्मयोग द्वारा शुद्ध अन्तःकरण करता हुआ

अभ्यास और वैराग्य से आत्मानुभव करता है, जिससे ऋषि की पदवी पर पहुंचता है।']

क्षीण-कल्मषाः=(वि०) क्षीणाः कल्मषाः (पापादिदोषाः) येषां ते (ऋषयः)। (पुं०) प्र० ब० व०=नाश हो गए हैं सब पाप जिनके। [√क्षि+क्त =क्षीण।]

छिन्न-द्वैधाः=(वि०) छिन्नाः द्वैधाः येषां ते (बहुव्री०)=जिनके सब संशय दूर हो गए हैं। कटे हुए सन्देहों वाले। ज्ञान के द्वारा अज्ञान-जनित निवृत्त हुए संदेहों वाले। (पुं०) प्र० ब० व०।

यत+आत्मानः=(वि०) पुं०, प्र० ब० व०। जितेन्द्रिय। वश में किए हुए आत्मा वाले। इन्द्रियों, शरीर और अन्तःकरण पर नियन्त्रण किये हुए। परमात्मा के स्वरूप के ध्यान में एकाग्र-चित्त हुए।

सर्व-भूत-हिते रताः=(वि०) सर्वेषां भूतानां हिते (आनुकूल्ये) रताः(अहिंसकाः) सब भूतों के हित में अर्थात् अनुकूल आचरण में रत हुए। अहिंसक। सब जीवों के भले में लगे हुए।
[√रम्+क्त=रत+(पुं०) प्र० ब० व०=रताः]

अर्थ—नष्ट हुए पापों वाले, सब संशयों से रहित हुए, सब जीवों के हित करने में रत हुए (अहिंसक), शरीर और इन्द्रियों सहित अन्तःकरण को वश में किए हुए (भगवान् के ध्यान में एकाग्र हुए चित्त वाले), ऋषि लोग ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

व्याख्या—जो पुरुष निष्काम कर्मों द्वारा पापों से रहित हो चुके हैं तथा जिनके मन में परमात्मा के सम्बन्ध में न कोई सन्देह है और न कोई संशय ही शेष रहा है, जो मन, कर्म और वचन से सब प्राणियों का हित करने में लगे हुए हैं वे उक्त पुरुष ऋषि पदवी को धारण किए हुए हैं तथा देह-निधन होने पर जन्म-मरण, नाम-रूप क्रिया आदि से छुटकारा पाकर सदा के लिए ब्रह्मलीन हो जाते हैं। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् २।२।८ में कहा है—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

[उस परावर (कारणकार्यरूप) ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस ज्ञानी पुरुष की हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है और सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं तथा सारे शुभाशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं]।

एक और श्रुति भी सुनिए—

'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।'

[अर्थ—जिस ज्ञानावस्था में ज्ञानी को ये सारे भूत अपनी आत्मा ही हो जाते हैं उस अवस्था में एक अद्वितीय आत्मा को देखने वाले ब्रह्मवेत्ता पुरुष को न किसी मोह की प्राप्ति होती है और न किसी प्रकार के शोक की प्राप्ति होती है] ।।२५।।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम-क्रोध-वियुक्तानाम्+यतीनाम्+यत-चेतसाम् । अभितः+ब्रह्म-निर्वाणम्+वर्तते विदित+आत्मनाम् ।।

काम-क्रोध-वियुक्तानाम्=(वि०) कामः च क्रोधः च='कामक्रोधौ' (द्वन्द्व०) । ताभ्यां वियुक्तानाम् (पं० तत्पु०) । (पुं०) षष्ठी० ब० व० । काम-क्रोध से रहित हुओं के ।
[वि√युज्+क्त=वियुक्त=न जुड़े हुए] ।

यतीनाम्=(पुं०) यतते चेष्टते मोक्षार्थम्, √यत्+इन्=यति+षष्ठी० ब० व० । यतियों के । ज्ञानी पुरुषों के लिए । परमात्मा को प्राप्त तत्त्वज्ञानियों के ।

यत-चेतसाम्=(वि०) √यम्+क्त=यत । चेतस्+(पुं०)षष्ठी० ब० व० =चेतसाम् । जीते हुए चित्त वालों के ।

अभितः=(अव्यय) सब ओर से । जीवित रहते हुए भी और मरने के पश्चात् भी, दोनों ओर ।

ब्रह्म-निर्वाणम्=(नपुं०) प्र० ए० व० । ब्रह्म-निर्वाण । परमात्मा में लीनता । शान्त परब्रह्म परमात्मा ही । मोक्ष ।

वर्तते=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=विद्यमान होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=बर्तता है । विद्यमान होता है । वर्तमान होता है ।

विदित-आत्मनाम्=√विद्+क्त=विदित । आत्मन्+षष्ठी० ब० व०= आत्मनाम् । विदितो (ज्ञातः) आत्मा येषां ते=विदितात्मानः, विदितात्मनाम् सम्यक्दर्शिनाम् । (बहुव्री०) । (पुं०) । जिन्होंने आत्मा को जान लिया है, उनके लिए । परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किए हुओं के लिए ।

अर्थ—काम-क्रोध से रहित, वश में किए हुए चित्त वाले, परमात्मा का साक्षात्कार किए हुए ब्रह्म-ज्ञानियों के सब ओर (प्रविष्ट होने के लिए') परमात्मा (शान्त रूप में) विद्यमान होता है ।।२६।।

व्याख्या—परमात्मा की प्राप्ति में बाधा डालने वाले मल, विक्षेप और आवरण तीन दोष माने जाते हैं। 'मल' नाम मैल का है। 'विक्षेप' हिलने जुलने या चंचलता को कहते हैं और 'आवरण' नाम पर्दे या ढकने वाले साधन का है। यदि किसी सरोवर का जल मैला या गन्दला हो, तो कोई आदमी उसमें अपने मुख का प्रतिबिम्ब नहीं देख सकता। मान लो, सरोवर का जल अति निर्मल और स्वच्छ है, परन्तु वह झंझा वायु के चलने से अत्यन्त हिल रहा है तो भी उसमें प्रतिबिम्ब का दृष्टिगोचर होना असम्भव है। यदि सरोवर का जल निर्मल और स्वच्छ है और साथ ही स्थिर होकर शान्त और टिका हुआ भी है, परन्तु पद्म-पत्रों, जाले या किसी अन्य वस्तु से ढका हुआ है, तो भी किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्टतया दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसी तरह अन्तःकरण भी निर्मल जल के सरोवर के समान है। जब तक उसमें मल, विक्षेप या आवरण में से कोई एक भी विद्यमान रहता है तब तक परमात्मा का प्रतिबिम्ब आत्मारूप में ज्ञानी पुरुष को भी दिखाई नहीं देता है। इसलिए भगवान् कहते हैं, कि अर्जुन ! ये काम और क्रोध पुरुषों के अन्तःकरण में 'मल' के सदृश होते हैं। चित्त की चंचलता ही विक्षेप के तुल्य है, चित्त की परमात्मा में स्थिरता ही चित्त पर विजय प्राप्त करना है। आत्मा को न जानना ही 'आवरण' है। जिस प्रकार कोई वस्तु पर्दे से ढकी हुई हो तो उसके ठीक स्वरूप को जाना नहीं जा सकता इसी प्रकार अज्ञानरूपी आवरण के कारण आत्मा का शुद्ध स्वरूप जानना कठिन होता है। इसलिए जिन यति या ब्रह्मज्ञानी पुरुषों के अन्तःकरण के मल, विक्षेप और आवरण ये तीनों दोष नष्ट हो चुके हैं, वे काम और क्रोध से रहित हो गए हैं। उनके चित्त वशीभूत होकर परमात्मा में स्थिर हो चुके हैं और वे परमात्मा के स्वरूप को साक्षात् और प्रत्यक्ष देखने लगे हैं। उन महात्माओं को अपने इर्द गिर्द सब ओर परमात्मा दृष्टिगोचर होता है जो एकरस होकर विद्यमान है। वे लोग जीवित अवस्था में ही परमात्मा में स्थित होते हैं। मरने पर उनका केवल शरीर ही नष्ट होता है। परन्तु परमात्मा में उनकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता और ब्रह्मरूप होने के कारण से वे फिर जन्म धारण नहीं करते ॥२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

स्पर्शान्+कृत्वा बहिः+बाह्यान्+चक्षुः+च+एव+अन्तरे भ्रुवोः ।
प्राण+अपानौ समौ कृत्वा नासा+अभ्यन्तर-चारिणौ ॥२७॥

यत+इन्द्रिय-मनः+बुद्धिः+मुनिः+मोक्ष-परायणः । विगत+इच्छा-भय-क्रोधः+यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

स्पर्शान्=(पुं०) स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः=शब्दादयो विषयाः । द्वितीं० ब० व० =जिनका इन्द्रियों द्वारा स्पर्श अर्थात् ज्ञान प्राप्त किया जा सके, वे "स्पर्श" कहलाते हैं। इससे पांचों इन्द्रियों के बाह्य विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि स्पर्श नाम वाले होते हैं। शब्दादि बाह्य विषयों को। सांसारिक भोगों की इच्छाओं को।

कृत्वा=√कृ+क्त्वा=करके।

बहिः=(अव्यय) बहिस्=बाहर।

[शब्दादि बाह्य विषय श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण के भीतर प्रविष्ट कर गए हैं। इनका चिन्तन न करना ही इन विषयों को बाहर निकाल देना होता है।]

बाह्यान्=(वि०,'स्पर्शान्' का)। बाह्य+(पुं०) द्वितीं० ब० व०=बाह्यों को। बाहर के जो हैं, उनको। बाहर के (विषय भोगों को)। [न चिन्तन करता हुआ]।

चक्षुः=(नपुं०) चक्षु+द्वि० ए० व०=नेत्र को। [चक्षुः। चक्षुषी। चक्षूंषि प्रथमा और द्वितीं० में] यद्यपि आँखें दो होती हैं परन्तु दोनों मिलकर देखती हैं। एक वस्तु को दो करके नहीं देखतीं। इसलिए यहाँ 'चक्षुः' एकवचन है जिसका अर्थ है—दृष्टि को।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही।

अन्तरे=(अव्यय) बीच में। मध्य में। ['कृत्वा' पद देहली-दीपक की भाँति 'बहिः' और 'अन्तरे' दोनों पर प्रकाश डालता है। इससे अर्थ 'बाहर करके' और 'मध्य में करके' होता है।]

भ्रुवोः=(स्त्री०) भ्राम्यति नेत्रोपरि इति—भ्रू+षष्ठी० द्वि० व०=दोनों भ्रुवों के। भृकुटि के।

प्राण-अपानौ=(पुं०) प्राणः च अपानः च तौ (इतरेतर द्वन्द्व०)। द्वितीं० द्वि० व०=प्राण अपान दोनों को। निश्वास-उच्छ्वास को। नाक के भीतर जाने वाली वायु तथा नाक से बाहर निकलने वाली वायु—दोनों को।

समौ=(वि०) सम+(पुं०) द्वितीं० द्वि० व०=समौ। सम। समान।

कृत्वा=√कृ+क्त्वा=करके।

नासा+अभ्यन्तर-चारिणौ=(वि०) पुं० द्वितीं० द्वि० व०। नासिका और

कण्ठादि आभ्यन्तर भागों के भीतर विचरने वालों को। अथवा नासा+ अभ्यन्तर-चारिणौ=नासिका के भीतर विचरने वालों को ॥२७॥

यत+इन्द्रिय-मनः+बुद्धिः=(वि०) यतानि (संयतानि) इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः च यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। जिसके इन्द्रिय, मन और बुद्धि वश में हैं। इन्द्रियों, मन और बुद्धि को वश में किए हुए।

मुनिः=(पुं०) मननाद् मुनिः=ईश्वर का स्वरूप मनन करने से मुनि। प्र० ए० व०। मुनि।

मोक्ष-परायणः=(वि०) मोक्ष एव परम् अयनं (परा गतिः) यस्य सः (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व०। मोक्षपरायण। मोक्ष को ही (जीबनकाल में) परम आश्रय या परमगति समझने वाला। मोक्ष की प्राप्ति के लिये यत्नशील।

विगत+इच्छा-भय-क्रोधः=(वि०) इच्छा च भयं च क्रोधः च=इच्छाभय-क्रोधाः ते विगताः यस्मात् सः (बहुव्री०)। इच्छा, भय और क्रोध से भली भाँति से रहित हुआ।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र०ए० व०=जो।

सदा=(अव्यय) सर्वदा। सदा।

मुक्तः=(पुं०)√मुच्+क्त=मुक्त+प्र० ए० व० =मोक्ष को प्राप्त। जन्म-मरण बन्धन से छूटा हुआ।

एव=(अव्यय) ही।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ॥२८॥

अर्थ—बाह्यस्पर्शों (=स्पर्श-शब्दादि इन्द्रियों के बाह्य विषय जो अन्तः-करण के भीतर प्रविष्ट कर गए हैं) को बाहर करके (अर्थात् विषय भोगों को चिन्तन न करता हुआ) और (नेत्रों की) दृष्टि को दोनों भ्रुवों के मध्यस्थान (भृकुटि) में (स्थित) करके तथा नासिका और (कण्ठादि) आभ्यन्तर (भागों) में विचरने वाले प्राण (श्वास भीतर ले जाने के) और अपान (श्वास बाहर निकालने के) दोनों (वायुओं) को सम (दोनों नासिकाओं में अत्यन्त धीरे न चलते हुओं के सदृश) करके ॥२७॥

इन्द्रियों, मन और बुद्धि को जीतने वाला (इन तीनों को वश में किए हुए) जो मुनि, इच्छा, भय और क्रोध से भली भाँति रहित हुआ, मोक्ष-परायण (सदा मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्न-शील) है, वह सदा ही मुक्त है ॥२८॥

व्याख्या—जो व्यक्ति बचपन से ही अपने स्वभाव को जिस साँचे में ढालने लगता है उसी में उसे रसानुभूति होने लगती है। मिट्टी खाने वाले को मिट्टी ही स्वादु लगती है। मद्य-पान करने वाला मद्य का ही रसिया बन जाता है।

मांस-भक्षी मांस खाये विना नहीं रह सकता है। इसी प्रकार अफीम, पोस्त, भांग, गांजा, तम्बाकू इत्यादि जिस भी मादक पदार्थ के उपभोग या प्रयोग करने का जो व्यसन जिसे पड़ जाता है उसकी तृप्ति उसी में होती है। इसी प्रकार द्यूत-क्रीड़ा, ताश-खेलना, शतरंज के फीले-घोड़े दौड़ाना, चौपड़ का पासा फेंकना, सदा स्त्रियों के संग रहना, उनसे बातें और संग करना, अच्छे-अच्छे भोजन करना, बहुमूल्य वस्त्र और भूषण धारण करना, विविध प्रकार की सुगन्धियों को सूंघना, सिनेमा, सरकस आदि खेल तमाशे देखना, भाण्डों के हास्य-रस-पूर्ण वचनों को श्रवण करना, गायिकाओं के मधुर सुरीले गीतों को सुनना, नाचती, गाती और सोलह श्रृंगार की हुई फिल्मी तारिकाओं के स्वरूपों पर मोहित होना इत्यादि अनेक प्रकार के बाह्यस्पर्श अर्थात् बाहर के विषय-भोग होते हैं जिनकी भूख या क्षुधा तो बाह्य-इन्द्रियों को लगती है परन्तु विषयों की वासना इन बाह्येन्द्रियों की प्रेरणा से मन या अन्तःकरण में उत्पन्न होती है। यदि बालकपन से ही अन्तःकरण को इन्द्रियों का कहना न मानने या सब प्रकार के प्रलोभनों से परे रहने की शिक्षा दी जाए और मन को विषयों का दुष्परिणाम भली भाँति समझा दिया जाए, या अनुभव करा दिया जाए, तो अन्तःकरण इन विषयों के भोगों की वासनाओं को कूड़े-करकट की भाँति बाहर निकाल फेंकने में समर्थ हो जाता है अर्थात् जिन भोगों को बाह्य इन्द्रियां भोगना चाहती हैं मन उनकी वासनाओं को त्याग देता है।

मुनि के लिए सबसे प्रथम कार्य यही होता है कि वह बाहर के विषय भोगों को इसी प्रकार मन से बाहर निकाल फेंके कि जिस प्रकार दूध से मक्खी निकाल दी जाती है, अथवा मक्खन से बाल निकाल दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि मुनि सोते, जागते, चलते, फिरते, अर्थात् किसी भी अवस्था में किसी भी काल में, और किसी भी देश में विषयों को मन से चिन्तन न करे। वैसे तो यह कार्य अत्यन्त कठिन भी है और सहज भी है परन्तु मुनि का मनन-शील होना और उसके द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने का अभ्यास किया जाना परमावश्यक है क्योंकि भोगों में आसक्ति भी नित्य के अभ्यास से ही हुआ करती है।

प्रत्येक जीव के नेत्र तो प्रायः दो ही होते हैं, परन्तु उनके द्वारा कोई एक वस्तु केवल एक ही रूप में दृष्टिगोचर होती है। इसका कारण यह है कि भ्रुवों के मध्य बिन्दु पर दोनों चक्षुओं की दृष्टि मिलकर एक रूप धारण कर लेती है। यदि इस स्थान पर अंगुली या पैन्सल खड़े रुख रखी जाए, तो वह बाल से भी बारीक नजर आती है। भ्रुवों के इस मध्य बिन्दु को देखने से दोनों चक्षु एक चक्षु बनकर रह जाते हैं। इसलिए मूल श्लोक में चक्षु का रूप द्वितीया

विभक्ति के एकवचन में है। ध्यान के समय चक्षुओं के चारों ओर देखते रहने से ध्यान में स्थिरता नहीं आती। इसलिए भगवान् ने यहां दोनों चक्षुओं की दृष्टि को दोनों भ्रुवों के मध्य-बिन्दु पर स्थित करने के लिए कहा है। दूसरे योगशास्त्रकार के कथनानुसार इस स्थान पर द्विदल-आज्ञा-चक्र होता है। इसके समीप ही सप्तकोष हैं। उनमें से अन्तिम कोष का नाम "उन्मनी" है। वहाँ पहुँचकर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है। इसलिए मुनि-जन आज्ञा-चक्र में दोनों चक्षुओं की दृष्टि को स्थिर किया करते हैं॥

यदि मनुष्य-शरीर का झुकाव दाहिनी ओर को हो, तो प्राण और अपान वायुओं का विचरण नाक के वाम-छिद्र द्वारा होता है। जब शरीर का झुकाव वाम-ओर होता है तो प्राणापान वायुओं का संचार नाक के दाहिने छिद्र द्वारा होता है। दाहिनी नासिका से प्राणापान वायुओं का संचार इड़ा नाड़ी द्वारा होता है और वाम-नासिका द्वारा पिंगला नाड़ी से होता है। परन्तु समाधि के समय जब शरीर सीधा लम्ब रूप में भली-भाँति तना हुआ होता है तब प्राणापान का आवागमन नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा होता है। यही प्राणापान का सुषुम्ना नाड़ी में चलना है। पहली दोनों अवस्थाओं में चित्त चंचल और अस्थिर रहता है परन्तु इस तीसरी अवस्था में प्राण और अपान की गति बहुत ही सूक्ष्म और शान्त रहती है। तब मन की चंचलता और अशान्ति अपने आप ही नष्ट हो जाती हैं। इसलिए भगवान् ने समाधि काल में शरीर सीधा और तना हुआ रखकर नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान दोनों वायुओं को सम करने के लिए कहा है। बहुत से मुनि लोग इस मनोरथ की सिद्धि के लिए प्राणायाम का भी अभ्यास किया करते हैं जिससे फेफड़े मजबूत और आयु दीर्घ होती है। शरीर स्वस्थ रहकर ध्यान-मग्न होने के योग्य बना रहता है॥

जिस मुनि का मन इन्द्रियों का कहना मानकर विषय-भोगों में प्रवृत्त नहीं होता बल्कि इन्द्रियों को सदा वश में रखता है और बुद्धि सदा मन को अपने वशीभूत रखती है तथा बुद्धि, मन और इन्द्रियों सहित सदा आत्मा के वश में रहती है उस मुनि को इन्द्रियों, मन और बुद्धि को वश में करने वाला या जीतने वाला कहते हैं। इस प्रकार के मननशील पुरुष को न कोई इच्छा होती है, न उसे किसी का भय होता है तथा न उसमें क्रोध का लेशमात्र होता है। वह महापुरुष समस्त कर्म-बन्धनों से सर्वथा छूटकर सदा परमात्मा की प्राप्ति में संलग्न रहता है, ऐसा पुरुष मोक्षपरायण कहलाता है। वह शरीर के जीवित रहते हुए भी सदा मुक्त ही होता है। क्योंकि वह सदा शरीर को एक ओर रखकर परमात्मा में ही रमण करता है। महाभारत के ये दो श्लोक इसी अभिप्राय को प्रकट करते हैं—

ततो मनसि संगृह्य पंच-वर्ग-विचक्षणः ।
समाध्यायेन्मनो भ्रान्तमिन्द्रियैः सह पंचभिः ॥'

(महा० १२।१६५।८)

[अर्थ—ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि पाँचों इन्द्रियों को मन से रोके और तब अपने भ्रान्त या चंचल मन को पाँचों इन्द्रियों समेत समाधि में लगाये]

'इन्द्रियाणि तु संगृह्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥

(महा० १४।१६।१७)

[अर्थ—इन्द्रियों को विषयों से रोककर मनुष्य को अपना मन परमात्मा में लगाना चाहिए और फिर घोर तप करके उसे मोक्ष योग में लगाना चाहिए। अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग करना चाहिए।]

श्रीमद्भागवत का भी एक श्लोक सुनिए—

'जितासनो जितश्वासो जितसंगो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया ॥'

(भाग० २।१।२३)

[अर्थ—मनुष्य को चाहिए कि जीते हुए आसन वाला, जीते हुए श्वास वाला, जीते हुए संग तथा जीती हुई इन्द्रियों वाला होकर भगवान् के स्थूल रूप में अथवा स्थिर ध्यान में) बुद्धि द्वारा मन को लगाये।] ॥२७,२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

भोक्तारम्+यज्ञ-तपसाम्+सर्व-लोक-महा+ईश्वरम् । सुहृदम्+सर्व-भूतानाम्+ज्ञात्वा, माम्+शान्तिम्+ऋच्छति ॥

भोक्तारम्=(वि० पुं०)√भुज्+तृच्=भोक्तृ+द्विती० ए० व० । भोक्तारम् कर्तृरूपेण देवतारूपेण च=कर्ता रूप से और देवता रूप से भोक्ता को। खाने वाले को। उपभोग करने वाले को। भोगने वाले को।

यज्ञ-तपसाम्=(नपुं०) यज्ञानां तपसां च, (इतरेतर द्वन्द्व०)। षष्ठी० ब० व०=यज्ञों और तपों के।

सर्व-लोक-महा+ईश्वरम्=(पुं०) सर्वेषां लोकानां महान्तम् ईश्वरम्, (षष्ठी० तत्पु०, कर्मधारय०)। द्विती० ए० व०। सब लोकों के महान् ईश्वर को।

सुहृदम्=(वि०, पुं०) सुष्ठु हृदयं यस्य (बहुव्री०) तम्, द्विती० ए० व०।
सुहृद् को। अच्छे हृदय वाले को। स्वार्थ रहित प्रेमी को। मित्र को।
सर्व-भूतानाम्=(नपुं०) सर्वेषां भूतानाम्, (षष्ठी० तत्पु०) समस्त भूतों के।
सारे प्राणियों के। कुल जीवों के।
ज्ञात्वा=√ज्ञा+क्त्वा=जानकर। तत्त्व से जानकर।
माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझको।
शान्तिम्=(स्त्री०) शान्ति+द्विती० ए० व० =शान्ति को।
ऋच्छति=√ऋच्छ (तुदा० पर० सक०=जाना। प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है॥

अर्थ—मुझ सम्पूर्ण यज्ञों और तपों के (कर्ता और देवता रूप से) भोगने वाले को, समस्त ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण लोकों के महान् ईश्वर को और सब भूत प्राणियों के (स्वार्थ रहित दयालु प्रेमी) मित्र को (तत्त्व से) जानकर (वह पूर्वोक्त मुनि, परम) शान्ति को प्राप्त करता है॥२९॥

व्याख्या—भगवान् ने वेद में अनेक यज्ञों का विधान किया है, जिनके ज्योतिष्टोम आदि अनेक नाम हैं। ये सब यज्ञ इन्द्रादि देवताओं की प्रसन्नता के लिए अथवा भगवान् विष्णु निमित्त किए जाते हैं। परन्तु गीता में तो अतिथि-पूजन, देवता-ब्राह्मण-साधु-सन्त-गुरुजनों तथा माता-पिता की पूजा, दीन-दुःखियों की सेवा, रोगियों की रोग-निवृत्ति के उपाय करना, वापी-कूप-तड़ाग-सरोवर-पाठशालाएँ-विश्रामगृह-धर्मशालाएं-मन्दिर तथा सदावर्त आदि लोकोपकारार्थ किये गये सम्पूर्ण कार्यों को भी 'यज्ञ' कहा गया है।

आत्म-शुद्धि के लिये आचरित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँच यम और शौच, संतोष, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम; इत्यादि अनेक प्रकार जो तप हैं वास्तव में इन सबका कर्ता और भोक्ता परमेश्वर ही है। अज्ञानी पुरुष अपनी भूल और मूर्खता से इनका कर्ता और भोक्ता देवताओं या अन्य प्राणियों को समझता है। इसीसे अल्प और विनाशी फल का भागी होता है तथा उसको यथार्थ फल-प्राप्ति नहीं होती।

परन्तु ज्ञानी तो ठीक यथार्थ बात को भली-भाँति जान लेता है क्योंकि मध्यवर्ती एजेंट देवता या अन्य प्राणी आदि तो माया द्वारा खड़े किये हुए केवल स्तम्भ मात्र ही हैं अथवा चल-चित्रों की भाँति कभी दृश्यमान होकर दृष्टिगोचर होने लगते हैं, कभी आँखों से ओझल होकर लुप्तप्राय हो जाते हैं। परन्तु प्रभु-सत्ता से ही ये सब प्राणी चलते-फिरते, खाते-पीते, और बोलते-चालते इत्यादि अनेक कर्म करते हुए दिखाई देते हैं।

परन्तु प्रभु-सत्ता का प्रकाश जब इन पर अपना प्रभाव डालना बन्द कर देता है तो उनका चलना फिरना आदि सब क्रियाएं और गति-विधियां बन्द हो जाती हैं। इसी भाँति सब प्रकार के यज्ञ, तप आदि को करने वाला भी वास्तव में परमात्मा ही है जैसा कि गुरु नानक देव ने कहा है—

"करे करावे आपे आप। नानक नर के कछु नहीं हाथ ॥"

वह परमात्मा सबके भीतर आत्मा रूप से विराजमान है, इसलिए दीनदुःखियों की सेवा और गुरु-जनों की पूजा उसी परमात्मा की सेवा और पूजा होती है।

इस असीम ब्रह्माण्ड के भीतर सैंकड़ों आकाश-गंगाएं फैली हुई हैं। प्रत्येक आकाश गंगा में अरबों सूर्य हैं। प्रत्येक सूर्य के परिवार में अनेक लोक हैं जो ग्रह, उपग्रह, क्षुद्रग्रह, धूमकेतु तथा उल्काएं कहलाते हैं। स्वयं सब सूर्य भी लोक कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्रादि तथा यमादि अनेक लोक और हैं। इन सब दृश्यमान और अदृश्यमान लोकों में कोई न कोई स्वामी अवश्य विद्यमान है, जो अपने अपने लोक का नियंत्रण तथा प्रबन्ध करता है और इन सब लोकों को टकराव और नाश से बचाने के लिए एक महान् ईश्वर अर्थात् बड़ा स्वामी है जिसका नाम परमेश्वर, परमात्मा, परब्रह्म या जगन्नियन्ता जो कुछ भी कहा जाए, वह ठीक और यथार्थ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ६ मन्त्र ७ में इस प्रकार लिखा है—

"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥"

[अर्थ—ईश्वरों के परम महान् ईश्वर, देवताओं के परमदेव, पतियों के परमपति, अव्यक्तादि, पर से पर तथा विश्व के अधिपति, उस स्तवनीय देव को हम जानते हैं ॥]

वह परमात्मा ही सर्व-शक्तिमान्, सर्व-नियन्ता, सर्वाध्यक्ष, सर्वेश्वर और सर्व-लोक-महेश्वर है। जो मुनि इस बात को भली भाँति समझ लेता है और अच्छी तरह से अनुभव कर लेता है वह परमात्मा से मेल रूप परम शान्ति को अपनी जीवितावस्था में ही प्राप्त हो जाता है।

भगवान् की माया द्वारा कहो, चाहे माया के तीनों गुणों द्वारा कहो, चाहे किसी और साधन से कहो, परन्तु अन्त में इस सच्ची बात को मानना ही पड़ेगा कि यह सम्पूर्ण दृश्य तथा अदृश्य रचना केवल परमात्मा द्वारा ही रची है, भले ही वह अकर्ता है, निर्लेप है, मायातीत है, तीनों गुणों से परे है, पाप पुण्य से भी उसे कोई प्रयोजन या सरोकार नहीं है, उसे कोई कामना नहीं है, उसे किसी के द्वारा की गई पूजा, अर्चा या स्तुति की भी

कोई आवश्यकता नहीं है। देवी, देवता, मानव तथा शेष सब प्राणी उसी की सत्ता से गतिशील हैं और पुतलियों की भाँति मायानटी द्वारा नचाये जा रहे हैं। मायारूपी नटी का सूत्रधार तो परमात्मा ही है। श्वेताश्व० उ० ५।५। में लिखा है—

"सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः।"

[अर्थ—जो अकेला ही इस सम्पूर्ण विश्व का नियमन (कण्ट्रोल) करता है और जो समस्त गुणों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है वही पर ब्रह्म है ॥]

हम लोग कई बार यह कह देते हैं, कि परमात्मा ने अमुक काम बहुत बुरा किया है, परन्तु यह कभी नहीं सोचते कि परमात्मा तो किसी का भी शत्रु नहीं है। वह तो जो कुछ भी करता है सब कुछ ठीक ही करता है। वह सबका हितैषी और मित्र है, परम सुहृद् है। उसका कोई भी विधान दया और प्रेम से रहित नहीं है।

यदि संसार में जीवों का निधन या मृत्यु न हुआ करती तो इस संसार की जो भयानक दुर्दशा होती उसका वर्णन किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता था। यह मृत्यु भी प्राणियों के लिए एक प्रकार का वरदान है क्योंकि इससे जीर्ण-शीर्णता की समाप्ति हो जाती है और पुनर्भव अथवा नवीनता का प्रादुर्भाव हो जाता है। जितनी गहरी सोच विचार की जाए, जितना गहरा अध्ययन किया जाए उतना ही अधिक हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परमात्मा सारे प्राणियों का परम सुहृद् और अत्यन्त हितकारी है। अज्ञानी लोग इस रहस्य को नहीं समझते हैं इसलिए वे लौकिक दृष्टि से इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में सुखी और दुःखी होते रहते हैं। परन्तु ज्ञानी लोग दुख सुख आदि सभी अवस्थाओं में सम-रस और शान्त रहते हैं। इसलिए भगवान् ने इस अध्याय के इस अन्तिम श्लोक में अर्जुन के प्रति कहा है कि जो मुनि मुझ परमात्मा में स्थित हुआ इस बात को भली भाति जान लेता है कि "मैं परमात्मा ही सब यज्ञों और तपों का करने करानेवाला तथा भोक्ता हूँ तथा ब्रह्मांड में व्याप्त समस्त लोकों के ईश्वर का भी महान् ईश्वर हूँ, बिना कारण ही सबका हित करनेवाला हूँ वह मुनि इसी देह में मुझे प्राप्त हो जाता है। देह रहे, अथवा न रहे, परन्तु उसकी परम शान्ति में कोई विघ्न बाधा उपस्थित नहीं होती ॥

देश-पिता महात्मा गाँधी जी इस श्लोक पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"टिप्पणी—कोई यह न समझे कि इस अध्याय के चौदहवें, पन्द्रहवें तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकों का यह श्लोक विरोधी है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् होते हुए

कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो, वह है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्य की भाषा से वह अतीत है। इससे उसमें परस्पर विरोधी गुणों और शक्तियों का भी आरोपण करके, मनुष्य इसकी झांकी की आशा रखता है ॥" ॥२९॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥५॥

इस प्रकार श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों में ब्रह्मविद्यान्तर्गत, योगशास्त्र विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में "कर्म-संन्यास-योग" नामक पांचवां अध्याय वर्णित हुआ ॥

॥ शुभम् ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

अनाश्रितः कर्म-फलम्+कार्यम्+कर्म करोति यः। सः+संन्यासी च योगी च न निर्+अग्निः+न च+अक्रियः।

अनाश्रितः=(वि०) न आश्रित; (नञ्०)। (तृष्णा) रहितः। न+आ√श्रि+क्त=अनाश्रित+(पुं०) प्र० ए० व०=न आश्रय लेता हुआ। न चाहता हुआ। तृष्णा रहित।

कर्म-फलम्=(नपुं०) कर्मणः फलम् (षष्ठी० तत्पु०) द्विती० ए० व०=कर्म के फल को।

कार्यम्=वि०)√कृ+ण्यत्=कार्य+(नपुं०) द्विती० ए० व०=कार्यम् (नित्यं काम्य-विपरीतम्-अग्नि-होत्रादिकं)=करने योग्य (काम्य कर्मों से विपरीत नित्य अग्निहोत्रादि) को। कर्तव्य को। करणीय को। करने योग्य को।

[१—ऋकारान्त और हलन्त धातुओं को ण्यत् प्रत्यय होता है। जैसे—कार्यम्।

२—अजन्त धातुओं को 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे=√पा+यत्=पेयम्।

३—√इ√स्तु-आदि धातुओं को 'क्यप्' प्रत्यय होता है। जैसे√स्तु+क्यप्=स्तुत्य।

४=तव्य, अनीय, ण्यत्, यत् और क्यप् पांचों प्रत्यय विधि कृदन्त कहलाते हैं। क्योंकि इनका अर्थ विधिलिङ् लकार के अर्थ के समान होता है।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।

करोति=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=करता है।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (पुरुष)।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

संन्यासी=(पुं०) सम्-नि √अस्+णिनि=संन्यासिन्+प्र० ए० व०= संन्यासी। त्यागी। विरक्त।

[संन्यासः (=परित्यागः) सोऽस्य अस्ति इति स संन्यासी। संन्यास नाम त्याग का है, वह जिस में हो वही संन्यासी।]

च=(अव्यय) और।

योगी=(पुं०) योग+इनि, अथवा √युज् घिनुण्=योगिन्+प्र० ए० व०= योगी। कर्म-योगी। अलौकिक शक्ति वाला। परमात्मा से जुड़ा हुआ।

[योगः (=चित्त-समाधानं) सोऽस्य अस्ति इति स योगी। चित्त के समाधान का नाम योग है, वह जिसमें हो, वह योगी है।]

च=(अव्यय) और।

न=(अव्यय) न। नहीं।

निर्-अग्निः=(वि० पुं०) निर्गता अग्नयः कर्माङ्ग-भूता यस्मात् स निरग्निः (बहुव्री०)। कर्मों के अंग-भूत गार्हपत्यादि अग्नियां जिससे छूट गई हैं, वह निरग्नि है। अग्नि को त्यागने वाला। अग्नि न रखने वाला। प्र० ए० व०।

[प्राचीन काल से ही गृहस्थी पुरुषों को अपने लिये, अपने सम्बन्धियों के लिए, दूसरे जीवों के लिए तथा अतिथि आदि के लिए भोजनादि पकाने, और दूसरे अनेक कर्मों के करने के लिए घर में अग्नि अथवा अग्नि-उत्पन्न करने वाले साधनों की रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसलिए शास्त्रकारों ने गृहस्थी को 'साग्नि' (अग्नि रखने वाला) कहा है और संन्यासी को निरग्नि (अग्नि न रखने वाला) कहते हैं। संन्यासी का तो कोई घर नहीं होता। इसलिए वह अग्नि किस स्थान पर रख सकता है।

सूर्य की ऊर्जा या धूप वृक्षों के फलों फूलों तनों पत्तों और जड़ों में वृक्ष के हरे पत्तों द्वारा एकत्रित होती रहती है जिनको खाकर चलने-फिरने वाले प्राणियों में स्फूर्त्ति, शक्ति और प्राणों का संचार होता है। अग्नि भी हमारे शरीरों को जीवित रखने के लिए परमावश्यक है। जब हम भोजनादि पकाते हैं तो वास्तव में हम अग्नि को ही भोजन में घोलते हैं जिसके घुल जाने से भोजन स्वादु और पाचक हो जाता

है परन्तु जो पुरुष गृहस्थ से निकल कर संन्यासी हो जाता है, वनों और नगरों में घूमने लगता है, अपना कोई घर-घाट नहीं बनाता, भिक्षाटन से ही उदरपूर्ति करता है, अथवा कन्द-मूल तथा फल-फूल खाकर ही निर्वाह करता है, वह किसी प्रकार की अग्नि नहीं रखता, क्योंकि उसे अग्नि से किसी प्रकार का कोई प्रयोजन या सरोकार नहीं होता। इसलिए उसको 'निरग्नि' कहते हैं।]

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=(अव्यय) और।

अ-क्रियः=(वि०, पुं०) अविद्यमानाः क्रियाः तपोदानादिका यस्य असौ अक्रियः। क्रियाओं को त्यागने वाला। बिना अग्नि के होने वाली तप-दानादि क्रियाओं को भी न करने वाला। "तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग इति" (पा० योग० १।२) 'अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ही क्रिया-योग हैं', इनको न करने वाला या इन से रहित ही 'अक्रिय' कहलाता है। इसी प्रकार हवन-यज्ञादि अग्नि सम्बन्धी क्रियाओं से रहित 'निरग्नि' होता है।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

जो पुरुष कर्म के फल को आश्रय न बनाता हुआ (अर्थात् न चाहता हुआ) करने योग्य (नित्य अग्निहोत्रादि) कर्म को करता है, वह संन्यासी है और योगी है। वह केवल अग्नि को त्यागने वाला संन्यासी नहीं है और केवल क्रियाओं को त्यागने वाला योगी ही नहीं है॥१॥

व्याख्या—भगवान् बोले—हे अर्जुन! साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है वह किसी न किसी फल को पाने की इच्छा से ही करता है और ये फल की इच्छा से किये गए कर्म उसे बार बार जन्म मरण के चक्र में फँसाने वाले होते हैं। क्योंकि मनुष्य अपने इन किए हुए कर्मों द्वारा स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, मान-बड़ाई और स्वर्ग-सुख आदि की इच्छा करता है। इसी इच्छा के वशीभूत होकर उसे नवीन जन्म धारण करना पड़ता है जिसमें पिछले जन्म के किये हुए शुभाशुभ का फल भोगना पड़ता है।

कृषक, क्षेत्र में गेहूँ और मक्की आदि प्राप्त करने के लिए उनके बीज बोता है। परन्तु खेत में उनके साथ और भी कई प्रकार के बीच उग आते हैं जो भूमि में पहले ही गिरे हुए होते हैं अथवा जल, वायु तथा पशु-पक्षियों के द्वारा उस क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। इसी प्रकार इच्छित फलों के साथ साथ अनिच्छित फलों की प्राप्ति भी बरबस हो जाती है। इसी

प्रकार मनुष्य शुभ कर्मों के द्वारा धन-धान्य, पुत्र-कलत्र, मान-बड़ाई और स्वर्गादि सुखदाई भोगों की इच्छा करता है, अशुभ कर्मो के फल की कभी इच्छा नहीं करता है। परन्तु अशुभ कर्मों के फल तो खेतों में कंटीली दु:खाई झाड़ियों के रूप में अपने आप ही बिना इच्छा किए उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके फल स्वरूप रोग, शोक, भय, वियोग, दरिद्रता, अपमान, मूढता, अज्ञान, शरीर-पीड़ा, अंग-विकलता तथा बुढ़ापा और अकाल-मृत्यु की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार इन कर्मों के फल स्वरूप जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है जिससे कर्मरूपी ईंटों का आवा न समाप्त होता है और न जीवरूपी गधा उनको ढोने से छुटकारा पाता है। इस बात को भली भान्ति समझ कर जो पुरुष कर्म के फल की इच्छा से नितान्त निवृत्त होकर अपने कर्तव्य और नित्य कर्मों हवन, यज्ञ, पठन, पाठन, दान, पुण्य, जप, याग तथा प्राणी मात्र का हित आदि करता रहता है एवं उन कर्मों के करने में न अभिमान करता है, न आसक्त होता है, न पाप करता है, सच्चा कर्म योगी वही होता है। सच्चा संन्यासी भी वही है, क्योंकि कर्मों के बाह्य स्वरूप का त्याग करने वाला तो रोगी, आलसी, निठिल्ला या कामचोर ही होता है। उसको उत्साह हीन भी कहा जा सकता है। त्याग का सम्बन्ध तो मन या अन्त:करण से है। इन्द्रियों और शरीर द्वारा कर्तव्य कर्म करते हुए मन या अन्त:करण से उनके फल का त्याग होना चाहिए, न कि कर्म का स्वरूप से, जिससे वह पुरुष कर्म-योगी होने पर भी सच्चा संन्यासी ही होता है। अग्नि-त्यागी होने पर भी जो पुरुष कर्मों के फल की इच्छा करने वाला है, वह असली संन्यासी नहीं होता। वह तो हीरे का रूप-धारी कांच का टुकड़ा है जिसका कुछ भी मोल नहीं है। वह केवल संन्यासी का वेषधारी ढोंगी व्यक्ति है जिसके सम्बन्ध में एक महात्मा ने कहा है—

'भेस दिखायो जगत् को, लोगन को वस कीन।
अन्त काल-काती परे, बहुरि नरक महँ लीन॥'

महाभारत १२।१८।३०॥ में कहा है—

"त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौण्ड्यान्न च याचनात्।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति वा सुखं विद्धि भिक्षुकम्॥

[अर्थ—संन्यासी त्याग करने, भिक्षा मांगने या मूंड मुण्डाने से नहीं होता। संन्यासी केवल सरल भाव से विषय-भोग वा विषय-सुख को त्यागने से होता है।]

वास्तविक त्याग का नाम संन्यास है और चित्त में विक्षेप के अभाव

का नाम योग है। इस प्रकार का संन्यास और योग दोनों निष्काम कर्म योगी पुरुष में विद्यमान होते हैं, क्योंकि यह निष्काम पुरुष फल का त्यागी होने से संन्यासी है और फल की तृष्णा रूप विक्षेप के अभाव वाला होने से संन्यासी है। यहाँ सकाम पुरुषों की अपेक्षा करके निष्काम कर्म करने वाले पुरुषों की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इच्छा रहित कर्तव्य कर्म करते हुए सब चित्तवृत्तियों का निरोध-योग स्वयं प्राप्त हो जाता है। ऐसा निष्काम पुरुष कर्तव्य कर्मों में अग्नि का प्रयोग करता हुआ भी संन्यासी है। समस्त संकल्पों का त्यागी पुरुष यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हो जाता है, जो सांख्य-योग और कर्मयोग दोनों का अन्तिम लक्ष्य है जिसके बाद जन्म मरण से छुटकारा होकर परमात्मा से मेल, मोक्ष या ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है। अन्तिम एक ही होने के कारण भगवान् ने "एकं सांख्यं च योगं च" पांचवें अध्याय के छठे श्लोक में कहा है। महाराज मनु ने कहा है कि गृहस्थी की भान्ति संन्यासी को अग्निहोत्रादि कर्म करने या अग्नि रखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इस कारण से वह निरग्नि कहलाता है। परन्तु भगवान् इस श्लोक में कहते हैं कि केवल निरग्नि होने से ही कोई सच्चा संन्यासी नहीं बन सकता और निष्क्रिय होना भी संन्यासी तथा योगी का कोई विशेष लक्षण नहीं है। संन्यास या त्याग तो बुद्धि में होना चाहिए, न कि बाह्य कर्तव्य कर्मों के त्याग में और अग्नि का प्रयोग करना छोड़ देने से ॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

यम्+संन्यासम्+इति प्राहुः+योगम्+तम्+विद्धि पाण्डव । न हि+अ-संन्यस्त-संकल्पः+योगी भवति कश्चन ।

यम्=(सर्व०) यद्+(पुं०) द्वितो० ए० व०=जिसको ।
संन्यासम्=(पुं०) सम्-नि √अस्+घञ्=संन्यास+द्वितो० ए० व०= संन्यास को । संन्यास ।
['माया के तीनों गुण ही गुणों में वर्तते हैं' ऐसा समझ कर, मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर सर्वव्यापी परमात्मा में स्थित होने का नाम 'संन्यास' है।]
इति=(अव्यय)√इ+क्तिन् । इस प्रकार । ऐसा ।
प्राहुः=प्र √ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=

(श्रुति-स्मृति के ज्ञाता पुरुष) कहते हैं।

		पक्षे
प्र० पु०—ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति		आह, आहतुः, आहुः।
म० पु०—ब्रवीषि, ब्रूथः, ब्रूथ		आत्थ, आहथुः, ×
उ० पु०—ब्रवीमि, ब्रूवः, ब्रूमः		× × ×

योगम्=(पुं०) √युज्+अ=योग+द्विती० ए० व०=योग को। निष्काम कर्म योग को।

तम्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्, म० पु०, ए० व० =(तू) जान ले।

पाण्डव !=(पुं०, सम्बो० ए० व०)। पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु+अण्= पाण्डव। हे पाण्डु-पुत्र (अर्जुन) !

न=(अव्यय) न। नहीं।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

अ-संन्यस्त-संकल्पः—(वि०) अ-संन्यस्तः [=अ-परित्यक्तः, फल-विषयः] संकल्पः (अभिसंधिः) येन सः (बहुव्री०)। फल-विषयक संकल्पों को अर्थात् इच्छाओं को त्यागने वाला। (पुं०) प्र० ए० व०।

[सम्-नि√अस्+क्त=संन्यस्त=त्यागा हुआ]

योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी। निष्कामकर्मयोगी।

भवति=√भू+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होता है।

कश्चन=(सर्व०) किम्+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चन=कश्चन=कोई। कोई-कोई। कोई भी पुरुष।

अर्थ—हे पाण्डुपुत्र (अर्जुन) (श्रुति-स्मृति-ज्ञाता पण्डित लोग) जिसको 'संन्यास' कहते हैं (तू) उसको (निष्काम कर्म) योग जान ले। क्योंकि न त्यागे हुए संकल्पों वाला कोई (भी पुरुष) योगी नहीं होता है ॥२॥

व्याख्या—फलेच्छा तथा कर्तृत्व अभिमान का परित्याग करके जो शास्त्र विहित शुभ-कर्मों का अनुष्ठान करना है, उसी का नाम निष्काम-कर्म-योग है। इस में ममता, आसक्ति और कामना का त्याग करना होता है। इस योग में तृष्णा रूप चित्त-वृत्ति का निरोध भी परमावश्यक है। इसके सम्बन्ध में योग-शास्त्र में वह सूत्र लिखा हुआ है:—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। और वह 'चित्तवृत्ति' पाँच प्रकार की होती है—"प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः इति"।

१—प्रमाण—शुद्धबोध या यथार्थ ज्ञान के कारणभूत साधन या हेतु को 'प्रमाण' कहते हैं। यह प्रमाण भी 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द', 'उपमान', 'अर्थापत्ति', और 'अनुपलब्धि' नाम से छः प्रकार का होता है। यह बात वैदिक विद्वान् मानते हैं। परन्तु योग-शास्त्र वाले तो 'प्रत्यक्ष' 'अनुमान', और 'आगम' ऐसे तीन प्रकार का ही प्रमाण कहते हैं।

२—मिथ्या ज्ञान का नाम 'विपर्यय' है। वह विपर्यय भी 'अविद्या', 'अस्मिता', 'राग', 'द्वेष' और 'अभिनिवेश' इन पाँच भेदों वाला होता है।

३—शब्द सुनने के अनन्तर उत्पन्न होने वाली तथा अर्थ रूप वस्तु से रहित ऐसी जो चित्त की वृत्ति विशेष है, उसका नाम "विकल्प" है। जैसे जब कोई कहता है कि मनुष्य के सींग होते हैं तो यह बात सुनकर श्रोता के चित्त में मनुष्य के सींगों के सम्बन्ध में चित्तवृत्ति अवश्य उत्पन्न होती है। और उस चित्तवृत्ति के विषय रूप मनुष्य के सींग होना असत् बात है। इससे असत् अर्थ विषयक वह वृत्ति 'विकल्प' नाम से पुकारी जाती है। भगवान् पतंजलि ने योगशास्त्र में कहा है—

"शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः"।

४—तमोगुण को विषय करने वाली विशेष वृत्ति का नाम 'निद्रा' है। अर्थात् ज्ञानादि के अभाव मात्र का नाम 'निद्रा' है। अथवा योग-शास्त्र के कथनानुसार—

"अभावप्रत्ययालंबना वृत्तिर्निद्रा"।

५—पूर्व अनुभव-जन्य संस्कार-मात्र से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका नाम 'स्मृति' है।

इन पांचों प्रकार की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है। इसी का नाम समाधि है और कर्मों के फल की प्राप्ति का जो संकल्प है वह विपर्यय के तीसरे भेद 'राग' का ही नाम है।

शरीर, इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाली सारी क्रियाओं में कर्तापन का भाव मिटाकर केवल परमात्मा में ही अभिन्न भाव से स्थित होना 'संन्यास' कहलाता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए साधनावस्था में जो कर्म किए जाते हैं उनमें भी सब प्रकार के संकल्पों का त्याग करके योग की प्राप्ति की जाती है। फिर परमात्मा से मेल हो जाता है। और ज्ञानोत्तर अर्थात् सिद्धावस्था में भी फलाशा और सब प्रकार के संकल्पों को छोड़कर परमात्मा से मेल होता है। चाहे मनुष्य कर्म करे, चाहे न करे। चाहे श्वेत वस्त्र धारण करके कर्म-योगी बना रहे। चाहे जनेऊ, चोटी त्याग कर त्रिदण्डधारी बनकर गेरुए वस्त्र

धारण करके संन्यासी बने। परन्तु परमात्मा से मेल पाने के लिए मन, कर्म, वचन से सकल्पों को छोड़ देना परमावश्यक होता है। क्योंकि कोई पुरुष संकल्पों का त्याग किए विना संन्यासी या त्यागी नहीं हो सकता। कारण यह कि विषय-वासनाओं, मोहममता, राग-द्वेष से संयुक्त सांसारिक पदार्थों के चिन्तन करते रहने से न मनुष्य योगी बन सकता है, न ही संन्यासी हो सकता है। क्योंकि संकल्प-विकल्प युक्त पुरुष परमात्मा में स्थित नहीं हो सकता है। इसलिए संकल्पों का त्याग योगी और संन्यासी दोनों के लिये आवश्यक है। परिणाम या लक्ष्य के विचार से वास्तव में योगी और संन्यासी में कोई भेद नहीं है। भगवान् ने पहले ५।५ में स्वयं कहा है—"एकं सांख्यं च योगं च।" अब इस श्लोक में फिर कहा है, "हे पाण्डव ! जिसको संन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान क्योंकि ये दोनों मार्ग दो होते हुए भी परिणाम और साधनावस्था में एक ही हैं" ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

आरुरुक्षोः+मुनेः+योगम्+कर्म कारणम्+उच्यते। योग+आरूढस्य तस्य+एव शमः कारणम्+उच्यते।

आरुरुक्षोः=(वि०) आरोढुम् इच्छतः (षष्ठी० तत्पु०)। आ√रुह्+सन्+उ=आरुरुक्षुः+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=आरूढ होने की इच्छा करने वाले का। चढ़ने की इच्छा करने वाले का। चढ़ना चाहते हुए का। सदा स्थित रहना चाहने वाले के लिए।

मुनेः=(पुं०) मुनि+षष्ठी० ए० व०=मुनि का। मननशील पुरुष का। मुनि के लिये।

योगम्=(पुं०) योग+द्विती० ए० व०=योगम्। योग को। योग में। योग पर। समत्व बुद्धि योग में। ध्यान-योग में।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=(निष्काम भाव से) कर्म (करना ही)। शास्त्र विहित नित्य नैमित्तिक कर्म करना ही।
[योग की प्राप्ति के लिए]

कारणम्=(नपुं०)√कृ+णिच्+ल्युट्=कारण+प्र० ए० व०=कारणम् साधन। हेतु। जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना) (कर्मणि) (आत्म०) लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है।

योग—आरूढस्य=(वि०) योगम् आरूढस्य (द्विती० तत्पु०)। योग पर चढ़े हुए के लिए। ध्यान योग में स्थित हुए मुनि के लिए।

[आ √रुह् (भ्वा० पर० सक०=ऊपर चढ़ना)+क्त=आरूढ+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=आरूढस्य=चढ़े हुए का (के लिए)]

तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=उसका। उसके लिये।

एव=(अव्यय) ही।

शमः=(पुं०)√शम्+अ=शम+प्र० ए० व० शान्ति। इन्द्रिय-निग्रह। सारे संकल्पों का अभाव। सारे कर्मों से निवृत्त होना।

[यावद् यावत् कर्मभ्य उपरमते, तावत् तावद् निरायासस्य जितेन्द्रियस्य चित्तं समाधीयते। तथा सति स झटति योगारूढो भवति। तथा च उक्तं व्यासेन—'नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च। शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥' (महा० शान्ति० १७५।३७) (श्री स्वामी शंकराचार्य जी)

अर्थ—(योगारूढ मुनि) कर्मों से जितना-जितना पीछे हटता जाता है, उतना-उतना ही उस निरायास जितेन्द्रिय मुनि का चित्त समाहित (ईश्वर ध्यान-लीन) होता जाता है। ऐसा होने पर वह झटपट योगारूढ हो जाता है। वैसा ही व्यास जी ने कहा है—'ब्राह्मण के लिए दूसरा ऐसा कोई धन नहीं है जैसा कि एकता, समता, सत्यता, शील, स्थिति (स्थिरता), अहिंसा, आर्जव और उन-उन क्रियाओं से उपराम होना है।]

कारणम्=(नपुं०) प्र० ए० व०। साधन। हेतु कारण।

उच्यते=कहा जाता है।

अर्थ—योग पर आरूढ होने की इच्छा वाले (अर्थात् सदा स्थित रहना चाहनेवाले) मुनि (मननशील पुरुष) के लिए (समत्व बुद्धि से निष्काम) कर्म (करना ही योग-प्राप्ति के लिए) कारण (हेतु) कहा जाता है। (और फिर उस) योग पर आरूढ हो गए मुनि के लिए (सारे कर्मों और सारे संकल्पों से) शान्त या निवृत्त होना ही (कल्याण का) साधन कहा जाता है॥३॥

व्याख्या—पूर्णतया अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने के अनन्तर सब प्रकार के विषय सुखों से तीव्र वैराग्य होकर निष्काम कर्म करते हुए परमात्मा के ध्यान में सदा लीन रहने का नाम योग है। दूसरे शब्दों में चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है। इस योग में स्थित होने की इच्छा रखनेवाला मननशील पुरुष 'योग-आरुरुक्षु' कहलाता है। योगारूढ हो जाने पर फिर वह मुनि योगी हो जाता है। परन्तु योगारूढ होने या योगी बनने के लिए वर्णाश्रम तथा

स्वस्थिति के अनुकूल शास्त्र-विहित कर्मों को फल और आसक्ति त्यागकर करना परमावश्यक होता है। क्योंकि बिना कर्म किए मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता और अन्तःकरण की शुद्धि के बिना मनुष्य का योगारूढ होना या योगी बनना कठिन है। योगी के लिए निष्कर्मता बिना कर्म किए प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है जैसाकि गी० ३।४।। में भगवान् ने स्वयं कहा है—'न कर्मणा-मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।' इसलिए कर्म का सर्वथा त्याग तो भगवान् के मतानुसार हो ही नहीं सकता, तो फिर कर्मों को आसक्ति, फलेच्छा, कामना, अभिमान और संकल्पों से रहित होकर क्यों न किया जाए जिससे चित्त की शुद्धि होकर योगारूढ हुआ जा सके।

इस योगारूढ अवस्था की प्राप्ति और महत्ता का वर्णन श्री ज्ञानेश्वर महाराज की अलंकृत भाषा में इस प्रकार किया गया है।

"हे पार्थ! यदि योग रूपी पर्वत के शिखर पर पहुँचना हो, तो इस कर्म-मार्ग रूपी सीढियों वाला मार्ग कदापि नहीं छोड़ना चाहिए। इस सीढियों वाले मार्ग से होते हुए यम-नियमों की आधार-भूमि पर जाना चाहिए। फिर वहाँ से योगासनों की पगडण्डी पर चलना चाहिए और प्राणायाम की कगार (टेकरी) पर चढ़ जाना चाहिए। फिर आगे चलकर प्रत्याहार की मध्यवर्ती पहाड़ी आती है जहाँ अत्यन्त फिसलन के कारण बुद्धि के पाँव भी फिसलते हैं। वहाँ पहुँच कर बड़े-बड़े हठ योगियों की प्रतिज्ञा भी भंग हो जाती है और वे बुरी तरह लुढ़क जाते हैं। परन्तु अभ्यास और निश्चय-वृत्ति के बल से प्रत्याहार के निरा-लम्ब आकाश मार्ग में धीरे-धीरे वैराग्य (रूपी विमान) का आश्रय प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के वायुयान रूपी घोड़े पर सवार होकर धारणा के विस्तृत खण्ड में पहुंच जाना चाहिए। फिर इस खण्ड को पार करके तब तक चलते रहना चाहिए जब तक कि ध्यान की सीमा के पार न निकला जा सके। वहाँ पहुँचकर यह मार्ग समाप्त हो जाता है। उस समय समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध होकर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होने लगती है और फिर साध्य और साधन दोनों परस्पर गले मिलते हैं तथा एकरूप हो जाते हैं। वहाँ पहुँचकर योगी पुरुष ऐसी समतल-भूमि पर स्थिर होकर समाधिस्थ हो जाता है जहाँ से और आगे पैर रखने की कोई बात ही नहीं रह जाती। इस प्रकार योगारूढ हुआ मुनि अत्यन्त प्रबुद्ध होकर उच्चतम अवस्था को प्राप्त हो जाता है।।"

इस प्रकार यह बात भली भाँति प्रकट होती है, कि चित्त की शान्ति वा निरासक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए कर्म की आवश्यकता होती है। इससे भगवान् ने कहा है, कि योगारूढ होने का साधन 'कर्म का करना' है। योगा-रूढ अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद जो कर्म, योगी द्वारा सम्पन्न होते हैं, वे

किसी आसक्ति, संकल्प स्वेच्छा या किसी-अप्राप्त-वस्तु की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किये जाते हैं। वे कर्म तो केवल शान्त अवस्था के अनुरूप या कारण ही होते हैं, मन के वशीभूत होकर शान्त हो जाने पर संकल्पों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि योगारूढ पुरुष के लिए परमात्मा से मेल होने में शम ही कारण या हेतु है ॥

देशपिता महात्मा गाँधी जी के विचार इस प्रकार हैं—

"**टिप्पणी**—जिसकी आत्म-शुद्धि हो गई है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्मदर्शन सहज है। जिसका यह अर्थ नहीं है कि योगारूढ को लोक-संग्रह के लिए भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। लोक-संग्रह के बिना तो वह जी ही नहीं सकता। अतः सेवा कर्म करना भी उसके लिए सहज हो जाता है। वह दिखावे के लिए कुछ भी नहीं करता" ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

यदा हि न+इन्द्रिय+अर्थेषु न कर्मसु+अनुषज्जते। सर्व-सङ्कल्प-संन्यासी योग+आरूढः+तदा+उच्यते।

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले, यद्+दा,। जब। जिस समय।

हि=(अव्यय) ही। निश्चय पूर्वक। निःसन्देह।

न=(अव्यय) न। नहीं।

इन्द्रिय+अर्थेषु=(पुं०) इन्द्रियाणाम् अर्थाः (शब्दादयः) तेषु (षष्ठी० तत्पु०)। सप्त० ब० व०। इन्द्रियों के अर्थों में। शब्दादि इन्द्रियों के विषयों में।

न=(अव्यय) न। नहीं।

कर्मसु=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ब० व०=कर्मों में। (अपना कुछ भी प्रयोजन न समझकर, नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध) कर्मों के फलों में।

अनुषज्जते=अनु√सञ्ज् (भ्वा०, उभ० सक०=जुड़ना, अनुषक्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=अनुरक्त होता है। आसक्त होता है।

सर्व-सङ्कल्प-संन्यासी=(वि० पुं०, प्र०, ए० व०)। सर्वान् संकल्पान् इहामुत्रार्थ-कामहेतून् संन्यसितुं शीलम् अस्य=इस लोक और परलोक के भोगों की कामना रूप सब संकल्पों को त्याग करने के स्वभाव वाला। सब संकल्पों

को त्यागने वाला सब कामनाओं को छोड़नेवाला [सम्-नि √अस्+णिनि=संन्यासिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=संन्यासी=त्यागी]

योग+आरूढः=वि०, पुं०, प्र० ए० व०)=प्राप्त-योगः। योगम् आरूढः (द्वितीया तत्पु०)। योग में आरूढ। योग को प्राप्त हुआ। योग को प्राप्त हो चुका है।

तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले। उस समय। तब।

उच्यते=√वच्+(कर्मणि) लट्० प्र० पु० ए० व०=कहा जाता है। कहलाता है।

अर्थ—निःसन्देह जब कोई (मननशील पुरुष) न तो (शब्द,स्पर्शादि) इन्द्रियों के विषयभोगों में, और न ही कर्मों (के फलों) में आसक्त होता है तथा (इस लोक और परलोक के भोगों की कामना रूप) सब संकल्पों का त्यागी हो जाता है, तब वह योगारूढ (=योग को प्राप्त हो चुका) कहलाता है ॥४॥

व्याख्या—'यह कर्म मैं करता हूं'। 'मुझे यह फल मिलना चाहिए'। इत्यादि। इस प्रकार के चिन्तन करने वाली मनोवृत्ति विशेष विचार का नाम 'संकल्प' है। इन संकल्पों से नाना प्रकार के कर्मों की उत्पत्ति होती है। 'मनुस्मृति २।२ में कहा है—'संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः संकल्प-सम्भवः, अर्थात् कामना का मूल संकल्प है और (यज्ञ-दानादि सब शुभकर्म) संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य दो प्रकार के कर्म करता है—१—स्वाभाविक, जैसे मल-मूत्र परित्याग, खान-पान, श्वास-प्रश्वास, सोना-जागना इत्यादि स्वाभाविक कर्म होते हैं। २—संकल्पज, ये कर्म किसी इच्छा या वासना के निमित्त किए जाते हैं। इनमें से स्वाभाविक कर्मों का त्याग करना अत्यन्त कठिन या असम्भव है। परन्तु संकल्प मूलक कर्म निरन्तर अभ्यास, ज्ञान और वैराग्य के बल के द्वारा त्याग किए जा सकते हैं। इन कर्मों में संकल्प और कामना ही दुःख के कारण हैं। निष्काम अर्थात् आसक्ति तथा फलेच्छा हीन कर्म तो योगारूढ होने के लिए सदा सहायक ही होते हैं। इस श्लोक में उनको त्यागने के लिए तो कहा ही नहीं गया है। यहाँ तो केवल निषिद्ध कर्मों के त्याग और शास्त्र विहित कर्मों में आसक्ति, फलेच्छा और कर्तापन के त्याग की ही बात कही गई है। चौथे अध्याय के श्लोक १९ में पहले भी कहा जा चुका है—कि

" यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥"

'अर्थात् जिस पुरुष के समस्त कर्म, काम और संकल्प रहित होते हैं उसके कर्म ज्ञान रूपी अग्नि में भस्म हो जाते हैं। बुद्धिमान् लोग उसको पण्डित कहते हैं।'

इसी पण्डित का दूसरा नाम योगारूढ पुरुष होता है। यहाँ संकल्प के त्याग से अभिप्राय केवल स्फुरणमात्र का त्याग नहीं है, अपितु विषयों के चिन्तन तथा उनमें आसक्ति, ममता, राग और द्वेष आदि के त्याग से है। इनका त्यागना तभी सम्भव होता है जब साधक को परमात्मा के अतिरिक्त शेष सब कुछ मिथ्या प्रतीत होने लगता है। ऐसा पुरुष सब प्रकार से बर्तता हुआ भी परमात्मा में ही बर्तता है (६।३१)। इसी से भगवान् कहते हैं कि यह बात निःसन्देह सत्य है कि मनन-शील साधक पुरुष जब सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है तो वह कभी इन्द्रियों द्वारा इच्छित विषय-भोगों और सुखों में तनक भी अनुरक्त नहीं होता तथा न कभी निषिद्ध कर्मों को करता है। आसक्ति रहित और फलेच्छा हीन होकर शास्त्र विहित कर्मों को ही सदा करता है। जब वह मन से संकल्पों को सदा त्याग कर देता है तब वह योगारूढ कहलाता है॥

श्री ज्ञानेश्वर जी अपनी व्याख्या में कहते हैं—जिसकी इन्द्रियों के घर (मन) में विषयों का आना-जाना बन्द हो जाता है और जो आत्म-ज्ञान की कोठरी में सुखपूर्वक आत्मानन्द के बिछौने पर सोता है, जिसके मन में सुख-दुःख के फेर में पड़कर झगड़ने का चाव नहीं रह जाता, जो पास आए इन्द्रियों के विषयों का भी स्मरण नहीं करता, जो इन्द्रियों द्वारा कर्म करता हुआ भी अपने अन्तःकरण में (निरासक्त होकर) कभी फल की इच्छा नहीं करता, जो केवल देह-धारण के लिए जाग्रत रहता है और सदा आत्म-भाव में लीन रहता है, निःसन्देह उसी को योगारूढ पुरुष समझना चाहिए॥"

श्री तिलक जी इस प्रकार लिखते हैं—"कह सकते हैं, कि यह श्लोक पिछले श्लोक के साथ भी मिला हुआ है, इससे गीता का यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि योगारूढ पुरुष को कर्म न छोड़कर शान्त-चित्त से निष्काम कर्म करना चाहिए। 'संकल्प संन्यास' ये शब्द ऊपर दूसरे श्लोक में आये हैं, वहाँ इनका जो अर्थ है वही इस श्लोक में भी लेना चाहिए। कर्मयोग में ही फलाशा त्यागरूपी संन्यास का समावेश होता है और फलाशा छोड़कर काम करने वाले पुरुष को सच्चा संन्यासी और योगी अर्थात् योगारूढ़ कहा जाता है॥" ॥४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

उद्धरेत्+आत्मना+आत्मानम् न आत्मानम्+अवसादयेत्। आत्मा+एव हि+आत्मनः+बन्धुः+आत्मा+एव रिपुः+आत्मनः॥

उद्धरेत्=उद् (ऊर्ध्वं) √हृ (भ्वा० उभ० सक०=ले जाना)+पर०

विधि०, प्र० पु०, ए० व०=उद्धार करे। उद्धार करना चाहिए। संसार-सागरे निमग्नम् उद्धरेत्=संसार सागर से उद्धार करे।

आत्मना=(पुं०) आत्मन् +तृती० ए० व०=अपने द्वारा। आत्म-बल के द्वारा। आत्मा से।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=अपने आपको। आत्मा का। अपना।

न=(अव्यय) न। नहीं।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को। अपनी आत्मा को। अपने को।

अवसादयेत्=अव √सद् (भ्वा०, तुदा०, पर०, सक०)+णिच्+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=नीचे गिराये। नाश करे। अधोगति में पहुँचाये। [अधो नयेत्, अधो गमयेत्]। अधः पतन करे।

आत्मा=(पुं०) आत्मन्+प्र० ए० व०=आत्मा। आप। जीवात्मा आप।

एव=(अव्यय) ही।

आत्मनः=(पुं०) आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=आत्मा का। अपना।

बन्धुः=(पुं०)√बन्ध् (क्र्या० पर० सक०=बाँधना, बेड़ी डालना, धारण करना)+उ=बन्धु+प्र० ए० व०=मित्र। बन्धु। सम्बन्धी। भाई। ["न हि अन्यः कश्चिद् बन्धुः यः संसार-मुक्तये भवति। बन्धु: अपि तावद् मोक्षं प्रति प्रतिकूल एव स्नेहादि-बन्धनायतनत्वात् तस्माद् युक्तम् अवधारणम् 'आत्मा एव हि आत्मनो बन्धुः।" (इति श्री स्वामी शंकराचार्यः) अर्थ—'क्योंकि दूसरा कोई ऐसा बन्धु नहीं है, जो संसार से मुक्त कराने वाला है। स्नेह-प्रेम इत्यादि भाव रूप बन्धन का भाव-स्थान होने के कारण यह सांसारिक बन्धु भी वास्तव में मोक्ष-मार्ग का तो बाधक ही होता है। इसलिए यह कहना ही ठीक है कि मनुष्य केवल आप ही अपना बन्धु होता है।']

आत्मा=(पुं०) आत्मन्+प्र० ए० व०=आत्मा। आप

एव=(अव्यय) ही।

रिपुः=(पुं०) अनिष्टं रपति,√रप्+कु, इत्व=रिपु+प्र० ए० व०=रिपुः =शत्रु। [जो कोई दूसरा अनिष्ट करने वाला बाह्य शत्रु है वह भी अपना ही बनाया हुआ होता है। इससे यह कहना ठीक ही है कि मनुष्य आप ही अपना शत्रु होता है।]

आत्मनः=(पुं०) आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=आत्मा का। अपना।

आत्मन् (पुं०)

१—आत्मा, आत्मानौ, आत्मानः ॥ २—आत्मानम्, आत्मानौ, आत्मनः ॥ ३—आत्मना, आत्मभ्याम्, आत्मभिः ॥ ४—आत्मने, आत्मभ्याम्, आत्मभ्यः ॥ ५—आत्मनः, आत्मभ्याम्, आत्मभ्यः ॥ ६—आत्मनः, आत्मनोः, आत्मनाम् ॥ ७—आत्मनि, आत्मनोः, आत्मसु ॥ संबो० हे आत्मन् ! हे आत्मानौ ! हे आत्मानः ॥

अर्थ—(मनुष्य) आत्मा द्वारा (अपने द्वारा), आत्मा का (अपना), उद्धार (संसार-सागर से पार उतारा या छुटकारा) करे। आत्मा को (अपने आप को) नीचे न गिराये (अधोगति में न पहुँचाये)। क्योंकि आत्मा ही (आप ही) आत्मा का (अपना) बन्धु या मित्र है और स्वयं आप अपना शत्रु है ॥५॥

व्याख्या—संसार को सागर से उपमा दी जाती है। जैसे समुद्र में अनन्त जलराशि होती है इसी प्रकार संसार का भी कोई आदि-अन्त या पारावार मालूम नहीं होता। जिस तरह समुद्र में अनेक भँवर और आवर्त जीव को डुबोने वाले होते हैं, इसी तरह संसार रूपी सागर में भी पुत्र, कलत्र, मित्र, बान्धव, धन, धान्य आदि अनेक पदार्थ, महामोह में फँसाने वाले आवर्त रूप हैं। तथा काम, क्रोध, मोह लोभ, अहंकार आदि चित्त के विकार अनेक मगरमच्छों का रूप धारण करके रसातल में घसीट कर ले जाने वाले हैं। अनेक प्रकार के महारोग, निहंगों, तिमिङ्गिलों, ह्वेलों, ग्राहों और घड़ियालों के समान हैं तथा भूख, प्यास आदि, उंची लहरों और ज्वार-भाटों का रूप धारण किए हुए हैं। तीनों ताप बडवानल के स्वरूप हैं। कहां तक कथन किया जाए, यह संसार नितान्त दुस्तर, अथाह, अगाध और बेकिनारे के सागर के समान है। मूर्ख जीव अज्ञान के वश होकर अनन्त काल से इस दुःख-पूर्ण भव-सागर में लगातार गोते खा रहा है तथा अधमाधम विविध योनियों में धक्के खाता फिरता है। कभी कभी दया सागर परमात्मा अपनी अपार दया से इसको नर-देह प्रदान करते हैं जिसको पाकर चाहे यह जीव विषय-वासनाओं में फँसकर पुनः आवागमन के चक्र में फँस जाए, चाहे ज्ञान वैराग्य द्वारा योगारूढ होकर अपना उद्धार, पार उतारा या छुटकारा पा ले। यह इसके अपने वश की बात है। बड़े-बड़े महान् समुद्र, बड़े बड़े पोतों द्वारा अथवा हवा में उड़ने वाले वायुयानों द्वारा लांघ कर पार किये जा सकते हैं। अपि तु राकटों द्वारा आकाश को छुआ जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान, योग-युक्ति और भक्ति-योग रूपी पोतों और विमानों द्वारा यह अति दुस्तर, अगाध, अपार और तीर-रहित भव-सागर सहज ही तरा और पार किया जा सकता है। यह जीव और किसी भी योनि में अपना निस्तारा नहीं कर सकता,

क्योंकि मनुष्य-देह के बिना अन्य सब भोग-योनियाँ हैं। केवल मनुष्य योनि में ही जीव अपने छुटकारे का साधन कर सकता है। इसलिए मनुष्य का अपना अमूल्य और दुर्लभ मानव जीवन व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। अवश्य ही अपने शुभ कर्मों द्वारा, सांख्य या ज्ञान योग द्वारा, निष्काम कर्म-योग द्वारा, अथवा भक्ति-योग द्वारा अपने मूल स्रोत परमात्मा में मिलने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। नहीं तो शूकर कूकर-आदि अधम योनियों में जन्म लेकर अवश्य ही दुःख सहन करने पड़ेंगे। अथवा नरक-यातनाएँ भोगनी होंगी। ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र ३ में लिखा है—

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥"

[अर्थ—वे असुर-सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो लोग आत्मा का हनन करने वाले हैं वे मरने के अनन्तर उन (असुर-लोकों) को प्राप्त होते हैं।]

इस आत्मा को हनन करने वाले अज्ञानी लोग संसार चक्र में फंस कर दुःख भोगते रहते हैं। परन्तु इस आत्मा का उद्धार करने वाले ज्ञानी जन मुक्त हो जाते हैं।

महाभारत ५।३४।६४ में लिखा है—

"आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनो बुद्धीन्द्रियैर्यतैः।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥"

अर्थात्—'मनुष्य को स्वयं अपने द्वारा ही मन, बुद्धि, और इन्द्रियों को जीतकर अपने आपको जानना या ढूंढना चाहिए। तात्पर्य यह कि आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। क्योंकि आत्मा (मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि का संघात रूप मानव शरीर) ही इस मनुष्य का मित्र है और आत्मा ही मनुष्य का शत्रु है (जब यह आत्मा योगारूढ कराने में सहायता करती है, तो पुरुष का मित्र हो सकती है परन्तु जब अधोगति में गिराने का कारण होती है तो शत्रु होती है)।'

संसार में दूसरा ऐसा कोई बन्धु नहीं है, जो इस जीवात्मा को जन्म-मरण-चक्र से छुड़ाने वाला हो। जगत् में बने हुए सब मित्र और बन्धु तो स्नेह, प्रेम और मोह-माया में फँसाने वाले ही होते हैं। इस कारण से वे वास्तव में मोक्ष-मार्ग के विरोधी या बाधक ही होते हैं तथा जो कोई अनिष्ट करने वाला बाह्य शत्रु है वह भी अपना ही बनाया हुआ होता है। इसलिए मनुष्य

स्वयं ही अपना मित्र या शत्रु होता है। अतः इस मनुष्य जन्म को पाकर जीव को सदा अपने उद्धार के लिए पूरी तरह से प्रयत्नशील होना चाहिए। राग-द्वेष, काम-क्रोध, मोह-लोभ, प्रमाद-आलस्य और सब प्रकार के पापाचरण रहित होकर शम, दम, यम, नियम आदि का पालन करना चाहिए। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी वैरागी बने रहना चाहिए। निष्काम कर्म करते हुए निरासक्त हो जाना चाहिए। फलेच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। सदा अपने भीतर बाहर सर्वव्यापक परमात्मा को रम रहा अनुभव करना चाहिए। इस प्रकार स्वयं अपने द्वारा ही अपनी आत्मा या अपने आपको उन्नत कर लेना चाहिए। श्री विष्णुपुराण ६।७।२८। में लिखा है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धस्य विषयासंगि मुक्तेर्निर्विषयं तथा ॥"

[अर्थ—मनुष्यों का मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण होता है। मन जब इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, तब वह बन्धन का कारण होता है और जब वह इन्द्रियों के विषयों से रहित होता है, तब वह मोक्ष या मुक्ति का कारण बन जाता है।]

पांचवें और छठे श्लोक के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए श्री तिलक जी लिखते हैं—

"इन दोनों श्लोकों में आत्म-स्वतन्त्रता का वर्णन है और इस तत्त्व का प्रतिपादन है कि हर एक को अपना उद्धार आप ही कर लेना चाहिए, और प्रकृति कितनी भी बलवती क्यों न हो उसको जीत कर आत्मोन्नति कर लेना हर एक के स्वाधीन है। मन में इस तत्त्व के भली-भान्ति जम जाने के लिए ही श्लोक ५ में अन्वय से और अगले श्लोक में व्यतिरेक से—दोनों रीतियों से वर्णन किया है कि आत्मा-अपना ही मित्र कब होती है? और आत्मा अपना शत्रु कब होती है? संस्कृत में आत्मा शब्द के तीन अर्थ मिलते हैं— (१)—अन्तरात्मा। (२) मैं स्वयं, और (३) अन्तःकरण या मन। इसी से यह 'आत्मा' शब्द ५, ६, ७, श्लोकों में कई बार आया है॥" ॥५॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

बन्धुः+आत्मा+आत्मनः+तस्य येन आत्मा+एव+आत्मना जितः। आत्मनः+तु शत्रुत्वे वर्तेत+आत्मा+एव शत्रु-वत् ॥

बन्धुः=(पुं०) बन्धु+प्र० ए० व=हित करने वाला। सम्बन्धी। रिश्तेदार। भाई। मित्र। पितृ-बन्धु। मातृ-बन्धु।

आत्मा=(पुं०) आत्मन्+प्र० ए० व०=आत्मा। आप।
आत्मनः=(पुं०) आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=आत्मा का। जीवात्मा का।
तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=उसका।
येन=(सर्व) यद्+(पुं०) तृती० ए० व०=जिससे। जिसके द्वारा।
आत्मा=(पुं०) आत्मन्+प्र० ए० व०=आत्मा। मन और इन्द्रियों सहित शरीर। कार्य-करण की समुदाय रूप आत्मा।
एव=(अव्यय) ही।
आत्मन्+तृती० ए० व०=आत्मा द्वारा। जीवात्मा द्वारा। अपने द्वारा। बुद्धि से।
जितः=√जि (भ्वा० प० सक०=जीतना)+क्त=जित+प्र० ए० व०= जीता हुआ है।
अनात्मनः=(पुं०) आत्मन्+षष्ठी ए० व०। अन्+आत्मा। अजितात्मनः। न जितः आत्मा (कार्य-करण-संघातः) येन तस्य (=अजितेन्द्रियस्य)। नञ् बहुव्री०। मन और इन्द्रियों सहित शरीर को न जीतने वाले का। अपने-आपको वश न करने वाले का। कार्य-करण के संघात शरीर रूप आत्मा को अपने वश में न किए हुए का। न जीते हुए आत्मा वाले का।
तु=(अव्यय)=तो। परन्तु। और।
शत्रुत्वे=(पं०)√शद् (भ्वा० पर० अक०=नाश करना। नाश होना। सड़ना) +क्रुन्=शत्रु+त्व=शत्रुत्व+सप्त० ए० व०=शत्रुत्व में=शत्रुता में वैर भाव में। दुश्मनी में।
वर्तते=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=वर्तना)+विधि० प्र० पु०, ए० व० =वर्त सकता है। वर्तेगा। वर्तता है॥
आत्मा=(पुं०) आत्मन्+प्र० ए० व०=आत्मा। आप।
एव=(अव्यय) ही।
शत्रु-वत्=शत्रु+वत् (इव या तुल्य अर्थ में)=शत्रु के सदृश।

अर्थ—जिस (पुरुष) के द्वारा, आत्मा (=बुद्धि या अपने आप) से, आत्मा (मन, इन्द्रियाँ और शरीर) जीती हुई है, उस आत्मा (जीवात्मा या पुरुष) की आत्मा (परमात्मा अथवा स्वयं अपना आप) बन्धु (मित्र या हित करने वाली) है। परन्तु अनात्मा (=न जीते हुए मन, इन्द्रियों और शरीरवाले) की आत्मा (जीवात्मा) ही शत्रु के समान वैर-भाव में वर्तती है॥ [अर्थात् जैसे दूसरा शत्रु उसका अनिष्ट करनेवाला होता है, वैसे ही वह स्वयं आप ही अनिष्ट करने में लगा रहता है] ॥६॥

व्याख्या—संस्कृत में 'ग्रात्मन्' शब्द ग्रनेक ग्रर्थों में प्रयुक्त होता है जैसे १—जीवात्मा, २—परमात्मा, ३—ग्रन्तःकरण या मन, ४—बुद्धि, ५—देह-इन्द्रियादि रूप संघात, ६—स्वभाव या प्रकृति, ७—ग्राप, इत्यादि। इस श्लोक में इस शब्द का प्रयोग छः बार हुग्रा है जिसका ग्रर्थ ग्रलग-ग्रलग है। इसी प्रकार ग्रौर भी ग्रपने ग्रनेकार्थ शब्द होते हैं—जैसे घड़ी को घड़ी में घड़ी भर रखो। मलमल का वस्त्र मलमल कर धो डाल। इस चाह (चाय) की मुझको चाह (इच्छा) नहीं, इस चाह (ग्रपनी ग्राशा) को डालो चाह (कूएँ) में। चील पर बैठी चील बोल रही है। एक साधु समाधि पर समाधि लगाये हुए बैठा है। इत्यादि वाक्यों में एक ही शब्द एक से ग्रधिक ग्रर्थों में प्रयुक्त हुग्रा देखा जाता है। इसी प्रकार इस श्लोक में ग्रात्मन् शब्द उन कई ग्रर्थों में प्रयुक्त हुग्रा है जो कि 'ग्रर्थ' सन्दर्भ में दर्शाए गए हैं। इस प्रकार इस श्लोक का भावार्थ यह है कि शरीर, मन ग्रौर इन्द्रियों को जो पुरुष किसी काल में भी विषय-विकारों की ग्रोर नहीं जाने देता है, सदा काम, क्रोध, मोह, लोभ, ग्रहंकारादि से रहित रहता है, सदा निष्काम कर्म करता हुग्रा फलेच्छा रहित हो जाता है ग्रौर सदा सर्वत्र परमात्मा को ग्रपने शरीर के भीतर ग्रोत प्रोत ग्रनुभव करता है। उस पुरुष ने ग्रात्मा द्वारा ग्रात्मा को जीता हुग्रा या ग्रपने वश में किया हुग्रा है।

श्रद्धा, विश्वास, तप, त्याग, भक्ति, वैराग्य, ग्रौर परमात्मा में समाधिस्थ होने से ही ग्रपने शरीर, इन्द्रिय ग्रौर मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। ग्रात्मा द्वारा ग्रात्मा को जीतने पर ही, परमात्मा जीवात्मा का बन्धु बनता है ग्रर्थात् जीवात्मा को प्रेम-पूर्वक ग्रपने स्वरूप में समो लेता है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा, परमात्मा में मिलकर तद्रूप या एकरूप हो जाती है। जैसे जल दूसरे जल में मिलकर फिर ग्रपना ग्रलग रूप खो देता है ग्रथवा जल दूध में मिलकर दूध ही हो जाता है।

परन्तु जिस पुरुष के वश में उसकी इन्द्रियाँ, शरीर ग्रौर मन नहीं है उस के ये तीनों ग्रवयव मन-मानी करते हैं ग्रर्थात् उसे बरबस विषय भोगों में लिप्त करा देते हैं फिर जिससे यह पुरुष विषयभोगों के गन्द से लिप्त हो जाता है ग्रौर उन विषयों की तृष्णा को पूर्ण या तृप्त करने के लिए नाना प्रकार के यत्न ग्रौर पाप कर्म करता है। जिस प्रकार कोष-कारक-कृमि ग्रर्थात् रेशम का कीड़ा ग्रपने शरीर से रेशम का तार निकालकर लपेटकर उससे निर्मित किए हुए कोए में बन्द हो जाता है ग्रौर फिर रेशम प्राप्त करने वाले उस कोए को उबलते हुए पानी की ग्रत्यन्त गर्म ग्रौर दाहक वाष्प में रखकर भीतर के उस कीड़े को मार डालते हैं, इस प्रकार वह मूर्ख जीव ग्रपना शत्रु ग्राप ही बन जाता है। इसी प्रकार यह ग्रनात्मा ग्रर्थात् ग्रपने मन

इन्द्रिय और शरीर-को वश में न करने वाला पुरुष भी अपने आप ही अनजाने में अपना शत्रु बन जाता है अर्थात् इस मोक्ष के द्वार मनुष्यदेह को पाकर भी अपना सुधार नहीं करता, अपितु अपने आपको अधमाधम योनियों में जन्म लेने अथवा नरकगामी होने का कारण बन जाता है।

जो पुरुष अपने शरीर के सौन्दर्य में भूलकर उस शरीर को ही अपनी आत्मा का स्वरूप मान लेता है और उसको बचाने और पालने के लिए नाना प्रकार के पाप-पुण्य और छल-कपट करता है, सम्बन्धियों और हित-मित्रों को मरता हुआ देखकर रुदन और विलाप करता है, धूलि में गिरकर पागलों का सा प्रलाप करता है, तथा अपने शरीर को सदैव स्थिर रहनेवाला मानता है वह स्वयं अपने शत्रु का सा बर्ताव करता है। जैसे कोई चूहा जब किसी पिंजरे में रोटी का टुकड़ा देखता है तो वह खिड़की खोलकर उस पिंजरे में प्रविष्ट हो जाता है और खिड़की उसी समय बन्द हो जाती है, परन्तु वह मूर्ख चूहा व्याकुलता-वश हुआ उस खिड़की को पुनः खोलना भूल जाता है। इस संसार में यही दशा मूर्ख लोभी पुरुष की होती है। यद्यपि वह इस संसार रूपी पिंजरे से छूट जाने में सहज ही समर्थ होता है परन्तु उसके मन में यह मिथ्या धारणा दृढ़ हो जाती है कि मैं वास्तव में ही पकड़ा गया हूँ। इस प्रकार वह स्वयं ही जन्म-मरण के बन्धन में फँस जाता है। पहले एक कोशिकारूप अण्डा माता के अण्डाशय या गर्भ में स्थित होता है। फिर जब पिता का एक शुक्राणु अपनी पूँछ तोड़कर उस अण्डे में प्रविष्ट हो जाता है, जिसमें वह जीवात्मा कोशिका-विभाजन-नियम से स्वयं अपने शरीर का निर्माण करता है। सारे इन्द्रियादि अवयव जब शरीर में पूर्ण रूप धारण कर लेते हैं तो वह कोषकार कृमि की भाँति अथवा पिंजरे में बन्द हुए चूहे की तरह, देह में बन्द हुआ माता के गर्भ से बाहर निकलता है, लोग जिसे जीव का जन्म होना समझते और कहते हैं। इस प्रकार यह जीवात्मा स्वयं ही अपने साथ शत्रु-भाव का व्यवहार करता रहता है और जन्म-मरण या आवागमन के चक्र में फँसा रहता है॥

केनोपनिषद् खण्ड २ मन्त्र ५ में लिखा है—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। सर्वेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥"

[अर्थ—यदि इस मनुष्य जन्म में आत्मा या परमात्मा को जान लिया तो सत्य है अर्थात् ठीक है। यदि उसे इस जन्म में न जाना तब तो बड़ी हानि है। धीर या बुद्धिमान् लोग उसे प्रत्येक प्राणी में जानकर या सब प्राणियों में अनुभव करके इस लोक से मर कर अमृत (अमर) हो जाते हैं॥] इसलिए यह ठीक है कि उसी की आत्मा स्वयं अपना बन्धु है जिसने अपने बुद्धि-बल से अपने मन

को जीता हुआ है और जिसने अपने मन को जीता हुआ नहीं है, वह अपने ही साथ शत्रु का-सा वर्ताव करता है ।।

श्री नारायण स्वामी जी ने टिप्पणी करते हुए लिखा है—"ये इन्द्रिय, मन, बुद्धिरूप आत्मा शरीर के साथ केवल मनुष्य की सेवा और सहायता के लिए उत्पन्न हुए हैं, कोई हानि पहुँचाने के लिए नहीं। इसलिए ये सब वास्तव में पुरुष के सेवक और मित्र हैं, शत्रु नहीं। परन्तु जब पुरुष (इनका स्वामी), इन (सेवकों) से ठीक काम (सेवा) नहीं लेता, तब ये शत्रुवत् दिखाई देते हैं। यद्यपि ये सब भी पुरुष के वास्तव में शत्रु नहीं हो जाते। इसलिए भगवान् ने इन्हें 'शत्रु के तुल्य' यहाँ कहा है, ठीक या वास्तव में शत्रु नहीं ।।६।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।७।।

जित+आत्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः । शीत+उष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मान+अपमानयोः ।।

जित+आत्मनः=(वि०) पुं०, प्र० ए० व० । (कार्यकरणादिसंघात) जितः आत्मा येन सः (बहुव्री०)=मन, इन्द्रिय आदि संघात रूप शरीर को जीतने या वश करने वाले (योगी पुरुष) के। जीती हुई आत्मा वाले का ।[√जि +क्त=जित]

प्रशान्तस्य=(वि०) प्रकर्षेण शान्तः प्रशान्तः तस्य (प्रादि तत्पु०) । अच्छी तरह से शान्त हुए अन्तःकरण वाले के (का)। अन्तःकरण की वृत्तियों के शान्त हो जाने पर विकार-रहित हुए का। (पुं०) षष्ठी० ए० व० ।

परमात्मा=(पुं०) परम+आत्मन्+प्र० ए० व०=परमात्मा । सच्चिदानन्द घन परमात्मा। परमेश्वर। मानवी शरीर में रहने वाली आत्मा ही तत्त्वतः परमात्मा है। प्रकृति के गुणों से बद्ध हुई शरीरस्थ आत्मा ही इन गुणों से रहित हो जाने पर परमात्मा कहलाने लगती है जो परमात्मा अपने स्वरूप में अज, अमर, स्वतन्त्र, स्वतःस्थित, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, निर्विकार, कूटस्थ और अचल है।

समाहितः=(वि०) सम्-आ√धा (जुहो० उभ० सक०=रखना। स्थापित करना)+क्त=समाहित+(पुं०) प्र० ए० व० । सम्यक् प्रकार से स्थित। भली भाँति सर्वत्र परमात्मा को प्राप्त (है) । •

शीत+उष्ण-सुख-दुःखेषु=(नपुं०) शीतं च उष्णं च शीतोष्णे सुखं च दुःखं च सुखदुःखे तेषु (इतरेतर द्वन्द्व)=सर्दी-गर्मी और सुख-दुख में। सप्त० ब० व०।

तथा=(अव्यय) तथा। और।
मान-अपमानयो:=(पुं०) माने च अपमाने च (इतरेतर द्वन्द्व०)। सप्त० द्वि० व०। मान और अपमान में। आदर (पूजा) और तिरस्कार में।

अर्थ—सर्दी, गर्मी, सुख, दु:ख तथा मान और अपमान (आदि प्रत्येक अवस्था) में (अन्त:करण की वृत्तियों के अत्यन्त शान्त हो जाने पर) विकार रहित हुए, (मन, इन्द्रियों आदि के संघात रूप शरीर—) आत्मा को जीते (या वश में किए) हुए (योगी पुरुष) का परमात्मा समाहित (उसके मन में सदा साक्षात् रूप में स्थित हो चुका) है ॥७॥

व्याख्या—योगी पुरुष जब अत्यन्त उच्चावस्था को प्राप्त हो जाता है, तो मन, इन्द्रियों और शरीर पर उसका पूरा-पूरा नियन्त्रण हो जाता है। उसे सर्दी न दु:ख देती है, और न सुख देती है। गर्मी के विषय में भी उसका अनुभव इसी प्रकार का हो जाता है। उसे संसार में किसी भी कारण से न सुख होता है और न दु:ख होता है। यदि कोई उसका सम्मान करता है तो उसे उससे किसी प्रकार का हर्ष या गर्व नहीं होता है। यदि कोई अपमान करता है, तो मोह, शोक, ग्लानि, घृणा या क्रोधादि की प्राप्ति नहीं होती है। संसार में चाहे कुछ भी होता रहे, उस पर किसी भी घटना का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सूर्य की प्रचण्ड गर्मी से महा-सागर का जल गर्म होकर उबलने लगता है। झञ्झा-वायु और तूफान से सागर का जल विकराल लहरों का रूप धारण कर लेता है। तथा समुद्र का पानी सूर्य और चन्द्र के आकर्षण से ज्वार-भाटे के रूप में परिवर्तित हो जाता है। समुद्री रौओं या धाराओं के प्रभाव से आगे बढ़ने लगता है। एवं शीत के प्रभाव से बर्फ़ बन जाती है। परन्तु उच्चतम शिखर पर समारूढ योगी महा-सागर से भी महत्तम होता है। जिस पर किसी भी बाह्य या आन्तरिक घटना का कोई भी प्रभाव नहीं होता है। उसका अन्त:करण सदा एक-रस और प्रशान्त रहता है। उसकी इन्द्रियां सदा उसके वश में रहकर केवल अपने साधारण धर्मों में ही बर्तती हैं, विषय-विकारों में लिप्त नहीं होती हैं, शरीर धर्मानुसार ही आचरण करता है। मन सदा शिव-संकल्प ही बना रहता है। बुद्धि स्थिर रह कर मन, इन्द्रियों, शरीर पर नियन्त्रण किए रखती है। जिस समय योगी इस उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो परमात्मा सदा के लिए स्थित हुआ उसके हृदय में विराजमान दिखाई देने लगता है।

श्री ज्ञानेश्वर जी लिखते हैं :—

"ऐसा मनुष्य अपने मन को जीत लेता है जिसकी समस्त वासनाएँ शान्त हो जाती हैं। उसे कभी यह नहीं जान पड़ता कि परमात्मा मुझ से अलग

और दूर है। जिस प्रकार मैल या मिलावट के बिलकुल निकल जाने पर अन्त में शुद्ध सोना बाकी रह जाता है, उसी प्रकार संकल्प विकल्प का झगड़ा मिटते ही स्वयं जीव ही परमात्मा होकर रहने लगता है। जिस प्रकार घटाकार के नष्ट होने पर उसके अन्दर के आकाश को, आकाश के साथ मिलने के लिए फिर कोई स्थानान्तर नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार जिसका मिथ्या देहाभिमान समूल नष्ट हो जाता है, उसे परमात्मा रूप होने के लिए फिर और कुछ भी करना नहीं पड़ता, क्योंकि वह तो आरम्भ से ही परमात्मा से ओत-प्रोत भरा रहता है। ऐसे पुरुष के लिए गर्मी-सर्दी और सुख-दुःख के विचार और मान-अपमान की बात सम्भव ही नहीं होती। जिन-जिन मार्गों से होकर सूर्य चलता है, उन-उन मार्गों में सब स्थान प्रकाश-मय हो जाते हैं। इसी प्रकार ऐसे पुरुष को जो कुछ (या जो कोई) मिलता है वह संपूर्ण तद्रूप हो जाता है और उस पुरुष के स्वरूप के साथ समरस हो जाता है। जिस प्रकार मेघ से गिरने वाली जल-धारा कभी समुद्र के लिए कष्ट-दायक नहीं होती, उसी प्रकार योगी-श्रेष्ठ के लिए शुभाशुभ बातें आत्म-स्वरूप ही होने के कारण कभी क्लेशकारक नहीं होतीं ॥ ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान-विज्ञान-तृप्त + आत्मा कूटस्थः + विजित + इन्द्रियः । युक्तः + इति + उच्यते योगी सम-लोष्ट + अश्म-काञ्चनः ॥

ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा = (वि०) ज्ञानं (= शास्त्रोक्त-पदार्थानां परिज्ञानं) विज्ञानं (शास्त्रतो ज्ञातानां पुनः स्वानुभवकरणं) च ताभ्यां (= ज्ञान-विज्ञानाभ्यां) तृप्तः (= संजात + अलं-प्रत्यय) आत्मा यस्य सः = ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा, (बहुव्री०) = शास्त्रों में कहे हुए पदार्थों को भली भान्ति समझ लेने का नाम 'ज्ञान' है और उन पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव करने तथा प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर लेने का नाम विज्ञान है। ऐसे ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हुए अन्तःकरण वाला "बस, अब और कुछ भी जानना शेष नहीं रहा है" अन्तः करण में ऐसा विश्वास उत्पन्न हो जाने वाला। ज्ञान-विज्ञान से सन्तुष्ट या तृप्त है अन्तःकरण जिसका। (पुं०) प्र० ए० व०।

कूटस्थः = (वि०) कूट इव तिष्ठति (इति) सः (उपपद तत्पु०)। 'कूट' नाम लोहे की अहरण का है 'स्थः' स्थित को कहते हैं। जिस प्रकार अहरण पर लुहार, सुनार या ठुठियार का हिथोड़ा बार-बार चोटें लगाता है, परन्तु अहरण

अपने स्थान से तिल भर भी विचलित नहीं होती और न किसी अन्य प्रकार के विकार को प्राप्त होती है इसी प्रकार जो पुरुष नाना प्रकार के दुःख-द्वन्द्वों, शोकों और कष्टों में विचलित नहीं होता और सदा परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है, वह 'कूटस्थ' (या दुःख-द्वन्द्वों और कष्टों को सहन करता हुआ परमात्मा के स्वरूप में स्थित) कहलाता है।

जिस प्रकार सोना, चाँदी और लोहा आदि अहरण पर रख कर कूटे जाते हैं परन्तु अहरण उनसे थोड़ा सा भी लिप्त नहीं होती उसी प्रकार जो पुरुष विषयों के संग रहने पर भी उनमें लिप्त नहीं होता, अथवा सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से प्रभावित नहीं होता उसको कूटस्थ (किनारा-कश) कहते हैं। अथवा-कूटे स्थितः। 'कूट' नाम चोटी या शिखर का है। इसलिए जो उच्चतम चोटी या शिखर पर बैठा हुआ है अर्थात् जो मनुष्य-पदवी से ऊपर उठ कर परमात्मा का रूप हो चुका है उसका नाम 'कूटस्थ' है।

(पुं०) ए० व० ॥ अविचल। योगारूढ। सिद्धावस्था को पहुँचा हुआ।

विजित+इन्द्रियः=(वि०) विजितानि इन्द्रियाणि येन सः (बहुव्री०) अच्छी तरह से जीती हुई इन्द्रियों वाला। (पुं०) प्र० ए० व० ॥

युक्तः=(वि०)√युज् (रुधा० उभ० सक०=जुड़ना)+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=जुड़ा हुआ। परमात्मा में सदैव लीन रहने वाला। ईश्वर-परायण। समाधिस्थ। समाहित।

इति=(अव्यय) ऐसा। ऐसे। इस प्रकार।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+(कर्मवाच्य) लट्०, प्र० पु० ए० व०=कहा जाता है।

योगी—(वि०) योगिन्+(पुं०) प्र० पु० ए० व०=योगी। योग-युक्ति को धारण करके परमात्मा से मिला हुआ

सम-लोष्ट+अश्म-काञ्चनः=(वि०) समानि लोष्टानि अश्मानः काञ्चनानि च यस्य (बहुव्री०) सः। मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने में सम-भाव रखने वाला। मिट्टी, पत्थर और सोने को समान समझने वाला। (पुं०) प्र० ए० व० ॥

अर्थ—ज्ञान [=सब प्रकार के पदार्थों तथा आत्मा-अनात्मा, परमात्मा को भली-भान्ति जानने] और विज्ञान [ज्ञात पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव करने तथा प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर लेने] से तृप्त (या सन्तुष्ट) हुए अन्तः करण वाला, कूटस्थ (योग के शिखर पर आसीन, विपत्तियों में भी स्वस्थान से तिल भर विचलित न होने वाला, विकारों और त्रिगुणों से रहित, किनाराकश हो

कर ब्रह्म-रूप में स्थिर एवं एकरस रहनेवाला) अच्छी तरह से जीती हुई इन्द्रियों वाला, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने में सम-भाव रखने वाला योगी पुरुष युक्त (परमात्मा में लीन रह कर सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ) होता है ऐसा कहा जाता है ॥८॥

व्याख्या—ज्ञान का अर्थबोध या जानना होता है। जब बालक उत्पन्न होता है, तब उसे किसी प्रकार का कोई ज्ञान नहीं होता। वह सांस लेता है, रोता है और विस्मय पूर्वक आसपास सब ओर देखता है। सब से प्रथम उसे स्तन से दूध चूसने का अभ्यास कराया जाता है। फिर वह मुस्कराने और हँसने की कला को सीख जाता है। धीरे-धीरे सब घर-बाहर वाले उसे बोलना सिखा देते हैं। इतने में वह बैठना और घुटनों के बल थोड़ा चलना भी सीख जाता है। थोड़ा और बड़ा होता है तो खड़ा होकर चलने लगता है तथा नाना प्रकार के भोजनों को भक्षण करता हुआ इन्द्रियों और शरीर की वृद्धि तथा प्रगति को प्राप्त होने लगता है। गुरुओं, अध्यापकों एवं हित-चिन्तकों से विद्या और ज्ञान की प्राप्ति करता है जिससे उसका मन अत्युच्च आकाश में उड़ाने लगाने लगता है और साथ-साथ बुद्धि का विकास हो जाता है। सद्ग्रन्थों, सद्गुरुओं, सज्जनों, सन्तों, महात्माओं, ज्ञानियों, विज्ञानियों, और स्वानुभव से प्राप्त किए हुए ज्ञान को फिर वह पुरुष कार्य रूप में परिवर्तित करने लगता है। जिससे उसका वह ज्ञान मूर्तिमान् होकर दृष्टिगोचर होने लगता है। उसी विश्वसनीय अनुभव का नाम विज्ञान या साइंस है। जो पुरुष ब्रह्म ज्ञान को भली भाँति जान चुका है और फिर उस सम्पूर्ण ज्ञान का अनुभव, इन्द्रियों, शरीर, मन और बुद्धि द्वारा कर चुका है वह ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हुए अन्तःकरण वाला कहलाता है।

कूट का अर्थ लोहे की अहरण भी होता है और पर्वत का शिखर या चोटी भी होता है। इस श्लोक में ये दोनों अर्थ ही सारगर्भित हैं। 'स्थः' का अर्थ ठहरा हुआ है। अहरण एक ही स्थान पर स्थित और स्थिर रहती है। घन की चोटों के लगने से भी हिलती-जुलती और डोलती नहीं है। सोना, चाँदी और लोहा आदि धातुएँ उस पर रखकर हथोड़ों द्वारा कूटी-पीटी जाती हैं। परन्तु अहरण पर उन चोटों का कोई प्रभाव नहीं होता और न ही वह उन धातुओं से लिपायमान होती है। इसी प्रकार जो ज्ञानी विज्ञानी बना हुआ योगी पुरुष एक स्थान पर स्थित अहरण का रूप धारण कर लेता है, वह न दुःख-द्वन्द्व रूपी चोटों से प्रभावित होता है, न स्वर्णरूप सत्त्वगुण से लिप्त होता है, न रजत रूप रजोगुण से लिप्त होता है तथा न लोहरूप तमोगुण से लिप्त होता है। सदा निर्विकार और अलिप्त ही रहता

है। वह सदा परमात्मा के स्वरूप में अडोल और निश्चल रहता है। उसके चारों ओर ऊपर नीचे उपस्थित विषय-विकार उस पर कोई प्रभाव नहीं डालते हैं। कूटस्थ पुरुष किसी अवस्था में हर्ष-शोक तथा सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता है। वह तो ब्रह्मरूपी उच्चतम शिखर पर आसीन हो जाता है। जब पहले वह जिज्ञासु अवस्था में होता है तो वह पुरुष परमात्मा के साथ मिलने के लिए उस उच्चतम शिखर पर चढ़ने की इच्छा से उस चोटी पर चढ़ने का प्रयास करता है। योगारूढ अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष उस महत्तम शिखर के अर्ध-मार्ग पर पहुँचा हुआ होता है। परन्तु युक्त या सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ पुरुष उस उच्चतम शिखर पर स्थिरतापूर्वक समासीन हुआ होता है। इसलिए उसे कूटस्थ या चोटी पर बैठा हुआ पुरुष कहते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तो पूर्व ही इसकी वशवर्ती हो चुकी होती हैं। फिर उनमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता है। और न ही विषय-वासना या तृष्णा उत्पन्न होती है। उस कूटस्थ को सब ओर अपना स्वरूप अर्थात् परमात्मा ही अनुभव तथा दृष्टिगोचर होता है। उस उच्चावस्था में लोभ-लालच, संग्रह, परिग्रह आदि सम्पूर्ण विकार समाप्त हो जाते हैं। अच्छी बुरी सब प्रकार की रुचि का अभाव या अन्त हो जाता है और फिर सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, पीतल आदि सब धातुएँ, हीरे, मोती, पन्ने, लाल, जमुर्रद, पुखराज, चूनी, स्फटिक आदि बहुमूल्य और अनर्घ जवाहरात, तथा मिट्टी, पत्थर आदि किसी वस्तु से उसका सम्बन्ध, प्रयोजन, प्यार और द्वेष नहीं रहता अर्थात् वह इनमें से किसी को भी पल्ले नहीं बांधता है।

इस श्लोक में जो यह कहा है कि उस योगी को 'मिट्टी का ढेला,' 'पत्थर' और 'सोना' एक समान होते हैं इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये सब वस्तुएँ उसको एक समान भासमान होती हैं, अथवा उसका मस्तिष्क खराब होकर उसको इनमें कुछ अन्तर ही प्रतीत नहीं होता। नहीं, ऐसी कोई बात नहीं होती। वह तो महाज्ञानी और विज्ञानी सब कुछ होता है। अपितु परमात्म-स्वरूप होने से सारे संसार का स्वामी होता है। मुसलमानों के कथनानुसार उस पर तो चौदह तबक रोशन हो चुके होते हैं। अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण लोक, हस्त-गत अमल-फल-वत् उसे भली भाँति अवगत होते हैं। यह कहने का आशय केवल इतना ही है कि उस युक्त योगी का इन चीजों से कोई प्रयोजन नहीं होता। उक्त प्रकार का योगी विद्वानों और बुद्धिमानों द्वारा 'युक्त' या 'पहुँचा हुआ' कहलाता है ॥८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद् + मित्र + अरि + उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु । साधुषु + अपि च पापेषु सम-बुद्धिः + विशिष्यते ॥

सुहृद् + मित्र + अरि + उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु = (पुं०) सुहृत्सु मित्रेषु अरिषु उदासीनेषु मध्यस्थेषु द्वेष्येषु बन्धुषु च (इतरेतर द्वन्द्व०)। सप्त० ब० व०। सुहृदों में मित्रों में, अरियों में, उदासीनों में, मध्यस्थों में, द्वेष्यों में और बन्धुओं में ।

[सुहृद् = (पुं०) सुष्ठु हृदयं यस्य सः (बहुव्री०)। प्रत्युपकारम् अनपेक्ष्य उपकर्ता। अच्छे हृदय वाला। प्रत्युपकार (= बदला) न चाहकर उपकार करनेवाला। स्वार्थ रहित सबका हित करनेवाला। शुभचिन्तक।

मित्र = (नपुं०) मिद्यति = स्निह्यति, √मिद् + त्र = स्नेहवान् । प्रेमी। स्नेह करनेवाला। सखा।

अरि = (पुं०) √ऋ + इन् = अरि। शत्रु। वैरी। जो पुरुष अपने क्रूर स्वभाव के कारण अकारण ही बिगाड़ करता है, वह शत्रु कहलाता है। उसी का नाम अरि है। यह अरि सामने और पीठ पीछे दोनों अवस्थाओं में बिगाड़ करने का भरपूर प्रयत्न करता है।

उदासीन = (पुं०, वि०) उद् √आस् + शानच् = न कस्यचित् पक्षं भजति। पक्षपातरहित। तटस्थ। जो विरोधी पक्षों में से किसी की भी ओर नहीं होता। बेपर्वाह।

मध्यस्थ = (पुं०) मध्ये तिष्ठति। मध्य √स्था + क = मध्यवर्ती। दोनों ओर की भलाई चाहने वाला। दो में झगड़ा होने पर बीच में पड़कर झगड़े का निपटारा करनेवाला। यो विरुद्धयोः उभयोः हितैषी ॥

द्वेष्य = (वि० त्रि०) √द्विष् + ण्यत्। आत्मनः अप्रियः। द्वेषी। अपना अप्रिय। द्वेष्य करने योग्य। बन्धु = (पुं०) √बन्ध् + उ = सम्बन्धी। किसी सम्बन्ध के कारण उपकार या भलाई करनेवाला।]

साधुषु = (पुं०) साधु + सप्त० ब० व० = साधुओं में। धर्मात्माओं में। शास्त्रानुसार चलनेवाले श्रेष्ठ पुरुषों में। पुण्यात्मा जनों में। ऋषि मुनियों में। सदाचारी पुरुषों में।

च = (अव्यय) और।

पापेषु = (वि०) पाप + (पुं०) सप्त० ब० व० = पापियों में। निषिद्ध कर्म करने वालों में। अधर्मियों में। दुराचारियों में।

सम-बुद्धिः = (त्रि०) पुं०, प्र० ए० व० = सम-बुद्धिवाला। समान समझनेवाला।

विशिष्यते = वि √शिष् (= विशेष करना) + लट्०, प्र० पु०, ए० व० = विशेष है। बहुत श्रेष्ठ है। ऐसा योगी सब योगारूढ पुरुषों में उत्तम है। [विशि-

ष्यते' के स्थान पर 'विमुच्यते' ऐसा पाठान्तर भी है जिसका अर्थ है "मुक्त हो जाता है"।

अर्थ—सुहृदों, मित्रों, शत्रुओं, उदासीनों, मध्यस्थों, द्वेष्यों, बन्धुओं, साधुओं और (महा) पापियों में भी सम-बुद्धि (=समानभाव रखने वाला) [योगी सब योगारूढ पुरुषों में] श्रेष्ठ है ।।९।।

व्याख्या—सर्व-साधारण मनुष्यों में यह बात स्वाभाविक ही होती है कि वे सुहृदों या स्वार्थरहित शुभ-चिन्तकों से प्यार करते हैं, मित्रों, सखाओं और स्नेहियों को स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हैं, शत्रुओं से शत्रुता करते हैं और उनके द्वारा किये गये वैर का बदला वैर द्वारा ही चुकाते हैं। इस सम्बन्ध में थोड़ा सा उधार भी शेष नहीं रखना चाहते। उदासीनों और मध्यस्थों को अच्छा समझते हुए भी उनसे किसी प्रकार का राग-द्वेष या प्रेम-वैर नहीं करते। द्वेष्यों अर्थात् द्वेष किये जाने योग्य अप्रिय पुरुषों से घृणा करते हैं। बन्धुओं को देखकर प्रसन्न और प्रफुल्लित होते हैं। साधुओं, भले पुरुषों, धर्मपरायणों, शास्त्रानुसार चलने वालों, पुण्यात्माओं, तपस्वियों, ऋषियों, मुनियों और प्रभु के भक्तों को देखकर उनके सम्मानार्थ नतमस्तक हो जाते हैं। तथा दुष्टों और महापापियों के एवं दुराचारी पुरुषों के मुख तक भी देखना नहीं चाहते हैं। परन्तु जो योगी युक्त पदवी को प्राप्त होकर उपरोक्त सब प्राणियों में किसी प्रकार की भी दिलचस्पी नहीं रखता इनमें से किसी को भी मन में बुरा या भला नहीं समझता है, न अपनी वाणी से बुरा-भला आदि कुछ कहता है तथा न अपने शरीर या इन्द्रियों के कर्मों द्वारा उनको बुरा या भला प्रकट करता है अर्थात् उक्त उन सब में सम-बुद्धि, समदृष्टि, या सम-भाव बनाये रखता है, वह मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोना आदि जड़ पदार्थों में समदृष्टि रखनेवाले तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में सम-भाव रहनेवाले योगी से भी बढ़कर श्रेष्ठ होता है। क्योंकि जड़ पदार्थों की अपेक्षा प्राणी-वर्ग में सम-बुद्धि होना बहुत कठिन होता है। यह अवस्था तभी प्राप्त होती है जब जीवित अवस्था में ही शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि आदि से आत्मा का सम्बन्ध नितान्त विच्छेद हो जाता है और पुरुष युक्त या पहुँची हुई अवस्था को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि उस समय उसे परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टि-गोचर या भासमान नहीं होता। ऐसे ब्रह्मज्ञानी सम-बुद्धि पुरुष के मुख से कितने सुन्दर शब्दों में उसके अन्तर का भाव दर्शाया गया है—

"ऐ खिज्र राहे-दोस्त में गुम हो गया हूँ मैं।
अपने को ढूंढता हूँ मैं बता दे मेरा मुझे ।।

[अर्थ—हे पथ-प्रदर्शक देवता! मैं अपने प्रिय के मिलाप-मार्ग में खो गया

हूँ (अर्थात् परमात्मा से मिलकर एकरूप हो गया हूँ।) मैं अपनी पृथक् स्थिति की खोज कर रहा हूँ। परन्तु अपने किसी नाम तथा चिह्न को पा नहीं रहा हूँ। तू मुझे यह बता दे कि मैं अब कहाँ हूँ ? हूँ भी, या नहीं हूँ ?] ॥९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी युञ्जीत सततम्+आत्मानम्+रहसि स्थितः। एकाकी यत-चित्त+आत्मा निर्+आशीः+अ-परिग्रहः ॥

योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी। योग युक्त पुरुष। ध्यान करने वाला योगी।

युञ्जीत=√युज् (रुधा० उभ० सक०=जोड़ना)+विधि०, आत्म०, प्र० पु० ए० व०=जोड़े। युक्त करे। ध्यान में लगावे। (ध्यानयोग का) अभ्यास करे। ध्यान में स्थिर किया करे।

सततम्=(वि०) सतत+(नपुं०) प्र० ए० व०=निरन्तर। अविच्छिन्न। (अव्यय) सदैव।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को। अपने अन्तःकरण को। अपने आपको।

रहसि=(नपुं०) रहस्+सप्त० ए० व०=एकान्त में। एकान्त स्थान में।

स्थितः=√स्था० (भ्वा० पर० अक०=स्थित होना। टिकना)+क्त=स्थित+(पुं०) प्र० ए० व०=स्थित हुआ।

एकाकी=(वि०) एकाकिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=अकेला ही।

यत-चित्त+आत्मा=(वि०, पुं० प्र० ए० व०)। चित्तम्(=अन्तःकरणम्, आत्मा (=देहः) च यतौ=संयतौ यस्य (बहु०) सः=यत-चित्तात्मा। अन्तःकरण और इन्द्रियों सहित शरीर को जीतने वाला।

निर्+आशीः=(वि०) निर्गता आशीः यस्मात् सः=निराशिस्+(पुं०) प्र० ए० व०=आशा रहित। तृष्णा रहित। वासना रहित।

अ-परिग्रहः=(वि०) नास्ति परिग्रहो यस्य (नञ् बहुव्री०); न, परि√ग्रह्+अप्=अ-परिग्रह+(पुं०) प्र० ए० व०=अपने पास कुछ भी न रखने वाला। कुछ भी स्वीकार न करने वाला। संग्रह रहित। [नास्ति कन्था-कौपीनाद्यतिरिक्तः परिग्रहो यस्य स संन्यासी—योगी]

अर्थ—अन्तःकरण और इन्द्रियों समेत शरीर को जीतनेवाला, पास कुछ भी न रखनेवाला, संन्यास योग युक्त योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ निरन्तर आत्मा [मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर) को (परमात्मा में) युक्त करे। अर्थात् परमात्मा के ध्यान में समाधि लगाए ॥१०॥

व्याख्या—योगाभ्यास करने के लिए योग के साधनरूप आसन, आहार और विहार आदि नियमों का जानना भी परम आवश्यक है। एवं योग को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण और उसका फल आदि भी जान लेना चाहिए। इसलिए इस श्लोक से भगवान्, अर्जुन को योग की युक्ति बतलाने के लिए अब यह प्रकरण प्रारम्भ करने लगे हैं जो पातञ्जल-योगदर्शन के अनुसार ध्यान-योग ही है अथवा परमात्मा से मिलने का साधन योगाभ्यास ही है। ऐसी योग-समाधि बालकपन से ही लगाने का अभ्यास करने पर चिरकाल के बाद सिद्धावस्था प्राप्त होती है। यदि एक जन्म में थोड़ी कमी या त्रुटि रह भी जाती है, तो अगले अर्थात् आने वाले जन्मों में धर्मात्माओं या योगियों के कुलों में जन्म लेने पर पूर्व जन्म की यह कमी पूरी होकर परमात्मा से मेल हो जाता है। इस योगाभ्यास की युक्ति पर आचरण करने के लिए पूर्व जन्मों के पुण्य-प्रभावों से चारों वर्णों, चारों आश्रमों और संसार की सारी जातियों के स्त्री, पुरुष और नपुंसक लोग अधिकारी हो सकते हैं। राम, कृष्ण, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जनक, याज्ञवल्क्य, गौतम, पतंजलि, कपिल, कणाद, व्यास, शंकराचार्य, बुद्ध, महावीर, मूसा, ईसा, मुहम्मद जरदुश्त, नानक, कबीर, चैतन्य, मीरा, विवेकानन्द, रामतीर्थ, टैगोर और गांधी आदि इसी श्रेणी के अत्यन्त भाग्यशाली लोग थे जिन्होंने तप, तेज और योग के द्वारा सिद्धावस्था को प्राप्त कर लिया था। इस योग-युक्ति पर आरूढ होने के लिए सर्व-प्रथम वैराग्य, त्याग और अभ्यास के बल से मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर को वश में कर लेना चाहिए। यद्यपि यह कार्य बहुत कठिन होता है तो भी "करत करत अभ्यास के मूर्ख होत सुजान। रसरी आवत जात से सिल पर परत निसान।" इस लोकोक्ति के अनुसार सफलता अवश्य प्राप्त हो जाती है।

दूसरी बात यह है कि इस साधना की सफलता के लिए योगी को सब प्रकार की आशाओं को अन्तःकरण से त्याग करना परमावश्यक होता है क्योंकि ये आशाएँ योगी को भोगों का लोभ दिखलाकर ध्येय से विचलित कर देती हैं। इस योगसाधना के लिए तीसरी बात योगी का अपरिग्रही (त्यागी) होना बहुत जरूरी है। भोग सामग्री के संग्रह का नाम परिग्रह है।

कहते हैं कि एक सेठ जी के मरने पर उसके इकलौते पुत्र ने अपने मुनीमों से पूछा कि मेरे पिताजी कुल कितनी सम्पत्ति छोड़कर स्वर्ग सिधारे हैं। मुनीमों ने लेखा करके कहा कि कुल धन-राशि लगभग दस करोड़ रुपया है, जो आपकी तीन पीढ़ियां अच्छी तरह से उपभोग कर सकती हैं। यह सुनकर सेठ जी अत्यन्त चिन्तित होकर सोचने लगे कि चौथी पीढ़ी में जन्म लेने वाले बच्चे अपना निर्वाह किस प्रकार करेंगे? बस दिन-रात इसी चिन्ता में डूबे रहने से सेठ जी का स्वास्थ्य

बिगड़ने लगा और वे घुल घुलकर दुबले पतले होते चले गये। डाक्टरों और वैद्यों के चिकित्सा और उपचार करने पर भी जब कोई लाभ न हुआ तो उसे एक ज्योतिषी ने कहा कि यदि आप गेहूँ का एक किलो आटा प्रतिदिन नियम-पूर्वक दान दिया करें तो आपके इस रोग की निवृत्ति और शान्ति हो सकती है। उस दिन से वह सेठ ऐसा ही करने लगा। एक दिन दान ग्रहण करनेवाला कोई भी ब्राह्मण उसके घर दान लेने के लिए न आया। तब उस सेठ ने अपने भवन के पास से जाते हुए एक दीन दरिद्र ब्राह्मण को देखकर कहा कि देवता जी! आप आटे का दान लेते जाइये। यह सुनकर उस ब्राह्मण ने कहा कि मुझे घर में जाकर पूछ लेने दीजिए। तब वह ब्राह्मण अपने घर चला गया और वापस पहुंचकर सेठ जी से कहने लगा कि सेठ जी! हमारे घर में आज के भोजन के लिए आटा मौजूद है। तब सेठ जी ने कहा कि हमारे दिए हुए आटे से कल को भोजन बना लेना। यह सुनकर उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि सेठ जी! कल को भगवान् स्वयं भोजन दे देंगे। मैं कल के लिए आटा न लूंगा। यह सुनकर सेठ जी की आँखें खुल गईं। ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से उसका मन शान्त और शरीर स्वस्थ हो गया। इसलिए शान्त और स्वस्थ रहने के लिए योगी को अपरिग्रही होना आवश्यक है। इससे अन्तःकरण भी शान्त और शुद्ध हो जाता है। जब ये तीन गुण—१—यतचित्तात्मा होना, २—निराशी रहना और ३—अपरिग्रही होना, योगी में अच्छी तरह से परिपक्व हो जाएं, तो वह अकेला ही किसी शान्त और स्वच्छ स्थान में स्थित होकर निरन्तर मन, बुद्धि इन्द्रियों और शरीर को अपने चारों ओर, भीतर, बाहर सर्व-व्यापक परमात्मा में युक्त करने के लिए समाधि लगाये। अकेला होने से उसका मन समाधि में लगा रहेगा। यदि कोई दूसरा साथ होगा तो वह बात चीत द्वारा समाधि में भंग डालेगा। एकान्त शान्त और स्वच्छ स्थान होने से परमात्मा में बना रहेगा और स्वास्थ्य ठीक रहेगा जिससे आलस्य और निद्रा का भी भय न होगा। परमात्मा को भीतर-बाहर सब जगह जान और देख लेने से पार्थिव शरीर से सम्बन्ध टूटकर परमात्मा से जुड़ जाएगा। लगातार समाधि लगाने से परमात्मा का साक्षात्कार निरन्तर होता रहेगा। महाभारत ५।४३।५८॥ में कहा है—"तूष्णीभूत उपासीत न चेष्ठेन्मनसाऽपि च। उपावर्तस्व तद्ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम्॥" [अर्थ—(योगी) चुप होकर बैठे और मन से भी किसी प्रकार की चेष्टा या कर्म करने की इच्छा न करे। इस प्रकार उपासना करने से आत्मा में ही ब्रह्म का अनुभव होता है॥] ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरम्+आसनम्+आत्मनः। न+अति+उच्छ्रितम्+न+अति+नीचम्+चैल+अजिन-कुश+उत्तरम्॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

तत्र+एकाग्रम्+मनः कृत्वा यत-चित्त+इन्द्रिय-क्रियः। उपविश्य+आसने युञ्ज्यात्+योगम्+आत्म-विशुद्धये॥

शुचौ=(वि०)√शुच्+इन्=शुचि+(पुं०) सप्त० ए० व०=शुचौ=शुद्ध में। साफ सुथरे में। स्वच्छ में।

देशे=(पुं०) देश+सप्त० ए० व०=देश में। स्थान में। भूमि में।

प्रतिष्ठाप्य=प्रति√स्था+णिच्, पुक्+ल्यप्=स्थापन करके।

स्थिरम्=(वि०)√स्था+किरच्=स्थिर+(नपुं०) द्विती० ए० व०=स्थिर को। दृढ़ को। अचल को। गतिहीन को।

आसनम्=(नपुं०) स्थिरसुखमासनम् (पा० योग० २।४६) अधिक काल तक सुख पूर्वक स्थिर बैठना आसन कहलाता है। √आस् (बैठना)+ल्युट्=आसन+द्विती० ए० व०=आसन को।

आत्मनः=(सर्व०) आत्मन्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=अपने।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अति+उच्छ्रितम्=(वि०) 'अति' एक उपसर्ग है, जो विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के पूर्व लगाया जाता है जिसका अर्थ बहुत, अधिक, अति आदि होता है।

उद्√श्रि+क्त=उच्छ्रित+प्र० ए० व०=उठा हुआ। ऊँचा किया हुआ। ऊँचा बना हुआ। ऊँचा।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अति-नीचम्=(वि०) (नपुं०) प्र० ए० व०=बहुत नीचा।

चैल+अजिन-कुश+उत्तरम्=(वि०) नपुं०, प्र० ए० व०। चैलम् अजिनं कुशाः च उत्तरे यस्मिन् आसने तद् (आसनम्) [बहुव्री०]। कुशाए, मृगचर्म, और वस्त्र नीचे से ऊपर बिछा हुआ। [चैल=कपड़े का टुकड़ा। अजिन=(नपुं०) चीते, सिंह, बाघ, हाथी और हरिण आदि का रोएंदार चमड़ा, जो आसन पर बिछाने या तपस्वियों के ओढ़ने के काम आता था। कुश=(पुं०) नदियों और जलाशयों के तीरों पर उगी हुई एक प्रकार की नुकीली पत्तियोंवाली घास, जो यज्ञ, पूजन तथा आसन आदि धार्मिक कृत्यों में काम आती है। उत्तरम्=ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः एकके अनन्तर दूसरा (बिछे वाला)]॥११॥

तत्र=(अव्यय) तस्मिन् । उसपर । वहाँ ।
एकाग्रम्=(त्रि०) एकम् अग्रं विषयो यस्य (बहुव्री०)। (नपुं०) प्र० ए० व०। एक ही ओर ध्यान लगाया हुआ । एकाग्र ।
मनः=(नपुं०) मनस्+द्विती० ए० व०=मन को ।
कृत्वा=√कृ+क्त्वा=करके ।
यत-चित्त+इन्द्रिय-क्रियः=(वि०) चित्तं च इन्द्रियाणि च=चित्तेन्द्रियाणि (इतरेतर द्वन्द्व०) तेषां क्रियाः (ष० तत्पु०) यताः चित्तेन्द्रियक्रियाः यस्य सः (बहुव्री०)। चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जीतने वाला (होकर)। (पुं०) प्र० ए० व०। [√यम्+क्त=यत=जीतनेवाला हुआ । वश में किया हुआ ।]
आसने=(नपुं०) आसन+सप्त० ए० व०=आसन पर ।
युञ्ज्यात्=√युज्+पर०, विधि०, प्र० पु०, ए० व०=युक्त हो । जुड़े । साधे । अभ्यास करे । साधन करे ।
योगम्=(पुं०) योग+द्विती० ए० व०=योग को । योग का । योग में ।
आत्म-विशुद्धये=(स्त्री०) आत्म-विशुद्धि+चतु० ए० व० । अन्तःकरणस्य विशुद्ध्यर्थम् । अन्तःकरण की विशेष शुद्धि के लिए । (१२)

अर्थ—शुद्ध स्थान पर कुशा, मृग-चर्म और वस्त्र उत्तरोत्तर बिछाकर, न बहुत ऊँचे तथा न बहुत नीचे अपने आसन को स्थापन करके—॥११॥ वहाँ उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वशीभूत किए हुए, मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की विशेष शुद्धि के लिए योगाभ्यास को साधे ॥१२॥

व्याख्या—भगवान् योगाभ्यास की समाधि लगाने की विधि का वर्णन करते हुए अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन समाधि लगाने का स्थान अत्यन्त पवित्र, शुद्ध और साफ-सुथरा होना चाहिए जैसे गंगा जी का तट, किसी अन्य नदी का तीर, हिमालय आदि किसी उत्तम पर्वत की गुफा, किसी ऊँचे पर्वत पर बनी हुई कुटिया अथवा घर में ही कोई अनुकूल और एकान्त स्थान जहाँ कोई दूसरा आ-जा न सके और जहाँ सब ऋतुएं स्वास्थ्य के लिए सदा अनुकूल परिवर्तित होती हों, वर्षा इतनी अधिक न होती हो जितनी असम के नगर चिरापूंजी में होती है, धूप और सूखा इतना अधिक न हो जैसा अफ्रीका के महान् मरुस्थल, अरब के रेगिस्तान, अफ्रीका के कालाहारी मरुस्थल, कैलेफोर्निया के मध्यवर्ती भूभाग या सिन्ध के नगर जैकबाबाद में होता है । वह स्थान गौरी शंकर शिखर की भाँति बारह मास हिमाच्छादित रहने वाले पर्वत शिखर का दोनों ध्रुवों में भी नहीं होना चाहिए । ऐसी सूक्ष्म वायु वाले जिसमें साँस लेना भी कठिन हो लद्दाख में भी न चुनना

चाहिए। वहाँ पर समाधि स्थान बनाना निश्चित किया जाए जहाँ पर आक्सीज और ओज़ून गैसें पर्याप्त और प्रचुर मात्रा में सदा विद्यमान रहती हों जैसा कि चीड़ तथा देवदारु उगे हुए पर्वतों पर रहा करती हैं। पुष्पों में सुगन्धि, वृक्षों के सुहावने दृश्य, सुन्दर-स्वादु-स्वच्छ जल का सुपास, प्रकृतिनटी का नाच उस स्थान की रमणीयता और शोभा को बढ़ा रहे हों। वह स्थान भूगर्भगृह जैसा घना अन्धकारमय भी न होना चाहिए। घर या शहर में रह कर भी योगाभ्यास किया जा सकता है। परन्तु समाधि लगाने का स्थान सब प्रकार से शुद्ध, पवित्र और शान्त होना चाहिए। जो अच्छी तरह से लीपा हुआ या चूनेगच किया हुआ हो तथा जीभ से चाटा हुआ होने की भाँति अच्छी तरह से शुद्ध, निर्मल, स्वच्छ और साफ सुथरा झाड़ बहार कर किया हुआ हो। धूप, दीप, चन्दन, पुष्प आदि दिव्य और पवित्र वस्तुओं से सुवासित किया गया हो, मूषक, मक्खी, मच्छर, छछूंदर, गिरगट, किरली, बिच्छू और सर्पादि के आतंक से रहित हो, जहाँ पर डंक चलाने वाले लाल, पीले, काले पक्षों वाले कीटों के छत्ते न बने हुए हों, कौए, तोते, चील, चिड़ियां आदि पक्षियों के कर्ण कटु शब्दों से शून्य हो, बच्चों, बूढ़ों, स्त्री, पुरुषों, बन्दर, कुत्तों या अन्य पशुओं के प्रवेश से रहित हो।

समाधि लगाकर बैठने के स्थान का नाम आसन है। इस स्थान की बनतर का वर्णन इस श्लोक में किया गया है। यथा—आसन आस-पास की भूमि के प्रायः समतल हो। यदि ऊँचा या नीचा भी बनाना अभीष्ट हो तो अत्यधिक ऊँचा या अत्यधिक नीचा न होना चाहिए जैसा कि मचान बहुत ऊंचा होता है और जुलाहे की खड्डी बहुत नीची होती है। ऊँचे स्थान से समाधि अवस्था में गिर जाने का खतरा होता है और नीचा होने से उसकी दीवारों से सिर टकराने का डर रहता है। इन ऊँचे और नीचे स्थानों में प्रवेश पाना और बाहर निकलना भी कष्ट साध्य होता है। नीचे के स्थान की वायु भी शीघ्र ही दूषित हो जाया करती है। इन उपरोक्त कारणों से समाधि लगाने का स्थान या आसन न अति ऊँचा होना चाहिए और न अति नीचा होना चाहिए। तथा आसन सदा स्थिर रहना चाहिए। यदि काठ की चौकी या तख्तपोश पर आसन बनाना हो तो उसके पाए धरती में गाड़कर उसे हिलने जुलने से मुक्त कर देना चाहिए। आसन पर सबसे पहले कोमल कुशा बिछानी चाहिए। उसके ऊपर मृग, चीते या बाघ आदि का रोएंदार चर्म बिछाना चाहिए। यदि वह न मिल सके तो रुई से भरी हुई गुद-गुदी गद्दी रख लेनी चाहिए और उसके ऊपर स्वच्छ वस्त्र बिछाना चाहिए। गद्दी भी न होने से ऊन का कम्बल या नमदा ही प्रयोग में लाया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उस आसन पर चिरकाल तक बैठने से भी

योगी को कष्ट न हो और वह सुख पूर्वक अपनी समाधि लगाने का अभ्यास कर सके। कठोर आसन पर चिर-काल तक बैठना कष्टप्रद होता है तथा उसके द्वारा बवासीर रोग के होने का भी भय होता है। यहां "आत्मनः" पद से यह दर्शाया गया है कि वह आसन केवल अपने लिए ही बनाया गया हो, उस पर कोई दूसरा पुरुष न बैठे और न यह साधक योगी किसी अन्य योगी का आसन प्रयुक्त करे।

इस प्रकार सुखासन बनाकर तथा उसके ऊपर बैठकर योगी योगाभ्यास करे। आसन अनेक प्रकार से लगाये जाते हैं जिनमें से मूलबन्ध, वज्रासन, स्वस्तिक, सिद्धासन और पद्मासन अधिक प्रसिद्ध हैं। ये सब बैठने के विशेष भिन्न भिन्न ढंग होते हैं। इन सब में शरीर को तानकर सीधा लम्बरूप में ऊपर को उठा हुआ रखना होता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय २ मन्त्र १० में लिखा है—'समे शुचौ शर्करा-वह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

[अर्थ—समतल, पवित्र, शर्करा (कंकर, रेत, धूलि आदि) से रहित तथा शब्द (लड़ाई झगड़े के कोलाहल आदि), जल (सीलापन या पानी भरने के नलकूप या पनघट) और आश्रय (जन साधारण के ठहरने की जगह सराए, धर्मशाला या होस्टल इत्यादि) से भी शून्य या बहुत दूर, मन के अनुकूल, मनोरम, नेत्रों को पीड़ा पहुँचाने वाले हिंस्रक जीवों और विरोधियों से हीन गुहा आदि वायु-शून्य (वेग से न चलने वाले अर्थात् शान्तवायु) एकान्त स्थान में योगी मन को समाधि द्वारा परमात्मा में युक्त करे अर्थात् योग का अभ्यास करे] ॥११॥

उक्तासन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके अर्थात् मन और बुद्धि आदि को सांसारिक विषयों से हटाकर तथा उनके चिन्तन से रोककर और श्रवणादि दशों इन्द्रियों को सुनने देखने आदि कामों से रोक कर तथा मन को एकाग्र करके—तात्पर्य यह है कि ध्येय वस्तु परमात्मा में मन की सब वृत्तियों को जोड़कर अपने अन्तःकरण को पूरी तरह से शुद्ध करने के लिए ध्यान-योग का निरन्तर अभ्यास करता रहे। अन्तःकरण रूपी दर्पण जितना अधिक शुद्ध, स्वच्छ और निर्मल तथा साफ होगा, उतना ही अधिक और स्पष्ट परमात्मा का स्वरूप उसमें प्रतिबिम्बित होगा। वह स्वरूप इतना सुन्दर कोमल और निर्मल है कि दूसरा कोई स्वरूप उससे शक्ति प्राप्ति करके भी उसकी समता को प्राप्त नहीं हो सकता। परमात्मा के स्वरूप को केवल एकबार देख लेने मात्र से ही फिर जीव उसी का बन जाता है। उसका संसार से सब प्रकार का संबन्ध-विच्छेद हो जाता है। जिस प्रकार पताशा जल में घुलकर जल

स्वरूप ही हो जाता है और अपना रूप रंग और पृथक् सत्ता को खो देता है उसी प्रकार यह जीव उच्चतम अवस्था को प्राप्त होकर परमात्मा में ही मिलकर ब्रह्मरूप धारण कर लेता है। इसी भाव को कठोपनिषद् २।१।१५॥ में दर्शाया गया है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम!॥

[अर्थ—हे गौतम! जिस प्रकार शुद्ध जल में डाला हुआ शुद्ध जल उसके साथ मिलकर वैसा ही अर्थात् एकरूप हो जाता है उसी प्रकार विज्ञानी मुनि की आत्मा परमात्मा में मिलकर वैसी ही हो जाती है॥]

योग की सिद्धि के लिए और भी कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—

"लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥ (२।१३॥)

[अर्थ—शरीर का हल्कापन, नीरोगता, विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, सुगन्ध और मूत्र की न्यूनता ये सब योग की पहली सिद्धि कहलाते हैं।]

इसलिए ये सब गुण योगी में होने परमावश्यक होते हैं॥१२॥



पद्मासन लगाए ध्यानमग्न योगी

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।१४।।

समम् + काय-शिरस् + ग्रीवम् + धारयन् + अचलम् + स्थिरः । संप्रेक्ष्य नासिका + अग्रम् + स्वम् + दिशः + च + अन् + अवलोकयन् ।।१३।।

प्रशान्त + आत्मा विगत-भीः + ब्रह्मचारि + व्रते स्थितः । मनः संयम्य मत् + चित्तः + युक्तः + आसीत मत् + परः ।।१४।।

समम् = (वि०) सम् + (नपुं०) प्र०, द्वितीο ए० व० = समान । एक सा । एक समान । सीधा ।

काय-शिरस् + ग्रीवम् = (नपुं०) द्वितीο ए० व० । कायः च शिरः च ग्रीवा च = तत् कायशिरोग्रीवं (समा० द्वन्द्व०) । काया (धड़, शरीर), शिर और ग्रीवा (गर्दन) को ।

धारयन् = (वि०) √ धृ + णिच् + शतृ = धारयत् + (पुं०) प्र० ए० व० = धारण करता हुआ ।

अचलम् = (वि०) न चलम् (नञ्०) । (नपुं०) प्र०, द्वितीο ए० व० । अडोल । न काँपने वाला । अचल ।

स्थिरः = (वि०) प्र० ए० व० = दृढ । स्थिर । (पुं०) । [श्री रामानुज आदि ने 'स्थिरः' के स्थान पर "स्थिरं" पाठ दिया है जो ठीक नहीं है । क्योंकि इससे 'अचलं' और 'स्थिरं' दोनों ही 'कायशिरोग्रीवं' के विशेषण होकर पुनरुक्ति दोष हो जाता है परन्तु 'स्थिरः' पद श्लोक १० में प्रयुक्त योगी शब्द का विशेषण है जिससे पुनरुक्ति दोष नहीं होता है ।] स्थिर होता हुआ ।

संप्रेक्ष्य = सम्यक् प्रेक्षणं (= दर्शनं) कृत्वा इव । सम्-प्र √ ईक्ष् + ल्यप् = देख कर । अच्छी तरह देखकर की भाँति ।

नासिका-अग्रम् = नासिकायाः अग्रम् (षष्ठी० तत्पु०) नपुं०, द्वितीο ए० व० = नासिका (नाक) के अग्र-भाग (नोक, चञ्चु) को ।

स्वम् + (सर्व०, वि०) स्व + (नपुं०) द्वितीο ए० व० = अपने को ।

दिशः = (स्त्री०) द्वितीο ब० व० = दिशाओं को ।

च = (अव्यय) = और

अन्-अव-लोकयन् = न अवलोकयन् । अव √ लोक + णिच् + शतृ = अवलोकय + (पुं०) प्र० ए० व० । न देखता हुआ । [नोट—संप्रेक्ष्य के साथ 'इव

शब्द लुप्त समझना चाहिए। क्योंकि यहाँ अपनी नासिका के अग्र-भाग को देखने का विधान करना अभिमत नहीं है। नेत्रों की दृष्टि को विषयों की ओर से रोक कर वहाँ स्थापन करना ही इष्ट है] ॥१३॥

प्रशान्त+आत्मा=(वि०) प्रकर्षेण शान्त आत्मा (अन्तःकरणं) यस्य सः (बहुव्री०)=अच्छी तरह से शान्त हुई आत्मा (=अन्तःकरण) (पुं०) वाला प्र० ए० व०।

विगत-भीः=(वि०) विशेषेण गतं भयं यस्य (बहुव्री०) सः। (पुं०) प्र० ए० व०। भली भाँति भय रहित हुआ। दूर हुए भय वाला। निडर। निर्भय। [वि√गम्+क्त=विगत]

ब्रह्मचारि-व्रते स्थितः=(वि०) ब्रह्मचारिणो व्रतं=ब्रह्मचर्यं, तस्मिन् स्थितः। (पुं०) प्र० ए० व०। ब्रह्मचारी का व्रत है ब्रह्मचर्य धारण करना, उसमें स्थित अर्थात् उसका अनुष्ठान करनेवाला। ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित रहता हुआ।

[ब्रह्मज्ञानं तपो वा अवश्यम् अर्जयति, ब्रह्म√चर्+णिनि=ब्रह्मचारिन् =वीर्य सुरक्षित रखने की दृढ़ प्रतिज्ञा करनेवाला। √स्था+क्त=स्थित (टिका या ठहरा हुआ)।

मनः=(नपुं०) मनस्+द्विती० ए० व०=मन को। मन की वृत्तियों को।

संयम्य=सम्√यम्+ल्यप्=रोक कर। वश में करके। उपसंहार करके।

मत्-चित्तः=(वि०) मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। मुझ परमेश्वर में लगे हुए चित्तवाला।

युक्तः=(वि०)√युज्+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=जुड़ा हुआ। युक्त। समाहित-चित्त हुआ।

आसीत=√आस् (अदा० आत्म० अक० सक०=बैठना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=बैठे। स्थित हो। उपविशेत्।

मत्-परः=(वि०) अहं परः यस्य सः (बहुव्री०) मैं ही जिसका सर्वश्रेष्ठ हूँ। जो मुझको सर्वश्रेष्ठ समझता है। मेरे परायण हुआ। मुझको सर्वश्रेष्ठ मानने वाला।

अर्थ—धड़, गर्दन और सिर (तीनों) को एक समान (अर्थात् दण्डवत्, एक सीध में लम्बरूप में ऊपर उठे हुए) एवं अचल रूप में धारण करता हुआ, स्वयं स्थिर होकर अपनी नाक के अग्रभाग (नोक) को देखता हुआ तथा दिशाओं को न अवलोकन करता हुआ—॥१३॥

अच्छी तरह से शान्त अन्तःकरण वाला, (सदा) भय रहित हुआ, ब्रह्मचारी के व्रत में (ब्रह्मचर्य धारण करने में नित्य) स्थित रहने वाला (योगारूढ पुरुष) मन

को (सब ओर से) रोक कर, मुझमें लीन अन्तःकरण हुआ, मुझको सर्वश्रेष्ठ मानने वाला तथा मेरे परायण हुआ, सावधान होकर मुझमें युक्त हुआ (आसन पर) बैठे ॥१४॥

व्याख्या—योगी चाहे मूलबन्ध या वज्रासन में बैठे, चाहे स्वस्तिक आसन लगाए, चाहे पद्मासन होकर बैठे, चाहे किसी और आसन का अवलम्बन करे, परन्तु प्रत्येक आसन में उसको धड़, गर्दन और सिर तीनों को ऊपर खींचकर सीधा लम्बरूप में रखना चाहिए जिससे मेरुदण्ड या रीढ़ की हड्डी तनी रहे। तथा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियाँ सजग होकर योगाभ्यास क्रिया में पूरा सहयोग दे सकें तथा अमृत-ग्रन्थि अपने रस से सब अवयवों में भली-भाँति अमृत का संचार कर सके। इस अवस्था में धड़, ग्रीवा और सिर—योगाभ्यास की सम्पूर्ण क्रिया के अन्त तक अचल, अकम्प, स्थिर और अडोल बने रहें। बाह्य संसार का ज्ञान, ध्यानावधि तक अन्तःकरण से इसी प्रकार लुप्त रहना चाहिए, जिस प्रकार साफ पट्टी पर कोई भी अक्षर भासमान या दिखाई नहीं देता है अथवा दर्पण की मल दूर हो जाने से दर्पण निर्मल और स्वच्छ हो जाता है किंवा सिनेमा सलाइड के मशीन पर चक्र खाने से पूर्व तनी हुई श्वेत चादर या सक्रीन पर कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है अथवा इस प्रकार समझो कि चित्र खींचने से पूर्व जिस प्रकार फोटो के कैमरे में रखी हुई सलाइड पर किसी प्रकार की कोई रेखा नहीं होती क्योंकि योगाभ्यास करके इससे पूर्व योगी ने अपने अन्तःकरण पर परमात्मा का चित्र खींचना होता है, फिर उस चित्र द्वारा उसमें प्रेम का रंग उत्पन्न करके उसका साक्षात्कार करना होता है, अन्त में उसमें प्रवेश करके उसी में घुल मिलकर एकरूप हो जाना होता है। फिर एक कवि के शब्दों में—

"हम वहाँ हैं, जहाँ से हमको भी कुछ हमारी खबर नहीं आती ॥"

वाली बात हो जाती है। अथवा—

"तुझमें समाऊँ इस तरह तन-प्राण का जो तौर है।
जिससे न फिर कोई कहे, 'मैं और हूँ, तू और है' ॥"

शरीर, गर्दन और सिर को सम और अचल धारण करके फिर स्वयं भी स्थिर हो जाना चाहिए। उस समय दृष्टि को सब दिशाओं में जाने से रोक कर केवल नाक की नोक या अग्रभाग पर स्थित करना चाहिए। यहाँ 'संप्रेक्ष्य' के साथ 'इव' शब्द लुप्त समझना चाहिए। क्योंकि यहाँ अपनी नाक के अग्रभाग या नोक को देखने का विधान करना अभीष्ट या अभिप्रेत नहीं है। इसलिए यहाँ इसका अर्थ "देखता हुआ सा होकर" है। वास्तव में देखता हुआ होकर नहीं। यहाँ नेत्रों की दृष्टि को विषयों से हटाकर नाक के अग्रभाग में स्थापन

करना इष्ट है। इस पद का यह भाव कदापि नहीं है कि योगी योगाभ्यास का सारा समय नाक की नोक को ही देखता रहे। ऐसा करने से एक तो नेत्रों पर अत्यन्त भार पड़ता है दूसरे बाहर की वस्तु नाक की नोक को देखना बनता है जबकि योगाभ्यास करते समय देखना, सुनना, सूंघना, चखना और स्पर्शादि संपूर्ण क्रियाओं का सहज स्वभाव ही निरुद्ध और स्थगित हो जाना होता है। यदि अपनी नासिका के अग्रभाग को देखना ही विधेय माना जाए, तो फिर मन वहीं स्थित होगा, आत्मा में नहीं। परन्तु योगाभ्यास का ध्येय तो मन को आत्मा में स्थित करना ही होता है। यहाँ तो आशय केवल इतना ही है कि योगी अपने नेत्र बन्द न होने दे। क्योंकि नेत्र बन्द होने से निद्रा आ जाती है। नेत्र पूरे भी न खुले हों क्योंकि पूरे नेत्र खुलने से आस-पास के विषय दृष्टि-गोचर होने लगते हैं जिससे अन्तःकरण अस्थिर और चंचल हो जाता है। इसलिए आँखों की ऊपर वाली पलकें तो बन्द कर ली जाएं परन्तु नीचे वाली पलकें खुली रहें। दृष्टि नाक की नोक की ओर झुकी रहे परन्तु नाक की नोक को देखे नहीं। क्योंकि नाक की नोक को देखते रहने से मन उसी के स्वरूप में स्थित हो जाएगा और अन्तःकरण की ब्रह्म में स्थिति न हो सकेगी। ब्रह्म में चित्त के स्थापन का नाम ही समाधि है। इस समाधि अवस्था में तो मनुष्य को अपने शरीर से भी बे-खबर होना होता है। समाधि में केवल परमात्मा के ध्यान में ही मग्न रहना पड़ता है। इस दशा में फिर किसी दिशा में दृष्टि करने अथवा किसी का आकार या रूप देखने की इच्छा आप से आप स्वयं नष्ट हो जाती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् २।८ में लिखा है—

"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥"

[अर्थ—शिर, ग्रीवा और वक्षःस्थल (छाती) ये तीनों जिसमें ऊँचे उठे हुए हैं, उस त्रिरुन्नत शरीर को सम (सीधा) रख कर, मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट (नियन्त्रित) करके विद्वान्, ब्रह्म रूप उडुप (नाव) द्वारा सम्पूर्ण भयानक (पुनरावृत्ति के हेतुभूत संसार-सागर के) जल-प्रवाहों को पार कर जाता है ॥] ॥१३॥

योगी प्रशान्तात्मा हो अर्थात् उसके हृदय से राग-द्वेष, ईर्ष्यादि, निष्काम बुद्धि तथा समत्व भाव से कर्म करते-करते दूर हो चुके हों तथा उसका अन्तःकरण शान्त और निर्मल हो गया हो। वह योगी विगत-भय भी हो अर्थात् ध्यान करते समय साधक को निर्भय रहना चाहिए। श्रुति में कहा है—

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।" (तैत्ति० उ० २।९)

अर्थात् "आनन्द-मय ब्रह्म को जाननेवाला विद्वान् किसी से भी भय नहीं करता है ॥"

योगाभ्यास सदा एकान्त और निर्जन स्थान में किया जाता है। यदि साधक वहाँ पर हिंस्रक जीव-जन्तुओं से भय-भीत रहेगा तो वह योग-साधन कदाचित् न कर सकेगा। परमात्मा तो सर्वव्यापक है। सर्वत्र सर्वकाल में विराजमान है। श्रुति में कहा है—

"एष ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (श्वेताश्व० २।१६)

[अर्थ—यह परमात्मा ही सम्पूर्ण दिशा-विदिशा है। यही (हिरण्यगर्भ रूप से) पहले उत्पन्न हुआ था। यही गर्भ के अन्तर्गत है। यही (शिशु रूप से) उत्पन्न हुआ है। यही उत्पन्न होने वाला है। यही समस्त जीवों में अन्तरात्म-रूप से स्थित है, सम्पूर्ण प्राणियों के मुख इसी के हैं इसलिए यह सर्वतो-मुख है ॥]

तथा—

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (श्वे० उ० २।१५॥)

[अर्थ—जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाश रूप आत्मभाव से ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार करता है उस समय उस अजन्मा, निश्चल और समस्त तत्त्वों से विशुद्ध परमात्मा को जानकर वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है।] फिर जब योगी ध्यान द्वारा उसे पाकर उसमें लीन होना चाहता है तो उसे किसी अन्य से भय-भीत होने की क्या आवश्यकता है। तो फिर किससे डरना चाहिए? क्यों डरना चाहिए ? उस समय तो योगी के शरीर की ऐसी अवस्था हो जाती है कि स्वयं काल भी उससे डरने लगता है। उसकी वृद्धावस्था या यौवन भी बाल्यावस्था में परिवर्तित हो जाता है। चेहरे से नूर और कान्ति की किरणें बरसने लगती हैं। अर्थात् मुख-मण्डल के सब ओर रश्मियों के जाल का एक वृत्त बनकर दूसरों को दृष्टिगोचर होने लगता है। उसका सामर्थ्य, बल और शक्ति अनन्त सीमा तक पहुँच जाते हैं। इस प्रकार वह नितान्त निर्भय हो जाता है। सब कुछ उसका अपना हो जाता है जिससे डरने का कोई कारण ही शेष नहीं रहता। वह सबको देखता है। परन्तु उसे कोई नहीं देखता है। वह बैठा-बैठा ही काफूर के उड़ जाने की भाँति अदृश्य हो जाता है। देखते-देखते ही विशाल विराट रूप धारण कर लेता है। द्रौपदी की अनन्त साड़ियों के रूप में परिवर्तित

हो जाता है। योगी सदेह आकाश में उड़ता है। हनुमान बनकर पर्वत को उठा लाता है। आखें बन्द करते ही अर्जुन को साथ लेकर स्वर्ग में भी जा सकता है। उसके लिए कोई स्थान भी अगम या दुर्गम नहीं होता। एक स्थान पर स्थित हुआ ही संसार और ब्रह्माण्ड का सब कुछ देखता है। परन्तु यह अवस्था योग-साधक की चरमावस्था है। योगिराज श्रीकृष्णचन्द्र जी इसी पूर्णावस्था को प्राप्त हुए योगिराज थे ॥

योगी को सदा ब्रह्मचारी-व्रत में स्थित रहना चाहिए। शरीर के भीतर के वीर्य की रक्षा करना इस व्रत का मुख्य अंग है। प्राणी के शरीर में एक ऐसी वस्तु है, जिसमें श्वेत कणिकाएँ प्रचुर मात्रा में मिली रहती हैं, जो प्राणी की प्रत्येक रोग से रक्षा करती हैं। नेत्र, नाक, कान, मुख और त्वचा आदि द्वारों से रोगाणु शरीर में भोजन, जल, वायु, दंश आदि द्वारा प्रवेश करते हैं जिनसे श्वेत कणिकाएं पूरी तरह से युद्ध करती हैं। जिससे शरीर के भीतर रुधिर, अन्तडियों, नसों, हड्डियों, मांसपेशियों, दिल, दिमाग, जिगर (यकृत्) और आमाशय आदि में हलचल सी मच जाती है। तथा ये श्वेत कणिकाएं शत्रुओं को भक्षण करके शरीर को रोगों से बचा लेती हैं। यदि शरीर से वीर्य पात होता रहे तो ये श्वेत कणिकाएं भी उसके साथ ही शरीर से बाहर निकलती रहती हैं जिससे शरीर को रोग घेर कर कृश और कमजोर कर देते हैं क्योंकि उनसे टक्कर लेने वाले सुभट शरीर में कम रह जाते हैं। इन श्वेत कणिकाओं में जो अत्युत्तम श्रेणी की होती हैं, उनका नाम शुक्राणु होता है। यदि इनमें से कोई एक शुक्राणु किसी नारी के गर्भ में जाकर उसके रज के बीजाण्ड में प्रविष्ट हो जाए तो वह कोशिका विभाजन के नियमानुसार नियत समय में उस नारी के शिशु का रूप धारण कर लेता है।

यद्यपि गृहस्थी को ऋतु-स्नाता स्वपत्नी को वीर्य-दान करना उसी प्रकार उचित और शास्त्रानुकूल है जिस प्रकार किसी मर रहे रोगी को बचाने के लिए अपने शरीर के रक्त का दान देना समुचित और शास्त्रानुकूल है तो भी योगी को ऐसा कभी न करना चाहिए। उसे तो यथाशक्ति अपने वीर्य की रक्षा करना परमावश्यक होता है जिसकी सिद्धि के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन करना बहुत जरूरी और शास्त्रानुकूल है—

१—नित्य ठण्डे जल से स्नान करना। २—शरीर को उबटन या सुगन्धित साबुन न लगाना। ३—नेत्रों में सुरमा न लगाना। ४—बिना रोग दूर करने के शरीर पर घी या तेल न मलना। ५—इत्र-फुलेल आदि सुगन्धियों का प्रयोग न करना। ६—पुष्पमालाएं और सोने चाँदी के भूषण धारण न करना। ७—नाचने, गाने, बजाने से दूर रहना। ८—मांस, मछली, अण्डा, लहसुन, प्याज,

गर्म मसाला आदि कामवासना-प्रदीप्त करने वाली वस्तुओं को भक्षण न करना। ९—मद्यपान, भांग, सुल्फा, पोस्त, अफीम, कोकीन, जैश, काफी, चाय, तम्बाकू, सिग्रेट, बीड़ी और पान आदि मादक और कामोद्दीपक वस्तुओं के प्रयोग से नितान्त रहित होना। १०—स्त्रियों से दूर रहना और उनके विषय में किसी चर्चा का न सुनना या कहना। ११—सिनेमा और नाटक आदि में फिलमाए तथा दर्शाए गए काम-वर्धक दृश्यों को न देखना। १२—बहुमूल्य और रेशमी वस्त्रों को धारण न करना। इसके स्थान पर सादा और स्वच्छ वस्त्रों को धारण करना। १३—सीमित और सादा भोजन खाना। १४—देवता, ब्राह्मण, साधु, भक्त और बड़ों का साक्षात्कार करना। १५—सबके पूज्य और इष्ट को सीस झुकाना। १६—किसी की निन्दा न करना। १७—किसी से वाद-विवाद न करना। १८—सत्य बोलना। १९—सबसे नम्रता पूर्वक मिलना। २०—अहिंसा को अङ्गीकार करना। २१—काम-क्रोध दुर्गुण का त्याग। २२—एकान्त शयन। इत्यादि नियमों के पालन करने का नाम ब्रह्मचारी-व्रत को धारण करना है। इनके आचरण से वीर्य की रक्षा होती है और शरीर तेजस्वी बनता है। जो योगी के योग साधन में सहायक होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! योगाभ्यास का साधक सदा ब्रह्मचारीव्रत में स्थित रहे जिससे उसके शरीर के सब अवयव नीरोग और स्वस्थ रहकर उसके लक्ष्य और ध्येय के लिए सहायक सिद्ध हों। बाह्य इन्द्रियों के नियन्त्रण के साथ ही साधक का अपने मन पर भी पूरा कण्ट्रोल या काबू होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो नमाज़ अदा करते हुए किसी काजी के मन की तरह वह काबुल में घोड़े ही खरीदता रहेगा और साधक अपने ध्येय परमात्मा के ध्यान से विचलित रहेगा॥

योगी का "मच्चित्त" होना भी जरूरी है। ध्येय वस्तु में चित्त के एकान्त और निरन्तर प्रवाह का नाम ध्यान है। वह ध्येय वस्तु परमात्मा है, चाहे उसका सगुण स्वरूप हो, चाहे निर्गुण रूप हो। परन्तु पहले निराकार स्वरूप का ध्यान किसी रूप द्वारा ही टिकता है। बाद में वह दशरथ का पुत्र राम—'सर्वत्र रमते इति रामः', के अनुसार निर्गुण परमात्मा में परिवर्तित हो जाता है। कृष्ण भी, वसुदेव और देवकी का पुत्र न रहकर परब्रह्म परमेश्वर बन जाता है, जो निराकार है, सर्व-व्यापक तथा सर्वत्र-व्यापक है, अनादि, अजन्मा, अजर, अमर, अविनाशी है। ठीक ही कहा है—

"न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम्।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे॥"

[अर्थ—हे परमात्मन्! न तेरा कोई रूप है। न आकार है। न तेरे कोई शस्त्र हैं और न तेरा कोई घर है तो भी तू पुरुष की आकृति में भक्तों के लिए प्रकट

होता है ॥]

इसलिए "मच्चित्तः" कहने से भगवान् का अभिप्राय यह है कि योगी का चित्त सदा मुझमें लीन होना चाहिए, जो मैं परमात्मा देखने में सगुण परन्तु वास्तव में निर्गुण हूँ ॥

योगी 'मत्पर' बना रहे अर्थात् ध्यान-योग का साधक मुझ परमात्मा को ही परम-गति, परम-ध्येय, परम-आश्रय, परब्रह्म, परम-श्रेष्ठ और परम-रक्षक मानकर सदा मुझ परमात्मा पर ही निर्भर रहे और वह सदा आस-पास, भीतर-बाहर रम रहे तथा सर्व-व्यापक मुझ परमात्मा से युक्त होकर वा जुड़ा हुआ रहकर उक्त-विधि से आसन पर समाधि लगाए और योगाभ्यास करे जिसके सफल होने पर वह सिद्धावस्था को प्राप्त होकर परमात्मा से मेल प्राप्त कर लेगा ॥१४॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

युञ्जन्+एवम्+सदा+आत्मानम्+योगी नियत-मानसः । शान्तिम्+निर्वाण-परमाम्+मत्+संस्थाम्+अधिगच्छति ॥

युञ्जन्=√युज्+शतृ=युञ्जत्+(पुं०) प्र० ए० व०=युञ्जन् । जोड़ता हुआ । (परमेश्वर के स्वरूप में) लगाता हुआ । समाधान करता हुआ । स्थिर करता हुआ ।

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार । यथोक्त विधि से ।

सदा=(अव्यय) सर्वस्मिन् काले । नित्य । हमेशा । निरन्तर । सर्वदा ।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को । मन को । अन्तःकरण को । अपने-आपको ।

योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी ।

नियत-मानसः=(वि०) नियतं (=संयतं) मानसं (=मनो) यस्य सः (बहुव्री०) वश में किए हुए मन वाला । स्वाधीन मन वाला । रोके हुए मन वाला (सब ओर से) ।
[नि√यम्+क्त=नियत=अच्छी तरह वश में किये हुए । मानस+(पुं०) प्र० ए० व०=मानसः । मन वाला ।] ॥

शान्तिम्=(स्त्री०)√शम्+क्तिन्=शान्ति+द्विती० ए० व०=शान्ति को । उपरति को ।

निर्वाण-परमाम्=(वि०) निर्वाणं मोक्षः तत्परमा निष्ठा यस्याः (शान्तेः) सा=निर्वाण-परमा, तां निर्वाण-परमाम् (बहुव्री०) । (स्त्री०) द्विती० ए० व० =अन्तिम स्थिति मोक्ष वाली को । परमानन्द पराकाष्ठा वाली को ।

[निर् √वा + क्त = निर्वाण = जीवन से मुक्ति। मोक्ष] (परमाम् = सबसे बड़ी को।)

मत् + संस्थाम् = (वि०) स्त्री०, द्विती० ए० व०। मयि संस्थाम् = मुझमें स्थित (टिकी हुई) को। मेरे अधीन हुई को।

अधिगच्छति = अधि √गम् + लट्०, प्र० पु०, ए० व० = प्राप्त होता है॥

अर्थ—इस प्रकार सदा आत्मा (अन्तःकरण या मन) को (परमात्मा में) लगाता या स्थिर करता हुआ, वश में किए हुए मनवाला योगी, मुझ में स्थित परम-निर्वाण (परमानन्द की पराकाष्ठा—मुक्ति या मोक्ष) रूप शान्ति को प्राप्त होता है॥१५॥

व्याख्या—योगाभ्यास या ध्यान योगी की समाधि की सफलता के लिए सबसे पहले अपने आपको, अपनी बुद्धि को, अपने तन-मन को परमात्मा में जोड़ रखना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि योगी अपने मन में यह पक्का या दृढ़ निश्चय कर ले कि मेरे भीतर, बाहर, संपूर्ण ब्रह्माण्ड में सूक्ष्मतम रूप में परमात्मा व्यापक है। सारे संसार का व्यवहार उसी की सत्ता से हो रहा है। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उसी ऐन्द्रजालिक का खेल है जिसको चरमचक्षु देखते हैं, दूसरी इन्द्रियां अनुभव करती हैं जिससे मन भी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को ग्रहण करता है। परन्तु वास्तव में यह सब प्रपंच नजर का फरेब है। दृष्टि का धोखा है।

जैसे सिनेमा की सक्रीन (पर्दे) पर मनुष्य को चलते-फिरते, बोलते-चालते और नाना प्रकार के कार्य करते हुए प्राणी दिखाई देते हैं, नदी नाले, बन-पर्वत, वर्षा-धूप तथा आँधी-हिमपात आदि विविध भाँति के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु वास्तव में वहाँ उनमें से कुछ भी नहीं होता। यह सारी कारीगरी केवल कैमरामैन और उसके सहयोगियों की होती है। इस प्रकार के रंग-मञ्च पर जो दिन-रात का खेल हो रहा है, वह सब केवल उसी परमात्मा की कारीगरी है, जो सर्व-व्यापक और सर्व-शक्तिमान है, अनादि, अजन्मा और सदा-स्थित रहनेवाला है। हमने एक ऐन्द्रजालिक योगी का खेल अपने जीवन में स्वयं अपनी आँखों से देखा है जो कुम्भ के मेले में खुले मैदान में खड़ा था। उस समय सहस्रों दर्शक उसे देख रहे थे। उसने एक रस्सा आकाश की ओर फैंका जिसका ऊपर का छोर इतनी ऊँचाई तक चला गया जहाँ पर दर्शकों की दृष्टि नहीं जा सकती थी। तब आकाश से एक स्त्री उस रस्से के द्वारा धरती पर उतरी और एक कुत्ते को उठाकर उसी रस्से के द्वारा ऊपर चढ़ गई और दृष्टि-पथ से ओझल हो गई। थोड़े समय के अनन्तर कुत्ते के अंग टूट-टूटकर धरती पर गिरने लगे। योगी ने उन सबको एकत्रित करके एक टोकरी के नीचे

रख दिया। परन्तु थोड़े समय के अनन्तर जब योगी ने टोकरी उठाई तो उसमें से वह कुत्ता जीवित निकला। हमारे साथियों ने योगी के सब कृत्यों के चित्र साथ-साथ अपने कैमरों द्वारा खींच लिए। फिर उस योगी ने अपनी झोली से निकालकर सबको दो-दो पताशे दिए और कहा एक तो यहीं खा लो और दूसरा जेब में डालकर घर ले जाओ। फिर वह बोला खेल समाप्त हो गया है और हम भी जाते हैं। इतना कहकर वह अपने समान सहित वहीं अन्तर्धान हो गया जहाँ पर वह खड़ा था। सब लोग उस अद्भुत योगी और उसके विस्मय-जनक कृत्यों को देखकर आश्चर्यान्वित हुए, स्व-स्थानों को चल पड़े। जब हम लोगों ने अपनी जेबों में हाथ डाले, तो सबने अपने-अपने पताशे को गुम पाया। जब चित्र-प्लेटों को धुलवाया गया तो देखे हुए खेल का एक भी चित्र न था। उसके स्थान पर पशुपक्षियों के चित्र बने हुए थे जिनको हमने कभी न देखा था।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस योगी के खेल की तरह यह सारा संसार मिथ्या है, भ्रम है, धोखा है, स्वप्नवत् है। जो कुछ दिखाई देता है वह नहीं है, उससे सर्वथा भिन्न है, सिनेमा के चल-चित्रों के तुल्य है। केवल एक परमात्मा ही 'सत्' है। इसलिये उसी से युक्त हो जाना चाहिए।

योगाभ्यास करने वाले योगी को सदा अपने मन पर काबू रखना चाहिए, जिससे उसका मन किसी प्रकार की कोई भी कल्पना और इच्छा न कर सके, जिससे उसकी इन्द्रियाँ केवल अपने स्वाभाविक कर्मों में ही साधारण रूप में बर्तें। मन को विषयों का चारा देने में न बर्तें और समाधि की अवस्था में मन और इन्द्रियाँ पूरी तरह से शान्त रहें और मन में कोई कल्पना या विक्षेप न हो। वह सर्वव्यापक परमात्मा से अजस्र रूप में जुड़ा रहे। तब यह जीवात्मा उस असीम शान्ति को प्राप्त हो जाता है, जो परमात्मा में मोक्ष या मुक्ति रूप में स्थित है अथवा जो परमात्मा में मिल जाने से प्राप्त होती है। वह शान्ति तत्त्व-साक्षात्कार से उत्पन्न होकर सब काम्य-कर्मों और अविद्या की निवृत्ति रूप मुक्ति में पर्यवसान वाली है। यद्यपि परमात्म-रूप हो जाने से योगी को सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियां अपने-आप ही स्वयं प्राप्त हो जाती हैं परन्तु जो हठ-योगी केवल इन ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति के लिए ही योगाभ्यास करते हैं, वे तो केवल अनात्म वस्तुओं को विषय करने वाली ऐश्वर्यरूप सिद्धियों को ही प्राप्त होते हैं, मोक्ष और परमात्मा को प्राप्त नहीं होते। क्यों-कि वे ऐश्वर्य रूप सिद्धियाँ मोक्ष-प्राप्ति कराने वाली समाधि के लिए बाधक और विघ्न रूप ही होती हैं। जैसा कि योग-शास्त्र में कहा है—"ते समाधा-वुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥" (योग० ३।३७)

"स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाऽकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥" (योग० ३।५१) [अर्थ—'वे उपद्रव कारक सिद्धियाँ परमात्मा में मिलने के लिए योगाभ्यास करने वाले योगी के कार्य में विघ्न डालनेवाली होती हैं परन्तु समाधि रहित अवस्था में सिद्धियाँ ही हैं ॥३।३७॥

"वहाँ उस-उस स्थान के अधिपति जो महेन्द्रादि देवता हैं, वे उस योगी पुरुष से यह प्रार्थना किया करते हैं, कि हे योगिन्! इन स्वर्गादिक स्थानों में आप आकर निवास करो तथा रमण करो। देखो! यह देव-कन्या कैसी रमणीक और सुन्दर है तथा ये दिव्य भोग कितने सुहावने हैं। एवं ये रसायन-अमृतादिक जरा और मृत्यु को दूर करने वाले हैं। देखो, ये विमान कैसे श्रेष्ठ और दिव्य हैं। इन दिव्य भोगों और सुखों को यहाँ स्वर्ग में आकर भोगो।"

इस प्रकार उन देवताओं से प्रार्थना किए जाने पर भी वह योगी उन पदार्थों में कभी कामरूप संग को प्राप्त नहीं होता। यह ही हमारे इस योग का आश्चर्यजनक प्रभाव है जिसके कारण साक्षात् देवता भी मुझ मनुष्य के प्रति प्रार्थना करते हैं—इस प्रकार के स्मय (गर्व) को भी वह योगी पुरुष कभी न करे॥ इसी बात को गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने अनूठे ढंग से कहा है—

इन्द्रिय-द्वार झरोखा नाना तहँ तहँ सुर बैठे कर थाना।
आवत देखहिं विषय बयारी ते हठ देहिं कपाट उघारी।
इन्द्रियन सुरन्ह न ज्ञान सुहाई विषय भोग पर प्रीति सदाई।
ऋद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।
ज्ञानपंथ कृपाण कै धारा परत खगेस होइ नहीं पारा।
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई सो कैवल्य परमपद लहई।
अतिदुर्लभ कैवल्य परमपद सन्त पुरान निगम आगम बद।

परन्तु वह योगी पुरुष इन विषय-भोगों में इस प्रकार की दोष-दृष्टि करे, चिरकाल से इस संसार रूप अग्नि में जलते हुए तथा जन्म-मरण के प्रवाहरूप चक्र पर चढ़े हुए हमने किसी पूर्व जन्म के पुण्य-प्रभाव से बहुत प्रयत्न से दुष्कर्म-रूप अन्धकार को नाश करने वाला योग-रूपी दीपक जलाया है। उस दीपक को बुझानेवाला यह तृष्णा को उत्पन्न करनेवाला विषय रूप वायु है। ऐसे योगरूप दीपक के प्रकाश को प्राप्त होकर भी मैं इस विषय वासना रूप मृगतृष्णा के जल के पीछे भटककर, इन विषयों को प्राप्त करने के लिए अपने आपको इस संसार रूप अग्नि का ईंधन क्यों बनाऊँ? जान बूझकर योग-भ्रष्ट होना योगी के लिए ठीक नहीं है क्योंकि ये सब भोग स्वप्न पदार्थों की भाँति मिथ्या और अस्थायी हैं। इस प्रकार इन सब भोगों में दोष दृष्टि करके वह योगी पुरुष उस योग समाधि को दृढ़ करे। क्योंकि उस कामना रूप संग में

गिरे हुए, तथा उस गर्वरूप स्मय कृत्यकृत्यता को मानने वाले पुरुष को योग-सिद्धि प्राप्त नहीं होती है और उस संग और स्मय के वशवर्ती होने से उस योग-भ्रष्ट पुरुष को पुनः अनिष्ट रूप संसार की प्राप्ति होती है। इसलिए उन संग, स्मय दोनों का न करना ही कैवल्य मोक्ष के विघ्न को दूर करने का उपाय हैं॥ (योग० ३।५१)] ॥

इस प्रकार जिसका मन सदा उसके काबू में है वह योगी निरन्तर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ता है और मोक्ष रूपी परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ॥१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

न+अति+अश्नतः+तु योगः+अस्ति न च+एक+अन्तम्+अन्+अश्नतः। न च+अति-स्वप्न-शीलस्य जाग्रतः+न+एव च+अर्जुन !

न=(अव्यय) न। नहीं।

अति=(अव्यय)। यह एक उपसर्ग है जो विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के पूर्व लगाया जाता है। इसका अर्थ—बहुत। बहुत अधिक। परिमाण से अधिक आदि होता है।

अश्नतः (वि०)√अश्+शतृ=अश्नत्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=खाते हुए का। खानेवाले का।

तु=(अव्यय) तो।

योगः=(पुं०) योग+प्र० ए० व०=योगाभ्यास। चित्त की चंचलता का निग्रह। चित्त-वृत्तियों का निरोध होकर परमात्मा से जुड़ना।
[यद्यपि परमात्मा की प्राप्ति के सब उपाय योग कहलाते हैं परन्तु यहाँ ध्यान-योग अर्थात् योगाभ्यास का प्रसंग चल रहा है। इसलिए यहाँ यह शब्द ध्यानयोग का ही वाचक है]

अस्ति=√अस्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=है। (सिद्ध) होता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=(अव्यय) और।

एक+अन्तम्=(वि०) एकोऽन्तो निश्चयो यत्र; जहाँ एक ही निश्चय हो (बहुव्री०)। अत्यन्त। सर्वथा। बिल्कुल। नितान्त।

अन्+अश्नतः=(वि०) न अश्नतः (नञ्०) (पुं०) षष्ठी०, ए० व०। न खाते हुए का। न खाने वाले का।

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=(अव्यय) और।

अति-स्वप्न-शीलस्य=(वि०) पुं०, षष्ठी० ए० व०। सोने के अति स्वभाव वाले का। अति निद्रालु का। अति शयन करने के स्वभाव वाले का।

जाग्रतः=√जागृ+शतृ=जाग्रत्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=जागते हुए का। अति जागते हुए का [देहली दीपक न्याय से—'अति' शब्द 'स्वप्न-शीलस्य' और 'जाग्रतः' दोनों पदों का उपसर्ग बनकर दोनों के साथ अर्थ देता है।]

न+एव=(अव्यय) न ही।

च=(अव्यय) और।

अर्जुन!=सम्बो०, ए० व० (पुं०) हे अर्जुन!

अर्थ—हे अर्जुन! न ही अति (भोजन) खाने वाले का, न बिल्कुल न खाने वाले का, और न अति शयन करने के स्वभाव वाले का तथा न अति जागने वाले का योग (सम्पूर्ण या सिद्ध) होता है॥१६॥

व्याख्या—स्वस्थ पुरुषों में स्फूर्ति और चुस्ती होती है तथा कर्म करने में उनका मन लगता है। रोगी पुरुष आलसी और सुस्त होता है। काम करने से जी चुराता है। योगाभ्यास या ध्यान-योग करने वाले योगी का शरीर भी नितान्त स्वस्थ और ठीक-ठीक ही होना चाहिए। इस अपने लक्ष्य को सफल करने के लिए योगी के लिए परमावश्यक है कि वह स्वास्थ्य-वर्धक नियमों का परिपालन करता रहे। इसी कारण से भगवान् पूर्व श्लोकों में कुछ स्वास्थ्य-वर्धक नियमों का उपदेश अर्जुन के प्रति कर चुके हैं। जैसे—(१) इन्द्रियों के विषयों में अनुरक्त न होना। आसक्ति-रहित होकर संकल्पों का त्याग करना (६।४)। (२) किसी को शत्रु न समझना, अपने-आप में ही मस्त रहना (६।५)। (३) मन को जीतकर वश में करना (६।६)। (४) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमान आदि द्वन्द्वों की कोई परवाह न करना। इनके प्रभाव से बिल्कुल रहित हो जाना। (६।७)॥ (५) मिट्टी पत्थर और सोने आदि में समबुद्धि रखना, किसी प्रकार का लोभ-लालच न करना (६।८)। (६) सब का हित और भला चाहना (६।९)। (७) एकान्त-सेवन करते हुए शान्त-चित्त रहना और सदा सर्वदा सर्वत्र परमात्मा का चिन्तन करना। (६।१०)। (८) पवित्र-स्थान और शुद्ध-वायु वाले प्रदेश में नर्म और गुदगुदे आसन पर एकाग्र किए हुए मन से बैठकर अन्तःकरण और इन्द्रियों को वश में करके आत्म-शुद्धि और परमात्मा में लीन होने के लिए समाधि लगाना (६-११,१२)। (९) धड़, गर्दन और सिर को एक सीध में अचल रखने का अभ्यास करना। मन को एक सूक्ष्मबिन्दु पर केन्द्रित करके उसकी महान् शक्ति को एकत्र और संगृहीत करना, शान्त रहना, ब्रह्मचर्य व्रत का परिपालन करना (६-१३,१४)। (१०) आत्मा या अन्तःकरण

को पूर्णतया परमात्मा में जोड़ना (६।१५)। इत्यादि सब नियम मन को बलवान् और महान् शक्तिशाली करने वाले साधन हैं। मन के बलवान् होने से ही स्वास्थ्य ठीक रहता है। सम्पूर्ण रोग मन के निर्बल होने से ही उत्पन्न होते हैं। अब इस श्लोक में भगवान् ने शरीर को स्वस्थ रखने के लिए इन चार और बातों का उपदेश किया है—

१—मर्यादा से अधिक भोजन न करना।

२—सदा भूखे न रहना। हठ-योग से सब प्रकार का खाना-पीना नितान्त त्याग न करना।

३—सदा पड़े सोए ही न रहना।

४—आवश्यकता से अधिक जागरण भी न करना।

ठूंस-ठूंस कर आमाशय भर लेने से अजीर्ण रोग हो जाता है। खट्टे डकार आने लगते हैं। नींद, तन्द्रा, सुस्ती और आलस्य बढ़ जाता है, नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, बैठकर समाधि लगाना दुष्कर हो जाता है, मन लेट जाना चाहता है, जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, रुधिर का प्रवाह ठीक नहीं रहता, शरीर की कार्य-क्षमता क्षीण हो जाती है तथा आयु हीन हो जाती है। आहार करने के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है—

"यदु ह वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति। यद् भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति, इति॥"

[अर्थ—जो आत्म-संमित (अपने शरीर के परिमाण के उपयुक्त) अर्थात् नियत भोजन किया जाता है, वह अन्न, खाने वाले के शरीर की रक्षा करता है और ज्वर, शूल, अफारा तथा कै-दस्त आदि रोगों की उत्पत्ति नहीं करता, जिनसे उस शरीर का नाश हो सकता है। और जो परिमाण से अधिक भोजन भक्षण करता है वह रोगों को उत्पन्न करके आयु और बल को हीन और शरीर को क्षीण करता है। और जो केवल नाम मात्र या अत्यल्प अन्न का भोजन किया जाता है वह भी शरीर की रक्षा नहीं करता।]

इसलिए योगी को चाहिए कि अपने लिए जितना उपयुक्त हो, उससे अधिक या कम अन्न न खाए। शास्त्र में योगी के लिए भोजन करने का यह नियम वर्णन किया गया है—

> "अर्धमशनस्य स-व्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु।
> वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्॥"

अथवा

> "पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु।
> वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥"

[अर्थ—पेट का आधा भाग अर्थात् दो चतुर्थ-भाग शाकपात आदि व्यञ्जनों सहित भोजन से भर लिया जाए। तीसरा चतुर्थ-भाग जल से पूर्ण करना चाहिए और शेष बचा चतुर्थ-भाग प्राण-वायु के सुख-पूर्वक आने जाने के लिए खाली रखना चाहिए।]

मार्कण्डेय-पुराण में लिखा है—

"नाऽध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुल-चेतनः।
युञ्जीत योगं राजेन्द्र! योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः॥"

[अर्थ—हे राजेन्द्र! योगी पुरुष अत्यन्त खाकर फूला हुआ, वा अत्यन्त भूखा श्रमयुक्त तथा व्याकुल चित्त वाला होकर आत्म-सिद्धि के लिए कदापि योग न करे]

पेट से अभिप्राय आमाशय या मेदे से है जिसकी आकृति एक बड़ी नाशपाती के सदृश होती है। यह आमाशय अधिक भोजन करने से रबड़ के फुकने के समान बहुत फूलता और फैलता है। प्लीहा (तिल्ली), यकृत् (जिगर) और कफाशय तीनों पर आवश्यकता से अधिक दबाव डालता है जिससे इन तीनों के रस जरूरत से अधिक मात्रा में इनसे निकलकर उनसे भोजन सुजीर्ण न होकर खट्टा और कसैला हो जाता है और अजीर्ण का रूप धारण कर लेता है। शूल, पेट-पीड़ा आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। आलस्य और अंग-पीड़ा आदि से योग-साधन में विघ्न-बाधा उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार अल्पाहार करने अथवा हठ पूर्वक अनशन करने से मनुष्य में ताजा शुद्ध रुधिर भी उत्पन्न नहीं होता, तथा शरीर में विद्यमान रुधिर शरीर को जीवित रखने में व्यय होकर सूख जाता है जिससे फिर कुछ दिनों के भीतर ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तथा अनशन के दिनों में समाधि लगाना असंभव हो जाता है। यही कारण है कि भगवान् ने योगी को अधिक भोजन करने से वर्जित किया है और बिल्कुल भोजन छोड़ कर खाली आमाशय रखने से भी रोका है।

इसी प्रकार सदा सोए रहने का स्वभाव बना लेना भी हानिकारक होता है क्योंकि ठीक समय तक सोने से तो मानव शरीर की थकावट अन्य प्राणियों की भाँति दूर हो जाती है। परन्तु अधिक समय तक सोए रहने का स्वभाव हो जाने से शरीर सुस्त और आलसी हो जाता है तथा अस्वस्थ रहने लगता है जिससे योग-समाधि में आसीन होना कठिन हो जाता है तथा ऊँघ आने लगती है। अधिक जागने से निरन्तर थकावट बनी रहती है और शरीर तथा इन्द्रियों में कभी ताजगी नहीं आती जिससे सारे अवयव ढीले और प्राण शिथिल हो जाते हैं तथा शरीर में कई प्रकार के रोग—सिर-पीड़ा, नेत्र-पीड़ा, अंगों

का अकड़ना, देह का टूटना आदि उत्पन्न हो जाते हैं जिसके कारण समाधि द्वारा योग-साधन कठिन हो जाता है।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिल्कुल न खानेवाले का, न अतिशयन करने के स्वभाव वाले का और न अति जागने वाले का ही सिद्ध होता है'।।

श्री ज्ञानेश्वर जी कहते हैं—

"जो जीभ के चोंचलों का दास बन गया हो अथवा जो पूर्ण रूप से निद्रा के अधीन हो गया हो वह कभी इस योगसाधना का अधिकारी नहीं हो सकता। अथवा जो दुराग्रह के बन्दी-गृह में भूख और प्यास को बन्द करके अपने शरीर का नाश कर लेता है, खाना पीना त्याग देता है अथवा इस प्रकार के दुराग्रह के कारण सोने का नाम भी नहीं लेता तथा जो इस प्रकार हठ-पूर्वक ही सब काम करता है उसका तो शरीर भी स्वयं उसके अधीन नहीं होता। फिर भला ऐसे मनुष्य से योग-साधना कैसे की जा सकती है? इसलिए जिस प्रकार विषयों का अतिरिक्त या आवश्यकता से अधिक सेवन नहीं करना चाहिए उसी प्रकार हद से बढ़कर उनके साथ द्वेष भी नहीं करना चाहिए और उन्हें जबर-दस्ती से दबाना भी नहीं चाहिए ।।१६।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।१७।।

युक्त+आहार-विहारस्य युक्त-चेष्टस्य कर्मसु। युक्त-स्वप्न+अवबोधस्य योगः +भवति दुःख-हा ।।

युक्त+आहार-विहारस्य=(वि०) (आह्रियते इति) आहारः (भोजनं), विहारः (पादक्रमः) च तौ युक्तौ (=नियत-परिमाणौ) यस्य, तस्य [बहुव्री०, (पुं०) षष्ठी० ए० व०]=युक्त आहार-विहार करने वाले का। ["आहार-विहार" में द्वन्द्व०]। नियमित परिमाण में आहार विहार करने वाले का। यथा योग्य खाने और फिरने वाले का। संतुलित तथा नियमित भोजन करने और सीमित चलना-फिरना करने वाले का।

युक्त-चेष्टस्य=(वि०) युक्ता चेष्टा यस्य सः युक्त-चेष्टः (बहुव्री०) तस्य [(पुं०) षष्ठी० ए० व०]=युक्त चेष्टा करने वाले का।

[√युज्+क्त=युक्त। उचित। उपयुक्त। न अधिक न कम। ठीक। नियम में बँधी हुई। अन्दाज़े की।

√चेष्ट् (सजीव होने के चिह्न या लक्षण प्रदर्शित करना, उद्योग करना) +अङ्+टा प्=चेष्टा=यत्न। उद्योग। आचरण। कोशिश।]

कर्मसु=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ब० व०=कर्मों में ।
युक्त-स्वप्न-अवबोधस्य=(वि०) युक्तौ स्वप्न+अवबोधौ यस्य सः=युक्तस्वप्नावबोधः (बहुव्री०) तस्य । [(पुं०) षष्ठी० ए० व०] । यथायोग्य सोने और जागने वाले का । युक्त शयन करने और जागरण करने वाले का । [योगी का]
योगः=(पुं०) प्र० ए० व० । ध्यान योग । योगाभ्यास ।
भवति=√भू+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होता है ।
दुःख-हा=(वि०) दुःखानि सर्वाणि हन्ति इति=दुःख-हा । (पुं०) दुःख-हन्+प्र० ए० व०=दुःख-हर्ता । दुःखों को दूर करने वाला । दुःखों का नाश करने वाला ।

अर्थ—युक्त आहार और विहार करने वाले, कर्मों में युक्त चेष्टा करनेवाले और युक्त शयन तथा जागरण करने वाले (योगी) का योग दुःख नाशक (जन्म-मरणादि दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष दिलाने वाला) होता है ॥१७॥

व्याख्या—योगी का खाना पीना सात्त्विक होता है । जैसा कि गीता अध्याय १७ श्लोक ८ में लिखा है—

"आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

[अर्थ—आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसीले (=चीनी, शहद, दूध, आम, अंगूर आदि से युक्त), चिकने (घी, मक्खन, बादाम-रोगन आदि शुद्ध और पवित्र चिकनाइयों से सने हुए), स्थिर (चिरकाल तक शरीर में सत्ता बनाए रखने वाले), (अपने रंग, स्वरूप और सुगन्धि से) मन को मोहने वाले भोजन करने योग्य ताजा पदार्थों के आहार सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं ।]

योगी पुरुष सात्त्विक स्वभाव से युक्त होते हैं । इसलिए वे उपरोक्त प्रकार के आहार ही सदैव भक्षण किया करते हैं । वे अभक्ष्य पदार्थों को कभी नहीं खाया करते । मद्य, माँस, मछली, अण्डे, अफीम, पोस्त, भाँग, चरस, गांजे, तम्बाकू आदि भ्रष्ट और मादक वस्तुओं का वे कदापि सेवन नहीं करते । क्योंकि ऐसी सब वस्तुएँ बल, बुद्धि, आयु, स्वास्थ्य और सुख की नाशक होती हैं तथा योग-समाधि की बाधक होती हैं । जिन योगियों का भोजन सात्त्विक है, परिमित है, सीमित है, समय पर किया जाता है, वे न तो सूखकर कांटा बनते हैं, न हड्डियों का पंजर या ठठरी का रूप ही बने हुए होते हैं, न अधिक भोजन खाने के कारण फूलकर कुप्पे ही बने हुए होते हैं तथा न ही ऐसे अत्यन्त मोटे होते हैं जिनके टट्टी हो चुकने पर उनके दो चेले उनकी गुदा पर कपड़े का आरा चलाते हैं और तीसरा लोटे से पानी डालता जाता है । हमने जालन्धर में

ऐसे ही बेतहाशा मोटे एक साधु-महात्मा को देखा था जिसे देखकर एक घोड़ा-गाड़ी वाले ने अपनी गाड़ी के टूट जाने के भय से एक सेठ के घर निमन्त्रण पर ले जाने से उसे इन्कार कर दिया था। भला ऐसे अत्यधिक खाकर मोटा हो जाने वाले पुरुष योग-समाधि लगाने में कैसे सफल हो सकते हैं ? योगी लोग न बहुत मोटे भड़ोले जैसे होते हैं और न मांस, मज्जाहीन चमड़ा मढ़े हुए हड्डियों के ढाँचे मात्र या केवल लकीर चन्द ही होते हैं। शास्त्रों में लिखा है—

"मिताहारं विना यस्तु योगारंभं च कारयेत्।
नाना रोगो भवेत्तस्य किंचिद् योगो न सिध्यति ॥"

[अर्थ—मिताहार के विना जो योगी योग को आरम्भ करता है उसको नाना प्रकार के रोग होते हैं और किंचित् मात्र भी उसका योग सिद्ध नहीं होता]।

इसलिए योगी लोग तो अपने शुद्ध सीमित सात्त्विक भोजन के सेवन के कारण तथा युक्त विहार करने से सदा सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ और कान्तियुक्त बने रहते हैं। क्योंकि वे महात्मा लोग धूलिरहित, हरे-भरे, पुष्पित रमणीक उद्यानों, मनोहर नदी-तटों, सुहावने पर्वतीय वनों तथा स्वास्थ्य-वर्धक शुद्ध वायु स्थानों में नियमित रूप से घूमते फिरते रहते हैं परन्तु उनका यह विहार करना मर्यादा से न्यून या अधिक नहीं होता। योगी के मुख-मण्डल से प्रकाश की किरणें बाहर निकलकर एक वृत्त सा बनाए रखती हैं। योगी का चेहरा निरन्तर कमलवत् खिला रहता है। प्रसन्नता अजस्त्ररूप से उसके होंठों पर नाचती रहती है। उसकी आँखों का तेज साधारण व्यक्ति झेल नहीं सकता। दुष्टों की दुष्ट प्रकृति उसको देखते ही बदल जाती है। वे शान्त होकर हिंसा भाव से मुक्त हो जाते हैं। उनके आश्रम में सिंह और मृग मिलकर एक ही स्थान पर जल-पान करने लगते हैं।

योगी उचित समय तक ही नित्य समाधि लगाता और योगाभ्यास किया करता है। नियत समयों पर ही नियमित भोजन करता है। नियत समयों पर ही विहार करता है। अकेला ही परमात्मा के ध्यान में मग्न होता हुआ घूमता-फिरता और भ्रमण करता है। पहली रात सोता है। पिछली रात जागता है। किसी ने ठीक कहा है—

"शाम को सोना जल्द, सुबह को उठना शताब।
सेहतो दौलत बढ़ाए, अकल को दे आबोताब ॥"

[अर्थ—सायंकाल हो जाने के बाद शीघ्र ही सो जाना चाहिए और प्रभात होने से चिर-काल पहले ही जाग उठना चाहिए। ऐसा करने से स्वास्थ्य और लक्ष्मी-कान्ति वृद्धि को प्राप्त होती हैं। तेज बढ़ता है और बुद्धि में तीक्ष्णता, स्फूर्ति तथा चमकीलापन उत्पन्न होता है।

योगी की सब चेष्टाएँ, शौच, स्नान, पठन, पाठन, उपदेश, प्रवचन, श्रमदान, उपकार आदि सम्पूर्ण कार्य नियमित और सीमित रूप से होते हैं। इस प्रकार जो ध्यान-योगी युक्त आहार करने वाला है, युक्त विहार करने वाला है, सात्त्विक और उचित कर्मों में यथा-योग्य चेष्टा वाला है, सीमा के भीतर रह कर सोने और जागने वाला है उसके द्वारा किया हुआ योग उसके सम्पूर्ण दुःखों का नाशक होता है। ऐसा कहने से तात्पर्य यह है कि उसे योग में सिद्धि या सफलता प्राप्त हो जाती है अर्थात् वह जन्म-मरण आदि दुःखों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। परमात्मा में मिलकर तद्रूप हो जाता है। इसलिए योग को दुःख-हा या दुःख-मोचक कहा गया है ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यदा विनियतम्+चित्तम्+आत्मनि+एव+अवतिष्ठते। निःस्पृहः सर्व-कामेभ्यः+युक्तः+इति+उच्यते तदा ॥

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले। जिस समय। जब।

विनियतम्=(वि०) विशेषेण नियतं (=संयतम्-एकाग्रताम् आपन्नम्)। (नपुं०) प्र० ए० व०। अत्यन्त वश में किया हुआ। विशेष रूप से एकाग्रता को प्राप्त हुआ।
[वि-नि √यम्+क्त=विनियत+(नपुं०) प्र० ए० व०=नियंत्रित। संयत। निरुद्ध किया हुआ।]

चित्तम्=(नपुं०)√चि+क्त=चित्त+प्र० ए० व०। अन्तःकरण। मन। चित्त।

आत्मनि=(पुं०) आत्मन्+सप्त० ए० व०=आत्मा में। अपने परम शुद्धि स्वरूप में। परमात्मा में। बाह्य चिन्तनों को छोड़कर केवल आत्मा में।

एव=(अव्यय) ही।

अवतिष्ठते=अव√स्था (भ्वा० पर० अक०=ठहरना)+(अव उपसर्ग के योग में—आत्मनेपद) लट्० प्र० पु०, ए० व०=(स्थितिं लभते)। भली-भाँति स्थित हो जाता है ॥

निःस्पृहः=(वि०) निर्गता (दृष्टादृष्ट-विषयेभ्यः) स्पृहा (=तृष्णा) यस्य (योगिनः) सः=स्पृहा या तृष्णा रहित हुआ योगी पुरुष। (दृष्ट-अदृष्ट सब भोगों की) लालसा से रहित हुआ योगी पुरुष। [निस्√स्पृह् (=इच्छा करना)। (पुं०) प्र० ए० व०। कामना शून्य। सन्तुष्ट इच्छा रहित। सांसारिक बन्धनों से मुक्त]।

सर्व-कामेभ्यः=(पुं०) सर्वेभ्यः कामेभ्यः (पंच० तत्पु०)। पंच०, ब० व०। सब कामनाओं से। सब भोगों की लालसाओं से। इन्द्रियों के सब विषय भोगों से।

युक्तः=(वि०)√युज्+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=जुड़ा हुआ। परमात्मा के ध्यान में लीन हो चुका है। योग-युक्त है।

इति=(अव्यय) इस प्रकार। ऐसा।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+(कर्म-वाच्य), लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है।

तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले। तब। उस काल में।

अर्थ—जब अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त आत्मा में अर्थात् अपने परम शुद्ध स्वरूप (परमात्मा) में भली-भाँति स्थित हो जाता है तब सब प्रकार के इन्द्रियों के विषय भोगों से इच्छा रहित हुआ योगी योग-युक्त (परमात्मा के ध्यान में लीन हो चुका) है, ऐसा कहलाता है ॥१८॥

व्याख्या—वश में किया हुआ चित्त अर्थात् विशेषरूप से एकाग्र किया हुआ मन जब बाह्य चिन्तनों को छोड़कर केवल अपनी आत्मा में ही स्थित होता है; अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति लाभ करता है और इन्द्रियों के सब भोगों की तृष्णा से निःस्पृह हो जाता है तब वह योग-युक्त या परमात्मा में लीन हो चुका कहलाता है ॥

चित्त या मन बड़ा चंचल होता है, इसलिए इसको वश में करना अति कठिन होता है। इसी से यजुर्वेद अध्याय ३४ के पहले छः मन्त्रों द्वारा इस मन के शिव-संकल्प होने के लिए प्रभु से प्रार्थना की गई है—

१—ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

२—येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

३—यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

४—येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

५—यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तँसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

६—सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरञ्जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

[अर्थ—हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से जो दैव (रूपी मन) जागता हुआ अत्यन्त दूर चला जाता है और मुझ सोए हुए का भी वह मन वैसे ही अत्यन्त दूर उड़ान कर जाता है जो ध्यानातीत (या कल्पनातीत) दूर जाने वाला है और जो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योति वालों से भी अधिक ज्योति वाला है। वह ऐसा मेरा मन सदैव शिवसंकल्प वाला हो ॥१॥

जिस (मन) के द्वारा विदथों (=ऋषियों, मुनियों, विद्वानों और साधु-सन्तों) में धीर, अपसः (धर्मनिष्ठ) मनीषी (=बुद्धिमान्-पण्डित) लोग यज्ञ में (नवीन आविष्कार रूप) कर्म करते हैं; जो शरीर के भीतर की प्रजाओं (अनन्त या असंख्य जीवित कोशिकाओं) का अपूर्व (सर्वोत्तम) यक्ष (अत्यन्त पूज्य) है वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो ॥२॥

जो (मन) बुद्धि है, चित्त है और धृति (रूप) है तथा जो (शरीर की) भीतरी प्रजाओं में ज्योति और अमृत है तथा जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता है वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो ॥३॥

जिस (मन रूपी) अमृत के द्वारा यह भूत (में बीता हुआ), वर्तमान (काल में विद्यमान) और भविष्यत् (में होने वाला) सम्पूर्ण जगत् पकड़ा जाता है (अर्थात् जाना जाता है) और जिसके द्वारा सप्तों का हवन करने वाले [इन्द्रियों, प्राणों, मन, बुद्धि आदियों का हवन करके—त्याग कर, जन्म-मरण से छुटकारा पाने वाले—जीवात्मा) से परमात्मा बन कर (संसार रूप) यज्ञ (कर्म) का विस्तार किया जाता है वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो ॥४॥

जिस (मन) में रथ के पहिए के अरों की तरह ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद स्थापित हैं (तथा अथर्ववेद स्थित है) जिसमें सब प्रजाओं का चित्त कपड़े के ताने-बाने की भाँति गूँथा हुआ है वह मेरा मन शिवसंकल्पों वाला हो ॥५॥

जो सुन्दर लगामों को धारण किए हुए घोड़ों की तरह मनुष्य आदि सम्पूर्ण प्राणी रूप घोड़ों को सुषारथी (चतुर रथी-ड्राईवर) की तरह वश में करके ठीक मार्ग पर ले जाता है, जो (मेरे) हृदय के भीतर स्थित है वह फुर्तीला और अत्यन्त वेगवान् है वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो ॥६॥]

जिस चित्त या मन को श्रुति में इतना अधिक फुर्तीला, सोते-जागते पल-भर में करोड़ों मीलों से भी अधिक दूर तक चला जाने वाला, सूर्य, चन्द्र आदि से भी अधिक ज्योति वाला कहा गया है, जिसकी सहायता से विज्ञान-वेत्ता नित्य नए आविष्कार करते हैं, जिसकी सहायता से कवि लोग कविता के गगन पर बहुत ऊँचाई तक उड़ते हैं, जो शरीर के भीतर की प्रजाओं का नियन्त्रण करता है, प्रबल सत्ता धारी बन कर सारे जीव-जगत् का नेता बन

जाता है, शरीर में अन्तःकरण, चित्त, मन, बुद्धि और धृति का रूप धारण किए रहता है, जिसकी सहायता के बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता है, चारों वेद, षड्-दर्शन, अठारह पुराण आदि सब प्रकार की श्रुति और स्मृति जिसमें रथ के पहियों के अरों की तरह अड़ी हुई हैं—यदि इतना महान् शक्तिशाली मन पूरी तरह से वश में किया हुआ होकर भली-भाँति परमात्मा में स्थित हो जाता है तो पुरुष की सम्पूर्ण कामनाएँ स्वयं अपने आप ही नष्ट हो जाती हैं। फिर उस योगी को परमात्मा के बिना और कुछ दीखता ही नहीं है। जैसे आकाश पर घिरे हुए घने मेघों के विलीन हो जाने से आकाश-मण्डल में देदीप्यमान सूर्य चमकने लगता है इसी प्रकार घोर अन्धकारमय अज्ञान का पर्दा फट जाने से सारा संसार विलीन होकर केवल एक मात्र परमात्मा ही सर्वत्र व्यापक शेष रह जाता है। योगी का अपना व्यक्तित्व भी जुदा या शेष नहीं रहता। वह स्वयं अपने को भी उसी रूप में देखता है।

उस समय न कोई भोग वस्तु शेष रहती हैं, न उसकी आकांक्षा ही होती है। स्वर्ग-नरक आदि सब लुप्त हो जाते हैं। फिर संपूर्ण भोगों की स्पृहा से रहित इस योगी पुरुष को परमात्मा से युक्त हुआ कहा जाता है ।।१८।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।१९।।

यथा दीपः+निवात-स्थः+न+इङ्गते सा+उपमा स्मृता। योगिनः+यत-चित्तस्य युञ्जतः+योगम्+आत्मनः ।।

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=यथा। जिस प्रकार। जिस भान्ति। ज्यों। जैसे।

दीपः=(पुं०)√दीप् (दिवा० आत्म० अक०=चमकना)+क=दीप्त करने वाला। चमकने वाला। प्रदीप। दीपक। दिया। चिराग।

निवात-स्थः=(वि०) निवाते (=स्थिरवाते स्थाने) स्थितः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। स्थिरवायु स्थान में रखा हुआ। शान्त वायु वाले स्थान में रखा हुआ।

[नि (स्थिर, शान्त)√वा+क्त=निवात+सप्त० ए० व०]। वायु चलने से रहित स्थान में रखा हुआ। [लगभग पूर्ववर्ती सारे टीकाकारों ने 'निवातस्थः" का अर्थ "निर्वाते स्थः", "वात-वर्जिते देशे स्थितः", वायुरहित स्थान में स्थित" किया है। परन्तु हमारे विचार में यह अर्थ किसी तरह भी युक्ति-युक्त और संगत नहीं है। तथा भगवान् की सर्वज्ञता के सम्बन्ध

में भी सन्देह उत्पन्न करने वाला है। क्योंकि यह विज्ञान का एक प्रसिद्ध नियम है कि किसी निर्वात स्थान में दीपक एक पल भी जलता नहीं रह सकता। यद्यपि बिजली का बल्ब निर्वात होने से ही प्रकाशित होता है 'निर्' का अर्थ विना होता है परन्तु 'नि' उपसर्ग का अर्थ शान्त या स्थिर भी होता है। इसलिए 'निवात-स्थः' का अर्थ 'स्थिर वायु वाले स्थान में स्थित' या "शान्त वायु वाले स्थान में स्थित" ही युक्ति-युक्त और संगत हो सकता है। और यह उपमा, योगी के जीते हुए चित्त रूप उपमेय के लिए उपयुक्त भी है ॥]

न=(अव्यय) न। नहीं

इङ्गते=√इङ्ग् (भ्वा० उभ० सक०=डोलना। चलायमान होना)+आत्म० लट्०, प्र० पु०, ए० व०,=डोलता है। चलायमान होता है। विचलित होता है।

सा=(सर्व०) तद्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह। वही। वैसी ही।

उपमा=(स्त्री०) उपमीयते अनया इति उपमा। जिससे किसी की समानता की जाए, उसे 'उपमा' कहते हैं। प्र० ए० व०।
[उप√मा+अङ्-टाप्=उपमा। समानता। सादृश्य। तुलना]

स्मृता=(स्त्री०) चिन्तिता।√स्मृ (भ्वा० पर० सक०=स्मरण करना)+क्त+टाप्=स्मृता। प्र० ए० व०। स्मरण की गई है। सोची गई है। मानी हुई है। कही गई है।

योगिनः=(पुं०) योगिन्+षष्ठी० ए० व०=योगी के।

यत+चित्तस्य=(नपुं०) षष्ठी० ए० व०=जीते हुए चित्त की। जीते हुए चित्त वाले की (बहुव्री०)

युञ्जतः=(वि०) युज्+शतृ=युञ्जत्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=(योग द्वारा परमात्मा में) जुड़े हुए का। (समाधि में) स्थित हुए का। (ध्यान में) लगे हुए का।

योगम्=(पुं०) द्विती० ए० व०। योग में। योग द्वारा परमात्मा में। समाधि में। ध्यान में।

आत्मनः=(पुं०) आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=आत्मा के। परमात्मा के।

अर्थ—जैसे स्थिर या शान्त वायु वाले स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति चलायमान नहीं होती है वही उपमा (शान्त स्थान में) भगवान् के ध्यान में, समाधि स्थित हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है। [अथवा जीते हुए चित्त वाले योगी की कही गई है।] ॥१९॥

व्याख्या—यद्यपि भूगोल के चारों ओर वायु गलाफ़ की तरह चढ़ी हुई है

और यह जल और मिट्टी में भी सब जगह मिली हुई है। साधारण वायु में पांचवीं आक्सीजन गैस होती है जो जीवनधारियों के प्राणों की रक्षा करती है। प्राणियों के शरीर असंख्य जीवित कोशिकाओं से मिलकर बने हुए होते हैं। वे सब कोशिकाएँ लाल खून में मिली हुई रक्त-कणिकाओं द्वारा आक्सीजन को ग्रहण करके ही जीवित रहती हैं। इसी आक्सीजन से अग्नि प्रज्वलित होती है। निर्वात स्थान पर अग्नि एक पल भी जल नहीं सकती। वह इस वायु का अभाव हो जाने से तत्काल बुझ जाती है। दीपक की ज्योति का भी यही हाल है अर्थात् यदि वायु की आक्सीजन दीपक की ज्योति को न मिले तो उस स्थान में दीपक जलता नहीं रह सकता। इसलिए सब विद्याओं के पूर्ण ज्ञाता भगवान् ने 'निर्वातस्थः' न कह कर 'निवात-स्थः' पद का प्रयोग किया जिसका अर्थ 'स्थिर या शान्त वायु वाले स्थान में स्थित' होता है परन्तु टीकाकारों ने दोनों पदों को पर्यायवाचक समझकर इस पद का अर्थ "वायु रहित स्थान में स्थित" कर दिया है जो प्रकृति निरीक्षण से उल्ट होने के कारण ठीक नहीं है॥

वायु केवल एक हज़ार मील की ऊँचाई तक ही भूगोल के सब ओर विद्यमान है। उसके ऊपर का स्थान या बाह्य अन्तरिक्ष निर्वात या वायु-रहित होता है। वहाँ पर न अग्नि जल सकती है न प्राणी पृथिवी से ले जाई गई आक्सीजन के विना जीवित रह सकते हैं। यदि निवात का अर्थ 'गतिरहित वायु' कर दिया जाता, तब भी कोई बात समझ में आ जाती। जहाँ पर आँधी या तेज हवा चलती है वहाँ पर दीपक की ज्योति हिलती रहती है अथवा बुझ जाती है। ये आँधियाँ, बादल, बिजली, वर्षा आदि पृथ्वी से सात-आठ मील तक ऊँची वायु में ही होते हैं। धूलि भी इसी में उड़ती है। वायु के इस भाग को परिवर्त-मण्डल कहते हैं। इस मण्डल में हम अग्नि जला सकते हैं और इसी में हम अच्छी तरह से सांस ले सकते हैं। पचास मील ऊँचाई तक वायु का प्रशान्त-मण्डल है। इसके ऊपर एक हज़ार मील तक अयन-मण्डल है ज्यों-ज्यों हम ऊँचाई पर चढ़ते जाते हैं, वायु सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम होती जाती है जिसमें न जीव जीवित रह सकते हैं न अग्नि प्रदीप्त हो सकती है। इसलिए निवात शब्द का अर्थ 'वायु रहित स्थान" न करके 'वायु न चलने वाला स्थान' ही करना चाहिए॥

इस श्लोक में शब्द 'दीप', 'प्रकाशमान दीप-शिखा' या 'दीपक की लौ' का वाचक है। श्रुति में मन या चित्त को 'ज्योतिषां ज्योतिरेकं' 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरञ्जविष्ठम्' कहा है। अर्थात् मन बहुत प्रकाशमान और चंचल है। दीप-शिखा भी चित्त की भान्ति प्रकाशमान और चंचल होती है। विषयों की वायु से जिस प्रकार मन चलायमान हो जाता है उसी प्रकार प्राकृत या नैसर्गिक वायु के

चलने से दीप-शिखा भी डोलने लगती है और आँधी के चलने से बुझ भी जाती है। परन्तु जैसे वायु के न चलने से दीप-शिखा डोलती नहीं है उसी प्रकार अच्छी तरह से वश में किया मन (अथवा वश में किए हुए चित्तवाला योगी) योगाभ्यास की समाधि के समय अथवा ध्यान काल में अडोल होकर परमात्मा में स्थित रहता है।

जैसे एक पात्र का तैल दूसरे पात्र में उडेलने वाला पुरुष एकाग्रचित्त होता है, जैसे ऊँची उठती हुई लहरों के समय नाव को बचाने वाला नावक एकाग्रचित्त होता है, जैसे बहुत जन-समूह की भीड़-भाड़ में मोटर लेकर लांघ जाने वाला ड्राइवर चुस्त और एकाग्र-चित्त होता है इसी प्रकार सिर पर कई घड़े रखकर रस्सी पर चलती हुई नटी जैसे सावधान और एकाग्रचित्त होती है वैसे ही मन को भली-भाँति वश में किया हुआ समाधिस्थ योगी भी परमात्मा में एकाग्रचित्त हो जाता है। यद्यपि योग का अर्थ—'अलौकिक अथवा चाहे जो करने की शक्ति' भी होता है परन्तु यहाँ इस श्लोक में योग का अर्थ 'चित्त-वृत्ति निरोध' रूपी पातञ्जल याग का संबंधी ही है॥

महाभारत में लिखा है—

'मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं च
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक—
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥'

(महा० ३।२८।३५॥)

[अर्थ—मन जब मुक्त-आश्रय, निर्विषय और विरक्त हो जाता है, तब वह दीप-शिखा के, दीपक सहित की तरह, देह के साथ ही निर्वाण (=मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है। फिर वह पुरुष तीनों गुणों के प्रवाह से निवृत्त हुआ विना किसी विघ्नबाधा के केवल एक आत्मा (परमात्मा) को ही देखता है॥]

श्रुति में कहा गया है—

'यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वं तत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥' (श्वेताश्व० २।१५॥)

[अर्थ—जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाश स्वरूप आत्मभाव से ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार करता है, उस समय उस अजन्मा, निश्चल और सब तत्त्वों से विशुद्ध देव (आत्मा या) परमात्मा को जान कर सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।]

योगारूढ पुरुष भगवान् विष्णु की तरह प्रसन्न वदन होता है। निराभिमान होता है। क्रोधी बन कर दूसरों को काट खाने नहीं दौड़ता। उसका चित्त संयत और तत्त्वचिन्तन में पूर्ण युक्त होने से प्रकाश रूप और निश्चल होता है। उसका चित्त कभी मरा हुआ या बुझा हुआ नहीं होता। वह स्वप्रकाश से दूसरों के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करता है।

सन्त ज्ञानेश्वर जी अपनी अमृतमयी वाणी की वर्षा इस प्रकार बरसाते हैं—

"जिस समय क्रियाओं के संयम का योग के साथ मेल होता है उस समय यह शरीर पवित्र प्रयाग क्षेत्र ही हो जाता है। ऐसे शरीर में जिसका मन ऐसी दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है कि जब तक शरीर पात न हो, तब तक विचलित नहीं होता।

हे अर्जुन! उसी को तुम योग-युक्त समझो। प्रसंग-वश मैं तुम्हें यह भी बतला देता हूँ कि ऐसे योग-युक्त की उपमा शान्त वायु स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति के साथ दी जाती है।१९॥"

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यत्र+उपरमते चित्तम्+निरुद्धम्+योग-सेवया। यत्र च+एव+आत्मना+आत्मानम्+पश्यन्+आत्मनि+तुष्यति।

यत्र=(अव्यय) यस्मिन् काले। जिस समय। जब। जिस अवस्था में।

उपरमते=उपरतिं गच्छति। उप√रम् (भ्वा० आत्म० अक०)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=उपरति को प्राप्त हो जाता है। उपरत हो जाता है। उप=ऊपर, रम्=प्रसन्न होना। प्रसन्न होने से ऊपर हो जाता है। उपशम को प्राप्त हो जाता है। वैराग्य को प्राप्त हो जाता है। शान्ति को प्राप्त हो जाता है। परमानन्द घन परमात्मा में तोष को प्राप्त हो जाता है।

चित्तम्=(नपुं०)√चित् (सचेत होना)+क्त=चित्त+प्र० ए० व०=सचेत होने वाला—चित्त। मन। अन्तःकरण।

निरुद्धम्=(वि०) नि√रुध्+क्त=निरुद्ध+(नपुं०) प्र० ए० व०=निरुद्ध किया हुआ। सब ओर से रोका हुआ। अच्छी तरह से चंचलता से रहित किया हुआ। सब ओर से हटा कर एकमात्र परमात्मा में ही भलीभान्ति स्थापित किया हुआ।

योग-सेवया=(स्त्री०) योगस्य सेवया। सेवा+तृती० ए० व०=सेवया।

योग-सेवन करने से । समाधि द्वारा । निरन्तर ध्यान-योग के अभ्यास से । योगाभ्यास द्वारा । योग के अनुष्ठान से ।

यत्र = (अव्यय) जब । जिस काल में । जिस अवस्था में ।

च = (अव्यय) और ।

एव = (अव्यय) ही ।

आत्मना = (पुं०) आत्मन् + तृती० ए० व० = आत्मना (समाधिपरिशुद्धन अन्तःकरणेन) = (समाधि द्वारा) परिशुद्ध हुए अन्तकरण से । शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ।

आत्मानम् = (पुं०) आत्मन् + द्विती० ए० व० = परम चैतन्य ज्योति स्वरूप आत्मा (= परमात्मा) को । आत्मा को ।

पश्यन् = (वि०) √दृश् + शतृ = पश्यत् + (पुं०) प्र० ए० व० = देखता हुआ । साक्षात् करता हुआ । पाता हुआ ।

आत्मनि = (पुं०) आत्मन् + सप्त० ए० व० = अपने आप में ही । परमात्मा में ही ।

तुष्यति = √तुष् + लट्० प्र० पु०, ए० व० = सन्तुष्ट होता है ।

अर्थ—जिस समय (या जिस अवस्था में) योगाभ्यास से निरुद्ध (सब ओर से हटा कर, चंचलता से रहित किया हुआ चित्त, एक मात्र परमात्मा में ही भली-भान्ति स्थापित किया) हुआ, (संसार के सम्पूर्ण विषयों से) उपराम (वैराग्य युक्त, शान्त, या परमानन्द घन परमात्मा में तोष को प्राप्त हुआ) हो जाता है और जिस समय (या जिस अवस्था में) निरन्तर ध्यान योग के अभ्यास से (समाधि द्वारा) शुद्ध हुई सूक्ष्म-बुद्धि से (योगी पुरुष) अपने आप में परम चैतन्य ज्योतिस्वरूप परमात्मा को देखता हुआ सन्तुष्ट हो जाता है ॥२०॥

व्याख्या—जिस समय योगी निरन्तर ध्यान-योग का अभ्यास करता है, तब कुछ काल के अनन्तर उसका चित्त एकाग्र होकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है । बाह्यवृत्तियाँ धीरे-धीरे रुकने लगती हैं । मन की संपूर्ण कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं । संसार की वस्तु या विषय में रस शेष नहीं रहता । उसके लिए केवल एक परमात्मा के विना और कुछ शेष नहीं रह जाता । संसार की संपूर्ण वस्तुओं और जीव समुदाय में केवल एक ही स्थायी सत्ता कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होने लगती है । सब सृष्टि काल्पनिक हो जाती है और स्वप्न-वत् भासमान होने लगती है । कोई अपना दिखाई नहीं देता और न कोई पराया दीखता है और किसी की तो बात ही क्या है, स्वयं अपना आप भी वर्तमान रूप में भासमान नहीं होता । मन का भ्रम मिट

जाता है। अपना आप खो जाता है। संसार इच्छा और भावना-मय हो जाता है। यद्यपि यह इच्छा किसी कारण विशेष से नहीं होती केवल सहज स्वभाव ही होती है। ऐसा योगी साधारण जन-समुदाय को देह-धारी परमात्मा ही दिखाई देता है। जिस प्रकार ईंधन न मिलने से अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है इसी प्रकार चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से विषयों का चारा समाप्त हो जाने से योगी संसार से उपराम होकर तथा परमानन्द-घन परमात्मा में स्थित होकर तोष को प्राप्त कर लेता है। इस विषय में एक प्रसिद्ध श्रुति इस प्रकार है—'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' अर्थात् छोटे बड़े सम्पूर्ण प्राणियों को आनन्दित करने वाला जो मोदनीय परमात्मा है, उसको प्राप्त करके वह योगी पुरुष अपने को कृतार्थ समझता हुआ मोद को प्राप्त होता है।

वास्तविक तथ्य तो यह है कि अपना दृश्यमान स्वरूप तो प्रकृति द्वारा रचे गए पंचतत्त्वों का संघात है, जो नष्ट और लुप्त होने वाला है। इस देह को कार्यशील करने वाली शक्ति तो वही एक है, जो अन्य सब शरीरों को भी कार्यशील करती है। वह शक्ति हम सब का आत्म रूप है। जब योगी उसी आत्मस्वरूप के ध्यान में पूर्णतया रम जाता है तब उसी समय उसका चित्त सर्वथा संसार से उपरत हो जाता है और वास्तव में उसका सम्बन्ध संसार से टूट जाता है। तब उसकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध और सूक्ष्म हो जाती है जिससे वह अपने आप में उस परम चैतन्य ज्योतिस्वरूप परमात्मा को देखने लगता है और उसी में संतुष्ट और शान्त होकर स्थित हो जाता है। जब यह अवस्था हो जाती है, तो—(अगले तीन श्लोकों में पढ़िए) ।।२०।।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।२१।।

सुखम्+आत्यन्तिकम्+यत्+तत्+बुद्धि-ग्राह्यम्+अति+इन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न च+एव+अयम्+स्थितः+चलति तत्त्वतः ।

सुखम्=(नपुं०) सुख+प्र० ए० व०=सुखम् । मन की वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति, जिसके द्वारा अनुभव-कर्त्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है। सुख। शान्ति।

आत्यन्तिक=वि०) अत्यन्त+ठक्—इक, वृद्धि। अत्यन्तम् एव भवति इति-आत्यन्तिक। अनन्त। स्थायी। अविनाशी। (नपुं०) प्र० ए० व०।

यत्=(सर्व०, वि०) यद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्वती०, प्र०, ए० व०=उसको। वह।

बुद्धि-ग्राह्यम्=(वि०) बुद्धया एव (इन्द्रियनिरपेक्षया) गृह्यते—इति बुद्धि-ग्राह्यम्। (नपुं०) प्र० द्वितीо ए० व०। इन्द्रियों की कुछ भी अपेक्षा न करके केवल बुद्धि से ही ग्रहण किए जाने योग्य। शुद्ध, निर्मल और सूक्ष्म बुद्धि से ही ग्रहण किया जानेवाला।

अति-इन्द्रियम्=(वि)। (नपुं०), प्र०, द्वितीо ए० व०। इन्द्रिय-गोचर-अतीतम्। इन्द्रियों से अतीत। इन्द्रियों की पहुँच से परे का। विषयों से न उत्पन्न होने वाला। नेत्रादि इन्द्रियों से न जानने योग्य।

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= जानता है। अनुभव करता है।

यत्र=(अव्यय) जिस अवस्था में। जिस काल में। जब।

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह (योगी)।

स्थितः=√स्था+क्त=स्थित+(पुं०) प्र० ए० व०=स्थित हुआ। आत्म-स्वरूप में स्थित हुआ।

चलति=√चल्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=चलता है। हिलता है। चलाय-मान होता है। विचलित होता है।

तत्त्वतः=(नपुं०) √तन्+क्विप्, तुक्, पृषो० साधुः, तस्य भावः, तत्+त्व =तत्त्व+तस्=तत्त्वतः। यथार्थ रूप से। वास्तविक स्वरूप से। भगवत् स्वरूप से।

अर्थ—वह जो (नेत्रादि) इन्द्रियों से न जाना जाने वाला, केवल शुद्ध, निर्मल और सूक्ष्म-बुद्धि से ही ग्रहण किया जाने योग्य, अत्यन्त अविनाशी सुख है, उसको जब यह (योगी) अनुभव करता है और फिर जब उसमें स्थित हुआ अपने उस वास्तविक स्वरूप से डोलता या विचलित नहीं होता॥२१॥

व्याख्या—जब हमें अच्छा भोजन प्राप्त होता है तो उसको खाकर तृप्ति, सन्तुष्टि और सुख प्राप्त करते हैं। जब किसी सुन्दर वस्तु अथवा अपने मित्र या प्रियजन को देखते हैं, तो सुख और आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार जब कोई मधुर गीत अथवा प्रिय-वचन सुनते हैं तो सुखी और सन्तुष्ट होते हैं। सुगन्धियों के सूंघने से अन्तःकरण की प्रसादिता को प्राप्त करते हैं और स्त्री, पुरुष दोनों परस्पर के संभोग से अत्यन्त आनन्द का अनुभव करते हैं। कविवर विहारी ने कहा है,

"तन्त्री-नाद कवित्व-रस, सरस-राग रति-रंग ।
अनबूढे बूढे, तिरे, जे बूढे सब अंग ॥"

[अर्थ—वीणा के तारों की झंकार में, उत्तम कविता के रस में, रसीले गायन में तथा स्त्री-संभोग-सुख में जो लोग डूब गए हैं—सुख-विभोर हो चुके हैं वे इस संसार-सागर से पार हो चुके हैं। परन्तु जिन लोगों ने इन चारों में रस और सुख का अनुभव नहीं किया है, वे इस संसार-सागर में डूब गए हैं।]

परन्तु उपरोक्त प्रकार के सब सुख इन्द्रियों के भोगों से उत्पन्न होते हैं। राजस और तामस होते हैं। क्षणभंगुर होते हैं। इन्द्रियों से संबन्धित होते हैं। जन्ममरण के चक्कर में फंसाने वाले होते हैं। क्षणिक और नाशवान् होते हैं। कुछ समय के अनन्तर दुःखों का हेतु हो जाते हैं। प्रमाद, आलस्य और निद्रा का कारण बन जाते हैं। अज्ञान उत्पन्न करते हैं। परमात्मा के साक्षात्कार में बाधक बन जाते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक होते हैं तथा देश, काल, वस्तु परिच्छद होते हैं। अर्थात् देश, काल और वस्तु से संबन्धित होते हैं। इसलिए ये सब सुख स्थायी नहीं होते। इन सुखों की प्राप्ति या स्थिरता क्षणिक होती है। तथा काल पाकर ये सुख वियोग और दुःख का कारण बन जाते हैं। क्योंकि ये सुख नष्ट हो जाने पर अपनी मधुर-स्मृति से तड़पाते और कल्पाते हैं। इनसे विषय-वासना इस भान्ति भड़क उठती है, जिस प्रकार तृषित पुरुष की जल-तृष्णा नमकीन जल पीने से और भी भड़क उठती है।

परन्तु आत्म-सुख एक ऐसा सुख है, जो ऊपर कहे हुए दोषों से सर्वथा रहित है। भगवान् ने स्वयं उस सुख में तीन विशेष गुणों का वर्णन किया है—

"१—आत्यन्तिक अर्थात् वह अत्यन्त सुख है। उसके तुल्य या उससे बढ़कर, कहीं भी, किसी काल में भी या किसी वस्तु में भी अन्य कोई सुख नहीं है। गीता अध्याय १८ के ३६, ३७, ३८, ३९ चार श्लोकों में तीन प्रकार के सुखों का वर्णन किया गया है—(क) जिस सुख में (साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के) अभ्यास से रमण करता रहता है तब वह दुःखों से छूट जाता है। वह पहले (साधन काल में) विष सदृश या कष्ट-साध्य प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य सदा के लिये जीवन-दाता होता है। इसलिए वह परमात्मा सम्बन्धी बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सात्त्विक-सुख कहलाता है।

(ख) जो सुख विषयों और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह पहले (भोग काल में) अमृत के तुल्य प्रतीत होता है और परिणाम में विष के सदृश महाहानिकारक होता है। इसलिए वह सुख राजस कहलाता है।

(ग) जो सुख पहले (भोग-काल में) दुःखदायी, और परिणाम में आत्मा को मोह में डाल कर जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करानेवाला होता है वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख, तामस कहा जाता है।"

परन्तु इस वर्तमान श्लोक में कहा गया सुख इन सब सुखों से भिन्न, उत्तम, अलौकिक और अन्तिम होता है। क्योंकि राजस और तामस सुखों की तो बात ही क्या है ? परमात्मा के ध्यान द्वारा होने वाला सात्त्विक सुख भी, इन्द्रियों से अतीत, बुद्धिग्राह्य और इस अक्षय सुख में कारणभूत होने से अन्य सांसारिक सुखों की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है। परन्तु वह केवल ध्यान काल तक ही सीमित है। सदा एकरस नहीं बना रहता तथा वह तो चित्त की एक अवस्था विशेष ही होती है।

२—यह विलक्षण और अलौकिक आत्म-सुख अतीन्द्रिय होता है अर्थात् इस सुख से इन्द्रियों का किसी प्रकार का तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता। इन्द्रियों द्वारा इस सुख को अनुभव भी नहीं किया जा सकता है। क्योंकि यह इन्द्रियों द्वारा भोगा जाने वाला ही नहीं होता। यह सुख तो इन्द्रियों से बहुत परे की बात है। यह आत्म-सुख तो विषय-जन्य सुख से सर्वथा विलक्षण और भिन्न होता है।

३—यह आत्म-सुख बुद्धि-ग्राह्य होता है। गाढ-निद्रा का नाम सुषुप्ति है। इस अवस्था में भी मनुष्य सुख का अनुभव करता है क्योंकि जब वह इस अवस्था को त्याग कर जागृत होता है तो कहता है कि आज तो मैं बहुत सुख से सोया हूँ। परन्तु यह आत्म-सुख तो सुषुप्ति-सुख से भी भिन्न होता है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में अन्य इन्द्रियों की भाँति बुद्धि भी विश्राम करती है अथवा लय हो जाती है। इसलिए सुषुप्ति का सुख बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होता। वह भी इन्द्रियों के विश्राम से ही सम्बन्ध रखता है। परन्तु परमात्मा में लीन होने से तो वह बुद्धि सो नहीं जाती अपितु सर्व-वृत्तियों से रहित हुई परमात्मा में स्थित होती है जिससे वह आत्म-सुख या ब्रह्म-सुख बुद्धि से अनुभव या ग्रहण किया जाता है। समाधि-अवस्था में वह ब्रह्मरूप सुख बुद्धि द्वारा ग्रहण होता है। यह बात गौडपादाचार्य द्वारा भी कही गई है।

"लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते" अर्थात् वह मन सुषुप्ति अवस्था में तो अज्ञान में लय भाव को प्राप्त हो जाता है और समाधि समय में तो निगृहीत (वशीभूत) किया हुआ लय भाव को प्राप्त नहीं होता॥

इसलिए भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियों से परे केवल बुद्धि से ग्रहण करने योग्य वह जो (ब्रह्मरूप) अत्यन्त सुख है उसको जब यह (योगी) अनुभव करता है अथवा उसका साक्षात्कार कर लेता है वहाँ स्थित होकर फिर तत्त्व वस्तु अर्थात् ब्रह्म से योगी चलायमान नहीं होता है॥

[इससे आगे जानने के लिए अगले दोनों श्लोक पढ़िए] ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

यम्+लब्ध्वा च+अपरम्+लाभम्+मन्यते न+अधिकम्+ततः । यस्मिन्+स्थितः+न दुःखेन गुरुणा+अपि विचाल्यते ॥

यम्=(सर्व०) यद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=जिसको । जिस (आत्मलाभ) को । (परमात्मा की प्राप्ति रूप) जिस (लाभ) को ।

लब्ध्वा=लभ (भ्वा०, आत्म०, सक=प्राप्त करना)+क्त्वा । प्राप्य । प्राप्त करके । प्राप्त होकर ।

च=(अव्यय) और ।

अपरम्=(वि०) न परम् (नञ्०) । (पुं०) द्विती० ए० व०=दूसरे किसी को। दूसरा कुछ भी ।

लाभम्==(पुं०)√लभ्+घञ्=लाभ+द्विती० ए० व०=लाभ को। प्राप्ति को ।

मन्यते=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना । मानना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=जानता है । मानता है ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अधिकम्=(वि०) अधिक+(पुं०) द्विती० ए० व० । बढ़कर । अधिक । ज्यादा । उत्तम ।

ततः=तद्+तसिल्=ततः=उससे । ततः (अव्यय)=फिर । तब ।

यस्मिन्=(सर्व०) यद्+(पुं०) सप्त० ए० व०=जिसमें । जिस अवस्था में । भगवत्प्राप्ति रूप जिस अवस्था में ।

स्थितः=√स्था+क्त=स्थित+(पुं०) प्र० ए० व०=स्थित हुआ । टिका हुआ। (आत्मतत्त्व में) स्थित हुआ (योगी) ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

दुःखेन=(नपुं०) दुःख+तृती० ए० व०=दुःख से । [(शस्त्राघात आदि बड़े भारी) दुःख द्वारा ।]

गुरुणा=(वि०) गुरु+(नपुं०) तृती० ए० व०=बड़े से । भारी से । बड़े भारी से । बहुत बड़े से ।

अपि=(अव्यय) भी ।

विचाल्यते=वि√चल्+णिच्+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व०=विचलित किया जाता है । चलायमान किया जाता है । डुलाया जाता है ॥

अर्थ—(परमात्मा की प्राप्ति रूप) जिस (अवस्था विशेष के) लाभ को पाकर (वह योगी) उससे अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं मानता है तथा जिस अवस्था (आत्म-तत्त्व-परमात्मा) में स्थित हुआ (वह योगी) [शस्त्राघात आदि] बड़े भारी दुःख द्वारा भी चलायमान या विचलित नहीं किया जा सकता है। ॥२२॥

व्याख्या—निरतिशय (ऊँचे दर्जे की) आत्मस्वरूपा, नित्य-सुख की अभिव्यंजिका, जो सर्ववृत्तियों से रहित चित्त की निरोध नामक अवस्था-विशेष है, उसको निरन्तर योगाभ्यास की परिपक्वता से संपादन करके योगी उस अवस्था-विशेष से बढ़कर दूसरे किसी लाभ को अधिक नहीं मानता है और उस अवस्था को प्राप्त करके ही अपने आपको कृतकृत्य जानता है। स्मृति का वचन है—"आत्म-लाभान्न परं विद्यते" अर्थात् आत्मा (परमात्मा) के लाभ से परे या बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं है। चाहे उस लाभ वाली अवस्था का नाम योग-अवस्था कहा जाए, चाहे परमात्मा वा आत्म साक्षात्कार रूप अवस्था कहा जाए परन्तु इन दोनों का भाव एक ही है। इस स्थिति में योगी को परमानन्द और परम-शान्ति के निधान परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार आत्म-लाभ या आत्म-स्वरूप अथवा परमात्मा-प्राप्ति रूप सुख में स्थित हो जाने से बहुत बड़े भयानक दुःखों से छुटकारा पा जाता है। इस संसार में साधारण दुःखों को सहारा लेने की तो कोई बात ही नहीं है। उन्हें तो धैर्यवान् और सहनशील पुरुष भी सहनकर लेते हैं। परन्तु आत्म-लाभ को प्राप्त हुआ योगी तो शस्त्रों के आघात, पत्थर-वर्षा की चोटें, अंग सुलानेवाली खूनी बर्फ़ की असह्य शीतलता, जलती हुई रेत की दाह्यता, लाल अंगारा बने हुए लोहे के तवों की दुःसह भयानक गर्मी, अंग-अंग में लोह-कीलों के गाड़े जाने की वेदना, लोहे की छेनियों से खोपड़ी उतारे जाने का दुःख, आरे से चीरे जाने की पीड़ा आदि अत्यन्त भयंकर और असहनीय दुःखों से भी विचलित नहीं किया जा सकता। क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने के अनन्तर वास्तव में उस योगी का सम्बन्ध अपने इस भौतिक शरीर से टूट जाता है। वह शरीर केवल लोक-दृष्टि से ही उसका अपना समझा जाता है। जिस प्रकार किसी मकान में रहने वाला पुरुष कभी उस मकान में प्रवेश करता है, तथा कभी बाहर निकल जाता है। यही अवस्था आत्म-लाभ प्राप्त किए हुए योगी की होती है। क्योंकि शरीर रूपी भवन को वह घर या अपना आप नहीं समझता है इसलिये उसके साथ उसका किसी प्रकार का महत्त्व-भाव भी नहीं होता, जिससे वह इस अधम शरीर के निमित्त कोई पाप या पुण्य नहीं करता है। उसकी दृष्टि में तो उसका शरीर धर्मशाला या सराय के समान होता है जिसमें रहकर

वह बिना किसी क्षोभ के चला जाता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए सन्त शिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर जी कहते हैं—

"उस समय चाहे मेरु पर्वत के समान भारी दुःख का पर्वत भी उसके शरीर पर क्यों न आपड़े, परन्तु फिर भी उससे उसका चित्त कभी विचलित नहीं होता है। अथवा चाहे उसका शरीर शस्त्रों से छेद कर डाला जाए और चाहे वह अग्नि में जा पड़े परन्तु फिर भी आत्म-तत्त्व के महासुख में सोया या एक-रस हुआ चित्त जागने या उससे विलग होने का नाम नहीं लेता। जब चित्त इस प्रकार आत्म-तत्त्व में विलीन हो जाता है, तब वह इस शरीर की ओर कभी भूलकर भी नहीं देखता। उसे अलौकिक आत्म-सुख प्राप्त हो जाता है और इसलिये वह इस शरीर के सुख-दुःख की सब बातें ही भूल जाता है।।

इसलिये जिस अवस्था में इन्द्रियों से परे, बुद्धि से ग्रहण करने योग्य, अनन्त सुख की जहाँ प्राप्ति होती है और जहाँ रहकर योगी किसी बड़े से बड़े दुःख द्वारा भी मूल तत्त्व परमात्मा से अलग नहीं होता।

[इससे आगे समझने के लिए अगला श्लोक पढ़िए] ।।२२।।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।२३।।

तम्+विद्यात्+दुःख-संयोग-वियोगम्+योग-संज्ञितम् । सः+निश्चयेन योक्तव्यः+योगः+अनिर्विण्ण-चेतसा ।।

तम्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्वितीο एο वο=उसको।

विद्यात्=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=जानना चाहिए। समझना चाहिए। (विजानीयात्)।

दुःख-संयोग-वियोगम्=(पुं०) दुःखैः संयोगः (तृती० तत्पु०)=दुःखसंयोगः, तेन वियोगः=दुःखसंयोगवियोगः, तं—दुःखसंयोगवियोगम् (द्विती० ए० व०)। दुःखों के साथ संयोग (मेल) से रहित स्थिति को।

योग-संज्ञितम्=(पुं०) 'योगः' इति एव संज्ञितम्। द्विती० ए० व०= 'योग' नाम वाले को।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

निश्चयेन=(पुं०) निश्चय+तृती० ए० व०=निश्चय से। निश्चयपूर्वक।

योक्तव्यः=√युज्+तव्यत्=योक्तव्य+(पुं०) प्र० ए० व०=साधन करना चाहिए। अनुष्ठान करने योग्य है। करना कर्तव्य है।

योगः=(पुं०) योग+प्र० ए० व०। योग।

अनिर्विण्ण-चेतसा=(नपुं०) तृती० ए० व०। न निर्विण्णम्=अनिर्विण्णम्

(नञ् तत्पु०) तत् चेतः, तेन=निर्वेद-रहितेन चेतसा (=चित्तेन)। (चेतस् +तृती० ए० व०=चेतसा) न उकताए हुए चित्त से। उद्वेगरहित चित्त से। निर्विण्णताहीन चित्त से। उत्साह और धैर्य भरे चित्त से। तत्पर हुए चित्त से।

अर्थ—उस योग-संज्ञक, दुःखों के साथ संयोग (मेल) से रहित (स्थिति-या कर्तव्य-परायणता) को जानना चाहिए। वह योग, निश्चय-पूर्वक न उकताए हुए (निर्वेद रहित) चित्त से (अर्थात् उत्साह और धैर्य भरे चित्त से) करना चाहिए ॥२३॥

व्याख्या—योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस अवस्था में उपराम हो जाता है और जब वह आत्मा से ही आत्मा (परमात्मा) को देखता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, (गी०६।२०) ॥ वह जो इन्द्रियों से परे, बुद्धि से ग्राह्य अत्यन्त सुख है, जिसको जानकर उसमें स्थित हुआ योगी फिर तत्त्व से नहीं डोलता है (गी० ६।२१) ॥ जिसको पाकर फिर उससे बढ़ कर और कोई लाभ नहीं मानता है तथा जिसमें स्थित हुआ योगी महान् दुःखों से भी हिलाया डुलाया नहीं जाता है। (गी० ६।२२)।

इन दुःखों के संयोग (मेल) से छुटकारा पाना ही योग साधन का फल है।

इस प्रकार सब वृत्तियों से रहित परमानन्द की अभिव्यञ्जिका और बहुत से विशेषणों से कही गई चित्त निरोध नाम वाली एक अवस्था विशेष होती है जो संसार के बहुत बड़े भयानक दुःखों के उपस्थित हो जाने पर भी उनसे वियोग करा देती है। इतिहास में उन अनेक महापुरुषों की गाथाएँ वर्णन की गई हैं जिन्होंने हँसते हुए इन महान् दुःखों का आवाहन किया था और तनिक भी दुःख का अनुभव न किया था। प्रह्लाद, दधीच, हकीकत, गुरु अर्जुन देव, गुरु तेगबहादुर, सरमद, मनसूर, ईसा और भक्तसिंह आदि अनेक ऐसे महापुरुष हो चुके हैं जिन्होंने प्राणों का त्याग भले ही कर दिया परन्तु दुःखों की थोड़ी सी भी परवाह न की थी। योगी पुरुष तो संसार में बहुत ऊँचा उठा हुआ होता है। उसका दुःखों के साथ मेल हो जाने पर भी वह उनके अच्छे बुरे प्रभाव से प्रभावित नहीं होता। उनसे सर्वथा रहित होता है। उसकी उसी अवस्था का नाम योग होता है। वास्तव में वह देह, गेह और शरीर आदि बन्धनों से अपना नाता विच्छेद कर चुका होता है। परमात्मा में जुड़ कर वह अपना आप भी भूल जाता है। केवल एक ब्रह्म के बिना उसे न कहीं कुछ दिखाई देता है, न किसी और का भान होता है। यद्यपि मूर्ख जगत् कभी कभी उसे पागल समझ लेता है परन्तु वह पागल बिल्कुल नहीं होता। यह सारा संसार तो उसकी दृष्टि में केवल माया का प्रसार होता है

जो मिथ्या और क्षणभंगुर है। सब में आत्मा-रूप केवल एक ही शक्ति कार्य करती है जो माया नटी को नचाती है। योगी की आंख जब परमात्मा में खुल जाती है तो वह संसार की ओर से सो जाता है। भगवान् ने स्वयं कहा है—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥२।६९॥"

[अर्थ—जो सब भूत प्राणियों की रात है उसमें संयमी (योगी) जागता है और जिसमें सब जीव जागते हैं वह परमात्मा में लीन मुनि की रात है।]

जब यह अवस्था प्राप्त होती है तो फिर वह योगी किसी भी प्रकार के मोह को प्राप्त नहीं होता और इसी अवस्था में रहता हुआ शरीर त्याग कर मोक्ष या परमात्मा के मेल को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है—

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥२।७२॥

[अर्थ—हे अर्जुन ! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको पाकर मनुष्य फिर विमोह को प्राप्त नहीं होता है। इस स्थिति में स्थित होकर अन्तकाल में वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हो जाता है।]

महर्षि पतंजलि ने योग का लक्षण इस प्रकार किया है—"योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः ॥१।२॥" अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध (सर्वथा रुक जाना) योग है। अगले ही सूत्र में कहा गया है—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥१।३॥" [अर्थ—जब इन चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस समय द्रष्टा की अपने स्वरूप (परमात्मा) में स्थिति हो जाती है।] 'योगः भवति दुःखहा' और यह योग सब दुःखों का नाशक होता है। इसलिये "स निश्चयेन योक्तव्यः" उस योग का निश्चयपूर्वक अनुष्ठान किया जाना चाहिए।

जब साधक के मन में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि मैंने इतनी देर तक योगाभ्यास किया, परन्तु मुझे सिद्धि प्राप्त न हो सकी, तो फिर अब मुझे योगाभ्यास करने से क्या लाभ होगा ? इस प्रकार के भाव का नाम 'निर्वेद' होता है। भगवान् कहते हैं कि इस निर्वेद या निर्विण्णता अर्थात् उकताए हुए भाव से रहित होकर योगाभ्यास करना चाहिए। चित्त-वृत्तियों का निरोध करके निरन्तर योग का अभ्यास करने से परमात्मा में मेल हो जाता है। योगी के शरीर, इन्द्रिय और मन द्वारा चलना, फिरना, देखना, सुनना आदि क्रियाएँ होती ही रहती हैं। परन्तु उसके अन्तःकरण में एक परमात्मा के विना और कुछ नहीं रहता। उसकी यह स्थिति ध्यान काल में और व्युत्थान काल में सदा

एक समान रहती है। इसीसे उसके सब दुःखों का नाश हो जाता है। और वह परमात्मा से मिलकर एकरूप हो जाता है अर्थात् अपने मूल स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥२३॥

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

संकल्पप्रभवान्+कामान्+त्यक्त्वा सर्वान्+अशेषतः। मनसा+एव+इन्द्रिय-ग्रामम्+विनियम्य समन्ततः ॥

शनैः शनैः+उपरमेत्+बुद्ध्या धृति-गृहीतया। आत्म-संस्थम्+मनः कृत्वा न किञ्चित्+अपि चिन्तयेत्।

संकल्प-प्रभवान् कामान्=(पुं०) संकल्पः प्रभवो येषां (कामानां) ते=संकल्प-प्रभवाः (कामाः) तान्=संकल्प से उत्पन्न होने वाले कामों को।

संकल्प=(पुं०) कार्य करने की इच्छा से मन में उत्पन्न होने वाला विचार। धारणा। कल्पना। निश्चय।

प्रभवान्=(पुं०) प्र√भू+अप्=प्रभव+द्विती० ब० व०=प्रभवान् =उत्पन्न होने वालों को। कामान्=(पुं०) काम+द्विती० ब० व०= कामों को। कामनाओं को। इच्छाओं को।

त्यक्त्वा=√त्यज्+क्त्वा=त्याग कर। छोड़कर।

सर्वान्=(सर्व) सर्व+(पुं०) द्विती० ब० व०=सबको।

[यह पद 'कामान्' का विशेषण है]।

अशेषतः=(वि०) न शेषतः=अशेष+तस्। निःशेषता से। लेशमात्र भी शेष न रखते हुए निर्लेप भाव से। वासना आसक्ति आदि पीछे कुछ भी न रखते हुए निर्लेप भाव से। जिसमें से पीछे कुछ भी न बचे।

मनसा=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेन,√मन्+असुन्=मनस्+तृती० ए० व०=मन से। [विवेकयुक्त मन के द्वारा।]

एव=(अव्यय) ही।

इन्द्रिय-ग्रामम्=इन्द्रियाणां ग्रामं (समुदायम् (पुं०) द्विती० ए० व०। इन्द्रियों के समुदाय को। इन्द्रियों के समूह को।

विनियम्य=वि, नि√यम्+ल्यप्=रोक कर। संयम करके। अच्छी तरह से वश में करके।

समन्ततः=(वि०) सम्यक् अन्तो यत्र (प्रा० बहुव्री०)। समन्त+तस्। समन्तात्। सब ओर से। (२४)

शनैः शनैः=(अव्यय) शनैस्। धीरे-धीरे। (एक दम नहीं) क्रम-क्रम से (अभ्यास करता हुआ)।

उपरमेत्=उप√रम् (भ्वा० आत्म० अक०)+विधि० पर०, प्र० पु०, ए० व०=उपराम हो। शान्त हो। उपरामता को प्राप्त हो। वैराग्य या निवृत्ति को प्राप्त हो। उपरति को प्राप्त करे।

बुद्धया=(स्त्री०) बुद्धि+तृती० ए०व०=बुद्धि से। बुद्धि द्वारा।

धृति-गृहीतया=धृतया गृहीतया। गृहीता+ तृती० ए० व०। धैर्य से धारण की हुई द्वारा। धैर्य युक्त द्वारा।

आत्म-संस्थम्=(नपुं०) आत्मनि संस्थम् (आत्मा एव सर्वं न ततः अन्यत् किंचिद् अस्ति इति एवम् आत्म-संस्थम्)। आत्मा में स्थित। परमात्मा में स्थित। प्र० ए० व०। "इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, यह सब कुछ आत्मा ही है" इस प्रकार मन को आत्मा (परमात्मा) में अचल करके (टिका कर)।

मनः=(नपुं०) मनस्+द्वितो० ए० व०=मन को।

कृत्वा=√कृ+क्त्वा=करके।

न=(अव्यय) न। नहीं।

किञ्चित्=(अव्यय) किम्+चित्=कुछ।

अपि=(अव्यय) भी।

चिन्तयेत्=√चिन्त् (चुरा० पर० सक०=सोचना)=विधि०; प्र० पु०, ए० व०=चिन्तन करे। (२५)

अर्थ—संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेष से (अर्थात् लेश-मात्र भी शेष न रखते हुए निर्लेप भाव से) त्याग कर, मन के द्वारा इन्द्रियों के समूह को सब ओर से अच्छी तरह से रोक कर ॥२४॥ धीरे धीरे (क्रमशः) धैर्य से धारणा की हुई बुद्धि से (योग का अभ्यास करता हुआ योगी) उपरामता को प्राप्त हो और मन को आत्मा (परमात्मा) में अच्छी तरह स्थित (या टिका हुआ) करके (विना परमात्मा के और) कुछ भी चिन्तन न करे ॥२५॥

व्याख्या—जो विषय और भोग इस लोक और परलोक में अनर्थ के हेतु होने से अत्यन्त दुष्ट और अधोगति कराने वाले हैं उन विषयों में दुष्टता को न देखकर जो उनमें सौन्दर्य और रस को ही देखता है उस मिथ्या विचार का नाम कल्पना है। इस कल्पना से संकल्प की उत्पत्ति होती है। संकल्प से

आसक्ति का जन्म होता है। आसक्ति से कामनाएं उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी आसक्ति के न होने पर भी संकल्प से ही कामनाएं पैदा हो जाती हैं। वास्तव में कामनाओं का मूल कारण संकल्प ही होता है। स्पृहा, इच्छा, तृष्णा, आशा, अभिलाषा, ईर्ष्या, चाह, वाञ्छा, वासना, लोभ, लालच आदि इस कामना के अनेक स्वरूप होते हैं। साधक को इन सब प्रकार की कामनाओं को पूरी तरह से त्याग कर देना चाहिए। उनका लेशमात्र भी शेष न रहने देना चाहिए। जैसे तेल निकाल लेने पर बोतल को तेल से खाली कहा जाता है, परन्तु तेल का जो लेप बोतल में लगा हुआ होता है, उसी का नाम शेष है। इस शेष से रहित होने पर ही बोतल निर्मल और शुष्क हो सकती है। इसलिए भगवान् ने यहाँ "अशेषत:" पद का प्रयोग किया है। क्योंकि जिस प्रकार रोग का अणुमात्र भी शेष बचा हुआ पुनः वर्धमान होकर समस्त शरीर को रोग ग्रस्त कर देता है इसी प्रकार कामना का लेशमात्र भी शेष रह जाने से साधन अपने महान् लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। परमात्मा को प्राप्त करना गौरीशंकर के शिखर पर चढ़ने से भी कठिनतर है। थोड़ी सी भूल भी फिसलन का कारण बन सकती है। कामनाओं का शेष लेशमात्र भी गिरावट का हेतु हो सकता है। इसलिए संकल्प से उत्पन्न होने वाली संपूर्ण कामनाओं को निःशेष रूप से त्याग कर ही आत्मा को परमात्मा में स्थित और स्थिर किया जा सकता है। स्रक्, चन्दन, रेशमी वस्त्र, संगेमरमर के स्वच्छ, श्वेत, चिकने नयनाभिराम चित्रावली से सुशोभित धवल-धाम, बाग, उद्यान, बागीचे, फुलवाड़ियां, हाथी, घोड़े, सोने चांदी के भूषण, मोती-लाल-जवाहर-हीरों के हार, द्रव्य से भरे हुए भण्डार, धान्य अन्न के गोदाम, मोटर विमान तथा पद्मिनी सुन्दर नारियां इत्यादि इस लोक के भोग, तथा पारिजात, कामधेनु, अमृत के कुण्ड, अप्सरा रूप देवांगनाएं, इन्द्र-लोक का शासन आदि स्वर्ग के भोग भी योगी के लिए तनिक आकर्षक नहीं होते। वे तो उनको नर-कपाल में डाली हुई कुत्ते के भक्षण के उपरान्त वमन की हुई खीर के तुल्य ही समझते हैं। अथवा बिल्ली की विष्ठा के तुल्य समझ कर किसी भी बिषय भोग की कामना नहीं करते हैं। ये सब बातें कहने में जितनी सुगम हैं उतनी करने में अति कठिन हैं। परन्तु प्रतिदिन के अभ्यास और वैराग्य से सब कुछ ठीक हो सकता है। कहा भी है—

"करत करत अभ्यास के, मूर्ख होत सुजान।
रसरी आवत जात से, सिल पर परत निसान ॥"

जिस प्रकार कुएँ में बार-बार डोल डालने से उसकी शिलाओं से निर्मित भित्ति पर गहरे चिह्न बन जाते हैं इसी प्रकार बार-बार के अभ्यास से दृढ़

वैराग्य और विषय वासनाओं में अरुचि हो जाती है।

इन्द्रियों का स्वभाव सदा विषयों में विचरण करने का होता है। परन्तु ये किसी विषय को ग्रहण करने में तभी समर्थ होती हैं, जब मन इनके साथ होता है। जब मन कमजोर होता है तो इन्द्रियां उसे बरबस अपने साथ खींच ले जाती हैं। भगवान ने इस विषय में स्वयं कहा है—

"यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ गी० २।६०॥"

[अर्थ—हे कौन्तेय ! चतुर पुरुष के उद्यम करते रहने पर भी इन्द्रियां ऐसी प्रमथन-शील होती हैं कि उसके मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं।] ॥ परन्तु जब निर्मल और निश्चयात्मिका शुद्ध बुद्धि की सहायता से मन को एकाग्र कर लिया जाता है तब वैराग्य और विवेक की सहायता से मन के द्वारा सब इन्द्रियों को सब ओर से विषयों से हटाकर—॥२४॥ धीरे-धीरे धैर्य ग्रहण की हुई बुद्धि के द्वारा योगी को उपराम हो जाना चाहिए और मन की सब कामनाओं और उनकी सूक्ष्म वासनाओं को पूरी तरह से त्याग करके मन को वश में कर लेना चाहिए और सब ओर भीतर बाहर परमात्मा को अनुभव करते हुए मनको उसमें स्थित और स्थिर कर लेना चाहिए। फिर किसी अनात्म पदार्थ का चिन्तन न करना चाहिए। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन योग के बहिरंग पांच अंगों का पूरी तरह से आचरण करके धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन अन्तरंग अंगों का अनुष्ठान करने का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

१—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥" (यो० ३।१॥) ॥ अर्थात् नाभि-चक्र, हृदय कमल, आदि हृदय के भीतरी भाग (देश) हैं। आकाश या सूर्य चन्द्र आदि देवता, कोई भी मूर्त्ति और सारे पदार्थ बाहर के देश हैं। उनमें से किसी एक शरीर के बाहर या भीतर के देश में चित्त की वृत्ति को लगाने का नाम "धारणा" है।

२—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।" (योग० ३।२॥) अर्थात् जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाए, उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना (केवल ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना) उसके बीच में किसी भी दूसरी वृत्ति का न उठना "ध्यान" है।"

[तत्र='जहाँ चित्त को लगाया जाए' उसी में, प्रत्ययैकतानता='वृत्ति का एक-तार चलना', ध्यानम्='ध्यान है' ॥]

३—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।" (योग० ३।३) अर्थात् अर्थमात्रनिर्भासम्='जब (ध्यान में) केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति

होती है और, स्वरूपशून्यमिव='चित्त का स्व-स्वरूप शून्य सा हो जाता है।' तदेव='वह ध्यान ही समाधिः='समाधि हो जाता है ॥'

ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है, उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय उस ध्यान का ही नाम "समाधि" है।

जब बुद्धि से दृढ़ निश्चय द्वारा धैर्य वाला मन, मनःकामनाओं को रोककर इन्द्रियों को वश में किया हुआ हो जाता है, तब यह निरुद्ध-मन आत्मा में अर्थात् अपने परम शुद्ध स्वरूप परमात्मा के ध्यान में स्थित होने के योग्य हो जाता है। अर्थात् काम तत्त्व से निकलकर आत्म-तत्त्व में प्रवेश करने के योग्य हो जाता है और फिर इस योग्यता के उत्पन्न हो जाने पर आत्मा में स्थित और स्थिर हो जाता है और अन्य सब ओर से नितान्त हट जाता है। श्रुति में कहा है—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

[श्रोत्रादि इन्द्रियों से शब्दादि अर्थ परे (बढ़कर) हैं और इन अर्थों से मन परे है। मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे महान् आत्मा है। महान् आत्मा से परे अव्यक्त है और अव्यक्त से परे परमात्मा है। उस परमात्मा से परे कुछ भी नहीं है। वह परमात्मा ही सबकी अवधि है और वह सब की परा गति है]।

श्रीमद्भागवत महापुराण में लिखा है—

नियच्छेद् विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद् धिया ॥१८॥
तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा।
मनो निर्विषयं युङ्क्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्।
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥१९॥

[द्विती० स्कन्ध। प्रथम अध्याय]

[अर्थ—बुद्धि रूपी सारथि (सहायक) वाले मन के द्वारा इन्द्रियों को विषयों से हटाना चाहिए। और वासनाओं से विषयों में फँसे हुए मन को धैर्य वाली बुद्धि से उपराम करके शुभ अर्थ में लगाना चाहिए। तब फिर उस एक निर्विकार-आत्मा-परमात्मा को अव्युच्छिन्न (उसमें निरन्तर लगे हुए) चित्त से ध्यावे और इस प्रकार निर्विषय मन को आत्म-स्वरूप (परमा-

त्मा) में युक्त करके (जोड़कर) किसी भी अनात्म-पदार्थ का स्मरण न करना चाहिए। इस प्रकार जहां मन प्रसन्न होता है, वहीं विष्णु का उत्तम स्थान है।]

और भी—

"मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत् तमात्मनि। आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥१६॥"

[श्रीमद्भा० २।२।१६॥]

[अर्थ—धीर पुरुष अपनी निर्मल बुद्धि के द्वारा उस मन को रोक कर अपने क्षेत्रज्ञ (आत्मा) में लगाये। इस प्रकार वह धीर पुरुष आत्मा (मन) को आत्मा में अवरुद्ध करके परम शान्ति को पाकर अच्छे बुरे कर्मों से मुक्त हो जाता है ॥] ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यतः+यतः+निश्चरति मनः+चञ्चलम्+अस्थिरम्। ततः+ततः+नियम्य+एतत्+आत्मनि+एव वशम्+नयेत्।

यतः यतः=(अव्यय) यद्+तसिल्=यतस्। यस्मात् यस्मात् शब्दादेः निमित्तात्। जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से। जिस-जिस कारण से।

निश्चरति=निस्√चर् (भ्वा० पर० सक०=चलना)+ लट्०, प्र० पु०, ए० व०=विचरता है। विचलित होता है। बाहर जाता है।

मनः=(नपुं०) मनस्+प्र० ए० व०=मन।

चञ्चलम्=(वि०)√चञ्च् (भ्वा० पर० अक०=हिलना, कांपना)+अलच् =चञ्चल+(नपुं०) प्र० ए० व०=कांपने वाला। एक स्थिति में न रहने वाला। न टिकने वाला। बेसबरा। चुस्त। चंचल। (अत्यर्थं चलम्)।

अस्थिरम्=(वि०) स्थिरं नास्ति यत्, तत् (मनः) [नञ् बहुव्री०]। जो स्थायी या दृढ़ नहीं है, वह (मन)। स्थिर न रहने वाला। [न स्थिरम् (नञ् तत्पु०)]।

ततः ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्। तस्मात् तस्मात् शब्दादेः निमित्तात्। उस-उस विषय से। उस उस विषय रूप निमित्त से। वहां-वहां से।

नियम्य=नि√यम्+ल्यप्=रोककर। हटाकर।

एतत्=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इस (मन) को।

आत्मनि=(पुं०) आत्मन्+सप्त० ए० व०=आत्मा में। परमात्मा में। परमात्मा के।

एव=(अव्यय) ही।

वशम्=(पुं०, नपुं०) वश+द्विती० ए० व०=वश में। काबू में।

नयेत्=√नी (भ्वा० उभ० सक०=ले जाना)+विधि० (पर०) प्र० पु०, ए० व०=लाए। लाना चाहिए।

अर्थ—जिस-जिस (शब्दादि विषय के निमित्त) से चंचल और अस्थिर रहने वाला मन (शरीर से बाहर सांसारिक पदार्थों में) विचरता है, उस-उस (विषय के निमित्त) से इस मन को रोककर (बार-बार) आत्मा (परमात्मा) के वश में लाना चाहिए ॥२६॥

व्याख्या—मनुष्य श्रवण, मनन और पठन से अच्छी तरह जानता है कि पाप-कर्म करना बहुत बुरा होता है। अन्य मनुष्यों को पाप-कर्मों के फल भोगते हुए देख कर वह डरता भी है। वह यह भी भली-भान्ति समझता है कि परमात्मा जगत् के कण कण में विराजमान है तथा हमारे सब अच्छे बुरे कर्मों को देखता है। अग्नि, जल, वायु, धरती और आकाश इन पांचों तत्त्वों का कण-कण हमारे सब कर्मों का सदा साक्षी होता है। सूर्य, चन्द्र, लोकपाल, इन्द्र आदि सारे देवता, सिद्ध गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, भूत, प्रेत, यम, पिशाच डाकिनी, शाकिनी, योगिनी, चण्डी आदि समस्त शक्तियां गुप्त रूप से सब के सब कर्मों को देखती हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म में यही बात अपने विद्या-गुरु से कही थी। मनुष्य यह भी जानता है कि 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।" अर्थात् अच्छे बुरे सब प्रकार के कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। फिर भी देखा जाता है कि जनता के विश्वासपात्र बड़े बड़े महात्मा कहलाने वाले जटा-धारी लोग भी डेरेदार बनकर मोह-माया में फँसे हुए हैं। धन में खेलते हैं। भोग-विलास की सारी सामग्रियों का निधड़क होकर उपयोग करते हैं। घड़ी, रेडियो, टैलीविजन, कार, बंगले तथा वनितादि का प्रयोग और उपयोग करते हैं। सब प्रकार की मादक और विषयवासना-वर्धक वस्तुओं को प्रयोग में लाते हैं। फिर इस पर भी विशेषता यह है कि लोगों के पूज्य और गुरुमहाराज भी कहलाते हैं और सब करतूतों से अवगत शिष्यों को धर्म का उपदेश भी करते हैं। जो पुरुष जिस बात पर स्वयं आचरण नहीं करता है उसके किए हुए उपदेश का श्रोताओं पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। क्योंकि लोग किसी की बात से उतने शुभ भावना वाले नहीं बनते जितने उसके आचरण से प्रभावित होकर बनते हैं। इस उक्त

श्लोक में इसी प्रकार के मिथ्याचार का कारण बताकर उससे बचने का सुन्दर ढंग बताया गया है।

मनुष्य का बचपन से जो स्वभाव होता है वह बार-बार के अभ्यास से उसकी पक्की प्रकृति या दृढ़ आदत बन जाती है जो उसके अत्यन्त समझ कर प्रयत्न करने से भी दूर होनी कठिन होती है। क्योंकि धारणा और ध्यान करते समय वह चंचल और अस्थिर स्वभाव वाला मन विषय के सुख की कल्पना करके उनमें विचरने लगता है। इन्द्रियाँ विषयाभिमुख रहने के स्वभाव वाली होती हैं और फिर मन को कुत्ते की भान्ति विषय-सुख का लोभ दिखाकर अपने पीछे लगा लेती हैं। उस समय योगी पुरुष को यह उचित होता है कि वह सावधान और हठी बनकर वैराग्य और विचार की कषा से मन को ताड़कर तथा उसे विषयों से हटाकर परमात्मा में निरुद्ध करे। परमात्मा तो भीतर बाहर सब स्थानों में सदा व्यापक है। "बुल्हा 'शोह' तेथों बक्ख नहीं। पर देखन वाली अक्ख नहीं।" अर्थात् वेदान्ती कवि बुल्हे शाह का कथन है कि 'परमात्मा मनुष्य से पृथक् नहीं है परन्तु वह तब तक उसको दिखाई नहीं देता जब तक उसके पास ब्रह्म-ज्ञान का नेत्र न हो'। जब मन परमात्मा में निरुद्ध हो जाता है तो फिर वह विक्षेप को प्राप्त हो कर विषयों की ओर कभी नहीं जाता है।

मन की चिन्त्यमान और भुज्यमान दोनों अवस्थाओं को रोकना चाहिए। क्योंकि कामना और भोग दोनों ही मन की बरबादी और अध:पतन के कारण होते हैं। अफ़ीम आदि मादक पदार्थ खाकर बेहोश हो जाना अथवा गहरी नींद सो जाना भी समाधि के विरोधी होते हैं। क्योंकि इस अवस्था में मनुष्य मृतक तुल्य या बेजान मिट्टी के ढेले के समान होता है। और मरी बकरी की खाल की धौंकनी की तरह ही सांस लेता है। तथा परमात्मा से बे-ख़बर होता है। परन्तु समाधि काल में तो वृत्तियों का निरोध होकर साधक की लग्न परमात्मा में लगी हुई होती है। श्रीगौडपादाचार्य जी का कथन है—

"यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥"

[अर्थ—जिस समय चित्त न निद्रा रूप लय (बेहोशी) को, न पूर्व स्वभाव से विषयों वा वासनाओं में विक्षिप्ति को, न स्तब्ध भाव रूपी क्षय दोष को तथा न समाधि के सुखास्वाद दोष को प्राप्त होता है और जो चित्त अनिंगन है। [इंगन=जलना, हिलना। अनिंगन=न चलने या हिलने वाला।] अर्थात् वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की शिखा की भान्ति जो चित्त अचल है वह चित्त अन-आभास ब्रह्म को प्राप्त हुआ होता है।]

इसी प्रकार का योग "कठ० उ० २।३।१०, ११" में कथन किया गया है—

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

[अर्थ—जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियां मन सहित (निरोध को प्राप्त हो कर आत्मा में) स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती है (तत्त्ववेत्ता पुरुष) उस अवस्था को परम-गति कहते हैं ॥१०॥

उस स्थिर-इन्द्रिय-धारणा को ही (योगी) योग मानते हैं। उस समय पुरुष प्रमाद-रहित हो जाता है। क्योंकि योग ही (आन्तर ज्ञान की) उत्पत्ति और (बाह्य ज्ञान के) नाश या लय का कारण है।]

देशपिता महात्मा गान्धी जी कहते हैं—

"जहां जहाँ चंचल और अस्थिर मन भागे वहां वहां से (योगी) उसे नियम में लाकर अपने वश में लावे ॥२६॥"

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

प्रशान्त-मनसम्+हि+एनम्+योगिनम्+सुखम्+उत्तमम् । उपैति शान्त-रजसम्+ब्रह्म-भूतम्+अकल्मषम् ।

प्रशान्त-मनसम्=(वि०) प्रशान्तं मनो यस्य सः=प्रशान्त-मनाः, तं (बहुव्री०) (पुं०) द्विती० ए० व०। जिसका मन भली-भान्ति शान्त है, उस (योगी) को। [प्र√शम्+क्त=प्रशान्त]

हि=(अव्यय) क्योंकि। ही। निःसन्देह। निश्चयपूर्वक।

एनम्=(सर्व०) इदम्, एतद् (दोनों को 'एन' आदेश होता है)+(पुं०) द्विती० ए० व०=एतम्=इस (योगी) को।

योगिनम्=(पुं०) योगिन्+द्विती० ए० व०=योगी को।

सुखम्=(नपुं०) सुख+द्विती० ए० व०=सुख को। आनन्द को। शान्ति को।

उत्तमम्=(वि०) उद्+तमप्=उत्तम+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उत्तम को। सर्वोत्कृष्ट को। निरतिशय को।

उपैति=उप√इ (अदा० पर० सक०=प्राप्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

शान्त-रजसम्=(वि०) बहुव्री०। (पुं०) द्विती० ए० व०। प्रक्षीण-मोहादि-

क्लेश-रजसम्=मोह आदि क्लेश रूप रजोगुण अच्छी तरह नष्ट हो चुका है जिसका, उस (योगी) को।

[आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा आदि तथा सकाम-कर्म रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। उन सब से रहित पुरुष-'शान्त-रजस्' कहलाता है। उसको।]

ब्रह्म-भूतम्=(वि०) जीवन्-मुक्तम्। ब्रह्म एव सर्वम् इति एवं निश्चयवन्तम्। पुं०, द्विती० ए० व०=ब्रह्म-भूत (योगी) को। ब्रह्म के साथ एकी-भाव हो चुके को। जीवन्मुक्त को। यह सब कुछ ही ब्रह्म है। ऐसे निश्चय वाले को। ब्रह्म रूप हुए को।

अकल्मषम्=(वि०) अधर्मादिवर्जितम् (नञ्० बहुव्री०)। (पुं०) द्विती० ए० व०। पापों से रहित (योगी) को। अधर्मादि दोषों से रहित को। निष्पाप योगी को।

अर्थ—क्योंकि भली-भान्ति शान्त हुए मन वाले, रजोगुण (से उत्पन्न हुए आसक्ति, मोह, स्पृहा, कामना, लोभ और तृष्णा आदि अवगुणों) से रहित हुए निष्पाप और ब्रह्म-भूत [ब्रह्म रूप हो चुके, जीवन्मुक्त, विना ब्रह्म के संसार में और कुछ न देखने वाले] इस योगी को ही उत्तम सुख प्राप्त होता है। ॥२७॥

व्याख्या—पूर्व श्लोकों में कही हुई विधि के अनुसार जिस योगी का मन भली-भान्ति शान्त और शुद्ध हो चुका है अर्थात् विषयों के चिन्तन को बिल्कुल छोड़ चुका है, चंचलता और विक्षेप से रहित है, परमात्मा के स्वरूप में स्थिर और स्थित है, उसे न कोई वासना है न कोई चिन्ता है, न किसी प्रकार का भय है, न ईर्ष्या, द्वेष और असूया है। वह केवल स्व-स्वरूप में लीन और मग्न है। किसी के जीने या मरने के सुख-दुःख से प्रभावित नहीं। हर्षशोक से रहित और निर्लेप है। राग-द्वेष का लेशमात्र अंश भी शेष नहीं रहा है। तथा जो रजोगुण से उत्पन्न होने वाले सब विकारों को छोड़ चुका है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं इन विकारों के सम्बन्ध में आगे चलकर कहा है—

'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय! कर्मसङ्गेन देहिनम्। (गी० १७।७॥)

[हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! रागरूप रजोगुण को (तू) कामना और आसक्ति से उत्पन्न होने वाला जान। वह इस जीवात्मा को कर्मों के (शुभाशुभ फल के) सम्बन्ध से बांध देता है।] तथा

'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥

[हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! रजोगुण के बढ़ जाने से लोभ, प्रवृत्ति, सब प्रकार के कर्मों को सकाम भाव से करना, अशान्ति और विषय भोगों की लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं ।] क्योंकि—

'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।'' (गी० १४।१५) अर्थात् रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर मनुष्य कर्मों की आसक्ति वाले लोकों में उत्पन्न होते हैं ॥

इससे यह बात भली-भान्ति प्रकट है कि योगी का अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए रजोगुण से रहित होना भी परमावश्यक है ।

पाप प्रायः तमोगुण से उत्पन्न होते हैं । तमोगुण के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं—

'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥ (गी० १४।१३॥)
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ (गी० १४।१५ ॥)

(अर्थ—हे अर्जुन ! तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति, प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा) और निद्रादि मोहिनी वृत्तियां उत्पन्न होती हैं ॥१३॥

तथा तमोगुण के बढ़े हुए होने पर मरा हुआ मनुष्य कीट, पतंग, पशु, पक्षी, आदि मूढ योनियों में उत्पन्न होता है ।)

यद्यपि रजोगुण भी पापों का कारण होता है परन्तु तमोगुण तो विशेष कर पापों की उत्पत्ति करता है और जो योग अकल्मष या निष्पाप हो चुका है अर्थात् पापों से रहित हो गया है वह उत्तम सुख को प्राप्त होता है और जो पुरुष ब्रह्मभूत हो चुका है, वह भी परम शान्ति को प्राप्त होता है ।' 'ब्रह्म-भूत' होने का अर्थ है—जीवित-अवस्था में ही देह, गेह आदि से नाता तोड़कर सर्व-व्यापक परमात्मा में ही घुलमिल कर एक हो जाना । वह अवस्था बहुत अभ्यास करने के बाद उत्पन्न होती है ।

कठो० २।३।१२॥ में कहा है—

'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥'

[अर्थ—वह ब्रह्म (परमात्मा) न ही वाणी (आदि कर्मेन्द्रियों) से, न चक्षु (आदि ज्ञानेन्द्रियों) से और न ही मन, बुद्धि रूप अन्तःकरण से प्राप्त किया जा सकता है । परन्तु वह विद्यमान अवश्य है और उसे प्राप्त करने की तीव्र

इच्छा रखने वाले को वह मिलता अवश्य है। जो इस बात को नहीं कहता, नहीं स्वीकार करता उस पर उसका दृढ़ विश्वास नहीं है। ऐसे उस दूसरे को वह कैसे मिल सकता है।]

वास्तव में परमात्मा और आत्मा एक ही महान् शक्ति के दो नाम हैं। आत्मा का परमात्मा को पाना केवल कहने मात्र की बात है। अपने आप को पहचान लेना ही परमात्मा को पा लेना है। इसी का नाम ब्रह्म-भूत होना है। जिस प्रकार सिंह-शिशु बचपन से बकरियों में रहने के कारण अपने आप को बकरी ही समझता रहता है इसी प्रकार इन्द्रियों, मन और बुद्धि के साथ रहने से आत्मा या जीव भी अपने आपको देह मान कर संसार में अपनत्व या ममत्व भाव उत्पन्न कर लेता है और कर्म-बन्धन में पड़कर जन्म-मरण के चक्र में फंस जाता है।

आगे कठो० में मन्त्र १४ इस प्रकार है—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

[अर्थ—इस योगी या साधक के हृदय में स्थित जो कामनायें हैं वे सारी जब समूल नष्ट हो जाती हैं तब वह पुरुष अमर और ब्रह्मभूत हो जाता है।]

इससे अगले मन्त्र में लिखा है—

'यदा सर्वे प्रपद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥

[अर्थ—जब साधक के हृदय की (अहंता-ममता रूप) सारी (अज्ञान) ग्रन्थियां अच्छी तरह से खुल जाती हैं तब वह मनुष्य इसी शरीर में अमर और ब्रह्म रूप हो जाता है। बस इतना ही असली उपदेश है।]

पांचवें अध्याय के चौबीसवें श्लोक में भी भगवान् ने ब्रह्म-भूत होने की विधि इस प्रकार कही है—

'जो पुरुष निश्चय से अन्तरात्मा में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करता है, तथा आत्मा में ही ज्ञानवान् है वह योगी पुरुष ब्रह्म-निर्वाण पाकर ब्रह्म-भूत हो जाता है।'

कहने का भाव यह है, कि—

जिसका मन अच्छी तरह से शान्त हो गया है, जिसके मन से रजोगुण नष्ट हो चुका है, जो तमोगुण और सर्व प्रकार के पापों से रहित हो गया है वह ब्रह्मभूत हुआ योगी सर्वोत्कृष्ट सुख को प्राप्त होता है अर्थात् शरीर त्याग के अनन्तर ब्रह्मलीन हो जाता है॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

युञ्जन्+एवम्+सदा+आत्मानम्+योगी विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्म-संस्पर्शम्+अत्यन्तम्+सुखम्+अश्नुते।

युञ्जन्=√युज् (रुधा० उभ० सक०=जोड़ना)+शतृ=युञ्जत्+(पुं०) प्र० ए० व०=युञ्जन्=जोड़ता हुआ। (परमात्मा में) लगाता हुआ। समाहित करता हुआ। युक्त करता हुआ।

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार।

सदा=(अव्यय) सर्वस्मिन् काले। नित्य। सदा। हमेशा।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को। अपने आप को।

योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी। समाधि द्वारा परमात्मा में जुड़ा हुआ पुरुष।

विगत-कल्मषः=(वि०) विगताः कल्मषाः यस्य सः। (बहुव्री०)। विगतपापः। पापरहित। दूर हुए पापों वाला। पापों से रहित हुआ।

[वि√गम्+क्त=विगत=अच्छी तरह से दूर हुए। कल्मष (नपुं०)। बहु-व्रीहि समास में (पुं०)। प्र० ए० व०]

सुखेन=(नपुं०) सुख+तृती० ए० व०=सुख से। सुखपूर्वक। अनायास ही।

ब्रह्म-संस्पर्शम्=(वि०) ब्रह्मणा परेण संस्पर्शो यस्य तद् [ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम्—(बहुव्री०) नपुं०, द्विती० ए० व०]=ब्रह्म को अच्छी तरह से छूने वाले को। परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले को। ब्रह्म से संयोग कराने वाले को।

अत्यन्तम्=(वि०) अन्तम्-अतीत्य वर्तते इति अत्यन्तम्। उत्कृष्टम्। निरति-शयम्। बहुत अधिक को। अनन्त को। (नपुं०) द्विती० ए० व०।

सुखम्=(नपुं०) सुख+द्विती० ए० व०=सुख को। आनन्द को। (परम) शान्ति को।

अश्नुते=√अश् (स्वा० आत्म० अक० सक०=खाना। भोगना। अनुभव करना। प्राप्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=पाता है। भोगता है। अनुभव करता है॥

अर्थ—पापों से रहित हुआ योगी, इस प्रकार सदा आत्मा (मन या अपने

आप) को (परमात्मा में) युक्त करता हुआ परमात्मा से संस्पर्श (या संयोग) कराने वाला अत्यन्त आनन्द को अनायास ही प्राप्त हो जाता है ॥२८॥

व्याख्या—जब योगी, शान्त-मन, शान्त-रज, तम-रहित और निष्पाप (अकल्मष) हो जाता है उस समय वह उस समाधि का अधिकारी हो जाता है, जिसका स्वरूप योगदर्शन के इस '३।३' सूत्र में दर्शाया गया है—

'तदेवार्थनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥'

[**अर्थ**—जब (ध्यान में) केवल अर्थमात्र (ध्यान के अवलंबन ध्येय मात्र) की ही प्राप्ति या निर्भास रह जाता है और अपना स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तब वह ध्यान ही समाधि कहलाता है।]

और भी योग० १।४३ में कहा है—

"स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥"

[जब साधक को अपने आपकी स्मृति भली-भान्ति लुप्त हो जाने पर अपने स्वरूप के शून्य भासमान होने पर केवल ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाली चित्त की स्थिति हो जाती है, तब उस अवस्था को 'निर्वितर्क-समाधि' कहते हैं।]

समाधि काल में योगी को जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख ब्रह्म-संस्पर्श होता है और अत्यन्त होता है। जो सुख काल पाकर नष्ट हो जाता है वह वास्तविक या यथार्थ सुख नहीं होता। इसलिए वह स्थायी या स्थिर न होने से तुच्छ होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

"स यो मनुष्याणाँ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैक एव परम आनन्द एव ब्रह्मलोकः सम्राडिति............॥

(बृ० उ० ४।३।३३॥)

[**अर्थ**—हे सम्राट् (जनक)! वह जो मनुष्यों का राद्ध (सम्पूर्ण अवयवों से युक्त) समृद्ध (भोगसामग्रीसम्पन्न) तथा दूसरे पुरुषों का अधिपति (राजा)

और मनुष्यसम्बन्धी सर्वभोगसामग्रियों द्वारा सब से अधिक सम्पन्न होता है वह मनुष्यों का परम आनन्द है।

फिर जो मनुष्यों के (इस प्रकार के मिलकर) सौ आनन्द हैं वह (आनन्दों का समूह) पितृलोक को जीतने वाले पितृगण के एक आनन्द के तुल्य होता है। और जो पितृलोक जीतने वाले पितृगण (पितरों) के सौ आनन्द हैं वे गन्धर्व लोक के एक आनन्द के समान हैं। और जो गन्धर्व लोक के सौ आनन्द हैं वह (आनन्द समूह) कर्मदेवों का—जो कि कर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त होते हैं—एक आनन्द है। तथा जो कर्मदेवों के सौ आनन्द हैं वह (आनन्दसमूह) आजान (जन्म सिद्ध) देवों का एक आनन्द है। और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय पुरुष है उसका भी वह आनन्द है। और जो आजान देवों के सौ आनन्द हैं वह (आनन्द समूह) प्रजापतिलोक का एक आनन्द है। तथा जो प्रजापतिलोक के सौ आनन्द हैं वह ब्रह्मलोक का एक आनन्द है। यही ब्रह्मानन्द परम आनन्द है।

इस श्रुति में अनुभवसिद्ध मनुष्य-आनन्द से आरम्भ करके उसका उत्तरोत्तर क्रमशः सौ गुणा उत्कर्ष दिखाते हुए जहाँ भेद की निवृत्ति हो जाती है उस परमानन्द को प्रदर्शित किया गया है। वह आनन्द क्रमशः उत्तरोत्तर सौ गुणा बढ़ता हुआ वृद्धि की परा काष्ठा तक पहुँच जाता है। और उससे परे और कोई आनन्द नहीं है। यह ब्रह्मानन्द ही अत्यन्त सुख या मोक्षानन्द है॥

तै० भृगु० अनु० ६ में कहा है—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।" अर्थात् 'आनन्द ही ब्रह्म है।' ऐसा उस (भृगु) ने जाना॥

छान्दो० उ० ७।२३।१ में लिखा है—

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति"

[अर्थ—अजी! जो भूमा है वही सुख है। अल्प में सुख नहीं] 'अल्प' और 'भूमा' को ऐसे कहा है—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्…॥" (छान्दो० उ०, ७।२४।१॥)

[जहाँ (पुरुष) ब्रह्म के बिना) अन्य को नहीं देखता, किसी और को नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता, वह "भूमा" है। परन्तु जहाँ अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, एवं कुछ और जानता है, वह 'अल्प है'। जो भूमा है वही अमृत है, और जो अल्प है वह मर्त्य (मरणशील या नाशवान्) है।]

इस श्लोक में सुख के दो विशेषण कहे गए हैं—

१—ब्रह्म-संस्पर्श। २—अत्यन्त।

जिस सुख में विषय-स्पर्श से रहित ब्रह्म का तादात्म्य रूप संस्पर्श है, उस का नाम "ब्रह्मसंस्पर्श" है। वह सुख ब्रह्मरूप ही है।

जो सुख देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरूप अन्त से रहित है, अर्थात् उससे अतिक्रमण करके वर्तमान है, वह सुख 'अत्यन्त' है॥

सब वृत्तियों से रहित किया हुआ मन सूक्ष्म करके सुख का अनुभव असंप्रज्ञात समाधि में होता है। परन्तु वह समाधि निम्नलिखित विघ्नों से रहित होनी चाहिए जिनका वर्णन योगशास्त्र १।३० में इस प्रकार किया गया है—

"व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥"

[अर्थ—१—व्याधि (ज्वरादि रोग), २—स्त्यान (अकर्मण्यता), ३—संशय (अपनी सफलता में सन्देह), ४—प्रमाद (समाधि में बेपरवाही), ५—आलस्य (शरीर का भारीपन अर्थात् समाधि से जी चुराना), ६—अविरति (विषयों में फंसने से वैराग्य का अभाव) ७—भ्रान्ति-दर्शन (मिथ्या ज्ञान के कारण समाधि से भटकना), ८—अलब्ध-भूमिकत्व (सफलता न होती देखकर उत्साह-हीन हो जाना) ९—अनवस्थितत्व (समाधि के प्राप्त होने पर प्रयत्न की शिथिलता से वहाँ चित्त का स्थिर न रहना), इन नौ प्रकार के चित्त विक्षेपों को ही 'अन्तराय' (विघ्न) और योग के प्रतिपक्षी कहा गया है॥

इस के बाद महर्षि पतंजलि इनके साथ होने वाले दूसरे विघ्नों का वर्णन करते हैं—

"दुःख-दौर्मनस्याङ्गमेजत्व-श्वास-प्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥१।३१॥

१—दुःख (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदों से तीन प्रकार के होते हैं)॥

२—दौर्मनस्य (इच्छा की पूर्ति न होने से मन में क्षोभ होना)।

३—अंगमेजत्व (शरीर के अंगों का कांपते रहना)।

४—श्वास (विना इच्छा के बाहर की वायु का प्रवेश)।

५—प्रश्वास (विना इच्छा के ही भीतर की वायु का बाहर निकलना)।

इस प्रकार ऊपर कहे हुए चौदह दोष समाधि में बाधा डालने वाले होते हैं। ये अभ्यास और वैराग्य से दूर हो सकते हैं। अथवा ईश्वर प्रणिधान (अत्यन्त अनन्य भक्ति) द्वारा दूर होते हैं।

महर्षि पतंजलि ने स्वयं लिखा है—

"तीव्रसंवेगानामासन्नः।" यो० १।२१।

अर्थात् तीव्र साधनों (अभ्यास और वैराग्य) की तीव्र गति वालों की (निर्बीज समाधि) आसन्न (शीघ्र) सिद्ध होती है।

ऐसे योगी लोग सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं को ठुकरा कर सदा सुख से (अनायास या सहज ही) ब्रह्म-संस्पर्श और अत्यन्त सुख (ब्रह्मानन्द) की प्राप्ति में तत्परता से लगे रहते हैं।

योग शास्त्र १।२३ में पुनः लिखा है—

"ईश्वरप्रणिधानाद्वा।"

वा=उसके विना, ईश्वर-प्रणिधानात्=ईश्वर की भक्ति से (भी निर्बीज समाधि की सिद्धि शीघ्र हो सकती है)।

अब ईश्वर का परिचय देते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" योग० १।२४॥

अर्थात् क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं), कर्म (पुण्य, पाप, पुण्य-पाप-मिश्रित और पुण्य-पाप-रहित ये चार प्रकार के कर्म हैं), विपाक (कर्म का फल) और आशय (कर्म-संस्कारों का समुदाय) इन चारों से अपरामृष्ट (सम्बन्ध रहित) तथा जो पुरुष विशेष (जिसके तुल्य कोई नहीं, समस्त पुरुषों से उत्तम) है, वह "ईश्वर" है।

यद्यपि मुक्त-पुरुष अन्त में परमात्मा में मिलकर तद्रूप हो जाता है और फिर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता परन्तु मुक्त होने से पहले तो समस्त जीवों का इन चारों से सम्बन्ध अवश्य होता है किन्तु ईश्वर का तो किसी काल में भी इन चारों से न सम्बन्ध था, न है और न होने वाला है। इसलिए इस जैसे मुक्त पुरुष से भी ईश्वर विशेष है।

इसके अनन्तर पुनः महर्षि पतंजलि कहते हैं—"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ-वीजम्॥" (यो० १।२५)। अर्थात् उस (ईश्वर) में सर्वज्ञता का बीज (कारण) अर्थात् ज्ञान, निरतिशय है।

जिससे बढ़ कर, कोई दूसरी वस्तु हो, वह वस्तु 'सातिशय' होती है और जिससे बढ़ कर कोई वस्तु नहीं है वह 'निरतिशय' है। ईश्वर ज्ञान की अवधि है, ज्ञान की परा काष्ठा है; इसलिए 'निरतिशय' है। पुनः पतंजलि महर्षि कहते हैं—

"पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥" यो० १।२६॥

[अर्थ—(वह ईश्वर सब के) पूर्वजों का भी गुरु (पूर्वजबुजुर्ग) है। क्योंकि

उसका काल से अवच्छेद (सीमाबद्धत्व) नहीं है अर्थात् वह काम की सीमा से सर्वथा रहित है।]

श्वेता० उप० ३।४ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

> यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
> विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
> हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
> स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु॥

(अर्थ—जो रुद्र, देवताओं की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य प्राप्ति का हेतु, जगत्पति, और महर्षि (सर्वज्ञ) है तथा जिसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।)

महर्षि पतंजलि समाधि भंग करने वाले चौदह विघ्नों को दूर करने का एक और उपाय बतलाते हुए कहते हैं—

"तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।" (यो० १।३२॥)

अर्थात् उन चौदह विघ्नों को दूर करने के लिए किसी एक इष्ट तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।

इस रीति से निरन्तर अपना योगाभ्यास करनेवाला योगी पुरुष पापों से छूट कर ब्रह्म-संयोग से प्राप्त होने वाले अत्यन्त सुख का आनन्द से उपभोग करता है॥२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥

सर्व-भूत-स्थम्+आत्मानम्+सर्व-भूतानि च आत्मनि। ईक्षते योग-युक्त+आत्मा सर्वत्र सम-दर्शनः।

सर्व-भूत-स्थम्=(वि०) सर्वेषु भूतेषु स्थितम्। सर्वेषु भूतेषु तिष्ठतीति सः, तम्। (उपपद तत्पु०)। (पुं०) द्विती० ए० व०। (ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों में स्थित (व्यापक) को।

[√स्था+क=स्थ=ठहरा हुआ। टिका हुआ। स्थित। व्यापक। "स्थ" शब्द का प्रयोग प्रायः समास में ही होता है]

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को। अपनी आत्मा को। परमात्मा को। अपने मूल स्वरूप को।

सर्व-भूतानि=(नपुं०) सर्वाणि भूतानि। द्विती० ब० व०। सब भूतों को।

च=(अव्यय) और।

आत्मनि=(पुं०) आत्मन्+सप्त० ए० व०=आत्मा में। अपने में।

ईक्षते=√ईक्ष् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =देखता है।

योग-युक्त+आत्मा=(वि०) योगे युक्त आत्मा यस्य सः (बहुव्री०)। योग से युक्त आत्मा वाला। सच्चिदानन्द घन निर्गुण निराकार सर्वव्यापक परब्रह्म में अभिन्न या एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुई आत्मा वाला। योग समाधि में लगे हुए चित्त वाला। समाहित अन्तःकरण वाला।

सर्वत्र=(अव्यय) सर्वेषु। सब में। सब जगह।

सम-दर्शनः=(वि०) सर्वेषु (ब्रह्मादि-स्थावरान्तेषु विषमेषु सर्वेषु भूतेषु) समं (निर्विशेषं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं) दर्शनं (ज्ञानं) यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। सम भाव से देखने वाला (योगी)। जिसका ज्ञान (दृष्टि) ब्रह्म और आत्मा की एकता को निश्चित किया हुआ हो चुका है तथा समस्त विभक्त प्राणियों में भेदभाव से रहित अर्थात् सम हो चुका है, ऐसा योगी पुरुष।

अर्थ—योग-समाधि द्वारा परमात्मा में युक्त हुई आत्मा (अन्तःकरण) वाला, सब भूतों में समभाव से परमात्मा को देखने वाला योगी पुरुष सब भूतों में स्थित अपनी आत्मा को और अपने में स्थित सब भूतों की आत्मा को देखता है ॥२६॥

व्याख्या—जो पुरुष योग-युक्तात्मा है तथा जो पुरुष सर्वत्र समदर्शी है, वह ही सर्वसाक्षी आत्मा को साक्षात्कार कर लेता है। इस कथन के अनुसार योगी पुरुष तथा सम-दर्शी पुरुष दोनों ही आत्मसाक्षात्कार के अधिकारी होते हैं क्योंकि जैसे चित्त की वृत्ति का निरोध रूपी योग, साक्षी आत्मा के साक्षात्कार का हेतु है वैसे ही जड़ प्रपंच का विचार करके सर्वत्र अनुस्यूत चैतन्य आत्मा का उस बड़े प्रपंच से अलग समझने का विचार भी उस साक्षी आत्मा के साक्षात्कार का हेतु है। इसी विचार को महर्षि वसिष्ठ ने भगवान् राम के प्रति कहा—

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव !
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥१॥

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥२॥

[अर्थ—हे रघुनन्दन (श्रीरामचन्द्र जी)! साक्षी-आत्मा का उपाधि रूप (अर्थात् आत्मा को जन्म मरण के चक्र में भ्रमण कराने वाला) जो चित्त है,

उसको नाश करने वाले (अर्थात् आत्मा को चित्त से पृथक् करने वाले) दो क्रम या उपाय हैं। पहला उपाय योग है और दूसरा उपाय ज्ञान है। सब चित्त वृत्तियों का निरोध योग कहलाता है। और संपूर्ण प्रपंच को मिथ्या और कल्पित जान कर सर्वत्र परमात्मा को देखना ज्ञान है ॥१॥

किसी अधिकारी पुरुष को तो योग असाध्य प्रतीत होता है और किसी को तत्त्वनिश्चय कठिन लगता है। इस कारण से भगवान् शिव ने इन दोनों प्रकारों (रीतियों) का वर्णन किया है ॥२॥]

इससे पहले श्लोकों में भगवान् योग समाधि लगाने की विधि का वर्णन भली-भान्ति कर चुके हैं और उससे प्राप्त होने वाले ब्रह्म संयोग से मिलने वाले अत्यन्त सुख को कह चुके हैं। इस प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान की परा काष्ठा का विशद वर्णन किया गया है। कहते हैं कि जगत् तो केवल परमात्मा का एक स्फुरण मात्र है। जिस प्रकार चलचित्र के पर्दे (सक्रीन) पर पशु, पक्षी और मनुष्य आदि चलते-फिरते, गाते-नाचते तथा अन्य सब क्रियाएं करते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं परन्तु वास्तव में वहाँ कुछ भी नहीं होता इसी प्रकार जब हम कागज पर चित्रित किसी मनोहर चित्र को देखते हैं तो हमें सब अवयव असली व्यक्ति के समान ज्यों के त्यों दिखाई देते है। परन्तु हाथ से स्पर्श करने पर कोई अंग छूआ नहीं जाता। वैसे ही जब हम वस्तुओं में अनेक प्रकार के रंग देखते हैं तो हम उन रंगों को उन वस्तुओं से संयुक्त समझते हैं। परन्तु वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि ये सब रंग तो सूर्य की किरणों के प्रकाश में होते हैं। जो वस्तु प्रकाश के सातों रंगों को अथवा उनके मिश्रण को अपने शरीर में शोषण कर लेती है वह श्वेत दिखाई देती है। जो वस्तु जिस रंग को शोषण करने में असमर्थ होती है वह रंग उसको रंगने वाला बन जाता है। यदि इन वस्तुओं के ये अपने रंग होते तो ये वस्तुएँ प्रकाशहीन अंधकार में भी रंगदार दृष्टिगोचर होतीं। परन्तु अन्धेरे में उनमें कोई रंग दिखाई नहीं देता।

एक चिड़िया दर्पण में दिखाई दे रहे अपने प्रतिबिम्ब को देखकर उसे अन्य चिड़िया मान रही थी। तथा उसे घायल करने के लिए दर्पण पर निरन्तर चोंचें मार रही थी। परन्तु वास्तव में दर्पण में कोई चिड़िया नहीं थी। केवल वह उसका मति-भ्रम था।

इसी प्रकार विना परमात्मा के किसी स्थान पर भी और कोई वस्तु नहीं है। यह सारा प्रपंच चल-चित्रों की भान्ति किसी और सत्ता अर्थात् परमात्मा की कृपादृष्टि द्वारा ही दिखाई देता है। इसलिए समदर्शी पुरुष एक ही आत्मा को सर्वत्र व्यापक देखता है और सारे प्रपंच को अपनी आत्मा में देखता है

अर्थात् परमात्मा का प्रतिबिम्ब जान लेता है जिससे उस योगी पुरुष का न किसी से राग रहता है, न किसी से द्वेष होता है। स्वयं अपने शरीर से भी उसका कोई आकर्षण नहीं रहता। ऐसा ज्ञानी तो सब पापों से अलिप्त रहता हुआ जीवित अवस्था में ही मुक्त होता है। इस अभेद-दर्शी ज्ञानी की स्थिति ईशा० उ० के मन्त्र ६ में इस प्रकार कही गई है—

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥"

[अर्थ—जो ज्ञानी संपूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है वह फिर किसी से भी घृणा नहीं करता है] ॥

यह बात सौ प्रतिशत ठीक है कि जिस ज्ञानी को केवल एक आत्मा के विना अन्य कोई दृष्टिगोचर ही नहीं होता, वह घृणा भी किस से कर सकता है ? अर्थात् जब कारण ही विद्यमान नहीं है तो कार्य कैसे संपन्न हो सकता है ? मनुष्य को जब यह ज्ञान हो जाता है कि "मैं ही समस्त शरीरों में निवास करता हूँ और यह सारा विश्व मुझ में ही निवास करता है" तो वह उच्चतम पद को प्राप्त हो जाता है और अपने मूल स्वरूप परमात्मा में मिल जाता है ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

यः+माम्+पश्यति सर्वत्र सर्वम्+च मयि पश्यति। तस्य+अहम्+न प्रणश्यामि सः+च मे न प्रणश्यति।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (पुरुष)।
माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझ को। मुझ (सब के आत्मा स्वरूप श्रीकृष्ण) को।
पश्यति=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट् प्र० पु०, ए० व०= देखता है।
सर्वत्र=(अव्यय) सर्वेषु भूतेषु। सब भूतों में। सब जगह।
सर्वम्=(सर्व०) सर्व+(पुं०) द्विती० ए० व०=(ब्रह्मा आदि) सब प्राणियों को। सब भूतों को।
च=(अव्यय) और।
मयि=(सर्व०) अस्मद्+सप्त० ए० व०=मुझ (सर्वात्मा परमेश्वर) में।
पश्यति=देखता है।
तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=उसके (लिए)। उसका। उस (आत्मा की एकता को देखने वाले) के लिए।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं (ईश्वर)।
न=(अव्यय) न। नहीं।
प्रणश्यामि=[परोक्षतां गमिष्यामि=अदृश्य या अप्रत्यक्ष होता हूँ।]। प्र+√नश्+लट्०, उ० पु०, ए० व०=खोया हुआ होता हूँ। आँखों से ओझल हुआ होता हूँ।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह। वह (ज्ञानी ही)।
च=(अव्यय) और।
मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा। मम वासुदेवस्य=मुझ वासुदेव का। मुझ परमेश्वर के लिए।
न=(अव्यय) न। नहीं।
प्रणश्यति=प्र√नश्०, लट्०, प्र० पु०, ए० व०=खोया हुआ होता है। अदृश्य होता है। आँखों से ओझल होता है।

अर्थ—जो (पुरुष) सम्पूर्ण भूतों में मुझ (परमात्मा) को (ही व्यापक) देखता है और सब (भूतों) को मुझ (सर्वात्मा परमेश्वर) में देखता है, मैं उसका खोया हुआ या अप्रत्यक्ष नहीं होता हूँ और न वह (ज्ञानी ही) मेरा खोया हुआ (या अप्रत्यक्ष) होता है ॥३०॥

व्याख्या—परमात्मा के दो स्वरूप माने जाते हैं। १—निर्गुण। २—सगुण।

आकाश, पाताल और भू-लोक में जो कुछ भी दृश्य या अदृश्य रूप में विद्यमान है उस सब में आकाश वर्तमान है। परन्तु उस आकाश या शून्य का न कोई रंग है, न रूप है, न सीमा है, न आकार है। तो भी इस असीम आकाश-मण्डल में सर्वत्र, सर्वकाल, असीम, अनूप, निर्विकार, निराकार, सच्चिदानन्दघन स्वरूप तथा सर्वव्यापक परमात्मा रम रहा है जिसकी महत्ता का वर्णन करना वाणी की शक्ति से बाहर है तथा जिसका अनुमान करना मन की सामर्थ्य से अतीत है।

कविवर बिहारी लाल ने ठीक ही कहा है—

"लिखन बैठि यां की सबी, गहि गहि गर्व गरूर।
भये न केते जगत् के, चतुर चितेरे कूर॥

[अर्थात् उस निराकार पर-ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते-करते अनेक विद्वान् और बुद्धिमान् लोग उसका पार न पाकर अत्यन्त मूर्ख बन चुके हैं तथा नेति नेति कहकर पुकार उठे हैं उस अनादि, अनन्त, सदा एक-रस और स्थायी परमेश्वर का नाम निर्गुण ब्रह्म है।।]

सब भूत इसी के इंगित से उसकी रची हुई प्रकृति के द्वारा रचे गए हैं।

परन्तु उन सबके भीतर बाहर निर्गुण ब्रह्म आकाश-वत् रम रहा है जिसकी सत्ता से सब भूत गतिशील हैं। वह निर्गुण ब्रह्म, जीवात्मा के रूप में प्राणी मात्र में मन, बुद्धि और इन्द्रियों के साथ मिल कर रहता है। वही जठराग्नि बन कर सब प्रकार के भोजनों को शरीर के भीतर पचाता है जैसाकि भगवान् ने स्वयं गी० १५।१४ में कहा है—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

[अर्थ—प्राणियों के शरीर का आश्रय लेकर जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायु के द्वारा, मैं चारों प्रकार का (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) अन्न पचाता हूँ।]

'वह प्राणी मात्र के बाहर-भीतर, यत्र-तत्र-सर्वत्र विराजमान है।' इस बात को जो ज्ञानी पुरुष भली-भान्ति जानकर अनुभव कर लेता है, उसको वह परमात्मा सब जीवों में बसा हुआ दृष्टि-गोचर होता है और सब जीव उसी में स्थित दिखाई देते हैं। फिर भला परमात्मा उसकी दृष्टि से कब ओझल हो सकता है ? अर्थात् वह सर्वत्र सर्वकाल में उसी परब्रह्म को अपने भीतर, बाहर तथा भूत-मात्र के भीतर बाहर देखता है। उसकी दृष्टि में देखने योग्य और कुछ नहीं रह जाता है। उस अवस्था में सब कुछ उसे परमात्मा में स्थित दृष्टिगोचर होता है। जब उस ज्ञानी को सर्वत्र सदा सबके भीतर परमात्मा, और परमात्मा के भीतर सारी सृष्टि दिखाई देती है तो फिर परमात्मा उससे ओझल या छिपा हुआ भला कैसे हो सकता है ? और वह परमात्मा से छिपा हुआ कैसे रह सकता है ?

वैसे तो परमात्मा से छिपा हुआ कुछ भी नहीं है। परन्तु यहाँ यह कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वह परमात्मा का प्यारा या उसका स्वरूप ही हो जाता है तथा उसमें ब्राह्मी शक्तियां प्रविष्ट या केन्द्रित हो जाती हैं॥

परमात्मा का दूसरा रूप 'सगुण ब्रह्म' है। यद्यपि सब कुछ निर्गुण ब्रह्म की सत्ता से ही सम्पन्न होता है और उस निर्गुण ब्रह्म को सगुण रूप धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु वह सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा उसी प्रकार दृश्यमान देहों में सृष्टि को उत्पन्न करता या माया से करवाता है। यद्यपि सृष्टि की उत्पत्ति से उसका कोई प्रयोजन नहीं है। राम, कृष्ण आदि अनेक रूप धारण करके उसने अपनी लीलाएँ की हैं और सृष्टि के उद्धार के लिए दुष्टों का संहार किया है तथा साधु, सन्तों और भक्तों का परित्राण किया है अथवा वेदों और गीतादि ग्रन्थों का प्रचार और निर्माण किया है। इन अवतारों में से किसी एक को इष्ट बना कर उसको सब भूतों के भीतर

बाहर देखते हुए प्राणिमात्र की सेवा करने वाले भक्त की दृष्टि से भी वह परमात्मा कभी ओझल या छिपा हुआ नहीं रहता है और न वह भक्त भगवान् के लिए गैर होता है। क्योंकि वह तो अपने इष्ट देव का अनन्य प्रिय और उसका अपना स्वरूप ही बन जाता है और फिर उसके लिए क्रियमाण और संचित कर्मों का झगड़ा भी मिट जाता है। इसी कारण से सन्त तुकाराम जी ने एकान्त में ईश्वर से प्रार्थना करते हुए ये शब्द अपनी मराठी भाषा में कहे हैं—

"एक बात एकान्त में, सुन लो जगदाधार।
तारे मेरे कर्म तो, प्रभु का क्या उपकार ? ।।"

इस प्रकार चाहे निर्गुण, चाहे सगुण ब्रह्म को जो ज्ञानी पुरुष सर्वत्र सब में देखता है और उसमें सबको देखता है उससे न परमात्मा छिपा हुआ है और न वह परमात्मा से छिपा हुआ होता है। इस प्रकार आत्मा की एकता को देखने वाले पुरुष और परमात्मा में कोई भेद-भाव शेष नहीं रहता ।।३०।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

सर्व-भूत-स्थितम्+यः+माम्+भजति+एकत्वम्+आस्थितः। सर्वथा वर्तमानः+अपि सः+योगी मयि वर्तते ।।

सर्व-भूत-स्थितम्=(वि०) सर्वेषु भूतेषु स्थितः (सप्तमी तत्पु०) तम्। (पुं०) द्वितीο ए० व०। सब भूतों में (आत्मा रूप में) स्थित को।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझ को। मुझ कृष्ण-अवतार परमेश्वर को।

भजति=√भज्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=भजता है।

एकत्वम्=(सर्व०) एक+त्व=एकत्व+द्विती० ए० व०=एकता को। एकीभाव में। एकता में।

आस्थितः=(वि०) आ√स्था+क्त=आस्थित+(पुं०) प्र० ए० व०= अच्छी तरह स्थित हुआ।

सर्वथा=(अव्यय) सर्व-प्रकारैः। सब प्रकार से। सब तरह से।

वर्तमानः=(वि०)√वृत्+शानच्=वर्तमान+(पुं०) प्र० ए० व०=बर्तता हुआ। वर्तमान।

अपि=(अव्यय) भी।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी।
मयि=(सर्व०) अस्मद्+सप्त० ए० व०=मुझ में। मुझ परमेश्वर में ही।
वर्तते=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=बर्तता है।

अर्थ—जो योगी एकीभाव में स्थित हुआ, सब भूतों में (आत्मा रूप में) स्थित मुझ (कृष्ण रूप परमेश्वर) को भजता है, वह सब तरह से बर्तता हुआ भी मुझ (परमेश्वर) में ही बर्तता है ॥३१॥

व्याख्या—जो योगी पुरुष सदा सब जगह सारे संसार की चराचर सृष्टि में केवल अपने ही इष्ट देव को देखता है, उसे विना अपने परमात्मा के और कुछ दिखाई नहीं देता है वह तो अपने आपको भी भूल जाता है। खाना खाता हुआ भी, कौर अपने इष्ट देव के मुख में डालता हुआ ही, अपने आपको अनुभव करता है। स्नान करता हुआ वास्तव में अपने इष्ट देव को ही स्नान करवाता है। जल दूध आदि सारे पेय पदार्थ स्वयं न पीकर अपने प्रियतम को ही पिलाता है। सोते समय अपने इष्ट देव के चरणों में सिर रखकर सो जाता है। हर किसी को परमात्मा के रूप में देखकर सत्कार करता है। प्रत्येक बच्चे को वासुदेव जानकर उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। सब दीन-दुखियों, वृद्धों, अबलाओं तथा अन्य जीवों को राम रूप समझ कर सेवा शुश्रूषा करता है। ऐसा योगी सम दृष्टि और एकत्व में स्थित कहा जाता है। क्योंकि उसकी सब में अभेद दृष्टि होती है और वह एक अद्वितीय ब्रह्म में पूर्ण निश्चय से स्थित हो जाता है। वह एकत्व-द्रष्टा पुरुष सब प्रकार के शोक और मोह से रहित हो जाता है। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् मन्त्र ७ में कहा गया है—

"यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥"

[**अर्थ**—जिस समय या जिस अवस्था में पहुँच कर ज्ञानी पुरुष के लिए, ये सब भूत (प्राणी) अपनी आत्मा ही हो गए तब फिर ऐसे एकत्व द्रष्टा विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ?]

समद्रष्टा पुरुष एकात्मता की दृष्टि से परमात्मा को सब भूतों में ओत-प्रोत उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार किसी वस्त्र में तन्तु ओत-प्रोत होते हैं तथा जिस प्रकार अनेक तरह के भूषणों में एक ही शुद्ध सुवर्ण लगा हुआ होता है अथवा जैसे एक ही वृक्ष को अनेक पत्ते लगे हुए होते हैं।

यह समद्रष्टा पुरुष यद्यपि पंचभूतात्मक शरीर धारण किए हुए होता है तो भी वह उस शरीर के बन्धन से रहित होता है। क्योंकि वह संसार

के सारे कार्य करता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता है। वह तो अनुभव के प्रभाव से अपने इष्ट देव परब्रह्म परमात्मा के रूप में ही बदल जाता है। उसे आत्मानुभव से वही व्यापकता प्राप्त हो जाती है जो उसके इष्ट देव परमात्मा में है। वह स्वभावतः विश्व-व्यापक हो जाती है। इसलिये शास्त्रों में कहा गया है कि जब तक 'आपा' विद्यमान है, तब तक परमात्मा 'पर' है। परन्तु जब 'आपा' मिट कर केवल एकत्व भाव वाली सम-दृष्टि हो जाती है तो स्वयं परमात्मा बन जाने में देर नहीं लगती। इस अवस्था का नाम परमात्मा में बर्तना है ॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

आत्म+औपम्येन सर्वत्र समम्+पश्यति यः+अर्जुन ! सुखम्+वा यदि वा दुःखम्+सः+योगी परमः+मतः।

आत्म+औपम्येन=(भाव वाचक०) आत्मा स्वयम् एव उपमीयते अनया इति उपमा, तस्या उपमाया भाव औपम्यम् तेन—आत्मौपम्येन। स्वयम् आत्मा (अपना आप) और जिसके द्वारा उपमित किया जाए वह उपमा, उसी उपमा के भाव या सादृश्य को "औपम्य" कहते हैं। उपमा+ष्यञ्= औपम्य (वि०)+(पुं०) तृती० ए० व०=औपम्येन=तुलना से। सादृश्य से। समानता से। आत्म औपम्य से। अपनी सदृशता से। अपने सादृश्य से।

[आत्मनः औपम्येन (ष० तत्पु०)।]

सर्वत्र=(अव्यय) सर्वेषु भूतेषु। सब भूतों में। सब प्राणियों में। [सब जगह, प्रति समय]।

समम्=(बि०) तुल्यम्। सम+द्विती० ए० व०। समान। तुल्य। सम। एक जैसा (बिना भेद भाव के)।

पश्यति=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =देखता है।

यः=(सर्व०) यत्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो पुरुष।

अर्जुन !=(पुं०, सम्बो० ए० व०) हे अर्जुन !

सुखम्=(नपुं०) सुख+द्विती० ए० व०=सुख को। ['सुख' मन की उस उत्तम तथा प्रिय अनुभूति का नाम है जिसके द्वारा अनुभव कर्ता का बिशेष समाधान और सन्तोष होता है और जिसके बराबर बने रहने की उसे सदा अभिलाषा बनी रहती है।]

आनन्द को। हर्ष को।
वा=(अव्यय) अत्र वाशब्दः चार्थे। और।
यदि वा=(अव्यय) अथवा।
दुःखम्=(नपुं०) दुःख+द्विती० ए० व०=दुःख को। कष्ट को।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।
योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी।
परमः=(वि०) पुं०, प्र० ए० व०=सर्वोत्कृष्ट। सर्वोच्च।
मतः=√मन्+क्त=मत+(पुं०) प्र० ए० व०=माना गया है।

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष अपने आपकी उपमा से सब प्राणियों में सुख या दुःख को तुल्य देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥३२॥

व्याख्या—गीता० २।३८ में भगवान ने सुख और दुःख को समान समझने का उपदेश दिया है। उस उपदेश का भाव यह है—न सुख से प्रभावित होकर उसकी कामना करनी चाहिए और न दुःख से दुःखी होकर उससे परेशान होना ठीक है। तात्पर्य यह है कि दुःख-सुख का कोई भी प्रभाव अपनी अन्तरात्मा पर न होने देना चाहिए। अपने आपको या शरीर को चाहे कोई दुःख हो, चाहे सुख हो, दोनों के सम्बन्ध में सम भाव रहकर उससे बेपरवाह हो जाना चाहिए।

अब इस प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है, कि दूसरे सब प्राणियों का दुःख, सुख अवश्य ही अनुभव करना चाहिए। जब उनको सुख हो तो योगी को वह सुख अपने शरीर को ही हो रहा समझना चाहिए और जब अन्य प्राणियों पर दुःख आ पड़े तो योगी पुरुष को यह दुःख अपने ऊपर आया हुआ ही जानना चाहिए और अपने शरीर के अंगों की तरह किसी को भी अपने से भिन्न न समझना चाहिए। इस शरीर रूपी नगर में ब्राह्मण के रूप में मस्तिष्क स्थित है। दोनों भुजाएँ क्षत्रिय-रूप धारण किए हुए हैं। उदर और उसके सहायक अंग वैश्य लोग हैं। दोनों पाँव और टाँगे मजदूर किसान और नौकर चाकर हैं। मलद्वार, उपस्थ नाक आदि शरीर की सब गन्दगियों को दूर करने वाले हरिजन, डाक्टर, वैद्य और हकीम लोग हैं। परन्तु इन सब में आत्मा का आत्मभाव या अपनापन एकसमान और तुल्य होता है। जब इन अवयवों में से कोई दुःखी या सुखी होता है तो जीवात्मा उससे एक जैसा ही प्रभावित होती है। इसी प्रकार ज्ञानी के जगत् के सारे प्राणी अपने शरीर के ही अंग समझ लेने चाहिएँ और उनके दुःख सुख से अपने शरीर के दुःख, सुख के सदृश्य ही दुःखी या सुखी होना चाहिए। इस पर आचरण करने वाला योगी संसार में परम श्रेष्ठ माना जाता है।

जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही सब प्राणियों को सुख प्रिय और अनुकूल होता है और जैसे मुझे दुःख अप्रिय है वैसे ही सब प्राणियों को दुःख अप्रिय या प्रतिकूल होता है। इसलिए सब प्राणियों के सुख को अपना सुख समझ कर उन्हें और सुखी करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार सब प्राणियों के दुःख को अपना दुःख मानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। कभी किसी के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए। 'अहिंसा परमो धर्मः' का मर्म सदा समझते रहना चाहिए। इस प्रकार की करुणा से चित्त निर्मल और शुद्ध होता है। यह बात स्मृति में भी कही गई है—

"प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥"

[अर्थ—पुरुष को अपने प्राण जिस प्रकार प्रिय होते हैं वैसे ही सब प्राणियों को प्रिय होते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर महात्मा लोग अपनी आत्मा के समान (अर्थात् अपना रूप मानकर) सब प्राणियों पर दया करते हैं।]

जो महापुरुष सब प्राणियों के सुख को अपना सुख ही समझता है, उसमें असूया और ईर्ष्या नाम मात्र को भी नहीं होती और न किसी प्रकार का द्वेष होता है। अभिप्राय यह है कि सर्वत्र आत्म-दृष्टि हो जाने के कारण समस्त विराट् विश्व उसका अपना ही स्वरूप बन जाता है। जगत् में उसके लिए दूसरा कोई रहता ही नहीं है। इसलिए वह योगी प्राणिमात्र को किसी प्रकार का किंचित् मात्र भी दुःख नहीं देता है। सदा सबके सुख के लिए सहज स्वभाव ही चेष्टा करता रहता है।

संसार में कई संस्थाएँ ऐसी हैं जो सब मनुष्यों के बन्धुत्व या भ्रातृत्व का प्रचार करती हैं जैसे मुसलिम ब्रदरहुड, क्रिसचियन ब्रदरहुड, इत्यादि। परन्तु जब आचरण का समय आता है तो वह इस प्रचार के विपरीत ही होता है। यूरोप के सन् १९१४ और १९३९ के दो महायुद्धों में ईसाइयों ने ईसाइयों के साथ लड़कर लाखों अपने भाइयों का संहार किया था तथा बंगला देश में पाकिस्तानी मुसलमानों ने अपने लाखों भाइयों को मौत के घाट उतार दिया था। मुगल सम्राटों ने अपने सहोदर भ्राताओं के गले कटवा दिए थे जिसे देखकर एक उर्दू-कवि ने कहा है—

'दोस्त गर भाई नहीं, दोस्त तो भी है लेकिन।
भाई गर दोस्त नहीं तो नहीं कुछ भाई भी॥'

[अर्थ—यद्यपि मित्र मां-जाया भाई नहीं होता तो भी हितकारी तो

अवश्य ही होता है। परन्तु यदि सहोदर भ्राता हितकारी नहीं है तो वह भाई भी शत्रु सदृश होता है।]

यद्यपि विश्व-बन्धुत्व का सिद्धान्त संसार में बहुत ऊँचा माना जाता है, परन्तु जब इस पर आचरण करने का समय आता है तो यह कदम-कदम पर फेल हो जाता है। परन्तु आत्म औपम्य का भाव प्रबल हो जाने से मनुष्य बहुत ऊँचा उठ जाता है। उस महात्मा के लिये फिर कोई पराया और दूसरा रह ही नहीं जाता है। इससे वह सदा सर्वोदय के लिए प्रयत्न करता है। सबके सुखसे सुखी होता है और सब के दुःख से दुःखी होता है। वह कभी किसी से लड़ने की बात नहीं करता है। न ही ऐसा भद्दा विचार कभी मन में लाता है। 'अहिंसा परमो धर्मः' का मन्त्र उसके जीवन में घुल मिल जाता है। ऐसे महात्माओं का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी राम-चरित मानस में लिखते हैं—

"बंदऊँ सन्त समान चित, हित अनहित नहीं कोउ।
अंजुलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगन्धकर दोउ॥"

[अर्थ—मैं समान चित्त वाले सन्तों को नमस्कार करता हूँ, जिनका न कोई मित्र है और न कोई शत्रु है। जिस प्रकार अंजुलि में भरे हुए सुगन्धित पुष्प दायें और बाएँ दोनों हाथों को एक जैसे ही सुगन्धित कर देते हैं वैसे ही दायें (मित्र) और बाएँ (शत्रु) दोनों के मध्य में स्थित समान-चित्त सन्त-जन दोनों को मोक्षपद का अधिकारी बना देते हैं॥]

और भी—

साधुचरित सुभ सरिस कपासू
निरस विसद गुणमय फल जासू।
जो सह दुःख परछिद्र दुरावा
वंदनीय जेहि जग जस पावा॥

[अर्थ—महात्मा पुरुषों का चरित्र उस कपास के पौधे के तुल्य शुभ होता है जिसका फल नीरस (रसहीन), विसद (अत्यन्त श्वेत और निर्मल) तथा गुण (धागे, विशेष गुण) से युक्त है। जैसे कपास पहले बेलने में बेली जाती है, फिर पिंजनी से धुनखी जाती है, पुनः चर्खे द्वारा काती जाती है, एवं सूत्र के रूप में लोहे के तकले पर लपेटी जाती है, अतः अनेक कष्ट सहन करके कपड़े का रूप धारण करती है और प्राणियों के शरीर को ढकती है इसी प्रकार महात्माओं के शरीर विषय रस से रहित और रूखे हैं। उनके अन्तःकरण विशद, शुद्ध और निर्मल होते हैं तथा लोकोपकारार्थ

उनमें अनेक गुण होते हैं। वे महात्मा लोग स्वयं अनेक कष्ट सहन कर दूसरों के दोषों और पापों को ढक लेते और आत्मा औपम्य होते हुए दुःखियों के दुःखों को दूर करते हैं, इसी से संसार में वन्दनीय बन जाते हैं तथा उनका यश सारा संसार गाने लगता है।]

और भी—

विषय अलंपट सील गुणाकर।
पर सुख सुख दुख देखे पर॥
सम अभूत रिपु विमद वैरागी।
लाभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित्त दीनन पर दाया।
मन वच क्रम मम भक्ति अमाया॥
सबहिं मानप्रद आप अमानी।
भरत प्राण सम मम ते प्राणी॥

[अर्थ—वे महात्मा विषय-वासनाओं से रहित होते हैं। उनके हृदय शुद्ध तथा सरल होते हैं, शील-स्वभाव तथा गुणों के आगार होते हैं, सदा दूसरों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होते हैं। वे शत्रु, मित्र आदि सबसे सम और उत्तम व्यवहार करते हैं। अहंकार से रहित तथा वैरागी और त्यागी होते हैं। लाभ, अलाभ, क्रोध, भय और हर्ष के भावों से सर्वथा विमुक्त होते हैं। उनके हृदय कोमल होते हैं, और वे सदा दीनों पर दया करते हैं। मन, वचन तथा कर्म के द्वारा, विना छल कपट या दिखावे के प्रभु-भक्ति में निरत रहते हैं। अपने सम्बन्ध में तो मान अपमान का थोड़ा सा भी विचार नहीं करते, परन्तु दूसरों का आदर सत्कार बहुत करते हैं। भगवान राम कहते हैं कि हे भरत! ऐसे प्राणी मुझे प्राणों के समान प्रिय होते हैं।]

और भी—

"सन्त हृदय नवनीत समाना।
कहा कवन पर कहत न जाना॥
निज परिताप द्रवहिं नवनीता।
पर परिताप सत सपुनीता॥

[अर्थ—कवि लोग कहते हैं कि सन्तों का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है। परन्तु यह उपमा पूरी तरह से घटित नहीं होती है क्योंकि मक्खन तो अपने को परिताप पहुँचने से द्रवित होता है परन्तु परम पवित्र और

शुद्ध हृदय वाले सन्त जन पर-परिताप से ही द्रवीभूत हो जाते हैं अर्थात् दूसरों को दुखित देख कर दुःखी हो जाते हैं।]

इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं—

"प्राणि-मात्र में एक आत्मा है। यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गों में एक सी है। ऐसे ही पातंजल योग में भी समाधि लगाकर परमेश्वर की पहचान हो जाने पर ही साम्यावस्था प्राप्त होती है। परन्तु सांख्य और पातंजल योगी दोनों को ही सब कर्मों का त्याग इष्ट है। अतएव वे व्यवहार में इस साम्य-बुद्धि के उपयोग का मौका ही नहीं आने देते और गीता का कर्मयोगी ऐसा न कर अध्यात्म ज्ञान से प्राप्त हुई उस साम्य बुद्धि का व्यवहार में भी नित्य उपयोग करके जगत् के सभी काम लोक-संग्रह के लिए किया करता है, यही इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। और इसी से इस अध्याय के अन्त (श्लोक ४६) में स्पष्ट कहा है कि तपस्वी अर्थात् पातंजल योगी और ज्ञानी अर्थात् सांख्य-मार्गी, इन दोनों की अपेक्षा कर्म-योगी श्रेष्ठ है ॥३२॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

यः + अयम् + योगः + त्वया प्रोक्तः साम्येन मधु-सूदन ! एतस्य + अहम् + न पश्यामि चञ्चलत्वात् + स्थितिम् + स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलम् + हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवत् दृढम्। तस्य + अहम् + निग्रहम् + मन्ये वायोः + इव सुदुष्करम् ॥३४॥

यः = (सर्व०) यद् + (पुं०) प्र० ए० व० = जो।
अयम् = (सर्व०) इदम् + (पुं०) प्र० ए० व० = यह।
योगः = (पुं०) √युज् + घञ् = योग + प्र० ए० व० = योगः। योग। समत्व-प्राप्ति-योग (ढंग)।
त्वया = (सर्व०) युष्मद् + तृती० ए० व० = तेरे द्वारा। तुझ से। आपसे।
प्रोक्तः = प्र √वच् + क्त = प्रोक्त + (पुं०) प्र ए० व० = प्रोक्तः = कहा गया है।

साम्येन=समत्वेन। (नपुं०) सम+ष्यञ्=साम्य+तृती० ए० व०=सम भाव से। समत्व भाव से। समत्व भाव रूप।

मधु-सूदन!=(पुं०) सम्बो० ए० व०। मधु पुष्परसं मधु नाम दैत्यं वा सूदयति (नाशयति)।

मधु√सूद्+णिच्+ल्यु=मधुसूदन। 'मधु' एक दैत्य का नाम है, जिसे भगवान् कृष्ण ने मारा था। उसी से कृष्ण का नाम मधुसूदन प्रसिद्ध हुआ। हे मधुसूदन! हे कृष्ण! इस सम्बोधन से अर्जुन का विशेष अभिप्राय यह है कि आप तो शत्रुओं को मारते हो और मुझे उनके सम्बन्ध में समत्व रूप योग का उपदेश करते हो। अहो! यह बड़ी विचित्र बात है।

एतस्य=(सर्व०) एतद्+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=एतस्य (योगस्य)। इस (योग) की।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।

न=(अव्यय) न। नहीं।

पश्यामि=√दृश्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=मैं देखता हूँ।

चञ्चलत्वात्=(वि०) चञ्चल+त्व=चञ्चलत्व+(नपुं०) पंच० ए० व० =चञ्चलत्वात् (मनसः)। मन की चञ्चलता से।

स्थितिम्=(स्त्री०)√स्था+क्तिन्=स्थिति+द्वितीo ए० व०=स्थिति को।

स्थिराम्=(वि०)√स्था+किरच्+स्थिर+टाप्=स्थिरा (स्त्री०)+द्वितीo ए० व०=अचल को। स्थिर रहने वाली को॥ ३३॥

चञ्चलम्=(वि०)√चञ्च+अलच्=चञ्चल+(नपुं०) प्र० ए० व०= सदा एक ही अवस्था में स्थिर न रहने वाला। चंचल।

हि=(अव्यय) क्योंकि। निःसन्देह।

मनः=(नपुं०) मनस्+प्र० ए० व०। अन्तःकरण। मन। चित्त।

कृष्ण!=(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे कृष्ण!

√कृष् (तुदा० उभ०, भ्वा० पर०=खींचना, घसीटना, विलेखन)+ नक्+अच्=कृष्ण। भक्तजनों के पापादि दोषों को जो दूर करता है, उसका नाम 'कृष्ण' है।

प्रमाथि=(वि०) प्रमथन-शीलम्, प्रमथ्नाति शरीरम् इन्द्रियाणि च विक्षिपति परवशीकरोति॥ प्र√मथ्+णिनि=प्रमाथिन्+(नपुं०) प्र० ए० व० =प्रमाथि=प्रमथन करने के स्वभाव वाला। प्रमथन-शील। शरीर को

प्रमथन (क्षुब्ध) और इन्द्रियों को विक्षिप्त (परवश) करने वाला। बल-पूर्वक हर ले जाने वाला।

बलवत्=(वि०) बल+मतुप् (वत्)=बलवत्+(नपुं०) प्र० ए० व०। बलवान्। शक्तिशाली।

दृढम्=(वि०)√दृह्+क्त=दृढ+(नपुं०) प्र० ए० व०=दृढम्। किसी से भी वश में न किया जा सकने वाला। कठिनाई से उखाड़े जाने योग्य। पक्का हठी। मज़बूत बना रहने वाला। जिद्दी। तन्तुनाग या घड़ियाल की भान्ति अच्छेद्य।

तस्य=(सर्व०) तद्+(नपुं०) षष्ठी० ए० व०=उसका। उसके।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं। मैं अर्जुन।

निग्रहम्=(पुं०) नि√ग्रह्+अप्=निग्रह+प्र०, द्विती०, ए० व०=निग्रह करना। निरोध करना। रोकना। रोकने को। वश में करने को। कैद करने को।

मन्ये=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना)+लट्० उ० पु०, ए० व० =मानता हूँ। जानता हूँ।

वायोः=(पुं०) वायु+षष्ठी० ए० व०=वायु के। वायु के (रोकने की)।

इव=(अव्यय) सदृश। समान। भान्ति।

सुदुष्करम्=(वि०) सु, दुस्√कृ+खल्=सुदुष्कर+(नपुं०) प्र०, द्विती० ए० व०=अत्यन्त-दुःखेन क्रियते इति। अतिदुष्कर। अत्यन्त कठिन ।।३४।।

अर्थ—अर्जुन बोला—

हे मधुसूदन ! जो यह समत्व-प्राप्ति-योग (ढंग) आपके द्वारा (मेरे प्रति) कहा गया है मैं (मन की) चंचलता के कारण से इसकी स्थिति को (चिरकाल तक) स्थिर नहीं देखता हूँ ।। ३३ ।।

क्योंकि हे कृष्ण ! (निश्चयपूर्वक) मन चंचल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ (हठी) है। इसलिए इसका वश में करना, मैं वायु को रोकने की भान्ति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ ।। ३४ ।।

व्याख्या—अर्जुन ने समत्व-बुद्धि धारण करने वाला ज्ञान-योग सुनकर मन की चंचलता के कारण उस पर आचरण करना दुष्कर या असम्भव जाना तथा भगवान् को मधुसूदन कह कर यह जताया कि यह गुण तो आपने भी धारण किया हुआ नहीं है क्योंकि मधु आदि दैत्यों में समत्व भाव का बर्ताव न करके आप उनको मारते हैं। इस नाम से सम्बोधन करने से

अर्जुन का दूसरा अभिप्राय यह है कि आप तो मधु जैसे अजेय दैत्यों के नाशक हो, इसलिए आपके लिए तो चंचल मन को वश कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं है। परन्तु मैं तो आपके तुल्य सामर्थ्य वाला नहीं हूँ। तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार जो प्राणी के मन के विकार हैं, वे सब प्राणी को मधु (शहद) के समान मधुर लगते हैं। इसी से वह उन्हें त्यागना नहीं चाहता। और आप इस मधु-तुल्य विकारसमूह को भक्तों के हृदयों से नष्ट कर देते हो, इस कारण से भी आप मधुसूदन हो।

यदि कहो कि काम, लोभ और मोह तो मधुवत् मीठे कहे जा सकते हैं परन्तु क्रोध और अहंकार तो विष-वत् कड़ुवे, कसैले और मृत्यु के लाने वाले होते हैं फिर उन दोनों को मनुष्य क्यों धारण करता है ? इसका उत्तर यह है कि मिर्च भी तो कड़ुवी होती है, परन्तु मिर्चों के रसिया मिर्चों को भोजन में डाले बिना भोजन ही नहीं करते। अफीम, शराब, पोस्त तथा तम्बाकू का धुआँ आदि सब वस्तुएँ कड़वी और कसैली होती हैं तो भी इनके रसिया इनको प्रयोग किए बिना पल भर भी जीवित रहना पसन्द नहीं करते। इससे सिद्ध होता है कि ये पाँचों विषय मधुवत् मीठे होने से मधु ही हैं और आप ठहरे 'मधुसूदन' अर्थात् अपने भक्तों के चंचल मन से इन विषयों को नाश करके उसे स्थिर करने वाले। तो इनको मेरे मन से भी दूर कर दीजिए जिससे यह मेरा मन भी चंचलता को त्याग कर समत्व बुद्धि योग को धारण कर सके। हे मधुसूदन ! हे सब वैदिक संप्रदायों के वास्तविक प्रवर्तक ! यदि आप मेरे मन की चंचलता को दूर करके उसे स्थिर करने में मेरी सहायता न करोगे तो मैं कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग आदि परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में से किसी एक की भी स्थिर स्थिति को प्राप्त करना संभव अपने लिए नहीं देखता हूँ। अर्थात् किसी भी योग की सफलता में विश्वास नहीं करता हूँ। यद्यपि आपने गीता २।४८ में 'समत्वं योग उच्यते' अर्थात् 'समत्व योग कहलाता है' ऐसा कहा है परन्तु कई अन्य स्थानों पर और भी कई प्रकार का योग कहा गया है और इन सब प्रकार के योगों की साधना में मन की चंचलता बाधक होती है। अतः उसका दूर होना परमावश्यक है ॥ ३३ ॥

हे कृष्ण ! आप भक्तों के दोषों को निवारण करने वाले प्रभु हैं और निश्चयपूर्वक यह मन अत्यन्त चंचल स्वभाव वाला है। इसके साथ ही मथानी के समान प्रमथनशील भी है और अपने इस दुष्ट स्वभाव से यह विषयेन्द्रिय को प्रमत्त बनाकर उससे अपना अनुकरण करवाने लगता है। शेष चार इन्द्रियों को भी यह अधम विक्षिप्त और परवश करने वाला है। बहुत सरकश और मुंहजोर है। सब प्रकार से इन्द्रियों का क्षोभिक और उनमें

प्रलयकारी हलचल मचाने वाला है। मतवाले हाथी गैंडे और बड़े घड़ियाल की तरह अत्यन्त बलवान् है। वह न किसी प्रकार के अंकुश को मानता है और न इसकी मोटी खाल (मन्द बुद्धि) पर किसी प्रकार के अस्त्र शस्त्र (उपदेश) का ही प्रभाव होता है। घड़ियाल की तरह यह यम, नियम, संयम, समझ, बुद्धि, धर्म और ज्ञान रूपी बड़े-बड़े हाथियों को भी पाप-पंक-मय गर्त में घसीट ले जाता है। जिस प्रकार महादेव की दृष्टि से कामदेव भस्म होकर अनंग रूप में ही सब जीवों में व्याप्त हो रहा है और मनसिज कहलाता है इसी प्रकार बहुत प्राचीन काल में दानव शरट नाम का एक बहुत बड़ा हिंस्रक जीव भूमण्डल पर पाया जाता था जिसका वर्णन 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में भी महाकवि कालिदास ने किया है। यह जीव बड़े हाथियों और भयंकर सिंहों को भी दौड़ कर पकड़ लेता था और व्हेल मत्स्य की भान्ति एक ही बार गले से नीचे उतार कर निगल जाता था। यद्यपि वह दानव शरट जीव अब भूमण्डल पर जीवित शरीरधारी कहीं नहीं रहा है परन्तु उसकी संतति कामदेव की भान्ति बिना शरीर ही जीवों के मन का रूप धारण कर चुकी है। ऐसा मैं मानता हूँ यह पापी अपने नाग-पाश से इन्द्रियों को बाँध कर नरकप्रद विषयों की ओर ले जाता है। प्रबल झञ्झा वात तुल्य बड़े-बड़े धुरन्धर महात्मा रूपी वृक्षों को भी जड़ से उखाड़ डालने वाला है। यह धूर्त चतुर बुद्धि को भी चकमा दे जाता है। धैर्य को धकेल कर परे फैंक देता है। विवेक को भ्रान्त करके बेवकूफ या महामूर्ख बना देता है। सन्तोष को असन्तुष्ट कर देता है। स्वास्थ्य को अस्वस्थ बना देता है। इसके सम्मुख इन्द्रियों का निग्रह भी अनिग्रह बनकर रह जाता है। जब इस मन-महासागर में भयानक ज्वार-भाटा आता है उस समय धर्म कर्म के सब नगर इस समुद्र की बेला में बह जाते हैं। जब इस मन को दबा कर नीचा करने का प्रयत्न किया जाता है तो यह फव्वारे के जल की भान्ति उतना ही और अधिक ऊँचा उछलता है। निग्रह करने पर भी काबू से बाहर हो जाता है। इससे भी अधिक एक और दोष या दुर्गुण इस मन में पाया जाता है, वह यह कि यह अत्यन्त दृढ़ है। जिस स्थान या जिस विषय में एक बार चिपक जाता है इसे वहाँ से अलग करना कठिन हो जाता है। कहते हैं कि एक बार जर्मनी के भूतपूर्व एक सम्राट् को दिखाने के लिए एक वैज्ञानिक ने लोहे के दो पोले गोलार्द्ध बनवाए थे। उनके मुख मिलाकर भीतर की वायु वायु-निष्कासन पम्प से निकाल दी गई थी। फिर उनको पृथक्-पृथक् करने के लिए आठ-आठ घोड़े दोनों ओर उल्ट दिशाओं में लगा दिए गए थे। परन्तु उनके पूर्ण बल लगा कर खींचने पर भी बाहर की वायु के दबाव के कारण वे गोलार्द्ध एक दूसरे से पृथक् या अलग न हो सके थे। उन मैगडेबर्ग के गोलार्द्धों

की भान्ति यह मन भी अपना मुख जब किसी विषय या स्थान में जोड़ लेता है तो महान् बलपूर्वक प्रयत्न करने पर भी उससे पृथक् नहीं होता है। इससे इसे अत्यन्त दृढ़ कहा जाता है। इसलिए हे कृष्ण ! इस मन को आप ही अपनी ओर आकर्षित कीजिए। मैं अपने आपको तो इसके मुकाबले में असमर्थ और अशक्त समझता हूँ। भगवन् ! केवल एक आप ही मेरे मन को सम्भालिए मैंने तो इसे आपके प्रति अर्पण कर दिया है। अब यह मेरा अपना नहीं रहा है।

इस श्लोक में अर्जुन ने 'चंचल', प्रमाथि, बलवत् और दृढ़ ये चार विशेषण मन के कहे हैं। अर्थात् यह अत्यन्त दृढ़ होने से अत्यन्त बलवान् है। अत्यन्त बलवान् होने से प्रमथनशील है। और प्रमथनशील होने से अतिचंचल है। क्योंकि मथानी जल्दी-जल्दी तीव्र वेग से भ्रमण करती हुई ही दधि को मथन किया करती है। जिस प्रकार वायु का वेग रोकना अति दुष्कर होता है अथवा वस्त्र में वायु को बाँधना कठिन है इसी प्रकार मन का निग्रह करना भी मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ। इस विषय में यह एक प्रसिद्ध श्लोक भी शास्त्रों में कहा है।

"अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनात्साधो ! विषमश्चित्त-निग्रहः॥"

[अर्थ—हे साधो ! महान् समुद्र के सम्पूर्ण जल को पान करने से भी, सुमेरु पर्वत को मूल से उखाड़ने से भी तथा अग्नि को भक्षण करने से भी यह चित्त (मन) निग्रह में करना अत्यन्त कठिन है।] ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

असंशयम्+महाबाहो ! मनः दुर्+निग्रहम्+चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते॥

असंशयम्=(वि०) न अस्ति संशयो यस्मिन् (बहुव्री०) जिसमें संशय या सन्देह न हो। निःसन्देह।

महाबाहो !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। बाधते शत्रून्, √बाध्+कु, हकारादेशः=बाहु। महान्तौ बाहू यस्य सः (बहुव्री०)। [साक्षात् महादेव से भी युद्ध करने में] महान् हैं दोनों भुजाएँ (बाहु) जिसकी ऐसे हे अर्जुन ! अर्जुन ने भगवान् को 'मधुसूदन' और 'कृष्ण' कहा था। और

भगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को 'महाबाहो', और 'कौन्तेय' कहा है। जो अर्जुन 'मन का निग्रह करना' कठिन समझता है उस अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिए भगवान् उसको 'महाबाहो' कह कर सम्बोधित करते हैं। इससे भगवान् का आशय यह है कि हे अर्जुन ! तू तो विश्व-विख्यात वीर पुरुष है। तूने मुझे जो केवल एक मधु को मारने वाला कहा है यह ठीक है। परन्तु तूने तो साक्षात् महादेव के साथ भी युद्ध किया था। देव, दानव और मानव सभी श्रेणियों के महान् योद्धाओं को तूने अपने बाहुबल से पराजित किया है जिससे सारे योद्धा लोग तेरा लोहा मानते हैं, तो फिर तुम्हें मन को जीतना कौन सी बड़ी बात है ?। [मन जीते जग जीत]।

मनः=(नपुं०) मनस्+प्र० ए० व०=मनः। मन। चित्त। अन्तःकरण।

दुर्+निग्रहम्=(वि०) दुर् नि √ग्रह्+अप्, खल् वा। दुर्निग्रह+(नपुं०) प्र० ए० व०। कठिनता से वश में होने वाला। जो दबाया न जा सके। जिस पर शासन न किया जा सके।

चलम्=(वि०)√चल्+अच्=चल+(नपुं०) प्र० ए० व०। चंचल। अस्थिर।

[भगवान् के 'दुर्निग्रह' कथन में अर्जुन द्वारा मन के तीन विशेषणों— 'प्रमाथि', 'बलवत्', और 'दृढ' का समावेश है।]॥

अभ्यासेन=(पुं०) अभि√अस् (क्षेपणे)+घञ्=अभ्यास+तृती० ए० व० =बार-बार किसी काम को करने की क्रिया से। मन को सब ओर से हटा कर बार-बार परमात्मा में स्थित करने से। बार-बार आवृत्ति करने से।

तु=(अव्यय) परन्तु।

कौन्तेय !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। कुन्ती+ठक् (=एय)=कौन्तेय। हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! 'कौन्तेय' कह कर भगवान् ने अर्जुन के प्रति यह अर्थ सूचित किया है। हे अर्जुन ! तू हमारे पिता की भगिनी अर्थात् मेरी भूआ कुन्ती का पुत्र है। अतः अति समीपी सम्बन्धी है। इसलिए मैं कृष्ण रूप प्रभु तेरे मन को निग्रह करवा कर तुम्हें सुखी कर दूंगा। अतः तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो।

वैराग्येण=(पुं०, नपुं०) वि√रञ्ज्+घञ्=विराग+ष्यञ्=वैराग्य+ तृती० ए० व०=वैराग्य से। संसार में अनासक्ति या विरक्ति से।

[इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में से जब आसक्ति और

समस्त कामनाओं का पूरी तरह से नाश हो जाता है तो मनुष्य की उस अवस्था को वैराग्य कहते हैं ।]

च=(अव्यय) और ।

गृह्यते=√ग्रह् (क्र्या० उभ० सक०=पकड़ना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० (कर्मवाच्य)=रोका जाता है। निग्रह किया जाता है। वश में किया जाता है।

अर्थ—भगवान् बोले—

हे महाबाहो ! निःसन्देह मन बहुत चंचल और कठिनता से वशीभूत होने वाला है। परन्तु हे कौन्तेय ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जाता है ॥ ३५ ॥

व्याख्या—श्रीकृष्ण भगवान् बोले—हे अर्जुन ! तुम्हारे कहे हुए दोनों श्लोकों से मैंने तेरे चित्त की चिन्ता को भली-भान्ति भाँप लिया है। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि मेरी कृपा से तू अपने मन का निग्रह करने में अच्छी तरह से समर्थ है यद्यपि यह मन प्रमाथि, बलवत, और दृढ़ है।

भगवान् ने इन तीनों पदों का भाव इस श्लोक में इस एक ही वाक्य द्वारा कह दिया है कि ऐसा यह मन निःसन्देह बड़ी कठिनता से वशीभूत होने वाला है क्योंकि यह अत्यन्त चंचल है परन्तु तुम भी तो महाबाहु अर्थात् अत्यन्त बल से युक्त हो, विश्व-विख्यात वीर हो, देव, दानव मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? तुमने तो युद्ध में अपने बाहुबल से साक्षात् महादेव को भी जीत कर खुश कर लिया था। ये वही महादेव जो हैं जो प्रलयकाल में तीसरा नेत्र खोल कर विश्व का अन्त कर देते हैं और जिन्होंने इस प्रमाथी, बलवान् और दृढ़ कहलाने वाले मन के पुत्र मनसिज या कामदेव को केवल एक दृष्टि मात्र से ही भस्म कर दिया था। उसी भगवान् शंकर से तूने विश्व-विजेता होने का वरदान प्राप्त कर लिया था। इस पर विशेषता यह है कि तुम सर्वशक्तिमान् मुझ कृष्ण की भूआ कुन्ती के पुत्र हो तथा मेरे सखा हो। तुम तो अवश्य ही इस नरदेह को त्याग कर मुझ में मिल कर ब्रह्म रूप हो जाओगे। यह गीता ज्ञान तो तुम्हें सुनाने के बहाने केवल मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए कहा जा रहा है। इस बात को कान खोल कर सुन लो कि यद्यपि यह मन असीम चंचल और अति फुर्तीला है और बहुत कठिनता स वश में होने वाला है परन्तु अभ्यास और वैराग्य से वशीभूत किया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में योग-शास्त्र में इस प्रकार लिखा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १।२ ॥"

[अर्थ—चित्त अर्थात् मन की वृत्तियों के निरोध (सब प्रकार से रुक जाने) का नाम योग है।

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ १। ३ ॥"

[अर्थ—जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है उस समय द्रष्टा-आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है अर्थात् वह ब्रह्म-लीनता को प्राप्त हो जाता है।]

"अभ्यास-वैराग्याभ्यां सन्निरोधः ॥ १।१२ ॥"

[अर्थ—उन चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है ॥

चित्त की वृत्तियों का प्रवाह परम्परागत संस्कारों के बल से सांसारिक भोगों की ओर चल रहा है। उन प्रवाहों को रोकने का उपाय वैराग्य है। और उसे कल्याण मार्ग में ले जाने का उपाय निरन्तर किया जाने वाला अभ्यास है।]

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १ । १३ ॥"

[अर्थ—वहाँ चित्त की स्थिरता के लिए जो यत्न किया जाता है, वह अभ्यास कहलाता है।

यह मन तो स्वभाव से ही चंचल है। इसको किसी एक ध्येय में स्थिर करने के लिए बार-बार चेष्टा करते रहने का नाम अभ्यास है।]

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥ १। १४ ॥"

[अर्थ—परन्तु वह अभ्यास लम्बे समय तक लगातार, आदरपूर्वक सेवन करने से दृढ भूमि या पक्की अवस्था वाला होता है]

इसलिए साधक साधन करने से कभी जी न चुराए। यह दृढ़ विश्वास रखे कि मेरा अभ्यास कभी व्यर्थ नहीं जाएगा। अभ्यास के लिए काल का विचार न करे। आजीवन अभ्यास करता रहे और उसमें किसी प्रकार का व्यवधान या अन्तर न पड़ने दे। सदा आदरपूर्वक उसमें लगा रहे। इस प्रकार अभ्यास करने से मन का निरोध होकर ब्रह्मानन्द या मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में योग-शास्त्र में आगे कहा है—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।" ॥ १। १५ ॥

[अर्थ—देखे और सुने हुए (इन लोक और स्वर्गादि परलोक से स्त्री, पुत्र, धन, भवन, मान, बड़ाई इत्यादि) सब विषयों (और भोगों के सुखों) में तृष्णा रहित हुए चित्त की जो वशीकरण अवस्था है उसी का नाम वैराग्य है।]

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १ । १६ ॥"

[अर्थ—पुरुष के ज्ञान से जो प्रकृति के तीनों गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना है, वह पर-वैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य होता है]। चित्त की वशीकार-संज्ञा रूप वैराग्य से जब साधक की विषय वासनाओं का अभाव हो जाता है और उसके चित्त का प्रवाह अपने ध्येय के अनुभव में समान भाव से एकाग्र हो जाता है तो उसके बाद समाधि परिपक्व होने पर प्रकृति और पुरुष विषयक विवेक ज्ञान प्रकट होता है। उसके होने से जब साधक की तीनों गुणों में और उनके कार्य में किसी प्रकार की किंचिन्मात्र भी तृष्णा नहीं रहती और जब वह सर्वथा प्राप्तकाम या निष्काम हो जाता है तब उसकी रागरहित अवस्था को पर-वैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य कहते हैं।

वास्तव में मन निज स्वभाव से चंचल नहीं है। वह केवल बाह्य कारणों से चंचल हो जाता है जिसको दूर करने के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है। इस मन का यह एक गुणकारी स्वभाव है कि इसे जिस बात, पदार्थ या विषय का एक वार स्वाद हो जाता है फिर उसी का इसे स्वाद पड़ जाता है। इसलिए घुमा फिरा कर इसे यत्नपूर्वक आत्म-सुख का स्वाद लगाना चाहिए। पहले जो बात कठिन दिखाई देती है वही दीर्घ काल तक अभ्यास करने से सुगम होकर सिद्ध हो जाया करती है।

महर्षि वसिष्ठ ने मन सम्बन्धी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

"उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥ १ ॥

अंकुशेन बिना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥ २ ॥

वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥ ३ ॥

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥ ४ ॥

[अर्थ—केवल बार-बार आसन पर स्थित होने से ही चित्त के स्वभाव को जानने वाले पुरुष द्वारा भी बिना उत्तम युक्तियों के मन का जीतना संभव नहीं हो सकता ॥ १ ॥

जैसे अंकुश के बिना महामत्त दुष्ट हाथी वशीभूत नहीं किया जा सकता है, वैसे ही १—अध्यात्म विद्या की प्राप्ति, २—महात्माओं का समागम ॥२॥ ३—वासनाओं का सब प्रकार का परित्याग। ४—प्राणों का स्पन्द या

निरोध, ये चार युक्तियां पुष्टि को प्राप्त होकर अर्थात् पूरी तरह आचरण में आने से चित्त के जीतने का उपाय होती हैं ॥३॥

इन चार युक्तियों के विद्यमान होते हुए भी इन उपायों को छोड़कर जो जन हठ से चित्त (मन) का निग्रह करते हैं, वे लोग देदीप्यमान दीपक को छोड़ कर अञ्जनों (काजलों) से अन्धकार को दूर करने का प्रयत्न करते हैं ॥४॥

प्राणों का स्पन्द और वासना ये दोनों ही चित्त के प्रेरक हैं। इन दोनों के निरोध किए जाने पर चित्त की शान्ति अवश्य ही होती है। इन सम्बन्ध में महर्षि वसिष्ठ ने इस प्रकार कहा है—

"द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वेऽपि विनश्यतः ॥ १ ॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पंदो निरुध्यते ॥ २ ॥
असंगव्यवहारित्वाद् भवभावनवर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥ ३ ॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४ ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव !
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥ ५ ॥
यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत्।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥ ६ ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः।
अमनस्ता तदोदेति परमात्म-पद-प्रदा ॥ ७ ॥"

[**अर्थ**—हे राघव ! प्राणों का स्पन्दन (चलना) और वासना ये चित्त रूप वृक्ष के दो बीज हैं। इनमें से किसी एक का नाश होने पर दोनों का ही नाश हो जाता है ॥ १ ॥

प्राणायाम, दृढ़ अभ्यास, गुरु द्वारा दी गई अर्थात् बतलाई गई युक्ति या विधि, आसन और भोजन के नियमों द्वारा इन पाँच विधियों से प्राणों का स्पन्दन रोका जाता है ॥ २ ॥

असंग व्यवहार के रखने से (अर्थात् आत्मा को असंग समझने से अथवा निरासक्ति से सब व्यवहार करने से) संसार भावना को त्यागने, और शरीर को नाशवान् देखने से, (इस अधिकारी पुरुष की) वासना (शेष) नहीं रहती ॥ ३ ॥

वासना के परित्याग से और प्राणस्पन्दन के निरोध से वह चित्त, अचित्त भाव को प्राप्त होता है।

आगे आपकी जो इच्छा है वह करो ॥ ४ ॥

हे राघव ! बाह्य अनात्म पदार्थों का जो वस्तुत्व रूप से तथा राग से अन्तर (अपने भीतर) चिन्तन है, केवल इतने मात्र को ही मैं चित्त का स्वरूप मानता हूँ ॥ ५ ॥

जब पुरुष परित्याग करने योग्य तथा ग्रहण करने योग्य किसी वस्तु का भी चिन्तन नहीं करता है परन्तु सबको त्याग कर स्थित होता है तब चित्त की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ६ ॥

और जब यह मन वासना से रहित होकर किसी भी वस्तु का मनन नहीं करता, तब अमनस्ता उत्पन्न होती है। वह अमनस्ता (मनहीनता) परमात्म-पद को देने वाली है ॥ ७ ॥

महर्षि व्यास ने योग-भाष्य में चित्त को नदी से उपमा दी है। आप लिखते हैं—

"चित्त-नदी नामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च।"

[**अर्थ**— चित्त नाम वाली नदी दो भागों में बहने वाली है। कल्याण के लिए शुभ मार्ग में बहती है और पाप के लिए अशुभ मार्ग में बहती है ॥]

अर्थात् गंगा आदि नदियों को जब बाँध-बाध कर बहाया जाता है, तो वे मार्ग में प्रजा का कल्याण करती हुई, खेतों को सींचती हुई, शान्त भाव से बहती हुई, अपने मूल स्वरूप समुद्र में जाकर मिल जाती हैं। यही उनका शुभ मार्ग है। यही उनका कल्याण के निमित्त बहना है। परन्तु जब इन नदियों को बिना रोक-टोक उच्छृङ्खलता से बहने दिया जाता है, तो इनका बहना महान् अनर्थ या पाप के लिए होता है। क्योंकि यह मार्ग के वृक्षों को जड़ से उखाड़ती हुई और तीरवर्ती नगरों को उजाड़ती हुई बहती हैं। अपनी बाढ़ से कृषि-पूर्ण खेतों का नाश करती हुई अनेक प्राणियों को बहा ले जाती हैं। उगी हुई फसलों को नष्ट-भ्रष्ट करके कृषियोग्य भूमि को ऊसर और बंजर बना देती हैं। महाकवि बिहारी ने ठीक ही कहा है—

"इक भीगे इक चहले परे, बूढ़े बहे हजार।
कितो न औगन जग करत, नै वै चढती बार॥"

इसी प्रकार निरुद्ध किया हुआ चित्त भी परमात्मा से मेल कराने का कारण बन जाता है तथा अनिरुद्ध और उच्छृंखल चित्त पापों में फँसाकर जन्म मरण के चक्र में डालने वाला बन जाता है॥

निरन्तर अभ्यास द्वारा ही चित्तरूपी नदी का अभीष्ट मार्ग निर्माण

किया जाता है और वैराग्यरूपी बाँध बाँध कर चित्तरूपी नदी को इस नवीन मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया जाता है। इसी कारण से तो भगवान् ने कहा है कि हे अर्जुन ! चंचल और कठिनता से वश होने वाला मन अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

असंयत+आत्मना योगः+दुष्प्रापः+इति मे मतिः । वश्य+आत्मना तु यतता शक्यः+अवाप्तुम्+उपायतः ।

असंयत+आत्मना=(वि०) (अभ्यास-वैराग्याभ्याम्) असंयत आत्मा (अन्तः-करणं) यस्य सः=असंयत-आत्मा तेन । [असंयत आत्मन्+(पुं०) तृती० ए० व०] । (बहुव्री०) । मन को वश में न किए हुए पुरुष द्वारा ।

योगः=(पुं०)√युज्+घञ्=योग+प्र० ए० व० । योग ।

दुष्प्रापः=(वि०) दुःखेन प्राप्यते इति । दुस्, प्र√आप्+खल्= दुष्प्राप+(पुं०) प्र०, ए० व०=दुष्प्रापः=कठिनता या दुःख से प्राप्त होने वाला (है) ।

इति=(अव्यय) ऐसी । यह । इस प्रकार ।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे । मेरी ।

मतिः=(स्त्री०)√मन्+क्तिन्=मति+प्र० ए० व०=मतिः । मति । मत । राय । सम्मति । विचार । धारणा । निश्चय । बुद्धि ।

वश्य+आत्मना=(वि०) [अभ्यास-वैराग्याभ्याम्] वश्य आत्मा (=मनो) यस्य सः=वश्यात्मा, तेन । [वश्य+आत्मन्+(पुं०) तृती० ए० व०] । (बहुव्री०) मन को वश किए हुए पुरुष द्वारा ।

तु=(अव्यय) तो । किन्तु । परन्तु ।

यतता=(वि०) प्रयत्नं कुर्वता ।√यत् (भ्वा० आत्म० अक०=प्रयत्न करना) +शतृ=यतत्+(पुं०) तृती० ए० व०=यतता । यत्न करते हुए द्वारा । प्रयत्नशील पुरुष द्वारा ।

शक्यः=√शक् (दिवा० उभ० अक०=हो सकना)+यत्=शक्+(पुं०) प्र० ए० व०=हो सकने योग्य । हो सकने वाला । सम्भव । सहज । आसान । (है) ।

अवाप्तुम्=अव√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना)+तुमुन्= प्राप्त होने के लिए । प्राप्त होना । पाना ।

उपायतः=(पुं०) उप√अय्+घञ्=उपाय+तस्=उपायतः (उपायात्) =उपाय से । साधन करने से ॥

अर्थ—मन को न वश किए हुए पुरुष द्वारा, 'योग' कठिनता से प्राप्त होने योग्य है। परन्तु मन को वश में किए हुए, प्रयत्न करते हुए पुरुष द्वारा, उपाय करने से 'योग' पाना सम्भव है। यह मेरा निश्चय है ॥ ३६ ॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! जिस पुरुष का मन अपने वश में नहीं है, उसके लिये योगसाधना बहुत कठिन कार्य है। क्योंकि यह मन विना अभ्यास और विना वैराग्य के वशीभूत नहीं होता है। बड़े महात्मा कहलाने वाले कई पुरुष भी जो वेदान्त शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता और प्रगाढ़ पण्डित समझे जाते हैं तथा जिनके उपदेश से अमृत-वर्षा होती है और बात करते समय मुंह से फूल झड़ते हैं चित्त के वशीभूत न होने से अपनी ख्याति खो बैठते हैं तथा सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। तब उनकी दशा "न खुदा ही मिला न वसाले सनम" अर्थात् धर्म से भी पतित हुए और संसार को भी मुख दिखाने वाले न रहे' वाली हो जाती है। वे पथ-भ्रष्ट लोग धोबी के कुत्ते की भान्ति न घर के रहते हैं और न घाट के रहते हैं। 'त्रिशंकु' की तरह उल्टे होकर मध्य-ऊर्ध्व में ही लटकते हैं। लोगों द्वारा गौरी शंकर की चोटी के शिखरासन से उठाकर गहरे समुद्र अथवा रसातल में फेंक दिए जाते हैं तथा सर्व-साधारण की जिह्वा के अग्र पर गोस्वामी तुलसीदास जी की यह अर्द्ध चौपाई—

"उघरहिं अन्त न होहिं निबाहू।
कालनेमि जिमि रावण राहू ॥"

गूंजने लगती है। जम्मू के महात्मा आनन्द सागर की यही अवस्था हुई है जो अल्पायु बालिकाओं से कुकर्म करने के दोष में पकड़े गए थे और चौदह वर्ष की कैद का दण्ड भोगने के लिए कारागार में ठोंस दिए गये थे तथा सारे साधु-समाज के लिए घृणा और कलंक का कारण बने थे।

सच है, मन बड़ा चंचल है जो सदा नट-मर्कट की भाँति उछलता कूदता और नाचता रहता है। मनुष्य चाहे कितना भी क्यों न लिख पढ़ जाए, चाहे कितना भी साधु-संग कर ले, चाहे जितनी भी समाधियाँ लगा ले परन्तु परमेश्वर के दर्शन तो तभी हो सकते हैं जब अन्तःकरण रूपी सरोवर अत्यन्त शान्त, स्वच्छ और निर्मल शुद्ध आत्मसाक्षात्कार के पवित्र नीर से परिपूर्ण हो, सब प्रकार की मनोवृत्तियाँ शान्त हो चुकी हों, खाना, पीना, देखना, सुनना, चलना, फिरना, समझना, सोचना, विचारना आदि सारी क्रियाएँ नियमित और केवल ईश्वर प्राप्ति निमित्त ही हों, झूठा दिखावा और आडम्बर नाममात्र का भी न हो।

कुछ दिनों की बात है, हमें एक प्रसिद्ध महात्मा जी के आश्रम में प्रवेश

करने का सु-अवसर प्राप्त हुआ। शाही ठाठ-बाठ। आश्रम का सारा आँगन स्त्रियों के चित्रों और सुन्दर प्रतिमाओं की चित्र-कला के नमूनों से परिपूर्ण था। महात्मा जी के निवास का कमरा साटन के सुन्दर गद्दों से सुसज्जित था। उस पर बैठे हुए कई जटाधारी व्यक्ति रुपयों के लेन-देन और आय-व्यय के झमेलों में फँसे हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे। उस समय मैं सोच रहा था कि इन महात्माओं और अन्य सेठ-साहूकारों में यदि कोई अन्तर है तो केवल इतना ही है कि सेठ लोग तो भीतर बाहर से एक समान माया में लिप्त हैं परन्तु ये लोग बाहर भीतर से माया से लिप्त होते हुए भी बाहर से लोगों को तथा स्वयं अपने आप को भी धोखा दे रहे हैं। परन्तु महात्मा काली कमली वाले तथा उन जैसी और संस्थाएँ तो केवल लोक-कल्याण के लिए ही काम कर रही हैं जिनके सब धर्मार्थ कार्य निष्काम और धर्मात्मा महापुरुषों के ट्रस्टियों द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं और वे महात्मा लोग स्वयं तो योग-साधन में लीन रहते हैं परन्तु उनकी स्थापित की हुई संस्थाएँ सुचारु रूप में सब परोपकारार्थ कार्य निरन्तर करती रहती हैं। ठीक योग-साधना के द्वारा महात्मा लोग ब्रह्म-रूप हो जाते हैं क्योंकि उनके अन्तःकरण अभ्यास और वैराग्य से शुद्ध और वश में किए हुए हो जाते हैं। धर्म-कर्म तथा मोक्ष आदि बिना पुरुषार्थ के कुछ भी प्राप्त नहीं होता और यह पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है। एक शास्त्र विहित। दूसरा शास्त्र-विरुद्ध या निषिद्ध ॥ (हमने इन दोनों के उदाहरण ऊपर दे दिए हैं।) यह वासना रूपी नदी शुभ और अशुभ इन दोनों मार्गों में बहती है। जैसा कि पूर्व श्लोक की व्याख्या में वर्णन किया गया है महात्मा पुरुष इसको अभ्यास और वैराग्य के बल से शुभ मार्ग में ही चलाते हैं और माया-लिप्त लोग इसके सम्बन्ध में कोई परवाह ही नहीं किया करते। क्योंकि प्रकृति के गुणों के वश हुए वे ऐसा करने के लिए विवश होते हैं। जब पूर्वले अभ्यास के कारण से मन में शुभ वासनाएँ उत्पन्न होती हैं तो किए जा रहे अभ्यास से शीघ्र ही पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाती है। जब सब पाप रूप पंक निवृत्त हो जाते हैं तब मनुष्य आत्मवस्तु को जान लेता है और अभ्यास तथा वैराग्य से मन का विरोध करके योग में युक्त हो जाता है। उस समय साधक शुभ वासनाओं से भी मुक्त हो जाता है और समय पाकर अपने मूल स्वरूप परमात्मा में मिल जाता है। यह मेरी मति है अर्थात् यह अटल ईश्वरीय नियम है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए ॥

जिसके चित्त का झुकाव सदा विषयाभिमुख ही बना रहता है वह असंयतात्मा कहलाता है और जिसके चित्त से विषय-वासनाएँ सर्वथा लुप्त और नष्ट हो चुकी हैं उसको वश्यात्मा कहते हैं। विषय-वासनाओं से रहित हुआ

वश्यात्मा पुरुष भी उपाय और यत्न करने से ही योग को प्राप्त होता है। इस लिए साधक को चाहिए कि सम्पूर्ण चराचर जगत् के बाहर भीतर, ऊपर, नीचे सब ओर एकमात्र सर्वव्यापक परमात्मा को वायु से भी अत्यन्त सूक्ष्मतम रूप में अनुभव करता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहे ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अयतिः श्रद्धया + उपेतः + योगात् + चलित-मानसः । अप्राप्य योग-संसिद्धिम् + काम् + गतिम् + कृष्ण ! गच्छति ॥

अयतिः = (वि०, पुं०) अप्रयत्नवान् योगमार्गे । योग मार्ग में न प्रयत्न करने वाला । योग मार्ग में (मोक्ष के लिए) यत्न न करने वाला । शिथिल यत्न वाला । असंयमी । प्र० ए० व० । (नञ् तत्पु०) ॥ न यतते चेष्टते मोक्षार्थं यः ।

श्रद्धया + उपेतः = (वि०) आस्तिक्य-बुद्ध्या उपेतः । आस्तिक-बुद्धि से युक्त । श्रद्धा से युक्त ।
[श्रत् √धा + अङ्-टाप् = श्रद्धा (स्त्री०) + तृती० ए० व० = श्रद्धा से ।
उप √इ + क्त = उपेत + (पुं०) प्र० ए० व० = समीप गया हुआ । युक्त ।]

योगात् = (पुं०) योग + पञ्च० ए० व० = योग से ।

चलित-मानसः = (वि०) । (अन्ते कालेऽपि) चलितं मानसं (मनो) यस्य सः (बहुव्री०) । (पुं०) प्र० ए० व० । अन्त काल में विचलित या चलायमान हुए मन वाला ॥ स्मृति भ्रष्ट हुआ पुरुष ।

अप्राप्य = न प्राप्य (नञ्०) । प्र √आप् + ल्यप् = न पाकर ।

योग-संसिद्धिम् = (स्त्री०) योगस्य संसिद्धिम् (षष्ठी० तत्पु०) । योग-फलं सम्यग्दर्शनम् । सम् √सिध् + क्तिन् = संसिद्धि + द्वि० ए० व० । योग की पूर्ण सिद्धि को । भगवान् के साक्षात्कार को । पूर्ण को । योग-फल रूप पूर्ण ज्ञान को । मोक्ष या मुक्ति को ।

काम् = (सर्व०) किम् + (स्त्री०) द्विती० ए० व० = किसको ।

गतिम् = (स्त्री०) √गम् + क्तिन् = गति + द्विती० ए० व० = गति को । गमनावस्था को । अवस्था को ।

कृष्ण ! = (पुं०) सम्बो० ए० व० । हे कृष्ण ! हे मायाप्रेरक ! हे भक्तों को ब्रह्म में और दुष्टों को नरक में घसीट कर ले जाने वाले !

गच्छति = √गम् + लट्०, प्र० पु०, ए० व० = जाता है। प्राप्त होता है।

अर्थ—अर्जुन बोला—

हे कृष्ण ! [भक्तों को ब्रह्म में और दुष्टों को नरक में घसीट कर ले जाने वाले प्रभो !] योग-मार्ग में शिथिलप्रयत्न हुआ (अथवा ठीक यत्न न करने वाला असंयमी पुरुष), श्रद्धा या आस्तिक बुद्धि से युक्त और (अन्त काल में) चलायमान हुए मन वाला योग की सफलता रूप मोक्ष को न पाकर किस गति या गमनावस्था को प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

व्याख्या—चित्त-वृत्ति के निरोध रूप योग का पाना अति कठिन होता है क्योंकि योगसिद्धि के मार्ग में बहुत से विघ्न आकर उपस्थित होते हैं। इसलिए यह सोचकर अर्जुन संशय-युक्त हो गया है। यद्यपि समाधि-योग में उसकी पूरी जिज्ञासा और श्रद्धा है तो भी वह उस साधक के सम्बन्ध में कोई निर्णय कर सकने में समर्थ नहीं हो सका है जोकि अल्प प्रयत्न वाला है अथवा आलस्य, बीमारी या बुढ़ापे आदि किसी कारण विशेष से यत्न न करने वाला है या असंयमी या असंयतात्मा है। इसलिए अपने संशय की निवृत्ति के लिए उसने भगवान् से पूछा कि हे कृष्ण ! आप मेरे सब संशयों को खींचने या नाश करने वाले हैं। कृपया मेरे इस संदेह को भी दूर कीजिए—कई साधक ऐसे होते हैं जो मोक्ष-पद की प्राप्ति के लिए—सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और कर्मयोग आदि में से किसी एक का अनुष्ठान करना प्रारम्भ कर देते हैं। वे श्रद्धा या आस्तिक्य-बुद्धि से पूरी तरह से युक्त होते हैं। परन्तु रोग, शोक, आलस्य, बुढ़ापा आदि किसी कारण विशेष से वे लोग मरने से कुछ काल पूर्व या तो यत्न करना ही छोड़ देते हैं अथवा अल्प-प्रयत्न हो जाते हैं किंवा असंयमी बन जाते हैं। तब वे अपने योग से भ्रष्ट हुए मोक्ष के भागी तो बन नहीं सकते और वे शास्त्र-विहित सकाम कर्म पहले ही त्याग चुके हैं, इसलिए स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों के अधिकारी भी नहीं बन सकते तथा उन्होंने चिरकाल तक योग की साधना की हुई होती है इस कारण से जन्म धारण करके उन्हें अधम योनियों का दुःख भी नहीं भोगना चाहिए। इसलिए हे भगवन् ! आप मुझ पर कृपा करते हुए स्पष्टतया कहिए कि उपरोक्त ऐसे लोगों की क्या गति होती है ? अर्थात् वे मरकर किस दशा को प्राप्त होते हैं ? ॥

लोकमान्य श्री तिलक की टिप्पणी इस प्रकार है—

"यद्यपि नञ् समास में आरम्भ के नञ् (अ) पद का साधारण अर्थ अभाव होता है, तथापि कई बार अल्प अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ करता है। इस कारण ३७वें श्लोक के 'अयति' शब्द का अर्थ 'अल्प' अर्थात् अधूरा प्रयत्न वा संयम करने वाला है" ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

कच्चित्+न+उभय+विभ्रष्टः+छिन्न+अभ्रम्+इव नश्यति । अ-प्रतिष्ठः+महाबाहो ! विमूढः+ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

कच्चित्=(अव्यय) काम्यते इति कम् । चीयते=निश्चीयते अर्थो यस्मात् । √कम्+चि+क्विप् [पृषो० मस्य दत्वम् । कच्च चिच्च, द्वयोः समाहारः, कः+चित् ।] । अपनी इच्छा जानने के लिए प्रश्न । ख्वाहिश जानने का प्रश्न । क्या ?

न=(अव्यय) न । नहीं ।

उभय-भ्रष्टः=(वि०) कर्म-मार्गात् योग-मार्गात् च भ्रष्टः सन् । (पुं०) प्र० ए० व० । कर्म-मार्ग और योग-मार्ग (अर्थात् ज्ञान-मार्ग) दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ । उभयस्माद् भ्रष्टः । दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ । स्वर्ग-प्राप्ति और प्रभु-प्राप्ति इन दोनों से भ्रष्ट हुआ । भगवत्-प्राप्ति और सांसारिक भोग दोनों ओर से वञ्चित हुआ ।

छिन्न+अभ्रम्+इव=(अव्यय) छिन्न-भिन्न या तित्तर-बित्तर हुए बादलों की की तरह ।

[√छिद्+क्त=छिन्न=टूटे-फूटे या बिखरे हुए । √अभ्र् (इधर-उधर घूमना फिरना) अच्=अभ्र+(नपुं०) द्विती० ए० व०=बादल की ।

इव=(अव्यय) तरह । भान्ति । सदृश्य ।

नश्यति=√नश् (दिवा० पर० अक०=नष्ट होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =नष्ट होता है । नाश होता है ।

अप्रतिष्ठः=(वि०) नास्ति प्रतिष्ठा आश्रयः वा यस्य सः (नञ् बहुव्री०) । (पुं०) प्र० ए० व० । प्रतिष्ठा या इज्जत रहित । आश्रय रहित ।

महाबाहो !=(वि०) महाबाहु+सम्बो० ए० व०=हे सम्पूर्ण सामर्थ्य-शाली भगवन् (कृष्ण) !

['महाबाहु' होने से हम दोनों एक से हैं' ऐसा विचार कर मुझ पर दया करो ।]

विमूढः=(वि०) वि√मुह्+क्त=विमूढ+(पुं०) प्र० ए० व० । मोहित हुआ । मूर्ख बना हुआ । भटका हुआ । गुमराह हुआ । भूला हुआ ।

ब्रह्मणः=(नपुं०) ब्रह्मन्+षष्ठी० ए० व० । परब्रह्म परमात्मा के । ब्रह्म-प्राप्ति के ।

पथि=(पुं०) पथिन् (√पथ्+इनि)+सप्त० ए० व० । मार्ग में ।

अर्थ—हे [भक्तों को चारों हाथों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष बाँटने वाले, चार दीर्घ भुजाओं से युक्त महाप्रभो! हे सम्पूर्ण सामर्थ्य-शालिनी भुजाओं वाले] भगवान् कृष्ण! क्या वह पर-ब्रह्म परमात्मा के (मिलने वाले) मार्ग में मोहित (गुमराह) और अप्रतिष्ठित [आश्रय रहित या अप्रतिष्ठित हुआ—परमात्मा से मिलने में ही प्रतिष्ठा थी, अब उभय-भ्रष्ट होकर धक्के खाने में कौनसी प्रतिष्ठा रह गई है] पुरुष, छिन्न-भिन्न बादल की भान्ति दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ नाश को तो प्राप्त नहीं हो जाता है? ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! आप महाबाहु हैं। सम्पूर्ण सामर्थ्यशाली हैं। चतुर्भुज विष्णु भगवान् हैं। अपनी चारों भुजाओं से भक्तों पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की वर्षा करते हैं। हे कृष्ण आप सर्वज्ञ हैं और आपकी बलशालिनी भुजाएँ सब कुछ कर सकने में समर्थ हैं। आप मुझे मूर्ख समझ कर मुझ पर क्रोध न करें। अपना स्वरूप महाबाहु समझ कर मेरे प्रश्न का शान्तिपूर्वक ही उत्तर दें।

हे भगवन्! जो पुरुष वेद-विहित स्वर्गादि फल-प्राप्ति करने वाले कर्मों को छोड़कर पहले निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त हुआ हो, फिर भक्तिमार्ग पर चल कर योगाभ्यास करते-करते ज्ञान-मार्ग की चरम-सीमा—प्रभु-मिलन के समीप पहुँच चुका हो परन्तु मृत्यु-काल के पूर्व उसे आलस्य ने घेर लिया हो अथवा रोग ग्रस्त होने से ध्यान-शिथिल हो गया हो अथवा 'जरा' के कारण अंग-शिथिल और स्मृति-भ्रष्ट होकर ब्रह्म-मार्ग से 'गिरा हुआ' या 'गुमराह' हो जाता है अथवा किसी अन्य कारण से अर्थात् प्रकृति के तीनों गुणों या माया की लपेट में आकर ब्रह्म-मार्ग से भटक गया हो तो उसे आकाश से टूटे हुए तारे की तरह आश्रय तो कहीं मिलता ही नहीं है, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड असीम है। तो क्या ऐसा ब्रह्म-मार्ग से भ्रष्ट हुआ पुरुष टूटे हुए तारे की राख की तरह नष्ट-भ्रष्ट होकर इधर-उधर बिखर जाता है? या आकाश में छिन्न-भिन्न हुए बादल की भान्ति नष्ट होकर विलीन हो जाता है और जिस प्रकार यह छिन्न-भिन्न हुआ बादल विलीन होकर फिर जल-बिन्दुओं का रूप धारण न कर सकने के कारण बरसने में असमर्थ हो जाता है जिससे अपने मूल-रूप समुद्र में मिलने के लिये अशक्त हो जाता है और न ही पुनः बादल का रूप धारण कर काली घटा बनकर सारे आकाश पर छा सकता है, न गर्ज तथा चमक सकता है तथा न बरस कर जीव मात्र को शान्ति, प्रसन्नता और जीवन दे सकता है।

हे करुणानिधि प्रभो! क्या वह ब्रह्म-पथ-भ्रष्ट, निराश्रय पुरुष अप्रतिष्ठित या अपमानित हुआ, मरने से पूर्व अपने पथ से भ्रष्ट होने के कारण ब्रह्म-लीन

नहीं होता है ? यदि ऐसा है तो वह स्वर्गादि लोकों के भोगों को भी नहीं पा सकता है और न ही सार्वभौम राजा होकर गर्ज, चमक या बरस सकता है। अर्थात् लोगों में महत्ता या प्रभुत्व पाकर शासन नहीं कर सकता है तथा न ही भाग्यशाली बनकर चमक सकता है न ही दान-दक्षिणादि रूप में लोगों पर धन-धान्य की वर्षा कर सकता है। ब्रह्म-मार्ग से भ्रष्ट हुआ पुरुष उपासना और कर्मों से रहित होने के कारण न पितृयाण मार्ग पर गमन कर सकता है, न देवयान मार्ग पर चलने का भागी बन सकता है क्योंकि वह न तो कर्मों के फल का भागी होता है और न ही ज्ञान-मार्ग के अन्तिम छोर को ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वह पूर्व में कर्म-मार्ग से विच्छिन्न हो चुका है और उत्तर में ज्ञान-मार्ग से भ्रष्ट होने के कारण से उसकी भी पूर्त्ति नहीं कर सका है। इस प्रकार धोबी के कुत्ते की तरह घर (ब्रह्म में लीनता) और घाट (स्वर्गादि लोकों के भोगों) दोनों से वञ्चित रह जाता है। अधूरे मनुष्य को सकाम कर्मों के स्वर्गादि फल नहीं मिलते, क्योंकि निष्काम कर्म करने से उसका ऐसा हेतु ही नहीं होता और ज्ञान-योग या साम्यबुद्धि पूरी न होने से उसे मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती। इसलिए हे कृष्ण ! मेरे मन में यह निश्चय नहीं हो सका कि फिर उस बेचारे की कौनसी गति होती है ? यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है— "दोनों दीन से गए पांडे। हलवा मिला, न मांडे ॥" इसलिए हे भगवन् ! इस विषय में उपदेश करके मेरा समाधान कीजिए। मैं आपकी शरण आया हूं ॥ इस श्लोक के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"इस अठारहवें श्लोक में कहा गया है कि 'दोनों ओर का आश्रय छूटा हुआ' अथवा 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' इसका अर्थ भी कर्म-योग-प्रधान ही करना चाहिए ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

एतत्+मे संशयम्+कृष्ण ! छेत्तुम्+अर्हसि+अशेषतः। त्वत्+अन्यः संशयस्य+अस्य छेत्ता न हि+उपपद्यते ॥

एतत्=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे। मेरे।

संशयम्=(नपुं०) सम्√शी+अच्=संशय+द्विती० ए० व०=संशय को। सन्देह को। अनिश्चयात्मक ज्ञान को।

कृष्ण !=√कृष् (तुदा० उभ० भ्वा० पर० सक०=खींचना। बोने के लिए जोतना)+नक्+अच्। कृष्ण+(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे मेरे हृदय रूपी भूमि को जोतकर ब्रह्म-ज्ञान का बीज बोने वाले (कृष्ण) !

छेत्तुम्=अपनेतुम्।√छिद् (काटना, हटाना)+तुमुन्=काटने के लिए। नष्ट करने के लिए। दूर करने के लिए।

अर्हसि=√अर्ह् (भ्वा० पर० सक० अक०=योग्य होना)+लट्०, म० पु०, ए० व०। योग्य हैं। योग्य हो।

अशेषतः=(वि०) न शेष+तस्। जिसमें से कुछ भी बचा हुआ न हो। संपूर्ण रूप से।

त्वत्+अन्यः=(सर्व०) त्वत्तः अन्यः (ऋषिः देवो वा)। (पुं०) प्र० ए० व०। आपको छोड़कर दूसरा कोई (ऋषि या देवता प्रभृति)। आपके बिना दूसरा कोई।

संशयस्य=(नपुं०) संशय+षष्ठी० ए० व०=संशय का। सन्देह का।

अस्य=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) षष्ठी ए० व०=इसका।

छेत्ता=(वि०) नाशयिता। √छिद्+तृच्=छेत्तृ+(पुं०) प्र० ए० व०। काटने वाला। नाश करने वाला। छेदन करने वाला। दूर करने वाला।

न=(अव्यय) न। नहीं।

हि=(अव्यय) क्योंकि। निश्चयपूर्वक।

उपपद्यते=उप√पद्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०। मिल सकता है। प्राप्त हो सकता है॥

अर्थ—हे (मेरे हृदय रूपी क्षेत्र को जोतकर ब्रह्मज्ञान का श्रेष्ठ बीज बोने वाले कृषक रूप) कृष्ण ! मेरे इस संशय को संपूर्ण रूप से नष्ट करने के लिये आप (ही) योग्य हैं। क्योंकि आपके बिना दूसरा और कोई (ऋषि या देवता प्रभृति) इस संशय के छेदन करने वाला नहीं मिल सकता है॥ ३९॥

व्याख्या—यह दृश्यमान सृष्टि अनन्त है। इसकी सीमा का पारावार नहीं है। इसमें इतने सूर्य हैं जिनकी गिनती नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनन्त चन्द्रलोक और तारागणों के समूह हैं। जीवों से परिपूर्ण अनेक भूमण्डल तथा अन्य लोक हैं जिनमें से किन्हीं को हम रात्रि के अन्धकार में आकाश पर नन्हें-नन्हें चमकदार बिन्दुओं के रूप में सदा देखा करते हैं। इनका रचयिता तो इन सबसे भी अत्यन्त असीम है, सर्वज्ञ है॥

जिस पुरुष को वह सर्वज्ञ परमात्मा मनुष्य-देह में गुरु बन कर प्राप्त हो जाए भला वह पुरुष फिर किसी अन्य देवी, देवता, ऋषि, मुनि, साधु, सन्त

तथा अन्य किसी मनुष्य से अपने सन्देह की निवृत्ति क्यों कराएगा ? अमृत से भरे हुए समीपवर्ती अथाह सागर को छोड़कर प्यास शान्त करने के लिए किसी छोटे साधारण सरोवर पर कैसे जाएगा ? अर्जुन का प्रश्न मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाली योग-भ्रष्ट पुरुष की गति को जानने का है। भगवान् के विना दूसरा कोई भी उसको पूरी तरह से जानता नहीं है। क्योंकि जो जीव मर कर पुनः जन्म धारण करते हैं उनमें पूर्व जन्म के संस्कार तो विद्यमान होते हैं तथा कई एक को पूर्व जन्म के वृत्तान्त भी थोड़े बहुत स्मरण हो आते हैं परन्तु पूर्ण ज्ञान तो विना भगवान् के और किसी को होता ही नहीं है। इसलिए साधारण गुरु इस विषय में अपना अनुभव तो कह ही नहीं सकता। हाँ; सुनी-सुनाई बातें कह सकता है अथवा शास्त्रों में पढ़ी हुई बातें बता सकता है। परन्तु फारसी की एक प्रसिद्ध लोकोक्ति में कहा है—"शुनीदह कै बवद मानिन्दे दीदह।" अर्थात् सुना हुआ ज्ञान देखे या अनुभव किए हुए ज्ञान के तुल्य कदापि नहीं हो सकता। इसलिए सर्वज्ञ-प्रभु-कृष्ण रूप गुरु को छोड़कर अन्य अल्पज्ञ गुरुओं को पूछने से अर्जुन का समाधान कैसे हो सकता था ? क्योंकि अन्य गुरु लोग तो उसका सन्देह बुद्धि के बल और तर्क द्वारा ही दूर करने का प्रयत्न कर सकते थे जिसके ठीक न होने की भी सम्भावना हो सकती थी। इसके सम्बन्ध में किसी ने यह लोकोक्ति ठीक ही कही है कि 'घर से आया मैं, और वहाँ का सन्देश देता है तू।' अर्थात् सब कुछ जानने वाले अनुभवी गुरु को त्याग कर अल्प मात्र जानने वाले से पूछने पर कोई विशेष लाभ नहीं होता है। अर्जुन चौथे अध्याय के पाँचवें श्लोक में भगवान् के मुखारविन्द से यह बात पूर्व ही श्रवण कर चुका है—

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन !
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप !"

इससे सिद्ध होता है कि जब भगवान् का परम-प्रिय सखा भी पूर्व जन्मों के वृत्तान्तों को नहीं जानता है, तो फिर दूसरे लोग कैसे जान सकते हैं ? ॥

इसलिए अर्जुन का पूर्व जन्मों को जानने वाले भगवान् से पूछना स्वाभाविक ही था। फिर भगवान् ने अगले श्लोक में यह भी कहा था, कि मैं अजन्मा, अविनाशी और सब प्राणियों का ईश्वर हूँ तथा अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योग माया से ही अवतरित होता हूँ अर्थात् मैं वास्तव में किसी के गर्भ से उत्पन्न नहीं होता हूँ। फिर ४।१३ में कहा है—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्" अर्थात् सारे संसार के लोग मुख्य चार श्रेणियों में विभाजित हैं जिससे यह जगत् 'चातुर्वर्ण्यम्" कहलाता है। इसकी रचना मेरे द्वारा ही रची

हुई है। इस प्रकार के अनेक वचन सुनकर अर्जुन को पूर्ण विश्वास हो चुका था कि मेरे सब संशयों को केवल भगवान् कृष्ण ही दूर कर सकते हैं। इसलिए यहाँ तीन श्लोकों द्वारा उनको दूर करने के लिए अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की है और इस प्रस्तुत श्लोक द्वारा कहा है कि हे जगत् के महत्तम गुरु भगवान् कृष्ण जी ! मेरे विचार में मेरे पूर्वोक्त संशय को इस लोक में अन्य कोई देवी-देवता या ऋषि-मुनि दूर नहीं कर सकता। केवल एक आप ही हैं जो मेरे इस सन्देह को सम्पूर्ण रूप से छेदन कर सकते हैं। इसलिए कृपा कीजिए और अपने उपदेशामृत से मेरे इस संशय को दूर कर दीजिए ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

पार्थ ! न + एव + इह न + अमुत्र विनाशः + तस्य विद्यते। न हि कल्याण-कृत् + कश्चित् + दुर्गतिम् + तात ! गच्छति ॥

पार्थ !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। पृथायाः अपत्यम्, पृथा + अण् = पार्थ
हे पार्थ [कुन्ती अर्थात् पृथा के पुत्र अर्जुन] !

न=(अव्यय) न। नहीं।

एव=(अव्यय) ही।

इह=(अव्यय) यहाँ। इस लोक में।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अमुत्र=(अव्यय) अदस् + त्रल्। परलोक में। दूसरे जन्म में।

विनाशः=(पुं०) वि√नश् + घञ् = विनाश + प्र० ए० व०। नाश। बरबादी।
[नाशो नाम पूर्वस्माद् हीन-जन्म-प्राप्तिः स योग-भ्रष्टस्य न अस्ति=पहले की अपेक्षा हीन-जन्म की प्राप्ति का नाम 'नाश' है, ऐसी दशा योग-भ्रष्ट की नहीं होती। (श्रीस्वामी शंकराचार्य जी)]
'विनाश' शब्द का अर्थ "सब प्रकार से सम्पूर्ण नाश" होता है। परन्तु यहाँ इसका अर्थ है—१—अध्यात्म-उन्नति की हानि। २—अपयश। ३—पहले की अपेक्षा हीन जन्म की प्राप्ति। ४—मरने के बाद मोक्ष का न मिलना। ५—देवलोक की प्राप्ति न होना। कीट-पतंग-सर्प आदि देहों की प्राप्ति ॥

तस्य=(सर्व०) तद् + (पुं०) षष्ठी० ए० व० = उस (पुरुष) का।

विद्यते=√विद् (दिवा० आत्म० अक० = होना) + लट्०, प्र० पु०, ए० व०
होता है।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

हि=(अव्यय) क्योंकि ।

कल्याण-कृत्=(वि०) । (पुं०) प्र० ए० व० । शुभ कर्म करने वाला । भगवत्-अर्थ काम करने वाला। शास्त्र के अनुसार शुभ-कर्म करने वाला ।

कश्चित्=(सर्व०) किम्+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चित्=कोई ।

दुर्गतिम्=(स्त्री०) दुर्√गम्+क्तिन्=दुर्गति+द्विती० ए० व०=दुर्गति को । दुर्दशा को । कुत्सित गति को । नीच गति को ।

तात !=(पुं०) सम्बो० ए० व० । हे तात ! हे प्यारे (अर्जुन) । √तन्+क्त दीर्घश्च=तात=विस्तार करता हुआ । पिता, पुत्रों के रूप में आत्मा का विस्तार करता है । इसलिए 'तात' कह कर पुकारा जाता है । वास्तव में पिता ही पुत्र रूप से उत्पन्न होता है । इसलिए पुत्र को भी 'तात' कहते हैं । शिष्य और छोटा भाई भी पुत्र के तुल्य होते हैं । इससे उन दोनों को भी 'तात' कह कर सम्बोधित किया जाता है । भगवान् कृष्ण ने अर्जुन पर अपनी अतिशय कृपा सूचित करने के लिए उसको यहाँ 'तात' कहकर सम्बोधित किया है ॥

गच्छति=√गम्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=जाता है । प्राप्त होता है ।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

हे पार्थ ! [अयति, श्रद्धा से युक्त और योग से विचलित हुए मन वाले पुरुष को मोक्ष-रूप सिद्धि को न प्राप्त होने पर भी] उस पुरुष का न ही इस लोक में और न ही परलोक में नाश होता है क्योंकि हे प्यारे ! शास्त्रानुकूल शुभ कर्मकरने वाला कोई पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है ॥४०॥

व्याख्या—श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन ! तू पार्थ है अर्थात् हमारी भूआ पृथा का पुत्र है जिस भूआ का दूसरा प्रसिद्ध नाम कुन्ती है । इसलिए तू हमारा भ्राता है तथा सखा है, तात है, अर्थात् पुत्र-वत् प्रिय शिष्य है । तुझ से मुझे कुछ भी छिपाने योग्य बात नहीं है । जो तेरा यह कहना है कि "मेरे संशय को दूर करने वाला आपके बिना दूसरा और कोई नहीं है ।" यह भी तेरे द्वारा ठीक ही कहा गया है । अब तुम ध्यानपूर्वक मेरे वचनों को सुनो । जो पुरुष किसी कारण विशेष से अन्तिम अवस्था (स्टेज) में योग भ्रष्ट हो जाता है, उसका पहले किया हुआ योग किसी काल में भी व्यर्थ या नष्ट नहीं होता । यह ठीक है कि यद्यपि वह अपनी मंजिल या लक्ष्य पर तो नहीं पहुँचता है, कारण यह कि वह अपने इष्ट-मार्ग में ही, चलना स्थगित

करके, किसी स्थान पर बैठ गया है। वह अब तक जितना चल चुका है वहाँ से उसे पीछे कौन धकेल सकता है ?

इसलिए वर्तमान जन्म में वह उसी अपने स्थिति-स्थान पर जम कर बैठा रहता है क्योंकि थक जाने से वह उठकर चलने में असमर्थ होता है। इसलिए उसका इस जन्म में तो विनाश होता ही नहीं है अर्थात् उसकी हो चुकी आध्यात्मिक उन्नति में कोई न्यूनता नहीं होती तथा न उसका इस विषय में कोई अपयश ही होता है। यद्यपि वह अपने योग-साधन प्रयास से सर्वथा रहित हो चुका है परन्तु उसके मन में तो मोक्ष-प्राप्ति के लिए श्रद्धा कम नहीं हुई है जिसका शुभ फल वह अगले जन्म में प्राप्त कर लेगा क्योंकि अपने किए हुए योग के अभ्यास के बल से उसका जन्म पुनः संसार में अवश्य होता है और वह पहले से भी अच्छी अवस्था में होता है। क्योंकि शास्त्रानुसार शुभ कर्म करने वाले की दुर्गति कभी नहीं होती और न उसकी उस जन्म में कोई हानि होती है। और न अगले जन्म में ही उसको पूर्व-जन्म से हीन-योनि या देह प्राप्त होती है। हाँ यह बात तो ठीक है कि उसको देव-लोक और पितृ-लोक की प्राप्ति भी नहीं होती है। यद्यपि श्रुति में कहा है—"अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न कीटाः पतङ्गा यदि दंदशूकम् ।।" अर्थात् जो लोग न देवलोक के मार्ग पर चलते हैं न पितृ-लोक के मार्ग पर जाते हैं उन्हें इनमें से किसी लोक की भी प्राप्ति नहीं होती। उनको तो कीट, पतंग और सर्पादि देहों की बार-बार प्राप्ति होती है ।।

परन्तु ये योग-भ्रष्ट लोग तो अज्ञानी नहीं होते। इसलिए ये लोग कीट, पतंग, मशक, मक्खी और सर्पादि योनियों को कभी प्राप्त नहीं होते। अपितु वे तो अगले जन्म में भी उत्तम मनुष्य योनि को प्राप्त हो जाते हैं और फिर उस अगले जन्म में पूर्व जन्म के अधूरे कार्य मोक्ष प्राप्ति के लिए इस नवीन जन्म में पुनः प्रयत्न करना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरों में निरन्तर योग-साधन करते हुए अपने उच्च लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। हे प्रिय शिष्य अर्जुन ! योग-भ्रष्ट पुरुष की न इस लोक में और न परलोक में कोई हानि होती है। क्योंकि शास्त्र-विहित शुभ कर्म करने वाले किसी काल में भी दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करते ।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।४१।।

प्राप्य पुण्य-कृताम्+लोकान्+उषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनाम्+श्रीमताम्+गेहे योग-भ्रष्टः+अभिजायते ।।

प्राप्य=प्र√आप्+क्त्वा=ल्यप्=गत्वा, जाकर, प्राप्त होकर।

पुण्य-कृताम्=(वि०)। (पुं०) षष्ठी० ब० व०। पुण्य करने वालों के ; पुण्य-वालों के। अश्वमेध आदि यज्ञ करने वालों के। शास्त्र-विहित पुण्य-कर्मों के करने वालों के।

लोकान्=(पुं०) लोक+द्विती० ब० व०=लोकों को।

उषित्वा=वासम् अनुभूय। √वस्+क्त्वा=बस कर। रहकर। निवास +द्विती० ब० व०=करके। वास करके। शाश्वतीः=(वि०) शाश्वत+ ङीष्=शाश्वती (स्त्री०) बहुत।

समाः=(स्त्री०) समा+द्विती० ब० व०=काल तक। वर्षों। सालों (तक)। [सम्+अच्+टाप्=समा=वर्ष]

शुचीनाम्=(वि०) शुचि+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=शुद्धात्माओं के। पवित्र-आत्मा वालों के। शुद्धाचरण वालों के। धर्मात्माओं के। पुण्यात्माओं के।

श्रीमताम्=(वि०) श्री+मतुप्=श्रीमत्+(पुं०) षष्ठी० ब० व०। श्रीमान् पुरुषों के। श्रीमानों के। धनवानों के। भाग्यवानों के।

गेहे=(नपुं०) गौः गणेशः गन्धर्वो वा ईहः (ईप्सितः) यत्र। जहाँ गौ, गन्धर्वों और गणेश के स्थित रहने की इच्छा की जाती है। (बहुव्री०) गेह+ सप्त० ए० व०=घर में।

योग-भ्रष्टः=(वि०) योग-मार्गे प्रवृत्तः, योगस्य मार्गात् भ्रष्टः संन्यासी कर्म-योगी वा। (पं० तत्पु०)। (पुं०) प्र० ए० व०। जो संन्यासी या योगी योगसाधन में लगा हुआ हो, परन्तु मृत्यु से पूर्व ही किसी कारण विशेष से योग-साधन से विरत हो जाए, उसे योग-भ्रष्ट कहते हैं॥

अभिजायते=अभि√जन्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न होता है॥

अर्थ—पुण्य करने वाले धर्मात्माओं के (जाने योग्य) लोकों को प्राप्त होकर, वहाँ बहुत वर्षों तक निवास करके, योग-भ्रष्ट पुरुष फिर शुद्धात्मा (या शुद्ध आचार विचार वाले) श्रीमानों के घर (गौ, गणेश गन्धर्व लक्ष्मी युक्त स्थान) में उत्पन्न होता है॥४१॥

व्याख्या—ज्ञान-योग, ध्यान-योग, निष्काम-कर्म-योग और भक्ति-योग आदि प्रभु-प्राप्ति के लिये किसी भी योग का अनुष्ठान या साधना करने वाला योगी पुरुष जब किसी कारण विशेष से योग-भ्रष्ट हो जाता है और फिर उसी अवस्था में उसकी मृत्यु हो जाती है तो वह न तो नरक-गामी होता है और न सीधा इस पृथिवी पर ही जन्म लेता है तथा न ही इन्द्रादि के स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है बल्कि ब्रह्माण्ड की किसी ऐसी आकाश-गंगा में पहुँचकर उसके किसी सर्वोत्तम लोक में जाकर निवास करता है जिसमें

अत्यन्त सुख, शान्ति और लाखों वर्ष की दीर्घायु का जीवन होता है। इस लोक में महत्तम पुण्यकर्म करने वाले लोग ही इन योग-भ्रष्टों के साथ निवास करते हैं। फिर "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" श्रुति के अनुसार पुण्यों के क्षीण हो जाने वाले पुण्यात्माओं की भान्ति इस पृथिवी पर उतर आता है और उन श्रीमानों के घर में जन्म धारण करता है जिनके आचार-विचार अत्यन्त शुद्ध और पवित्र होते हैं, जहाँ पर जन्म लेकर वह जीव पुनः योग-साधना के मार्ग पर चल सकता है। शुद्ध और पवित्र बंश में जन्म लेने से वह जीव भोगों में आसक्त नहीं होता तथा शुचि और निर्मल वंश के स्वभाव से पापकर्मों में भी प्रवृत्त नहीं होता ॥

योग-भ्रष्ट योगी लोग स्वर्ग-लोकों में इसलिए नहीं जाते कि उन्होंने स्वर्ग दिलाने वाले सकाम कर्म किए हुए नहीं होते जिससे उनकी इच्छा भी स्वर्ग जाने की नहीं होती। ईश्वरीय नियम में ऐसा कोई अंधेर नहीं है कि विना इच्छा के ही धक्का करके जीव को नरक या स्वर्ग में धकेल दिया जाए। दूसरी बात यह है कि अच्छे कर्मों का फल स्वर्ग भोगना होता है और उसका यह फल भुक्त जाने पर बुरे कर्मों का फल भोगने के लिए जीव को नरक में जाना होता है तथा स्वर्ग-भोगों को भोगता हुआ भी जीव नरक जाने के लिए साधन पैदा कर लेता है। परन्तु योग-भ्रष्ट योगी के पाप पुण्य तो होते ही नहीं हैं क्योंकि वह इन दोनों से रहित होकर ही योग की साधना किया करता है। जब वह अपनी मंजिल (ईश्वर से मिल जाना) पर पहुँचे विना ही मृत्यु का ग्रास हो जाता है तो वह ब्रह्माण्ड के किसी सर्वोत्कृष्ट उस उत्तम लोक में पहुँच जाता है जिसमें केवल सुख और आराम ही है, स्वर्ग सरीखे नरकों में पहुँचाने वाले भोग-विलास नहीं है। इस लोक में इस योग-भ्रष्ट के अतिरिक्त केवल अत्यन्त पुण्य करने वाले लोग ही जाते हैं।

ये सब लोक धरती से लेकर ब्रह्म-लोक पर्यन्त फैले हुए हैं। इनमें ये योग-भ्रष्ट लोग केवल आराम करने या पुनः योगसाधन करने के कारण ताजा दम होने के लिए ही जाते हैं। और फिर अपने लक्ष्य (ब्रह्म में विलीनता) को प्राप्त करने के लिए पृथिवी पर आ जाते हैं। यह जीवात्मा सब से पहले एक कोशिका वाले अण्डे में पिता के शुक्राणु के रूप में प्रवेश करता है। यह अण्डा माता के उदर की एक थैली से निकल कर संसेचित होकर गर्भाशय में आ जाता है और वहाँ पर स्थित हुआ कोशिका विभाजन न्याय से अनजाने में ही स्व-शरीर और उसके सब अवयवों की स्वयं रचना करता है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा, बीजड़ा पक्षी तथा गृहिणी कीट आदि अपने रहने के लिये स्वयं अपने गृहों का निर्माण किया करते है, शंख, सीप, घोंघा, कौड़ी आदि

अपने कठोर कवचों के स्वयं निर्माता होते हैं उसी प्रकार यह जीवात्मा अपने रहने के योग्य भले बुरे सब शरीरों की रचना स्वयं करता है। यह शरीर-रचना-कर्म जीवात्मा का एक स्वभाव सा बन जाता है ॥

इससे सिद्ध होता है कि योगी या ज्ञानी जन्म जन्मान्तर की साधना से अवगत हो जाता है जिससे वह पुण्यात्मा लोगों के प्राप्त होने योग्य लोकों में जाकर वहां चिरकाल तक आराम करता है और ताजा दम होकर पवित्र आचार-विचार वाले श्रीमानों के घर में आकर जन्म धारण कर लेता है ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा योगिनाम्+एव कुले भवति धीमताम् । एतत्+हि दुर्लभ-तरम्+लोके जन्म यत्+ईदृशम् ॥

अथवा=(अव्यय) पक्षान्तर बोधक । या । वा । किंवा । अथवा । [वैराग्यवान् पुरुष पुण्य करने वालों के लोकों में न जाकर]

योगिनाम्=(पुं०) योगिन्+षष्ठी० ब० व०=योग करने वालों के । योगियों के । ज्ञान-योगी ब्राह्मणों के ।

एव=(अव्यय) ही ।

कुले=(नपुं०) कुल+सप्त० ए० व०=कुल में । वंश में ।

भवति=जायते । √भू+लट्० प्र० पु०, ए० व०=(उत्पन्न) होता है । जन्म लेता है ।

धीमताम्=(वि०) धी+मतुप्=धीमत्+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=धीमानों के । बुद्धिमानों के । ज्ञानवानों के ।

एतत्=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।

हि=(अव्यय) ही । निःसन्देह । निश्चयपूर्वक ।

दुर्लभ-तरम्=(वि०) दुर्√लभ्+अ=दुर्लभ+तर=दुर्लभतर+(नपुं०) प्र० ए० व०=अत्यन्त दुर्लभ । बहुत मुश्किल से मिलने वाला । [अति दुःखेन लभ्यते इति] ।

लोके=(पुं०) लोक+सप्त० ए० व०=लोक में । संसार में ।

जन्म=(नपुं०)√जन्+मनिन्=जन्मन्+प्र० ए० व०=जन्म । उत्पत्ति ।

यत्=(सर्व०) यद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो ।

ईदृशम्=(अव्यय) ऐसा । इस प्रकार का ॥

अर्थ—अथवा (योग-भ्रष्ट योगी-पुरुष उन पुण्य करने वालों के लोकों में

न जाकर, किंवा उन लोकों से वापस लौट कर) बुद्धिमान् (न कि महामूर्ख और हठी) योगियों के कुल (वंश) में ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार का जो यह जन्म है, वह संसार में निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ (अति-उत्तम) होता है ॥४२॥

व्याख्या—कोई योग-भ्रष्ट पुरुष तो शाश्वती समा पुण्यवान् पुरुषों के गन्तव्य लोक में न जाकर भी इसी भूलोक में उत्पन्न हो जाता है। इन योग-भ्रष्ट योगियों के केवल दो प्रकार के स्थान ही होते हैं—(१) शुचि-चित् शुद्ध-वंश वाले श्रीमानों के गेह। (२) धीमान् योगियों के कुल ॥

यदि श्रीमानों अर्थात् सेठों या राजाओं के घरों में शुचिता, सच्चरित्रता और धर्म-परायणता न हो, तो उनमें जन्म लेने वाली सन्तान विषय-विकारों और दुराचार-पूर्ण कर्मों में ग्रस्त होकर विनष्ट हो जाती है। इस कारण से योग-भ्रष्ट योगी का जन्म केवल उन्हीं श्रेष्ठों या राजाओं के गृहों में ही होता है जो शुचिता तथा सच्चरित्रता-सम्पन्न और धर्म-परायण होते हैं जिससे यह योग-भ्रष्ट योगी पुनः अपने अधूरे योग-साधन-कर्म को पूरा कर सकता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है ॥

कोई एक योग-भ्रष्ट-योगी बुद्धिमान् योगियों के वंश में जन्म लेता है। संसार के कुछ योगी मूर्ख भी होते हैं जो हठ-योगी बनने के लिए हठ-योग को धारण कर लेते हैं और "शास्त्र-विधि से रहित केवल मन-कल्पित घोर तप को तपते हैं, तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त होते हैं ॥ गी० १७।५"। इनमें से कुछ लोग तो किसी वृक्ष के तने के साथ अपने पाँव बांध कर चमगादड़ की भान्ति उल्टे लटकते हुए देखे जाते हैं। कईयों ने महीनों खड़े रह कर अपनी टांगें खम्भों की भान्ति मोटी और सूजी हुई बना ली हैं। कई अपना एक हाथ ऊपर उठाए हुए खड़े रहते हैं जिससे उनका वह बाहु सूख कर निकम्मा और बेकार हो जाता है। कई एक लोहे के तीक्ष्ण शंकुओं की सेज पर बैठे हुए दिखाई देते हैं। कई एक वृक्षों के तीक्ष्ण शूल-काँटों पर बैठे रहते हैं। इनमें से कई एक ऐसे भी हैं, जो ज्येष्ठ-आषाढ़ की कड़कती हुई धूप में अपने चारों ओर अग्नियां जलाकर बैठते हैं। ये सब लोग हठ-योगी और मूर्ख होते हैं क्योंकि ये एक प्रकार के आत्म-हत्यारे होते हैं, ज्ञान-हीन और अविवेकी होते हैं। प्रथम तो इनके घरघाट होते ही नहीं हैं। यदि ये गृहस्थ हों तो भी इनके घर या कुल में जन्म लेना महा-अभिशाप से कम नहीं होता है ॥

भगवान् ने जिन धीमान् योगियों के कुल में योग-भ्रष्ट-योगियों का जन्म ग्रहण करना वर्णन किया है, वे योगी तो महर्षि वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, व्यास, जनक अश्वपति, रैक्व, कबीर, नानक, टैगोर, गान्धी आदि महापुरुष गृहस्थाश्रमी

ही होते हैं। इनके समान धीमान् योगियों के कुल में जन्म लेने से जन्मधारी का कल्याण होता है और वह अपने पूर्व जन्म की अधूरी कर्म-योग-साधना को पुनः प्रारम्भ कर देता है। मुण्डकोपनिषद् ३।२।९ में लिखा है—

"स यो ह वै ब्रह्म वेद, ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं, तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।।"

[जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस (ब्रह्मज्ञानी) के कुल में कोई "अब्रह्मवित् नहीं होता। वह शोक को तर जाता है। पाप को पार कर लेता है। और हृदय ग्रन्थियों से विमुक्त होकर 'अमृत' हो जाता है।]

नारद-भक्ति सूत्र ३९में कहा है—"महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।।" अर्थात् 'परन्तु महात्मा पुरुषों का संग तो दुर्लभ, अगम्य और अमोघ होता है"।।

इस श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा है कि "बुद्धिमान् योगियों के कुल में जन्म लेना अत्यन्त दुर्लभ है" इसके कई कारण हैं—

१—योग-साधन की जितनी सुविधा धीमान् योगियों के कुल में जन्म धारण करने पर मिल सकती है, उतनी पुण्यवानों के लोकों, स्वर्गों, धीमानों के गृहों तथा अन्य दूसरे स्थानों में कदापि नहीं प्राप्त हो सकती क्योंकि धीमान् योगियों के कुल में तदनुकूल वातावरण बना हुआ होता है।

२—ज्ञानी के कुल में जन्म लेने वाला पुरुष, कुल-संस्कारों के प्रभाव से अज्ञानी नहीं बन सकता। क्योंकि वहां पर उसे महात्मा पुरुषों की संगति सहज स्वभाव ही प्राप्त होती रहती है।।

३—श्रीमानों के गृह में चित्त के विक्षेप करने वाले अनेक प्रकार के प्रलोभन होते हैं जिनका वर्णन शास्त्र में इस प्रकार किया गया है—

"मनोहराणां भोज्यानां युवतीनां च वाससाम्।
वित्तस्यापि च सान्निध्याच्चलेच्चित्तं सतामपि ।।"

[अर्थ—मनोहर भोजन करने योग्य पदार्थों की समीपता, मनोहर सुन्दर स्त्रियों की समीपता, मनोहर कोमल रेशमी, ऊनी, सूती तथा कृत्रिम चमकीले वस्त्रों की समीपता और धन की समीपता से श्रेष्ठ पुरुषों का चित्त भी चलायमान हो जाता है] ।।

ये सब पतन-कारण-भूत वस्तुए श्रीमानों के घरों में होती ही हैं, जो योगी को विक्षिप्त कर सकती हैं। इसलिए श्रीमानों के गृह की अपेक्षा धीमान् योगियों के कुल में जन्म लेना ही दुर्लभ और श्रेष्ठतर होता है ।।४२।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तत्र तम्+बुद्धि-संयोगम्+लभते पौर्व-देहिकम् । यतते च ततः+भूयः संसिद्धौ कुरु-नन्दन ! ॥

तत्र=(अव्यय) तत्+त्रल् । वहाँ (योगियों के कुल में) ।

तम्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको ।

बुद्धि-संयोगम्=(पुं०) बुद्धया संयोगः, तम् । द्विती० ए० व०=बुद्धि के संयोग को । (पूर्व-जन्म की) बुद्धि के सम्बन्ध को । बुद्धिसम्बन्धी (पूर्व जन्म के) संस्कार को । [सम् √युज्+घञ्=संयोग ।]

लभते=√लभ्+लट्० प्र० पु०, ए० ब०=पाता है । प्राप्त होता है ।

पौर्व-देहिकम्=(वि०) पूर्वस्मिन् देहे भवं=पौर्वदेहिकम्; द्विती० ए० व० । पूर्व जन्म के शरीर-सम्बन्धी को । पूर्व जन्म की देह में उत्पन्न होने वाले को ।

यतते=√यत्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=यत्न करता है । प्रयत्न करता है।

च=(अव्यय) और ।

ततः=(अव्यय) ततस् । तब । उससे आगे । उसके प्रभाव से ।

भूयः=(अव्यय) भूयस् । फिर । पुनः ।

संसिद्धौ=(स्त्री०) सम्√सिध्+क्तिन्=संसिद्धि+सप्त० ए० व० । सब प्रकार से संपूर्ण परमात्मा की प्राप्ति रूप सिद्धि में । "योग-सिद्धि में । सम्पूर्ण सिद्धि (=मोक्ष) की प्राप्ति में ।

कुरु-नन्दन !=(पुं०) सम्बो०, ए० व० । नन्दयति इति नन्दनः, कुरूणां नन्दनः (ष० तत्पु०) । हे कुरुवंश के लोगों को प्रसन्न करने वाले (अर्जुन) !

अर्थ—वहाँ (योगियों के कुल में जन्म लेकर) उस पूर्व जन्म के शरीर में उत्पन्न हुए बुद्धि के संयोग (अर्थात् समत्व-बुद्धि-योग के संस्कार) वह (योग-भ्रष्ट योगी) अनायास ही पा लेता है । [अर्थात् योगी कुल में जन्म लेते ही उसका सम्बन्ध पूर्व जन्म में प्राप्त हुई समत्व बुद्धि से जुड़ जाता है] और इसके बाद हे अर्जुन ! वह उस (पूर्वकृत योगसाधना के संस्कार के प्रभाव) से योग की संपूर्ण सफलता की प्राप्ति में अधिक (पहले जन्म से भी बढ़ कर) प्रयत्न करता है ॥४३॥

व्याख्या—यहाँ कुरुनन्दन सम्बोधन से भगवान् ने अर्जुन के प्रति इस बात को सूचित किया है कि हे अर्जुन ! तुम कुरु-कुल को प्रसन्न करने वाले हो ।

अर्थात् तुम भी उस पवित्र श्रीयुत-कुल में उत्पन्न हुए हो जिसका पूर्वज राजा कुरु संसार में महाप्रतापी, प्रभाव-शाली, बहुत शुद्ध और अत्यन्त श्रीमान् था। इससे तुझको जान लेना चाहिए कि तू भी पूर्व जन्म का योग-भ्रष्ट है। इसलिए तू भी पुण्यात्मा लोगों के गन्तव्य लोक में शाश्वतीः समाः रह कर इस भूलोक में आया है और पूर्व जन्म में संग्रह किए हुए बुद्धियोग के संस्कारों को प्राप्त हुआ है। उसके प्रभाव से तू फिर परमात्मा की प्राप्ति रूप सिद्धि के लिए पहले से भी अधिक प्रयत्न कर रहा है।

योग की अन्तिम सिद्धि तक योगी के चित्त की सात अवस्थाएँ होती हैं जो सप्त भूमियाँ कहलाती हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सात भूमियों को लांघ कर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार कोई मनुष्य चलते-चलते मार्ग में सो जाता है और फिर जाग कर उस स्थान से आगे चलने लगता है, न कि पुनः अपने पूर्व चलने के स्थान से ही चलता है इस प्रकार योगी पुरुष भी मरने से पूर्व जिस भूमि तक चल लेता है, आगामी जन्म में फिर उससे आगे चलता है क्योंकि उसका अपना मन मोक्ष रूप लक्ष्य तक पहुँचने वाला बना हुआ होता है। जिस प्रकार सोने के उपरान्त जागने पर यात्री अपने आगे चलने को भूलता नहीं है उसी प्रकार योग-भ्रष्ट योगी भी अपने लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति से विचलित नहीं होता है क्योंकि नवीन जन्म में वह पूर्व जन्म के शरीर के बुद्धि संयोग को सहज स्वभाव ही प्राप्त हो जाता है और फिर वह उसके प्रभाव से मोक्ष पाने के लिए और भी अधिक प्रयत्न करने लगता है।

ये सप्त भूमियाँ शास्त्र में इस प्रकार कही गई हैं—

१—नित्य और अनित्य वस्तु का ज्ञान, पृथिवी तथा स्वर्ग आदि के फल-भोगों से वैराग्य, शम-दम आदि षट् वर्ग का पालन, कर्मों में निरासक्ति। इन चारों के द्वारा "मुक्ति की शुभ इच्छा" का नाम पहली भूमिका है।

२—ब्रह्म-वेत्ता गुरु के पास जाकर वेदान्त वाक्यों का श्रवण-मनन करना वह दूसरी भूमिका है। इसका नाम "विचारणा" है॥

३—इसके अनन्तर श्रवण-मनन से सिद्ध हुआ जो तत्त्वज्ञान है, अर्थात् 'निदिध्यासन' है, उसमें संशय से रहित होना, यह 'तनुमानसा' नाम वाली तीसरी भूमिका है।

ये तीनों भूमिकाएँ तत्त्व-साक्षात्कार का साधन-रूप हैं।

४—ऊपर कही हुई इन तीनों भूमिकाओं से जो तत्त्व-साक्षात्कार अवस्था प्राप्त होती है वह 'तत्त्वापत्ति' नाम वाली चौथी भूमिका है।

५—पाँचवीं भूमिका का नाम 'असंसक्ति' है। सविकल्पक समाधि के अभ्यास से पूर्ण निरुद्ध मन में जो निर्विकल्पक समाधि की अवस्था है उसी का नाम 'असंसक्ति' है।

६—'पदार्थ-भावनी' नाम वाली छठी भूमिका होती है। यह असंसक्ति की परिपक्वता से चिर काल पर्यन्त स्थिर हुई निर्विकल्पक समाधि की अवस्था होती है।

७—'तुरीया' नाम की सातवीं भूमिका होती है यह छठी भूमिका के परिपक्व हो जाने के अनन्तर होती है। इसमें योगी सदा परिपूर्ण परमानन्दघन हुआ स्थित होता है। इसमें योगी निरन्तर समाधिमग्न ही रहता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

पूर्व+अभ्यासेन तेन+ एव ह्रियते हि+अवशः+अपि सः। जिज्ञासुः+अपि योगस्य शब्द-ब्रह्म+अति वर्तते ॥

पूर्व+अभ्यासेन=(पुं०) पूर्वजन्मनि कृतः अभ्यासः पूर्वाभ्यासः (तत्पु०), तेन एव। पूर्व जन्म में किए हुए अभ्यास से।
[अभि√अस् (क्षेपे)+घञ्=अभ्यास+तृती० ए० व०। बार-बार चित्त को परमात्मा में स्थापित करने से]

तेन=(सर्व०) तद्+(पुं०) तृती० ए० व०=उससे। उसके द्वारा।

एव=(अव्यय) ही।

ह्रियते=√हृ (हरना)+(कर्मवाच्य, आत्म०) लट्०, प्र० पु०, ए० व०। खींचा जाता है। योग की ओर खींचा जाता है। (परमात्मा की ओर) बलपूर्वक खींचा जाता है।

हि=(अव्यय) निःसन्देह।

अवशः=(पुं०) प्र० ए० व०। नास्ति वशम् आयत्तं यस्य (नञ् बहुव्री०)। बेवस हुआ। विषयों के वश में हुआ। अपनी इच्छा न रखता हुआ।

अपि=(अव्यय) भी।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह (श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला योग-भ्रष्ट पुरुष)।

जिज्ञासुः=(वि०)√ज्ञा+सन्+उ=जिज्ञासु+(पुं०) प्र० ए० व०= (योग के स्वरूप को) जानने की इच्छा करता हुआ।

अपि=(अव्यय) भी।

योगस्य=(पुं०) योग+षष्ठी० ए० व०। योग का। योग के स्वरूप का; ब्रह्म में मिल जाने का।

शब्द-ब्रह्म=(नपुं०) द्वितीं० ए० व०। शब्द स्वरूप ब्रह्म को। वेद में कहे हुए कर्म-काण्ड के फल (स्वर्गादि) को। वैदिक यज्ञ-याग आदि काम्य-कर्म को। देव-मनुष्य आदि के शब्द से कहने योग्य ब्रह्म (=प्रकृति) को।

अति वर्तते=अति [क्रिया में जुड़ा हुआ यह उपसर्ग 'परे' या 'ऊपर' अर्थ में होता है] √वृत्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=परे बर्तता है। ऊपर बर्तता है। लाँघ जाता है॥

अर्थ—वह (श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला पूर्व जन्म में योग-भ्रष्ट हुआ पुरुष) उस (पर-ब्रह्म में चित्त को लगातार स्थापित करने, योग में) पूर्व जन्म में किए हुए अभ्यास के द्वारा [विषयों या प्रकृति के गुणों से घिरा हुआ भी] विवश हुआ ही निःसन्देह (भगवान् में लीन होने की ओर) बलपूर्वक खींचा जाता है और (समत्व बुद्धि) योग का जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म [वैदिक यज्ञ-याग आदि काम्य-कर्मों के फल अथवा देव-मनुष्य आदि के शब्द से कथन करने योग्य ब्रह्म नाम प्रकृति को लाँघ जाता है॥ ४४॥

व्याख्या—जो पुरुष एक स्थान से चलकर किसी उच्चतम शिखर पर चढ़ना चाहता है वह सारा दिन चलकर थक जाने पर सायंकाल को किसी उचित स्थान पर विश्राम किया करता है। फिर प्रभात होने पर आगे चलने लगता है। प्रतिदिन इसी प्रकार चलता रहता है और अन्त में अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार वह जीवात्मा जब परमात्मा में मेल पाने के लिए योग-मार्ग पर चलता है, तो पहले-पहल सभी कर्म काम्य-बुद्धि से किया करता है। परन्तु इन कर्मों से ज्यों-ज्यों चित्त-शुद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों आगे चलकर निष्काम-बुद्धि से कर्म करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। 'बचपन' जीवात्मा का प्रभात है। 'युवावस्था' देदीप्यमान तीक्ष्ण धूप वाली दोपहर है। 'बुढ़ापा' सायंकाल है और 'मृत्यु' निशागम है और गन्तव्य या विश्राम करने वाला पुण्यवानों का लोक रात्रि है जिसमें सुखपूर्वक विश्राम किया जाता है। श्रीमानों के गृह में पुनर्जन्म प्रातःकाल में पुनः जागना है जिसके अनन्तर वह योग-साधन का अपना अधूरा कर्म पुनः आगे करने लगता है। जिस प्रकार सोया हुआ यात्री जागने पर अपने आगे चलने को भूलता नहीं है इसी प्रकार मरने के बाद श्रीमानों के घर में जन्मा हुआ अधूरा योगी अपने उस किए हुए योगाभ्यास को विस्मृत नहीं करता, जो वह पूर्व जन्म में कर चुका है। स्वभाव अतिदुरतिक्रम होता है जो पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों के अभ्यास से बना हुआ होता है। यह स्वभाव अधूरे रहे हुए योगियों को बल-पूर्वक परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग पर चला देता है। ये शुभ-संस्कार प्रत्येक जन्म में उसका साथ देते रहते हैं। इनकी सहायता से अन्त में वह मोक्ष को

प्राप्त कर लेता है ॥ ब्रह्म दो प्रकार का है। एक शब्दब्रह्म और दूसरा उससे परे का निर्गुण परब्रह्म। जब मनुष्य शब्दब्रह्म में निष्णात हो जाता है तब फिर उससे परे का निर्गुण ब्रह्म प्राप्त हो जाता है। जैसा कि श्रुति में कहा है—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥"

योग का जिज्ञासु पुरुष भी योग-भ्रष्ट (अधूरे) योगी की भान्ति शब्दब्रह्म अर्थात् वेदोक्त यज्ञ-याग करता हुआ उस मार्ग से चल पड़ता है जिस ज्ञान-मार्ग पर चलकर परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। इस तरह वह शब्द ब्रह्म को लांघ कर परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

प्रयत्नात्+यतमानः+तु योगी संशुद्ध-किल्बिषः। अनेक-जन्म-संसिद्धः+ततो+याति पराम्+गतिम् ॥

प्रयत्नात्=(पुं०) प्र√यत्+नङ्=प्रयत्न+पंच० ए० व०—बहुत यत्न से। बहुत कोशिश से।

यतमानः=√यत्+शानच्=यतमान+(पुं०) प्र० ए० व०=यत्न करता हुआ। प्रयास करता हुआ। अभ्यास करता हुआ।

तु=(अव्यय) और। परन्तु।

योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी। परमात्मा के ध्यान में निरंतर लीन पुरुष।

संशुद्ध-किल्बिषः=(वि०)। (पुं०) प्र० ए० व०। [बहुव्री०]। संपूर्ण किल्बिषों (पापों) से अच्छी तरह से शुद्ध हुआ। अच्छी तरह से पापों से रहित हुआ।

अनेक-जन्म-संसिद्धः=(वि०)। (पुं०) प्र० ए० व०। अनेकेषु जन्मसु (किंचित् किंचित् संस्कारजातम् उपचित्य तेन उपचितेन अनेकजन्मकृतेन) संसिद्धः (स० तत्पु०)। अनेक जन्मों में थोड़े-थोड़े संस्कारों को एकत्रित कर, उन अनेक जन्मों के संचित संस्कारों से फिर सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ। अनेक जन्मों से अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ ॥

ततः=(अव्यय) फिर (उस साधना के प्रभाव से। अथवा—फिर (इस जन्म की समाप्ति पर) ॥

याति=√(अदा० पर० सक० अक०=जाना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०। प्राप्त होता है। परमात्मा को प्राप्त होता है।

पराम्=(वि०) परा (स्त्री०) द्वि० ए० व०=परम को।
गतिम्=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+द्विती० ए० व०=गति को। परमात्मा की प्राप्ति को। मोक्ष को॥

अर्थ—और फिर अत्यन्त प्रयासपूर्वक प्रयत्न करता हुआ तथा भली भान्ति समूचे पापों से रहित हुआ, एवं अनेक जन्मों में थोड़े-थोड़े संस्कारों को एकत्रित कर उन अनेक जन्मों के संचित संस्कारों से "सिद्ध" अवस्था को प्राप्त हुआ (योगी-कुल में जन्मा) योगी (इसी जन्म की समाप्ति पर) परम-गति (परमात्मा) को प्राप्त होता है ॥४५॥

व्याख्या—जिस विद्यायुक्त ब्राह्मण-वंश में सब लोग ईश्वर-परायण होकर योग-साधन में लगे रहते हैं उस वंश को योगि-वंश कहा जाता है। इस वंश में बहुत भाग्यवान् योग-भ्रष्ट (या अधूरा-योगी) जन्म लेता है क्योंकि उस कुल में बालक की आँख खुलते ही उसका पालन-पोषण ऐसे वातावरण में होता है जिससे वह पूर्ण विद्वान् भी हो जाता है और योग-मार्ग पर भी अनायास ही चलने लगता है। इस कुल में सदा साधु-सन्तों, भक्तों, महात्माओं विद्वानों और पण्डितों का आवागमन बना रहता है। यज्ञ-याग, अतिथि-सेवा, देव-पूजा और कथा-वार्ता आदि शुभ-कर्म सदैव होते रहते हैं। गीता, रामायण और महाभारत आदि उत्तम ग्रन्थों का पठन-पाठन तथा गायन नित्य होता रहता है। वेद-शास्त्र की चर्चा प्रतिदिन चलती रहती है। सोलह-संस्कारों का विधिवत् अनुष्ठान किया जाता है। माँस, मछली, मद्य, अफीम, भांग, पोस्त, चरस, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओं का सेवन कभी नहीं किया जाता। द्यूत-क्रीड़ा और व्यभिचार कभी नाम मात्र को भी नहीं होते॥

इस प्रकार के वातावरण का प्रभाव बालक के अन्तःकरण में दृढ़ता से अंकित हो जाता है जिससे फिर यह योग-भ्रष्ट योगी इस कुल में जन्म लेकर पूर्व जन्म में छोड़े हुए योग का पुनः आगे अभ्यास करने लगता है। क्योंकि पूर्व जन्म के संस्कारों से बनी हुई प्रकृति उसके अन्तःकरण को बर-बस उधर आकर्षित कर देती है तथा वंश का श्रेष्ठ वातावरण उसमें दृढ़ता उत्पन्न कर देता है। पहले तो बीज ही उत्तम होता है और वह अच्छी तरह से पानी और खाद देकर हल चलाकर तैयार किए गये क्षेत्र में गिर कर जिस प्रकार खूब फलता और फूलता है उसी प्रकार पूर्व जन्म का अधूरा योगी बुद्धिमान् योगियों के कुल में जन्म लेकर परम-सिद्धि को प्राप्त कर लेता है क्योंकि वह इस जन्म में पूर्व जन्म से भी अधिक प्रयत्न किया करता है जिससे उसके सब पाप निष्काम कर्म और ज्ञान रूपी जल से धुल जाते हैं। पूर्वले अनेक जन्मों में उसने प्रभु-भक्ति, निष्काम-कर्म, योगाभ्यास तथा ज्ञान आदि के

द्वारा जो संस्कार अर्जित किए हुए होते हैं उनके द्वारा वह "सिद्ध" अवस्था को प्राप्त कर लेता है जिससे फिर वह इसी जन्म के अन्त में परमगति या मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। लेखक का भी अहोभाग्य था जो स्वयं इसी प्रकार के वातावरण और वंश में उत्पन्न हुआ था जिससे प्रेरणा पाकर यह ग्रन्थ लिख सका ।।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कविश्रेष्ठ सन्त ज्ञानेश्वर जी कहते है—

"जिस प्रकार करोड़ों जन्मों और अरबों वर्षों के प्रतिबन्धों को पार करता हुआ पुरुष आत्म-सिद्धि तक पहुँचता है, उसी प्रकार मोक्ष-सिद्धि के समस्त साधन स्वयं अपने आप उसका अनुसरण करने लगते हैं जिससे वह विवेक-साम्राज्य का सहज में ही स्वामी बन जाता है और फिर वह उस परब्रह्म परमेश्वर के साथ मिल कर एकरूप हो जाता है क्योंकि उस समय उसके मन पर छाया हुआ अज्ञानांधकार रूपी मेघ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है और उसे वह अगाध, अपार तथा शब्दातीत सुख प्राप्त हो जाता है। इसलिए उसका वर्णन करने में भाषा भी अपने को असमर्थ देखकर पीछे हट जाती है। इस प्रकार की जो ब्राह्मी स्थिति है और जिसे 'परम-गति' कहते हैं। उस निराकार तत्त्व की वह मूर्ति ही बन जाती है। उस समय उस पुरुष के सब पापरूपी मल धुल जाते हैं और वह योगी आकाश में विलीन हुए मेघ की तरह असीम ब्रह्म में विलीन हो जाता है जिस ब्रह्म से समस्त विश्व की उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा अन्त में सारा विश्व विलीन हो जाता है" ।।४५।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।४६।।

तपस्विभ्यः+अधिकः+योगी ज्ञानिभ्यः+अपि मतः+अधिकः। कर्मि-भ्यः+च+अधिकः+योगी तस्मात्+योगी भव+अर्जुन।

तपस्विभ्यः=(पुं०) तपस्विन्+पंच० ब० व०। तपस्वियों से। [तपस्वी उन साधक लोगों का नाम है जो कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप करते हैं, पञ्चाग्नि तपते हैं, रात दिन धूनी रमाये रहते हैं, उपवास व्रत आदि करते हैं ।।]

[पञ्चमी विभक्तेः ।। पा० २।३।४२।। अर्थात् तुलना बोधक शब्दों का योग होने पर उत्कृष्ट या न्यून वस्तु में पञ्चमी विभक्ति होती है] ।।

अधिकः=(वि०) अधि+क=अधिक+(पुं०) प्र० ए० व०।

श्रेष्ठ। विशेष। अधिक ।। विशिष्ट।

योगी=(वि०) योगिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=योगी। प्रभु से जुड़ा हुआ।
[यों तो ज्ञान-योगी, ध्यान-योगी, भक्ति-योगी, कर्म-योगी आदि कई प्रकार के योगी होते हैं परन्तु इस श्लोक में योगी का अर्थ यह है कि मनुष्य चाहे कोई भी कर्म क्यों न कर रहा हो, परन्तु खाते, पीते, सोते, जागते इत्यादि प्रत्येक अवस्था में उसका मन परमात्मा से जुड़ा हुआ हो। अपने शरीर, इन्द्रियों और उनके समस्त कार्यों से उसका कोई सम्बन्ध न हो। जैसे श्वास स्वतः अपने आप ही चलता रहता है, हृदय और रक्तवाहिनी नाड़ियां स्वयं ही गतिशील होकर निज-निज कार्य करती रहती हैं इसी प्रकार योगी के द्वारा किए जा रहे कार्यों में प्रभु-इच्छा के विना और किसी का कोई दखल नहीं होता। उसे तो केवल एक परमात्मा के विना और किसी का होना भी भान नहीं होता। इस योगी को ध्यान-योगी ही कहा जा सकता है। पंजाबी में इस ध्यान-योगी के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति इस प्रकार है : "कर कार वल, मन यार वल" ॥]

ज्ञानिभ्यः=(पुं०) √ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+इनि=ज्ञानिन्+पंच० ब० व०= ज्ञानियों से।
[इस श्लोक में ज्ञानी का अर्थ है—वेदशास्त्रों के और अन्य सब प्रकार के ज्ञान से संपन्न पुरुष। परन्तु यदि वह ज्ञानी परमात्मा के ध्यान में लीन नहीं रहता तो उसे कोरा या खरंड़ ज्ञानी अर्थात् सब कुछ जान कर भी उस पर आचरण न करने वाला कहते हैं।]

अपि=(अव्यय) भी।

मतः=√मन्+क्त=मत+(पुं०) प्र० ए० व०=माना हुआ है। माना गया है।

अधिकः=(वि०) पुं०, प्र० ए० व०=श्रेष्ठ। अधिक।

कर्मिभ्यः=(पुं०) कर्मन्+इनि=कर्मिन्+पंच० ब० व० कर्मियों से। सकाम कर्म करने वालों से।

[यज्ञ, दान, पाठ, पूजा, अतिथिसेवा आदि शास्त्र विहित शुभ कर्म करने वाले कर्मी कहलाते हैं। परन्तु ये सब कर्म यदि स्त्री, पुत्र, धन, धान्य और स्वर्गादि की प्राप्ति की इच्छा से किए जाते हैं, तो ये कर्म "सकाम कर्म" होते हैं, जो परमात्मा की प्राप्ति कराने में असमर्थ होते हैं। परन्तु जब ये कर्म निष्काम भाव से किए जाते हैं, तो अन्तःकरण की शुद्धि कर देते हैं और जीवात्मा को परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग पर चला देते हैं परन्तु स्वयं परमात्मा की प्राप्ति नहीं करवा सकते। क्यों

कि परमात्मा की प्राप्ति तो उसके ध्यान में पूर्णतया लीन होने से ही होती है। इसलिए कर्मियों से भी ध्यान-योगी श्रेष्ठ माना जाता है।]

च=(अव्यय) और।

अधिक:=श्रेष्ठ। अच्छा। उत्तम। बढ़ कर।

योगी=(पुं०) परमात्मा के ध्यान में सदा लीन रहने वाला (पुरुष)।

तस्मात्=इससे। इसलिए।

योगी=(पुं०) योग करने वाला।

भव=√भू+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) हो।

अर्जुन=(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे अर्जुन ! हे चमकीले पाण्डव ! हे यशस्वी पाण्डव ! ॥

अर्थ—[ईश्वर के ध्यान में निरन्तर लीन रहने वाला] योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ होता है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना हुआ है और (वह) योगी कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ होता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी हो जा ॥४६॥

व्याख्या—श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन ! क्या तुझे मालूम है कि तू कौन है ? मुझसे सुन। तू अर्जुन है अर्थात् पाँडव और कौरव दोनों में सबसे अधिक चमकीला और तेजस्वी है। यशस्वी है। शुद्ध-बुद्धि है। इसलिए तू सहज-स्वभाव ही योगी है। इसलिए अब अधूरे से पूरा योगी बन जा अर्थात् परब्रह्म परमात्मा से (दृढ़ होकर) जुड़ जा। सोते-जागते प्रत्येक अवस्था में परमात्मा में लीन रह कर अपने क्षत्रियोचित कर्तव्य-कर्म युद्ध में जुट जा। देह, गेह, भाई, बन्धु, धन, धान्य सबको भूल जा अर्थात् इन सबसे ममता का धागा तोड़ दे। इन सबकी स्थिति को अस्थिर और मिथ्या जान ले। जब स्वयं तेरा शरीर ही अनित्य और मिथ्या है तो शेष जगत् की स्थिरता और स्थिति कैसे सत्य या स्थायी हो सकती है ? यह सब कुछ धोखा और दृष्टि-भ्रम है इसमें वास्तविकता का अंश मात्र भी नहीं है। केवल एक परमात्मा ही सत्य और स्थायी है। उससे भासमान अपनी पृथक्ता को शीघ्र समाप्त करने का यत्न करो। उस महार्णव परब्रह्म में मिल जाओ जिसके बिना तेरे सब ओर, और तेरे भीतर, बाहर और कुछ भी नहीं है। जो तूने कहा है—कि "भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥ २।५ ॥" अर्थात् 'इस लोक में (यहाँ) भिक्षा का अन्न खाना ही ठीक है।' ऐसा विचार करना तेरी एक बहुत बड़ी भूल है। क्योंकि ध्यान-योगी अर्थात् सदा परमात्मा में लीन रह कर युद्ध आदि कर्तव्य कर्म करता हुआ पुरुष उन तपस्वियों से भी श्रेष्ठ होता है, जो कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप करते हैं, सूर्य की धूप में बैठे रहते हैं, आतप, वात, वर्षा के कष्ट सहते हैं, पञ्चाग्नियाँ तपते हैं, रात-दिन धूनि रमाए

रहते हैं, उपवास करते हैं, व्रत रखते हैं, भूखे रहकर अपने अंगों को क्षीण और अशक्त कर डालते हैं, वनवास धारण करते हैं, गुफाओं और कन्दराओं में रहकर जीवन-यापन करते हैं। वे परमात्मा से बेखबर से रहते हैं क्योंकि यदि वे परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते, तो वे कदापि हठयोग न किया करते।

ध्यान-योगी तो उन ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है, जिन्होंने वेद-शास्त्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ा है, गणित, बीजगणित, रेखा-गणित, भू-गोल, इतिहास, विज्ञान, शरीर-विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, नीति-शास्त्र, कला-कौशल आदि सब विद्याओं को पढ़ लिया है, व्याकरण और काव्य तथा साहित्य में निष्णात हो चुके हैं, गुरुओं द्वारा वेदान्त वचनों को श्रवण किया हुआ है। इतना सब कुछ होने पर भी यदि ध्यान योगी बन कर परमात्मा का साक्षात्कार नहीं किया है, तो उनका वह किया हुआ सारा प्रयास व्यर्थ और निष्फल होता है क्योंकि परमात्मा के साक्षात्कार किए बिना उसका सारा ज्ञान मिट्टी में दबे हुए उस धन के समान होता है जो कभी खाया या खर्चा नहीं जाता॥

ध्यान-योगी तो कर्मियों से भी अधिक श्रेष्ठ होता है क्योंकि जो शास्त्र-विहित सकाम कर्म किए जाते हैं, वे सब स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, स्वर्ग आदि सुखों की प्राप्ति, दुःख के अपनय और शत्रु-नाश आदि के निमित्त ही होते हैं। परमात्मा में मेल मिलाने वाले नहीं होते हैं तथा निष्काम कर्म परमात्मा से मेल कराने वाले मार्ग पर चलाने वाले तो होते हैं क्योंकि उनसे अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है परन्तु वे कर्म स्वयं सीधे परमात्मा से मिलाने वाले नहीं होते। इसलिए हे पाँडवों में श्रेष्ठ अर्जुन ! तू तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी होकर भी परमात्मा में निरन्तर जुड़ा रह अर्थात् ध्यान-योगी बन जा और सब संशयों को दूर करके अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ युद्ध कर॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

योगिनाम्+अपि सर्वेषाम्+मद्+गतेन+अन्तर्+आत्मना। श्रद्धा-वान्+भजते यः+माम्+सः+मे युक्ततमः+मतः॥

योगिनाम्=(पुं०) योगिन्+षष्ठी० ब० व०=योगियों में से।

['यतश्च निर्धारणम्। पा० २।३।४१॥ अतिशय वाचक शब्दों के योग में षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। इससे योगिनाम् और योगिषु दो रूप सिद्ध होते हैं।]

अपि=(अव्यय) भी।

सर्वेषाम्=(सर्व०) सर्व+(पुं०) षष्ठी० ब० व०। सब में से। ["योगिनाम्" का विशेषण है।]
मत्+गतेन=(वि०) मां गतेन। (पुं०) तृती० ए० व०=मुझ में गए हुए द्वारा। मुझ में स्थित हुए द्वारा। मेरे में लगे हुए द्वारा।
अन्तर्+आत्मना=(पुं०) अन्तर्+आत्मन्+तृती० ए० व०=अन्तर् आत्मा द्वारा। अन्तःकरण द्वारा। मन से।
श्रद्धावान्=(पुं०) श्रद्धा+मतुप् (वत्) श्रद्धावत्+प्र० ए० व०=श्रद्धावान् (श्रद्धा वाला (योगी)।
भजते=√भज्+लट्० (आत्म०) प्र० पु०, ए० व०=भजता है। जपता है। स्मरण करता है।
यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।
माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझको।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।
मे=(सर्व०) अस्मद्+चतु० ए० व०, षष्ठी० ए० व०=मेरे लिए। मेरा। मुझको।
युक्त-तमः=(वि०) अतिशयेन युक्तः। √युज्+क्त=युक्त+तम=युक्ततम+(पुं०) प्र० ए० व०=सबसे अधिक जुड़ा हुआ। अतिशय श्रेष्ठ योगी।
मतः=√मन्+क्त=मत+(पुं०) प्र० ए० व०=माना हुआ है॥

अर्थ—सब योगियों में से भी जो श्रद्धा वाला (योगी) मुझ में स्थित हुए मन से (निरन्तर) मुझको भजता है, वह योगी मेरा अतिशय श्रेष्ठ माना हुआ है॥ ४७॥

व्याख्या—भगवान् ने गीता में कई प्रकार के योगियों का वर्णन किया है और संसार में भी अनेक प्रकार के पुरुष योगी कहलाते हैं। कोई कर्म-योगी है तो कोई ज्ञान-योगी है तथा कोई भक्ति-योग से युक्त है। परन्तु इस श्लोक में भगवान् ने इन सब प्रकार के योगियों में से श्रेष्ठ योगी उस पुरुष को कहा है जो परमेश्वर में भक्ति से श्रद्धावान् होकर उसको अपने सब ओर भीतर, बाहर, दायें, बाएँ, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे साक्षात् रूप में देखता है और उसे सर्वशक्तिसम्पन्न, अनादि, अजन्मा, निर्विकार, अव्यय और अविनाशी अनुभव करता है तथा श्रद्धा और भक्ति से उसमें युक्त रहता है। निरन्तर अनन्य मन होकर उस मुझ प्रभु में अनुरक्त होता है तथा दिन रात भजता है। प्राणि-मात्र में मेरे ही स्वरूप को देखता है तथा सोता, जागता, उठता, बैठता, चलता, फिरता, खाता, पीता और प्रत्येक कर्म करता हुआ मुझे कभी अपने नेत्रों से ओझल नहीं होने देता, जिसके मन में यह सत्य भली-भान्ति

स्थित हो चुका है, कि राम, रहीम, कृष्ण, गोविन्द आदि सब मेरे ही नाम हैं, जो जाति-पाति के भेद-भाव से ऊपर उठ चुका है, मस्जिद, मन्दिर आदि सब लोगों के धर्म स्थान केवल उन्हीं लोगों द्वारा उन्हीं के हाथों से निर्मित हुए मानता है, उनमें मुझे देखता तो है परन्तु किसी एक ही स्थान में बन्दी बना हुआ नहीं समझता है, सब प्रतिमाओं में मुझ पर ही जल और पुष्प चढ़ाता है, मेरे मस्तक पर ही तिलक लगाता है, मुझे ही दीपक दिखाता है, मेरे लिए ही घी के चराग जलाता है, मुझे ही सुगन्धित करने के लिए धूप धुकाता है, मेरे सामने ही रुपये-पैसे, फल-फूल, लड्डू-पेड़े आदि की भेंट चढ़ाता है। सब बालक-बालिकाओं तथा अबोध नन्हें शिशुओं को मेरा स्वरूप समझ कर ही उनमें प्रेमपूर्वक पताशे और पैसे बाँटता है, सब पूज्यों, वृद्धों, गुरुओं, साधुओं, सन्तों, ऋषियों, मुनियों, विद्वानों और अध्यापकों को मेरा स्वरूप मान कर दोनों हाथ जोड़ कर सप्रेम प्रणाम करता है, जो सदैव महान् मन्दिर रूप आकाश की नीली छत के नीचे नित्य निरन्तर महत्तम विराट् के दर्शन करता है, पृथ्वी पर फैले हुए सब मत मतान्तरों के राग-द्वेष से सदा के लिए मुक्त और स्वतन्त्र हो चुका है, विश्व रूप में केवल एक मात्र मेरा ही पुजारी है, सब धर्मों के प्रवर्तकों को एक मात्र मेरा ही रूप मानता है तथा उनके उपदेशों को उनके समयों के अनुकूल समझता है, उभर रही तथा उद्घाटित हो रही सच्चाइयों से मुंह नहीं मोड़ता है, झूठे किसी भी पक्ष पर हठ नहीं करता है, खाने, पीने, पहनने और पहरावे में स्वच्छता और सात्त्विकता को सदैव दृष्टिगोचर रखता है, सदा अन्तःकरण की आवाज सुनता है और उसके अनुकूल ही आचरण करता है, वह योगी ही मुझ भगवान् के साथ अधिकतम युक्त होता है। वही सर्वश्रेष्ठ है। वह वास्तव में मेरा रूप बन चुका है। हे अर्जुन ! ऐसा तुम निश्चयपूर्वक समझ लो ॥ ४७ ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे 'आत्मसंयम-योगो' नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

[इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषदों में ब्रह्म-विद्यान्तर्गत, योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद (रूप) में "आत्म-संयम-योग" अथवा 'ध्यानयोग' नामक छठा अध्याय समाप्त ।]

॥ शुभम् ॥

शुद्धि पत्र

सज्जन पाठकवृन्द!

अशुद्ध शब्दों को शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२०	माहयसि	मोहयसि
५	९	निर्	निस्
७	१३	श्रेय	श्रेय को
७	१७	लोके+अस्मिन्	लोके+अस्मिन्+द्वि-विधा
१५	२४	√गुण्	√गुण्+अच्
१८	३०	कहलात	कहलाता
१९	१४	पुरुष	वह पुरुष
२९	२५	सम्मत	सम्मत (समर्पित)
२९	३१	भोगन	भोगना
५५	९	भोक्त	भोक्ता
५८	२५	करंने	करने से
६०	११	संपत्ति	संपाति
६५	३०	ग्रोर	ग्रौर
७३	१२	प्रकाश वर्ग	प्रकाश वर्ष
८७	२४	मुन कर	मुनकर
८८	१५	क्रियमाणनि	क्रियमाणानि
१०२	१६	वेद	वैद्य
११०	२७	दो के	दो से
११२	१३	जन	जल
११३	२९	वायु	पायु
११६	१९	जैश	हतीश

नोट—'जैश' के स्थान पर सर्वत्र 'हतीश' पढ़ा जाए।

११७	२६	अर्थ	अनर्थ
१४५	१५	पर	परं
१४५	१६	२	१०
१४५	२३	पदार्थों	जीवों के शरीरों
१४८	२४	अह	अहं
१४८	२५	द्यो	द्यो यो
१५६	२८	४३२०००	४३२००००
१५९	२८	माक्ष	मोक्ष
१७१	२६	मध्य—ाल	मध्य—काल
१७७	२५	आगि	आदि
१९२	२४	माक्ष	मोक्ष
२०३	१८	जते	जाते
२२६	१९	होगे	होंगे
२२६	३२	के	को
२२९	९	रग	राग
२२९	३१	भगवन्	भगवान्
२३८	२०	अव्यय	अवयव
२३९	३३	जात	जाता
२४५	२४	वाणी	प्राणी
२४८	१५	में लगाते	से हटाते
२४९	२३	धारण कारण	धारण करना
२५४	१७	{ इनमें से आकाशवेल आदि धरती से उत्पन्न होते हैं। }	यह पाठ अधिक है अतः काट दीजिए।
२७८	१६	डाल	डाकू
२८१	२	अपने पाप	अपने आप
२८२	५	देवतानां च देवानां	दैवतं देवतानां च
२८५	३०	सशयात्म्र	संशयात्मा
२९०	८	{ तस्मादज्ञानभूतं हृत्स्थं ज्ञानसं र्ना सात्मनः }	{ तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः }
२९२	२	बतल	बतला
२९२	१०	येक मं	ये कर्म
३०९	५	कि	कि जिस
३२५	७	रहित	युक्त हुए

३२७	२८	१६	१३
३३३	७	जड़)	(जड़)
३४९	२२	ज्ञानी	नाम मात्र के ज्ञानी
३८५	२७	शुभाशुभ	शुभाशुभ कर्मों
३८५	३१	वह	यह
३८७	२	सकल्पों	संकल्पों
४०७	३२	बता	पता
४१२	२८	असम	मेघालय
४१२	३२	का	पर या
४१६	३१	इत्	इव
४२१	८	प्राणी	यह प्राणी
४३९	२	पांचवीं	पांचवां भाग
४४२	६	शुद्धन	शुद्धेन
४४८	१८	सहारा	सहार (झेल)
४४८	१९	पर तु	परन्तु
४५४	१३	साधन	साधक
४५९	३१	जलना	चलना
४६२	२२	योग	योगी
४७८	३०	के	को
४९४	२७	शक्	शक्य
५०१	२०	अठारहवें	अड़तीसवें
५०७	७	+द्वि० ब० व०	

इसको यहाँ से काटकर ८वीं पंक्ति में ङीष् के बाद लिखें।